श्रीमत्स्वामिमधुसूदनसरस्वतीविरचितम्

अद्वैतरत्नरक्षणम्

सटिप्पणी हिन्दीभाषानुवादसहितम्

श्री स्वामियोगेन्द्रानन्दगिरिः



स्वर्गीय श्री गोपाल जी देसाई

इनके सुपुत्र नवसारी निवासी श्रीमान् डा० रतिलाल जी देसाई ने इनकी पुण्य स्मृति में पांच हजार रुपये का योगदान इस पुस्तक के प्रकाशन में दिया।

।।श्रीः।।

व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला
१७४

श्रीमत्स्वामिमधुसूदनसरस्वतीविरचितम्

अद्वैतरत्नरक्षणम्

सटिप्पणी हिन्दीभाषानुवादसहितम्

टिप्पणीकारोऽनुवादकश्च
श्री स्वामियोगेन्द्रानन्दगिरिः

सम्पादकः
श्री देवस्वामी (वेदान्ताचार्यः)

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
दिल्ली

अद्वैतरत्नरक्षणम्

प्रकाशक
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
38 यू. ए. जवाहर नगर, बंगलो रोड़
पो. बा. नं. 2113, दिल्ली - 110007
दूरभाष : (011) 23856391, 41530902

संस्करण 1977
पृष्ठ : 12+456
मूल्य : ₹ 200.00

अन्य प्राप्तिस्थान :
चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069
वाराणसी - 221001

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117 गोपाल मन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129
वाराणसी - 221001

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड़
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

ISBN : 978-81-7084-563-3

मुद्रक :
ए. के. लिथोग्राफर्स, दिल्ली

दो शब्द

सम्पूर्ण प्रमाणों में दो प्रकार का प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है। एक व्यावहारिक प्रामाण्य— जो व्यवहार काल में पदार्थों की विभिन्न सत्ता का प्रतिपादक है। दूसरा पारमार्थिकतत्त्वावेदकत्वरूप प्रामाण्य है जो व्यवहार काल में नाना पदार्थों की विभिन्न सत्ता प्रतीत होने पर भी उसको एक अनिर्वचनीय मिथ्या विकल्परूप से घोषित करता है तथा समग्र मिथ्या विकल्प का अधिष्ठान अद्वैत ब्रह्मतत्त्व का दृढता से बोधन करता है। ऐसे प्रामाण्य को पारमार्थिकतत्त्वावेदकत्वरूप से ही स्वीकार किया जाता है। जैसे कि "आत्मैवेदं सर्वम्, ब्रह्मैवेदं सर्वम्" इत्यादि अनेक श्रुतियों में तत्त्वावेदकत्वरूप प्रामाण्य ही सर्वसम्मत है और वह अद्वैतार्थबोधकत्वरूप है, किन्तु श्रुति द्वारा अद्वैतार्थ की घोषणा को सुनते ही भेदवादी द्वैतियों के हृदय में विकम्पन और पीड़ा शुरु हो जाती है जिसके प्रभाव में आकर द्वैतियों ने नाना प्रकार से द्वैत का ही कहीं छिपे रूप से कहीं प्रकट रूप से प्रतिपादन किया। इन सब में भी श्री शंकर मिश्र अपने समय के महान् दार्शनिक विद्वान् होते हुए भी चपलहस्तिशावक की भान्ति और भी साहसी निकले, उन्हों ने भेद को एक अमूल्य रत्न कह डाला और भेदरत्न नाम से घोषणा भी की, जैसे कि उन के ही शब्दों में— "न सा धीः क्वचिदप्यस्ति यत्र भेदो न भासते" इत्यादि कहकर उन्होंने एक भेदरत्न नामक निबन्ध भी लिखा, जिस के प्रतिवाद में आचार्य श्री स्वामी मधुसूदन सरस्वती जी महाराज ने एक बहुत ही सुन्दर "अद्वैतरत्नरक्षणम्" नामक प्रौढ निबन्ध, लिखा। इस की विद्वज्जगत् में भूरिशः प्रसिद्धि एवं सम्मान हुआ। यह अद्वैतवेदान्त का उत्कृष्ट दुरूह ग्रन्थ है। यह नव्यन्याय की जटिल भाषा में रचित है। इसकी रचनाशैली अद्वैतसिद्धि के ही समान है।

इस ग्रन्थरत्न पर अभी तक किसी भी विद्वान् ने संस्कृत में

टीका टिप्पणी नहीं की है। और हिन्दी भाषा में भी अनुवाद नहीं हुआ। अतः संस्कृत के पूर्णबोध से रहित तथा नव्यन्याय के परिचय से रहित अद्वैतवेदान्त के प्रेमी इस ग्रन्थ रत्न के तलस्पर्शी विचारों के रसास्वादन से वंचित हैं।

इन्हीं उपर्युक्त कारणों को प्रधानतया दृष्टि में रखते हुए हमारे परमप्रिय मित्र श्रीस्वामी योगेन्द्रानन्द जी ने सम्प्रति इस ग्रन्थ-रत्न का हिन्दी अनुवाद टिप्पणीसहित करने का अत्यन्त प्रशंसनीय सफल प्रयास किया। इस ग्रन्थ का अनुवाद तथा विशेष गम्भीर स्थलों पर टिप्पणी करके स्वामी जी महाराज ने इसे सुखावबोध बना कर इस की उपादेयता में वृद्धि कर दी। अनुवाद की भाषा अत्यन्त सरल मूलानुगत तथा मधुर है। आशा है यह अनुवाद अद्वैतवेदान्त के प्रेमियों की पिपासा को शान्त करने में अत्यन्त सहायक सिद्ध होगा।

ऐसे उच्चकोटि के ग्रन्थ के विशुद्ध अनुवाद के लिये सूक्ष्म पाण्डित्य तथा विपुल परिश्रम अत्यन्त आवश्यक था। विद्वद्वर्य श्री स्वामी जी महाराज वेदान्तशास्त्र के तो मर्मज्ञ विद्वान् हैं ही किन्तु साथ ही साथ सिद्धान्तज्योतिष के भी प्रौढ़ पण्डित हैं। अतः ऐसे महापुरुषों की लेखनी में विशेष सफलता आना स्वाभाविक ही है।

हमें पूर्ण विश्वास है विद्वन्मण्डली से इस ग्रन्थरत्न को समुचित समादर प्राप्त होगा। परम प्रिय स्वामी जी मुमुक्षु जनों का दीर्घ काल तक अपनी लेखनी द्वारा भव्य मार्ग दर्शन करते रहें ऐसी मेरी श्री परम पिता परमात्मा से शुभ कामना है।

स्वामी त्रिवेणीपुरी
(नव्यन्याय-वेदान्ताचार्य)

२१-६-७७

प्रस्तावना

आज विश्व की अनेक संस्कृतियों के सम्मुख एक प्रश्नचिह्न लग गया है। उनके सामने अस्तित्व का संकट उपस्थित हो गया है। दार्शनिक मान्यताए छिन्न-भिन्न होती जा रही है। धर्ममात्र एक काल्पनिक मान्यता का विषय बनता जा रहा है। विज्ञान सब के सम्मुख एक चुनौती बनकर खड़ा है। प्रत्येक धार्मिक दार्शनिक सांस्कृतिक विचारक के सम्मुख समस्या है कि वह इन सब को मान्यता दे या विज्ञान को? यद्यपि अभी विज्ञान अपने आप में पूर्णता का दावा नहीं कर सकता, स्वयं उसके सम्मुख अनेक परस्पर विरोधाभासी समस्याएं उपस्थित हैं; तथापि उसके प्रत्यक्ष तथ्यों को झुठलाया नहीं जा सकता।

उपर्युक्त विज्ञान की चुनौती का यदि कोई संस्कृति सम्यग उत्तर दे सकती है तो वह है भारतीय संस्कृति। इसमें धर्म, दर्शन और विज्ञान परस्पर विरोधी नहीं, अपितु परस्पर पूरक हैं। विज्ञान-सम्मत दर्शन के द्वारा नियन्त्रित धर्म ही हमारे जीवन का आदर्श रहा है। जीवन के प्रत्येक अंग में हमने सम्यग्ज्ञान की महत्ता को स्वीकार किया। ज्ञान ही हमारे जीवन का साध्य और साधन दोनों रहा। इस देश का नाम भारत ही सांस्कृतिक परिचय देता है; भा- ज्योति, प्रकाश अर्थात् ज्ञान, उसमें रत–लगा हुआ, निष्ठावान्। यह बात अलग है कि विश्व की प्राचीनतम सनातन संस्कृति होने तथा विचारस्वातन्त्र्य के महत्व की असीम मान्यता का दुरुपयोग होने से इस में समय समय पर अनेक विकृतियां भी आई, लोगों में इसी कारण कुछ भ्रम भी फैले तथापि यह ऊपरी मल हमारी संस्कृति को मलिन न कर सका। समय-समय पर अवतरित भगवत्स्वरूप महापुरुषों ने उस मल को साफ कर दिया, विचारों में विशेष परिपक्वता एवं निखार ला दिया।

भारतीय संस्कृति में षड्-दर्शन एक सीढ़ी का काम करते हैं। विचारशील मनुष्य की बुद्धि को यह क्रमशः परिपाक करते हैं। इसी श्रृंखला में अन्तिम स्थिति है- टर्मिनस स्टेशन है वेदान्त। इसमें भी वैचारिक परिपाक की श्रृंखलायें वेदान्त के अनेक भेदों के रूप में अनेक पक्ष उपस्थित होते हैं। मान्य अन्तिम दार्शनिक स्थिति है अद्वैत-वेदान्त की, क्योंकि इसमें मानवीय आकांक्षाओं की पूर्ति करने की क्षमता है। सभी पाश्चात्य वैज्ञानिक दार्शनिक, जिनमें आइन्स्टीन आदि प्रमुख हैं, अन्ततोगत्वा अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्त की ही प्रस्थापना करते हैं। विज्ञान की चरम सीमा ही अद्वैतवेदान्त है।

अद्वैतवेदान्त के मूलाधारभूत तीन अंग हैं जिन्हें प्रस्थान-त्रयी-शब्द से भी कहा जाता है। इसमें शांकरभाष्ययुक्त ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य (गौड़पादकारिकायुक्त), ऐतरेय, तैत्तरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक एवं श्वेताश्वतर- ये ग्यारह उपनिषद्, शांकर-भाष्ययुक्त श्रीमद्भगवद्गीता एवं शारीरकभाष्ययुक्तब्रह्मसूत्र सम्मिलित हैं। इस प्रस्थानत्रयी में व्याप्त सिद्धान्तों को स्वयं भगवत्पाद श्री मदाद्य शंकराचार्य जी ने एवं परवर्ती आचार्यों ने विभिन्न ग्रन्थों के माध्यम से स्पष्ट किया। इस प्रस्थानत्रयी को कालान्तर में लघु-प्रस्थानत्रयी कहा जाने लगा, क्योंकि उपर्युक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन एवं परवर्ती अवपके भिन्नमतवादी दार्शनिकों के तर्कों एव अद्वैत-वेदान्तसिद्धान्त के खण्डनों का निरास करने के लिये अन्य तीन प्रौढ़ ग्रन्थ तैयार हो गये जिन्हें बृहत्-प्रस्थानत्रयी के नाम से जाना जाता है। ये हैं श्रीचित्सुखाचार्य जी की तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखी); श्री हर्ष मिश्र का खण्डनखण्डखाद्य एवं श्री मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि। यद्यपि अद्वैतवेदान्त के अध्येता के सम्मुख उच्चकोटि के विद्वत्तापूर्ण अनेक ग्रन्थ आते हैं किन्तु अद्वैतसिद्धि में श्री मधुसूदन सरस्वती ने जिस अलौकिक प्रतिभा का परिचय दिया है वह अनुदाहरणीय है। वस्तुतः सरस्वती जी के विषय में प्रयुक्त यह श्लोक सार्थक है—

मधुसूदनसरस्वत्याः पारं वेत्ति सरस्वती।
सरस्वत्याः पारं तु वेत्ति मधुसूदनसरस्वती॥

वे सच्चे अर्थों में ज्ञानी- भक्त थे। उनके द्वारा लिखित यह श्लोक उनके चरित्र को कितना स्पष्ट करता है—

वेदान्तवीथिपथिकैरुपास्याःस्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः ।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन ॥

वे न्याय आदि अन्य दर्शनों के भी प्रौढ़ विद्वान् थे। नव्यन्याय पर उनका आधिपत्य था। अद्वैतवेदान्त में असीम श्रद्धा एवं पूर्ण निष्ठा होने से उनकी अकाट्य युक्तियों के सामने कोई भी अहम्मन्य दार्शनिक न ठहर सका है। इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिये जहां एक ओर उन्होंने अद्वैतसिद्धि की रचना की वहीं दूसरी ओर द्वैतवादियों की तथाकथित प्रौढ़ युक्तियों के निरास के लिये "अद्वैतरत्नरक्षण" नामक ग्रन्थरत्न की भी रचना की। इन के अतिरिक्त उन्होंने गीता आदि अनेक ग्रन्थों के ऊपर विद्वत्तापूर्ण भाष्यवत् टीकाएं भी लिखीं।

श्री हर्षमिश्रकृत खण्डनखण्डखाद्य के ऊपर शांकरी टीका लिखने वाले तथाकथित द्वैतवादी प्रौढ़विद्वान् श्री शंकर मिश्र के "भेदरत्न" (भेदप्रकाश) नामक ग्रन्थ में संगृहीत तार्किकों की सभी द्वैतयुक्तियों का खण्डन करने के लिये ही श्री मधुसूदन सरस्वती जी ने अद्वैतरत्नरक्षण ग्रन्थ बनाया, उन्हीं के शब्दों में—

निर्जित्य प्रतिपक्षान् द्वैतधियो दुष्टतार्किकंमन्यान् ।
अद्वैततत्त्वरत्नं रक्षितुमयमुद्यमः क्षमः स्यान्नः ॥

इसमें प्रायः तार्किकों की एक-एक युक्ति या तर्क के लिये एक-एक प्रकरण में विस्तार से विचार किया है। प्रौढ़ युक्तियों के होने पर भी उनकी भाषा में सहज प्रवाह है, प्रसाद है और बोधगम्य शैली है। अद्वैतवेदान्त के प्रत्येक अध्येता को इसका स्वाध्याय अवश्यमेव करना चाहिये जिससे उसके बाह्य एवं आन्तरिक रत्न का रक्षण हो सके।

अत्यन्त सरस सरल और प्रवाहमयी शैली होने पर भी संस्कृत-भाषा पर आधुनिक अध्येताओं का पूर्ण अधिकार न होने से उन्हें समझने में पर्याप्त कठिनाई का अनुभव होता था। इसके अतिरिक्त विभिन्न दार्शनिकों द्वारा प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का परिज्ञान न होने से यह

कठिनाई और बढ़ जाती थी। देश काल की परिस्थिति के अनुरूप अध्ययनीय छात्रों में श्रम-प्रवृत्ति भी क्षीणतर होती जा रही है। इन सब बातों को दृष्टि में रखकर अपने आश्रम के विद्वद्वरिष्ठ श्रद्धेय-प्रवर श्री स्वामी योगेन्द्रानन्द जी महाराज ने उपर्युक्त "अद्वैत-रत्न-रक्षण" के सुबोध सरल सहज भाषा में अनुवाद का स्तुत्य सफल प्रयास किया है। साथ ही कठिन अंशों पर व्याख्यापरक स्पष्ट टिप्पणियों से ग्रन्थ को आभूषित किया है जो निःसन्देह छात्रों एवं अन्य विद्वानों के लिये लाभप्रद होगा। श्री स्वामी जी महाराज को अपनी शिक्षा के आरम्भ काल से ही अध्यापन की रुचि रही। आज समाज के उच्चतम पदों पर विभूषित अनेक महात्माओं सहित अधिकांश वेदान्ताचार्य आपके द्वारा प्रशिक्षित हैं। अध्यापनकाल का बृहत् अनुभव पुस्तक के प्रायः प्रति पृष्ठ पर परिलक्षित होता है। इस आश्रम के संस्थापक विद्वद्वरेण्य श्रद्धेयप्रवर गुरुदेव श्री १०८ स्वामी त्रिवेणीपुरी जी महाराज के जो स्वयं देश के चोटी के विद्वानों में से एक हैं, अध्यापन का दीर्घ अनुभव एवं रुचि के साथ ही जो अद्वैतवेदान्त के अनुभवी प्रौढ़-प्रवचनकार हैं - श्री स्वामी जी के अभिन्न परम मित्र हैं। इसी कारण आश्रम में शैक्षणिक एवं अद्वैत निष्ठा का परिवेश मिलता है। जहां एक ओर सभी विद्वान् कोई भी आश्रमकार्य करने में गौरव का अनुभव करते हैं, वहीं पंचदेव (श्री चन्द्रशेखर भगवान् शिव, माता शक्ति, विष्णु, सूर्य एवं श्री गणेश) के अतिरिक्त लक्ष्मीनारायण के विग्रहों से शोभायमान मन्दिर सभी भक्तों को चित्तशुद्धि के लिये आहूत करता है। भगवान् चन्द्रशेखर दिव्य चिह्नों एवं शक्तियों से युक्त हैं। श्री १०८ स्वामी पूर्णानन्दगिरि जी शास्त्री जिन्होंने अहर्निश अथक साहसपूर्वक परिश्रमकरके इस आश्रम को वर्तमान स्वरूप प्रदान किया है एवं श्री १०८ स्वामी योगेश्वरानन्द जी धावड़ी कुण्ड (जहां महर्षि मार्कण्डेय पार्थिवेश्वर पूजा कर उन शिवलिंगों का प्रवाह किया करते थे और धार्मिक मान्यता के अनुसार वहीं शिव लिंग भक्तों को प्राप्त होते हैं) जाकर बड़े श्रम और तप पूर्वक इन नर्मदेश्वर भगवान् चन्द्रशेखर को लाये थे, जिसका प्रभाव आश्रम के वातावरण पर भी पड़ता है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये श्री डा. रतिलाल जी (नवसारी) ने अपने स्वर्गीय पिता श्री गोपाल जी देसाई की पुण्य स्मृति में पांच हजार रुपये आर्थिक योगदान किया, उस के लिये वे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्त में मैं सभी सम्बद्ध व्यक्तियों को इस प्रकाशन के लिये पुनः धन्यवाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि इसी प्रकार के अनेक अनुपलब्ध उच्चकोटि के ग्रन्थों का प्रकाशन इस संस्था से होता रहेगा। यदि अध्येताओं को इससे कुछ भी लाभ हुआ तो यह प्रयास सफल समझा जायेगा।

२३-५-७७ विदुषांवशंवदः

स्वामी महेश्वरानन्द पुरी

सर्वदर्शन— वेदान्ताचार्य, एम० ए० (इङ्ग०)

सम्मति

अद्वैतब्रह्मवाद औपनिषददर्शन है। इस औपनिषद अद्वैतब्रह्मवाद को तर्क की कसौटी पर कसकर आद्यजगद्गुरु आचार्य शंकर ने जिज्ञासुओं के सामने करतलगतामलकवत् प्रस्तुत किया। आचार्य शंकर के बाद पद्मपादाचार्य, प्रकाशात्मयति, सुरेश्वराचार्य, भामतीकार वाचस्पतिमिश्र, चित्सुखाचार्य, खण्डनकार श्रीहर्ष, अद्वैतसिद्धिकार मधुसूदन सरस्वती आदि प्रमुख अद्वैताचार्यों ने अद्वैतब्रह्मवाद के संरक्षण एवं व्याख्या के लिये पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है तथा अद्वैतवेदान्त के साहित्य को समृद्ध बनाया है।

अद्वैतसम्प्रदाय की इसी परम्परा में आचार्य मधुसूदनसरस्वती ने भी अनेकों पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की। उनके ग्रन्थोंमें अद्वैतसिद्धि, सिद्धान्तविन्दु, गीताटीका और अद्वैतरत्नरक्षणम् अतिप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। "अद्वैतरत्नरक्षणम्" अद्वैतब्रह्मवाद की रक्षा हेतु रचित ग्रन्थ है। द्वैतवादी नैयायिक शंकरमिश्र द्वारा रचित 'भेदरत्नप्रकाश'

नामक ग्रन्थ के उत्तर में मधुसूदन सरस्वती ने इस ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ में भेदवाद के प्रत्याख्यान में उपयोगी युक्तियों की व्याख्या की गई है। ग्रन्थ में अद्वैतदर्शन के प्रमुख समस्याओं पर भी विवेचन है।

अबतक इस ग्रन्थ का कोई आधिकारिक एवं प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद नहीं हो पाया है। तपोनिष्ठ महात्मा स्वामी योगेन्द्रानन्द जी ने इस ग्रन्थ का अनुवाद करके इस कमी को दूर कर दिया है। स्वामी जी ने आवश्यकतानुसार न्याय, मीमांसा आदि दर्शनों में प्रयुक्त तथा प्रस्तुत ग्रन्थ में समागत उपयोगी पारिभाषिक शब्दों के ऊपर टीप्पणी भी स्थान-स्थान पर लिखी है। टीप्पणी इतनी स्पष्ट एवं व्याख्यात्मक है कि इसे ग्रन्थ की व्याख्या कहा जाये तो अत्युक्ति नहीं होगी। स्वामी जी वेदान्त के आधिकारिक विद्वान् हैं ही, साथ में उनमें काव्यात्मक प्रतिभा भी है। यह उनके द्वारा ग्रन्थ के आरम्भ एवं समाप्ति में रचित संस्कृतपद्यों से पता चलता है। अन्तिम पद्य में तो ज्योतिष शास्त्र में भी उनकी विद्वत्ता का स्वाद मिलता है।

प्रायः देखा जाता है कि आजकल वेदान्त के प्रकाण्ड विद्वान् साधुगण कथाप्रवचन में लिप्त रह कर वेदान्तसाहित्य की रक्षा एवं अभिवृद्धि के लिये लेखनी उठाने में प्रमाद करते हैं। कथाप्रवचन वर्तमानकालिक वेदान्तप्रचार अवश्य है। किन्तु भविष्य तक वेदान्त-प्रचार तो वेदान्त के पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ से ही हो सकेगा। ग्रन्थ मनुष्य के ज्ञान को अमर बनाता है। कहा भी है — पश्य पश्य देवस्य काव्य न जीर्यते न ममार। स्वामी योगेन्द्रानन्द जी के इस प्रयास से हमें हार्दिक प्रसन्नता है। आशा है अन्य विद्वान् वेदान्ती भी लेखनी उठाने में इससे प्रेरणा लेंगे। मुझे विश्वास है कि 'अद्वैतरत्नरक्षणम्' का यह अनुवाद विद्वद्जनों द्वारा समादृत होगा।

अध्यक्ष: — दर्शन विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

डा० अभेदानन्द, वेदान्ताचार्य
एम०ए०, पी-एच०डी०,
दिनांक- १।६।१९७७

कृतज्ञता विज्ञापन

इस "अद्वैतरत्नरक्षण" का अनुवाद तो करीब सात वर्ष पूर्व ही मैंने वाराणसी में रहते समय सम्पन्न कर लिया था। कई प्रकार की असुविधाओं और अस्वस्थता के कारण इस ग्रन्थरत्न का प्रकाशन वहां पर नहीं हो सका था। अब परमात्मा की कृपा से इस का प्रकाशन निर्विघ्न सम्पन्न हो गया है।

श्री परमप्रिय महामण्डलेश्वर स्वामी महेश्वरानन्द जी (सर्वदर्शन- वेदान्ताचार्य, एम०ए०) ने अत्यन्त परिश्रम से इस ग्रन्थ को छापने से पूर्व आद्योपान्त पढ़कर संशोधित किया है। इस असाधारण परिश्रम के लिये उन्हें बार-बार सप्रेम धन्यवाद देता हूं। उनकी ही प्रेरणा से गुजरात प्रान्तीय नवसारी निवासी श्रीमान् डा० रतिलाल जी देसाई ने अपने दिवंगत पिता श्री गोपाल जी देसाई की पुण्य स्मृति में इस ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ पांच हजार का योगदान दिया है। तथा लन्दननिवासिनी श्रीमती डा० सरोज अदलाखा ने पन्द्रह सौ और ऋषिकेश निवासिनी धर्मप्राणा सावित्री देवी ने पांच सौ रुपये का योगदान दिया है। अतः इन सबको सप्रेम शुभकामना सहित धन्यवाद देता हूं। बम्बई निवासी श्रीमान् डी०आर०जे० देसाई जी ने भी कागज उपलब्ध कराने में प्रशंसनीय सहयोग किया है; अतः उनको भी हार्दिक धन्यवाद है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन और सम्पादन आदि सब मुख्य कार्य तो श्री परमप्रिय देवस्वामी जी (वेदान्ताचार्य) ने किया है। वह अपने कर्त्तव्यपालन में सदा निष्ठावान् रहें— ऐसी मेरी हार्दिक शुभकामना है।

अद्वैतसिद्धि का भी सटिप्पणी हिन्दी अनुवाद प्रायः पूर्ण हो चुका है; अन्य उपयोगी वेदान्त ग्रन्थों का भी अनुवाद हो रहा है। अनुकूल अवसर मिलते ही इन्हें प्रकाशित करने की इच्छा है।

अन्त में इतनी ही आशा है कि पाठकगण इस ग्रन्थरत्न का अध्ययन कर मेरे परिश्रम को सार्थक बनायेंगे तथा विद्वान् लोग अपने सुझाव भेजने की कृपा करेंगे।

दिनांक— १३।७।७७ सतामनुचरः—

योगेन्द्रानन्दगिरिः

अनुक्रमणिका

क्रमांक	विषय	पृष्ठ संख्या
१—	शास्त्रारम्भोपपत्तिः	१-१३
२—	श्रुतिप्रामाण्योपपत्तिः	१४-३०
३—	श्रुतीनां भेदपरत्वभङ्गः	३१-७२
४—	सर्वबुद्धिभेदविषयत्वभङ्गः	७३-८१
५—	अन्योन्याऽभावत्वनिर्वचनभङ्गः	८२-९९
६—	निर्विकल्पकस्य भेदविषयकत्वभङ्गः	१००-१०५
७—	भिन्नादिवृत्तिविकल्पेन भेदयाथार्थ्यभङ्गः	१०६-१२०
८—	स्वविशिष्टे स्ववृत्तावंशतः आत्माऽऽश्रयोपपत्तिः	१२१-१३२
९—	विशिष्टवृत्तौ सम्बन्धाऽनुपपत्तिः	१३३-१४२
१०—	भेदवृत्तावभेदप्रतिबन्दिनिरासः	१४३-१५१
११—	भेदस्वरूपत्वनिरासः	१५२-१८२
१२—	भेदपारमार्थिकतानिरासः	१८३-१८४
१३—	अद्वैतस्य ब्रह्मनिष्ठत्वोपपादनम्	१८५-१८७
१४—	अद्वैतस्य ब्रह्मतद्भिन्नस्वरूपत्वाद्युपपादनम्	१८८-१८९
१५—	भेदनिषेधाऽनुपपत्त्यादिकम्	१९०-१९२
१६—	"अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः" इत्यादि — वाक्यानामप्यद्वैत एव पर्यवसानमिति निरूपणम्	१९३ १९७
१७—	सर्वत्रयेऽपि त्रिविधसत्त्वेन सर्वव्यवहारोपपत्तिः । व्यावहारिकत्वनिर्वचनाऽसम्भवशङ्कातत्परिहारौ च	१९८ २०५
१८—	श्रुतिस्मृतीतिहासादिभिरविद्यास्वरूपसमर्थनम्	२०६-२१७
१९—	भ्रममात्रविषयत्वबाधितत्वादिव्यावहारिकत्वस्वरूपविवेकः	२१८-२४२
२०—	प्रपञ्चसत्यत्वाऽनुमानभङ्गः	२४३-३९७
२१—	मुमुक्षूपदेशः	३९८-४५३
२२—	शुद्धिपत्रम्	४५५-

ॐ

अद्वैतरत्नरक्षणम्

अथ शास्त्रारम्भोपपत्तिः ॥१॥

श्री गणेशाय नमः

बृहदारण्यनिविष्टं विलुठितमाभीरवारनारीभिः ।
सत्यचिदानन्दघनं ब्रह्म नराकारमालम्बे ॥१॥
निर्जित्य प्रतिपक्षान् द्वैतधियो दुष्टतार्किकंमन्यान् ।
अद्वैततत्त्वरत्नं रक्षितुमयमुद्यमः क्षमः स्यान्नः ॥२॥

हृदयकमलमध्ये निर्विशेषं निरीहम्
हरिहरविधिवेद्यं योगिभिर्ध्यानगम्यम् ।
जननमरणभीतिभ्रंसिसच्चित्स्वरूपम्
सकलभुवनबीजं ब्रह्मचैतन्यमीडे ॥१॥
यस्य कृपाकटाक्षेण श्रुतवेदान्तशास्त्रकः ।
तं मङ्गलं प्रणम्यहं मङ्गलात्मकं सद्गुरुम् ॥२॥
क्वन्विदं गम्भीरं शास्त्रं क्व च मे मन्दबुद्धिता ।
तथापि स्वान्तःसुखार्थमनुवादोऽयं क्रियते ॥३॥
क्षम्य एव ह्ययं जनो विद्वद्वरैरल्पबुद्धितः ।
क्षमा हि सत्पुरुषाणां भूषणमिति कथ्यते ॥४॥

मैं विशाल वृन्दारण्य में प्रविष्ट होकर विराजमान, गोपवनिताओं से सम्यक् लुठित और सच्चिदानन्दघनरूप ब्रह्म ही नराकार रूप में स्थित श्रीकृष्ण भगवान् की शरण में जाता हूँ ॥१॥

द्वैतबुद्धि वाले और कुतर्क करके अपने को तार्किक मानने वाले प्रतिपक्षियों को पराजित करके अद्वैततत्त्वरूप रत्न की रक्षा के निमित्त किया गया यह हमारा उद्यम सफल हो ॥२॥

ननु— प्रत्यक्षाऽगोचरत्वात्सत्यज्ञानाऽनन्तानन्दात्मस्वरूपमद्वैतं वस्तु वेदैकसमधिगम्यमिति भवतोऽभिमतम् । तन्न सङ्गतम्; तस्य च स्वाऽध्यायाऽध्ययनविधिप्रयुक्तविचारस्य धर्ममीमांसाशास्त्रेणैव विचारितत्वात्; अर्थवादस्य च विधिशेषतया प्रामाण्यात्, वेदान्तानाञ्च सिद्धवस्तुबोधकत्वेनाऽर्थवादरूपत्वात् ।

(अद्वैतब्रह्मविषयक विचार करने के लिये "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इत्यादि वेदान्तदर्शन का आरम्भ सार्थक है अथवा नहीं ? इस प्रकार सन्देह होने पर पूर्वपक्षी शास्त्रारम्भ को निरर्थक बताते हुए कहता है)—

अद्वैतवादी आप वेदान्तियों का अभिमत है कि प्रत्यक्षादि के अविषय होने से सत्य ज्ञान अनन्त आनन्द और आत्मस्वरूप अद्वैत वस्तु केवल वेद से जानने योग्य है; (अत: उस अद्वैत तत्त्व के प्रतिपादक वेद के उपनिषद्भाग का विचार करने के लिये वेदान्तदर्शन का आरम्भ सार्थक है)। किन्तु वह सङ्गत नहीं; क्योंकि वह तो स्वाध्यायाध्ययनविधि से प्रयुक्त विचार है। अत: "अथातो धर्म जिज्ञासा" इत्यादि जैमिनिकृत धर्ममीमांसा शास्त्र से ही वह वस्तु भी विचारित (१) है; (उस का विचार करने के लिये अन्य शास्त्र का आरम्भ करना व्यर्थ है)। इसके अतिरिक्त अर्थवाद वाक्यों का प्रामाण्य विधि का अङ्ग होने से ही होता है; और

टिप्पणी– (१) जैमिनिकृत मीमांसादर्शन के प्रथम धर्मजिज्ञासाधिकरण का "स्वाध्यायोऽध्येतव्य:" यह विधिवाक्य विषय है। स्वाध्याय का अर्थ है— अपनी-अपनी शाखा का साङ्गोपाङ्ग वेद। किन्तु यहां उससे उपलक्षित वेदमात्र का ग्रहण है। अत: इस विधि का "वेद का अध्ययन करना चाहिये" यह अर्थ है। अध्ययन का भी अर्थ होता है— "गुरु के उच्चारण के बाद वैसा ही शिष्य का उच्चारण करना"। क्योंकि उसके बिना वेद में निहित उदात्तादि स्वरों का उच्चारण शिष्यों से नहीं हो सकता; परन्तु उसका अदृष्ट के

न च— कर्मविधिशेषभूतानां "वायुर्वै क्षेपिष्ठा" (तै० सं०२।१।१।१) इत्यादीनां तत्र विचारितत्वेन "सदेव"(छा० ६।२।१) इत्यादिवाक्यानामत्र विचार इति युक्तम्; कर्तृ-स्तावकत्वेन तेषामपि विधिशेषत्वात्; "सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदो हि नेष्यते" इति न्यायात्। न च— प्रकरणान्त-रत्वम्; पूर्वोत्तरकाण्डयोर्नियतपौर्वापर्यस्याऽन्यथा वक्तुमश-

वेदान्तवाक्यों का तो सिद्धवस्तु बोधकत्व होने से अर्थवादरूपत्व (१) है; (अतः कर्मबोधक विधि के अङ्ग होकर ही उनका प्रमाण्य होना चाहिये)। और कर्मविधि के अङ्गभूत "वायु ही अतिक्षिप्रगामी देवता है" इत्यादि अर्थवाद वाक्यों का विचार उस धर्ममीमांसाशास्त्र में किया गया है; और इस ब्रह्ममीमांसा शास्त्र में तो "सत् ही था" इत्यादि वाक्यों का विचार है, (अतः विषय भेद से इस शास्त्र का सार्थकत्व है)— ऐसा कहना भी युक्त नहीं; क्योंकि यजमानादि कर्त्ता के स्तावकत्वरूप से वे वेदान्त वाक्य भी विधि के अङ्ग ही हैं। यह बात "एकवाक्यता के सम्भव होने पर वाक्यभेद मानना उचित नहीं" इस न्याय से सिद्ध है। और कर्मप्रकरण से ब्रह्मप्रकरण को भिन्न मानना भी उचित नहीं, क्योंकि पूर्व और उत्तर (कर्म और ज्ञान) दोनों काण्डों में नियत रूप से जो पौर्वापर्य देखने में आता है,

---

अतिरिक्त दृष्टफल नही होता, अतः इस अध्ययन का विचारपूर्वक अर्थाविबोध पर्यन्त विषय माना गया है। इस रीति से वेद विचार के लिये जैमिनीय दर्शन वर्तमान है तो पुनः उसके लिये अन्य शास्त्र का आरम्भ करना निरर्थक है—यह पूर्वपक्षी का अभिप्राय है।

(१) प्रशंसा या निन्दादि के बोधक वाक्य को अर्थवाद कहते हैं। वह प्रायः सिद्धार्थ का प्रतिपादक होता है। और विधिवाक्य तो साध्यपदार्थ का विधायक होता है। कर्ममीमांसकों के मत में सम्पूर्ण वेद क्रियापरक है। अतः अर्थवाद के विषय में शंका की गई है– "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्" (पू०मी०१।२।१) सम्पूर्ण वेद यागादि क्रिया के प्रतिपादन करने के लिये ही प्रवृत्त हैं।

क्यत्वादित्यनारम्भणीयमिदं वादरायणीयं तन्त्रमिति तदनुग्राहकयुक्तिव्युत्पादनमप्यनर्थकमिति प्राप्ते--

ब्रूमः-- "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (तै० आ० २।१५।१) इति विधिर्न कृत्स्नस्य वेदस्य विचारं प्रयुंक्ते। तथाहि-- अध्येतव्य इति विधिर्नियोगो वा स्यात्, भावना वा स्यात्, इष्टसाधनत्वं वा स्यात्? तत्र नियोगपक्षे धात्वर्थविषयको

वह दोनों में सम्बन्ध माने बिना अन्य कारणों से नहीं कहा जा सकता। अतः इस बादरायणीय शास्त्र (वेदव्यासकृत ब्रह्ममीमांसा शास्त्र) का आरम्भ नहीं करना चाहिये। इस कारण उसकी समर्थक युक्तियों का उपपादन भी अनर्थक ही है—ऐसा प्राप्त होने पर हम कहते हैं—"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" अर्थात्—वेद का अध्ययन करना चाहिये- यह विधि पूरे वेद के विचार में प्रयोजक नहीं, क्योंकि "अध्येतव्यः" इसमें तव्यप्रत्यय से बोधित विधि नियोग (१) है?

अतः क्रिया के अप्रतिपादक अर्थवादों का निरर्थकत्व यानि अप्रामाण्य है। इस शंका के उत्तर में इस प्रकार कहा गया है- "विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः" (पू० मी० १।२।७)— अर्थात् "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" इत्यादि अर्थवादों का "वायव्यं श्वेतमालभेत" (तै० सं० २।१।१।१) इत्यादि क्रियाविधायक विधि के साथ स्तावकत्वरूप से एक वाक्यत्व हो जाता है। उसी से अर्थवादों का सार्थकत्व है। इसी प्रकार ब्रह्म तो क्रिया से साध्यवस्तु नहीं, किन्तु सिद्ध है। अतः ब्रह्मप्रतिपादक वेदान्त वाक्य अर्थवाद मात्र है। इसलिये वे उपासनादि क्रिया विधायक उपनिषद्वाक्यों से अन्वित होकर सार्थक होंगे। स्वतन्त्ररूप से तो ब्रह्मादि सिद्ध वस्तुओं के प्रतिपादक वेदान्तवाक्य विचार योग्य नहीं- यह तात्पर्य है।

(१) प्रवृत्ति के अनुकूल प्रेरणात्मक व्यापार विशेष को नियोग कहा जाता है। वेदों में यह शब्दनिष्ठ होता है; अतः इस का दूसरा नाम शाब्दीभावना है।

नियोगः, तस्य च निर्नियोज्यत्वात्स्वविषयाऽननुष्ठापकत्वा-दात्मनियोज्येनैवाऽध्यापनविधिना स्वविषयाऽनुष्ठानसिद्धेर्नि-योज्याऽकल्पनाच्च विचारविधायकत्वं दूरत एवानाशं कनीयम् ।

या भावना (१) है ? अथवा इष्ट साधनत्व है ? इन तीनों में से नियोग पक्ष में धात्वर्थविषयक अर्थात् अध्ययनविषयक नियोग (प्रेरणा) कहना होगा। तब तो उस नियोग का यहां पर (अध्ययन विधि में) कोई नियोज्य न होने से वह अपने विषय अध्नयन का अनुष्ठापक नहीं हो सकता (२)। और अपने नियोज्य से युक्त अध्यापनविधि से ही नियोग के विषय अध्ययन के अनुष्ठान की सिद्धि होने से नियोज्य की कल्पना भी नही की जा सकती (३)। अतः अध्ययन विधि में विचारविधायकत्व की शंका तो सर्वथा नही हो सकती।

---

(१) यहां पर भावना शब्द से आर्थीभावना समझना चाहिये। फलोत्पत्ति के अनुकूल पुरुषनिष्ठ व्यापारविशेष का नाम आर्थी भावना है।

(२) "इदं मया कर्त्तव्यम्" अर्थात् "मुझे यह करना चाहिये" इत्यात्मिका बुद्धि जिसकी हो, वह नियोज्य कहा जाता है। जैसे— "स्वर्गकामो यजेत" इस विधि में "स्वर्ग के लिये मुझे याग करना चाहिये" ऐसी बुद्धि स्वर्गकाम पुरुष की होती है। अतः स्वर्गकाम पुरुष यहां पर नियोज्य है। किन्तु "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस विधि में इस प्रकार का कोई भी नियोज्य नहीं है। नियोग तो नियोज्य को लक्ष्य करके होता है। अतः अध्ययन विधि में नियोज्य न होने से नियोग स्वविषय अध्ययन का अनुष्ठापक नहीं हो सकता— यह अभिप्राय है।

(३) यद्यपि अध्ययन विधि में नियोज्य नहीं, तथापि "विश्व-जिता यजेत" इस विधि में नियोज्य न होने पर भी स्वर्गरूप फल की कल्पना करके स्वर्गकाम नियोज्य की कल्पना की जाती है;

भावनावादेऽप्यध्ययनकरणिका भावना शब्दात्प्रतीयते, तस्या भाव्याऽऽकांक्षायां समानपदोपात्तः स्वाध्यायो भाव्यत्वेनाऽन्वेति, न त्वन्यत्; दृष्टे सत्यदृष्टकल्पनाऽयोगात् । न च--- स्वाध्यायस्य सिद्धत्वेन भाव्यत्वाऽनुपपत्तिः; तदवाप्तेरसिद्धत्वेन भाव्यत्वोपपत्तेः । अथ तस्याः स्वतोऽपुरुषार्थत्वादर्थाऽवबोधस्य चाऽनुष्ठानौपयिकत्वेनोपयोगात्स एव

भावनावाद में भी अध्ययनरूप करण वाली भावना "अध्येतव्यः" इस शब्द से प्रतीत होती है। उस भावना के भाव्य (साध्य) की आकांक्षा होने पर समानविभक्ति से उपपादित "स्वाध्याय"(वेद) ही साध्य रूप से अन्वित होता है, अन्य तो अन्वित नहीं होता; क्योंकि अन्वय के योग्य दृष्ट पदार्थ होने पर अदृष्ट की कल्पना युक्त नहीं होती (१)। इस में—स्वाध्याय (वेद) तो पहले से ही सिद्ध है; अतः उसकी साध्यता नहीं हो सकती—ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वेद की प्राप्ति असिद्ध होने से उस अंश में साध्यता हो सकती है। इस में पुनः— स्वाध्याय की अवाप्ति स्वतः

उसी प्रकार यहां भी वेदावाप्तिकाम नियोज्य की कल्पना की जायेगी- ऐसी शंका होने पर उत्तर देते हैं कि यहां पर विश्वजिन्न्याय नहीं लगाया जा सकता; क्योंकि वहां अन्य वाक्य से नियोज्य की प्राप्ति किसी भी प्रकार से असम्भव होनें पर विधि की अन्यथानुपपत्ति से नियोज्य की कल्पना की गई है। यहां तो "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत, तमध्यापयीत" इस प्रकार आचार्यत्वकाम नियोज्य से युक्त अध्यापन विधि से ही प्रयुक्त होकर अध्ययन भी सिद्ध होता है। अतः उस को सिद्ध करने के लिये नियोज्य की कल्पना की आवश्यकता नहीं--- यह तात्पर्य है।

(१)यह भावनावाद जैमनीय मीमांस दर्शन के द्वितीयाध्याय, प्रथमपाद और प्रथमाधिकरण के आधार पर है, और उत्पद्यमान वस्तु की उत्पत्ति के अनुकूल उत्पादकनिष्ठ व्यापारविशेष ही भावना का सामान्य लक्षण है। यह भावनाशब्द णिजन्त "भू" धातु में

भाव्यतां प्रतिपद्यते, तस्य च विचारमन्तरेणाऽनुपपत्तेस्तस्मिन्नपि स्वाध्यायविधेस्तात्पर्यमिति चेन्न; राजसूयादिप्रतिपादकानां वाक्यानां ब्राह्मणेनाऽध्ययनाऽनापत्तेः। ब्रह्मयज्ञजपाद्यर्थं तदध्ययनमिति यदि, तर्हि सर्वस्यैव तथाऽध्ययनमस्तु, किमर्थाऽवबोधकल्पनयेति।

पुरुषार्थं नहीं; और अर्थज्ञान तो अनुष्ठान के उपयोगी होकर प्रयुक्त होता है; अतः वह अर्थविबोध ही साध्यता को प्राप्त होगा। किन्तु वह अर्थविबोध विचार के बिना नहीं हो सकता, इस कारण उसमें भी स्वाध्याय का तात्पर्य है—ऐसी शंका नहीं हो सकती; क्योंकि राजसूयादि कर्म ब्राह्मण के द्वारा अनुष्ठेय न होने से उनके प्रतिपादक वाक्यों की ब्राह्मण से अध्ययनाभाव रूप आपत्ति आ जाती है। यदि ब्रह्मयज्ञ जपादि अर्थात् वेद के परायण जपादि के लिये उनका अध्ययन मानो तो सर्व वेदों का अध्ययन भी वैसे ही मान लो, उस में अर्थज्ञान की कल्पना करने से क्या लाभ?

युच्प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है। भावना, व्यापार, उत्पादना और क्रिया, ये सब समानार्थक शब्द है, कहा भी है—"व्यापारो भावना सैवोत्पादना सैव च क्रिया" इति। लिङ् लेट् और लोट् ये तीन लकार तथा तव्यादि विधिवाचक प्रत्यय इस भावना के प्रयोजक हैं। जैसे—'स्वर्गकामी यजेत' इस विधिवाक्य मे "यजेत" पद के "यज्" धातु और "त" प्रत्यय दो अंश है। प्रत्ययांश में भी लिङ्त्व और आख्यातत्व (क्रियात्व) दो अंश हैं। कारण कि लिङ् लकार के स्थान में "त" प्रत्यय के आदेश होने से उसमें लिङ्त्व है और दश लकारों में क्रियाबोधकत्व होने के कारण सामान्यरूप से आख्यातत्व भी है; अतः लिङ् लकार में स्वभावतः आख्यातत्व है। इन दोनों में से लिङ्त्व द्वारा शाब्दी भावना होती है, क्योंकि प्रेरणात्मक लिङ् के श्रवण से पुरुष किसी कर्म में प्रवृत्त होता है। लोक व्यवहार में तो वक्ता के अभिप्राय के अनुसार पुरुष की प्रवृत्ति होती है; किन्तु वैदिक विधि में तो अपौरुषेय वेद होने से केवल शब्द मात्र से पुरुष की प्रवृत्ति के लिये प्रेरणा होती है; अतः इसका

किञ्च— हुं-फडादिशब्दाऽध्ययनस्याऽर्थाऽवबोधपर्यन्तत्वाऽभावादवश्यमक्षरग्रहणं स्वाधीनोच्चारणक्षमत्वलक्षणं फलं वाच्यम् । तथा च वैरूप्यपरिहारार्थं सर्वत्र तदेवाऽस्तु, अर्थाऽवबोधस्तु तस्य फलम्, न तु विधेः, कथं तदुभयभिन्न-विचारोऽध्ययनविधिविधेयः स्यात् ?

इसके अतिरिक्त— "हुं फट्" आदि शब्दों के अध्ययन में अर्थावबोधपर्यन्तत्व का अभाव होने से स्वाधीन (अपने अधीन) उच्चारणक्षमता रूप अक्षर ग्रहण मात्र ही अध्ययन का फल कहना होगा । तब तो कहीं अर्थावबोधपर्यन्त अध्ययन, और कहीं तो अक्षर ग्रहण मात्र के लिये अध्ययन— इस प्रकार के वैरूप्य के परिहारार्थ सब में ही वही अक्षर ग्रहण मात्र मानो । अर्थावबोध तो उस अक्षर ग्रहण का फल है, विधि का नहीं । अतः अक्षर ग्रहण और अर्थावबोध इन दोनों से भिन्न विचार अध्ययनविधि का विधेय किस प्रकार हो सकता है ?

नाम शाब्दीभावना है । इसका मुख्य लक्ष्य पुरुष को स्वर्गादि-फलोत्पत्ति के अनुकूल प्रवृत्ति कराना है । और आख्यातत्व अंश से आर्थीभावना होती है, यही भावना फलोत्पत्ति के अनुकूल पुरुषनिष्ठ व्यापार विशेष है । अतः आर्थी भावना ही शाब्दी भावना का विषय है । इस आर्थी भावना में एकपदोपात्त यज् धातु का अर्थ याग साधन रूप से अन्वित होता है । अतः "स्वर्गकामो यजेत" का अर्थ "यागेन स्वर्गं भावयेत्" अर्थात् "याग से स्वर्ग निष्पन्न करें" ऐसा होता है । इसमें "किं भावयेत्" ऐसी आकांक्षा होने पर स्वर्ग कर्मरूप से अन्वित किया गया है । इसी प्रकार "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इसमें भी "अध्ययनेन स्वाध्यायं भावयेत्" अर्थात् "अध्ययन द्वारा वेद को प्राप्त करें" ऐसा अर्थ होगा । अतः यहां आर्थीभावना का करण (साधन) धात्वर्थ अध्ययन है, और समानविभक्ति से सहोच्चारित "स्वाध्याय" साध्य है ।

अवघाते आवृत्तिवद्भवितव्यमितीति चेन्न, तत्र विहितस्यैव धात्वर्थस्य दृष्टवैतुष्यफलाऽनुपपत्त्या आवृत्तिकल्पनात्, इह त्वक्षरग्रहणेनैव दृष्टफलेनोपपत्तौ कल्प्यविचारविध्यनुपपत्तेः।

ननु-- अर्थाऽववोधस्य विध्यफलत्वे तत्र शब्दानां तात्पर्यं न स्यात्; तथा च न वेदस्य प्रामाण्यलाभ इति चेन्न;

शंका-- हो क्यों नहीं सकता ? अवघात में जिस प्रकार आवृत्ति विधि का विषय हो जाती है, उसी प्रकार यहां भी विचार विधि का विषय होगा।

समाधान-- ऐसा नहीं है, क्योंकि वहां तो विहित अवघातरूप धात्वर्थ में दृष्ट वैतुष्यरूप फल असम्भव होने से आवृत्ति की कल्पना की गई है। और यहां तो अक्षर ग्रहणरूप दृष्ट फल से ही विधि सार्थक होने से कल्प्य विचार का विधायक नहीं हो सकता (१)।

शंका-- अर्थाववोध को विधि का फल नहीं मानेंगे तो उस में शब्दों का तात्पर्य नहीं होगा, तब तो वेद का प्रामाण्य लाभ भी नहीं होगा॥

---

(१) दर्शपूर्णमासयाग के प्रकरण में यागीय चरु के निमित्त "व्रीहीनवहन्ति" अर्थात् "धानों को कूटना चाहिये" इस प्रकार "अवघात" का विधान किया गया। यह अवघात द्रव्यसंस्कार मात्र के लिये नहीं, किन्तु तण्डुलनिष्पत्ति के लिये है। अतः दृष्ट फल सिद्ध करने के लिये जब तक धानों का तुषविमोचन नहीं होता, तब तक अवघात की आवृत्ति होती है। इसी प्रकार "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस विधि से जब तक अक्षरग्रहण दृष्टफल नहीं होता, तब तक भले ही अध्ययन की आवृत्ति हो। उतने मात्र से विधि का सार्थकत्व सिद्ध होता है। परन्तु वह कल्प्य विचार का विधायक तो नहीं हो सकता-- यह भावार्थ है।

लोके नद्यास्तीरे पक्वफलानि सन्तीति वाक्यस्य विध्यभावेऽप्यवबोधे तात्पर्यदर्शनात्। तस्मान्न स्वाध्यायविधिप्रयुक्तो विचारः; किन्तूत्तरक्रतुविधिप्रयुक्त इति यथा, तथा श्रवणादिविधिप्रयुक्त एव ब्रह्मविचारोऽपि भविष्यतीति को विरोधः ?

इष्ट साधनताविधिपक्षेऽपि कस्येष्टस्य साधनमध्ययनमित्यपेक्षायामक्षरग्रहणस्यैवाऽऽकांक्षापूरकत्वे नाऽन्यफलकल्पनाऽवकाश इति उत्तरक्रतुविधिप्रयुक्तत्वादर्थाऽवबोधस्य तत्प्रयुक्त एव विचार इति।

समाधान–ऐसा न कहो, क्योंकि लोकव्यवहार में "नदी के किनारे परिपक्व फल पड़े हुए हैं" इस वाक्य में विधि का अभाव होने पर भी अर्थविशेष में तात्पर्य देखने में आता है। (उसी प्रकार अर्थविशेष विधि का फल न होने पर भी उसमें शब्दों का तात्पर्य हो सकता है)। अतः स्वाध्याय विधि से प्रयुक्त विचार नहीं, किन्तु जिस प्रकार स्वाध्याय अध्ययन के उत्तर काल में अनुष्ठेय क्रतु (याग) की विधि से प्रयुक्त कर्मविषयक विचार माना जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इस श्रवणादि विधि से प्रयुक्त होकर ही ब्रह्म विचार भी सिद्ध होगा, इस में विरोध कहाँ(१)है ? इष्ट साधनता विधि के पक्ष में भी अध्ययन किस इष्ट का साधन है - ऐसी आकांक्षा होने पर अक्षर ग्रहण ही उस आकांक्षा का पूरक हो जाता है; अतः उसमें अन्य फल की

---

(१) अध्ययनविधि का अर्थबोधान्तत्व तक फल नहीं मानेंगे तो प्रयोजक का अभाव होने से विचार शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होगी–ऐसी शंका होने पर "पुरुषार्थानुशासन" में समाधान दिया गया है–"विचार उत्तरविधिप्रयुक्त उपपद्यते" ॥१३॥ साङ्गवेद के अध्ययन से आपाततः (सामान्य रूप से) अर्थज्ञान हो जाता है। किन्तु कर्म विधियों में परस्पर विरोधादि का परिहार पूर्वक निर्णयज्ञान हुए बिना कर्म का अनुष्ठान नहीं हो सकता। अतः अध्ययनोत्तर काल

भवतु वा स्वाध्यायविधिप्रयुक्त एव विचारः; तथापि प्राच्यमीमांसया न गतार्थत्वम्; तत्र कर्मोपयोगिन एव वेदभागस्य विचारितत्वात्। न चैकवाक्यत्वम्; विरुद्धार्थप्रतिपादकत्वेन तदसंभवात्। अर्थाऽविरोधे सत्येवैकवाक्यत्वम्। न चैवं परस्परविरुद्धार्थत्वेनाऽप्रामाण्यं काण्डद्वयस्यापि शंक्यम्; पूर्वकाण्डस्य व्यावहारिकप्रामाण्यात्, उत्तरकाण्डस्य पारमार्थिकवस्तुप्रतिपादकत्वेन तत्त्वाऽऽवेदकत्वलक्षणप्रामाण्याऽभ्युपगमात्।

कल्पना करने का अवकाश ही नहीं रहता; क्योंकि अर्थावबोध उत्तर क्रतुविधि से प्रयुक्त होता है और उस से प्रयुक्त होकर ही विचार भी सिद्ध होता है।

अथवा स्वाध्यायविधि से प्रयुक्त विचार भले ही मान लिया जाये, तो भी पूर्वमीमांसा शास्त्र से ब्रह्म विचार चरितार्थ नही हो सकता, क्योंकि उसमें कर्म मात्र के उपयोगी वेदभाग का ही विचार किया गया है। और कर्मप्रतिपादक पूर्वकाण्ड तथा ब्रह्मप्रतिपादक उत्तरकाण्ड दोनों की एकवाक्यता भी नहीं हो सकती; क्योंकि विरुद्धार्थ के प्रतिपादक होने से दोनों में एकवाक्यता असम्भव है। अर्थ में विरोध न होने पर ही एकवाक्यता होती है। इस रीति से तो

में अनुष्ठीयमान कर्मों की विधि से प्रयुक्त क्रतुविचार होता है। श्रवणविधि तो साक्षात् ब्रह्मविचार का प्रयोजक है। अतः श्रवण विधि का स्वविधेयप्रयोजकत्व है और क्रतुविधियों का स्वविधेयोपकारिप्रयोजकत्व है; यही दोनों में विशेषता है। अध्ययनविधि से विचारप्रयुक्ति के पक्ष में तो क्रतुद्वारा स्वर्गसिद्धि पर्यन्त अध्ययनविधि का विषय होगा। तब तो क्रतु का अनुष्ठान भी इस विधि से ही सिद्ध होने से क्रतुविधियां व्यर्थ हो जायेंगी। अतः उत्तर क्रतुविधिप्रयुक्त क्रतुविचार जिस प्रकार होता है, उसी प्रकार श्रवणविधिप्रयुक्त ब्रह्मविचार सिद्ध होता है।

किञ्च–ब्रह्मज्ञानप्रतिबन्धकदुरितध्वंस जनककर्मकलाप-प्रतिपादकपूर्वकाण्डेन सह ब्रह्मज्ञानजनकोत्तरकाण्डस्य मोक्ष-प्रयोजकस्यैकवाक्यत्वे संभवति विरोधेनाऽप्रामाण्यकल्पनाऽनु-पपत्तिः । न च– पूर्वकाण्डाऽपेक्षितदेहादिव्यतिरिक्तकर्त्तृ-स्तावकत्वेनोत्तरकाण्डस्योपयोगः किं न स्यादिति साम्प्रतम्; मुख्यत्वे बाधकाऽभावात्, स्तुतौ लक्षणाऽऽपत्तेः, देहव्यति-रिक्तस्य स्तुतिं विनाऽपि कर्मणि प्रवृत्तिसंभवात्, देहव्य-तिरिक्तमात्राऽपेक्षणाच्च, अपेतब्रह्मक्षत्रादिभावस्य नित्य-शुद्धबुद्धमुक्तात्मभावस्य नित्यनिरतिशयाऽऽनन्दरूपस्य विज्ञानघनस्य बुद्धेः प्रवृत्तिं प्रत्यनुपयोगाच्च । न चैतादृशे

काण्डद्वय में परस्परविरुद्धार्थकत्व होने से अप्रामाण्य हो जायेगा–ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिये; कारण कि पूर्वकाण्ड में व्याव-हारिक प्रामाण्य है और उत्तरकाण्ड में पारमार्थिक वस्तु की प्रति-पादकता होने से तत्त्वावेदकत्वरूप प्रामाण्य माना जाता है।

किञ्च— ब्रह्मज्ञान के प्रतिबन्धक पापों के ध्वंसजनक कर्म-समुदाय के प्रतिपादक पूर्वकाण्ड के साथ ब्रह्मज्ञान के जनक और मोक्षफलक उत्तरकाण्ड की एकवाक्यता सम्भव होने पर दोनों में विरोध मान कर अप्रामाण्य की कल्पना तो हो ही नहीं सकती। और पूर्वकाण्ड से अपेक्षित तथा देहादि से अतिरिक्त कर्त्तारूप आत्मा का स्तावक होकर उत्तरकाण्ड का उपयोग क्यों न हो ? ऐसा कथन भी युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि उत्तरकाड के मुख्यत्व में कोई बाधक नहीं है और उस को स्तुत्यर्थक मानेंगे तो लक्षणा की आपत्ति भी आती है; देहव्यतिरिक्त आत्मा की स्तुति के बिना भी कर्म में प्रवृत्ति हो सकती है, कारण कि उसमें देहव्यतिरिक्तत्व मात्र की अपेक्षा है; और ब्राह्मण क्षत्रियादि भाव से रहित नित्यशुद्धबुद्ध-मुक्तस्वरूपस्वभाव, नित्यनिरतिशय आनन्दरूप और विज्ञानघन

वस्तुनि प्रत्यक्षादिबाधः, तस्याऽग्रे निराकरिष्यमाणत्वात् । तस्मादगतार्थमिदं बादरायणीयं तन्त्रमिति तत्त्वविचारः पृथक्करणीय इति तत्त्वरक्षार्थं यतनीयम् ।।

इत्यद्वैतरत्नरक्षणे शास्त्रारम्भोपपत्तिः ।।१।।

आत्मा की बुद्धि का उपयोग कर्मप्रवृत्ति में नहीं होता। इस प्रकार की आत्मवस्तु का बाध प्रत्यक्षादि से भी नहीं हो सकता, क्योंकि इस बाध का निराकरण आगे किया जाने वाला है। अतः यह बादरायणीय शास्त्र पूर्वमीमांसा शास्त्र से चरितार्थ न होने से इस तत्त्व का विचार पृथक् ही करना चाहिये- यह सिद्ध हुआ। इस कारण तत्त्वरक्षा के लिये अवश्य प्रयत्न करना चाहिये ।।

इत्यद्वैतरत्नरक्षणे शास्त्रारम्भोपपत्तेर्भाषानुवादः ।।१।।

अथ श्रुतिप्रामाण्योपपत्तिः

ननु– भाष्यकारादिभिस्तत्त्वरक्षार्थं बहुग्रन्थस्य कृतत्वात्किमनेनेति चेत्, सत्यम्; कुतार्किकोत्थापितकुयुक्तिनिराकरणेन भाष्यकाराद्युक्ततात्पर्यवर्णनेन चाऽस्य सार्थकत्वात्। तथाहि—

मोक्षाय स्पृहयालवः श्रुतिगिरां श्रद्धालवोऽर्थेऽनृजौ
वेदान्तार्थविभावनासु सुतरां व्याजेन निद्रालवः।
भेदे खण्डनखण्डितेऽपि शतधा तन्द्रालवस्तार्किकाः
कैवल्यात्पतयालवः शृणुत सद्युक्ति दयालोर्मम ॥१॥

अथ श्रुतिप्रामाण्योपपत्तेर्भाषानुवादः

भाष्यकारादि प्राचीन आचार्यों ने अद्वैत तत्त्व की रक्षा के लिए अनेक ग्रन्थों की रचना की है, तब इस "अद्वैतरत्नरक्षण" नामक ग्रन्थ की रचना से क्या लाभ? ऐसी शंका होने पर उत्तर देते हैं-ठीक है, तो भी कुतार्किकों के द्वारा उत्थापित कुतर्कों का निराकरण और भाष्यकारादि द्वारा कथित तात्पर्य का वर्णन करने के कारण इस ग्रन्थ की सार्थकता है। जैसे कि—

मोक्ष के लिए ईर्ष्यालु, श्रुतिवाक्यों को तोड़ मरोड कर कुटिल अर्थ करने में श्रद्धालु, वेदान्तार्थ के विचार से तात्पर्यनिर्णय करने में बहाना बनाकर स्वभाव से निद्रालु, खण्डनकार श्री हर्ष के द्वारा खण्डन ग्रन्थ में अनेक प्रकार से भेद खण्डित करने पर भी उस

अद्वैतरत्नरक्षायां तात्त्विका एव यामिकाः ।
अतो न्यायविदः स्तेनान्निरस्यामः स्वयुक्तिभिः (१) ॥२॥

तदिदं तत्त्वरक्षणं क्रियमाणं विवेकिभिर्विचारणीयम् । तत्रोक्तं तावत्स्वप्रकाशचिदानन्दरूपं सत्यं नित्यं सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यं तत्त्वमिति ।

में ध्यान न देते हुए तन्द्रालु (२), और कैवल्य मोक्ष से पतनशील तार्किक लोग दया से द्रवीभूत मेरी सद्युक्ति को सुनें ॥१॥ अद्वैतरत्न की रक्षा में तत्ववित् लोग ही पहरेदार होते हैं। अतः हम अपनी युक्तियों से इस रत्न के चोर नैयायिकों को दूर भगा देंगे ॥२॥

विवेकियों द्वारा किये जाने वाला जो तत्व का रक्षण है, वह विचार करने योग्य है। उस विचार में यह कहा गया है कि स्वप्रकाश चैतन्य आनन्दरूप, सत्य नित्य और सजातीयभेद, विजातीयभेद तथा स्वगतभेद से रहित वस्तु ही तत्व है। और उसमें "अस्थूलम्" आदि

---

(१) यह "अद्वैतरत्नरक्षण" ग्रन्थ श्रीशंकरमिश्रकृत "भेदरत्न" नामक ग्रन्थ का खण्डनात्मक है। उस ग्रन्थ के मंगलाचरण में श्री शंकरमिश्र ने इस प्रकार लिखा है—

मोक्षाय स्पृहयालवः श्रुतिगिरां श्रद्धालवोऽर्थे ऋजौ
तर्कोदर्कविभावनासु सुतरां व्याजेन निद्रालवः ।
भेदे दृक्पथमागतेऽपि सहसा तन्द्रालवश्छान्दसाः
कैवल्यात् पतयालवः शृणुत सद्युक्तिम् दयालोर्मम ॥२॥
भेदरत्नपरित्राणे तार्किका एव यामिकाः ।
अतो वेदान्तिनः स्तेनान्निरस्यत्येष शंकरः ॥३॥

इसके उत्तर में लिखे गये ये दो श्लोक हैं ।

(२) श्री शंकरमिश्र ने श्रीहर्षकृत "खण्डनखण्डखाद्य" के ऊपर "शांकरी टीका" लिखी है। यह टीका "भेदरत्न" की रचना के बाद लिखी गई है; क्योंकि उसमें कई स्थलों में "भेदरत्न" की बातें

"अस्थूलमनण्वह्रस्वम्" (बृ० ३।८।८)

प्रमाणञ्चाऽत्र- "अस्थूलमनण्वह्रस्वम्" इत्यादि वेदवाक्यमेव। अस्य चाऽयमर्थः-- न विद्यते स्थूलं यत्र, तदस्थूलम्, न विद्यतेऽणु यत्र, तदनणु; न विद्यते ह्रस्वं यत्र, तदह्रस्वम्; एवमन्यत्रापि ज्ञेयम्। तथा च सकलद्वैता-ऽत्यन्ताऽभाववद्वस्तुप्रतिपादनेन सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदशून्यं वस्तुतत्त्वं प्रतिपादितं भवति। न च-ब्रह्मणि द्वैत-प्रसञ्जकाऽभावे प्राप्तिपूर्वकनिषेधाऽनुपपत्तिरिति- वाच्यम्, सृष्टिप्रतिपादकवचनजातैरुपादानत्वप्रतिपादनपरैरर्थात्प्रपञ्च-संबन्धस्यप्रापितत्वात्। विमतंजगत् अभिन्ननिमित्तो-

वेदान्तवाक्य ही प्रमाण है। और इस वाक्य का यह अर्थ है- जिसमें कोई स्थूल पदार्थ नहीं है, वह अस्थूल है, जिसमें कोई सूक्ष्म पदार्थ नहीं है, वह अनणु है, जिसमें कोई ह्रस्व पदार्थ नहीं है, वह अह्रस्व (१)है; इस प्रकार मन्त्र के शेष अन्य शब्दों में भी समझना चाहिए। तब तो इस श्रुति से सकल द्वैत के अत्यन्ताभाववाली वस्तु का प्रति-पादन होने से सजातीयभेद, विजातीयभेद और स्वगतभेद से रहित वस्तुतत्व प्रतिपादित होता है। इसमें शंका होती है कि-("अस्थूलम्"

कही गई हैं। उस टीका में उन्होंने खण्डनकारकृत भेदखण्डन का सम-र्थन उपेक्षाबुद्धि से किया है। अतः यहां उनके उपर व्यंग किया गया है।

(१) श्री शंकरमिश्र ने भेदसिद्ध करने के लिए इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है- "स्थूलं यच्छरीरादि, तद्भिन्नं ब्रह्मेत्यर्थः। एवमणु यन्मनः प्रभृति, तद्भिन्नं ब्रह्मेत्यर्थः।" अर्थात् जो शरीरादि स्थूल पदार्थ हैं, उनसे भिन्न ब्रह्म है, इसी प्रकार जो मन आदि सूक्ष्म पदार्थ हैं, उनसे भिन्न ब्रह्म है- इत्यादि। इस अर्थ का खण्डनात्मक दूसरा अर्थ यहां किया गया है। ग्रन्थकार आगे इसका उद्धरण देकर विस्तार से खण्डन करेंगे।

पादानकं, भावकार्यत्वात्, सुखादिवदित्यनुमानाच्च प्रसक्तिः। न च– एतद्विरोधादेव न प्रपञ्चाऽत्यन्ताऽभावबोधनं शक्यमिति– शंक्यम्; सृष्टिवाक्यस्य मायामयसृष्टिप्रतिपादकत्वात्; 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'

इत्यादि श्रुति से ब्रह्म में द्वैत प्रपञ्च का जो निषेध होता है, वह प्राप्ति पूर्वक होना चाहिए, किन्तु) ब्रह्म में द्वैत का प्रापक न होने पर प्राप्तिपूर्वक निषेध न हो सकेगा। इसका उत्तर यह है कि– "यतो वाइमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि ब्रह्मोपदानत्वप्रतिपादनपरक सृष्टिप्रतिपादक वाक्यों से ब्रह्म का प्रपञ्च के साथ सम्बन्ध अर्थतः प्राप्त होता है, अतः उक्त दोष नहीं है। इसके अतिरिक्त– विवाद का विषयीभूत जगत् अभिन्ननिमित्तोपादानक है, क्योंकि जगत् में भावकार्यत्व है, (जिसमें भावकार्यत्व है, वह अभिन्न निमित्त उपादान कारण वाला होता है), जैसे सुखादि (१)—इस अनुमान से भी ब्रह्म में जगत् की प्रसक्ति होती है। और इन सृष्टिवाक्यों से विरोध होने के कारण ही "अस्थूलम्" इत्यादि वाक्य से प्रपञ्च के

---

(१) अनुमान के दो फल होते हैं– कहीं पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्य से साध्यसिद्धि और कहीं तो पक्षतावच्छेदकावच्छेद से साध्यसिद्धि। पक्षान्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति में पक्षता के अवच्छेदक धर्म के साथ समानाधिकरण होकर साध्य का निश्चय होना ही पक्षतावच्छेदक सामानाधिकरण्य से साध्यसिद्धि कही जाती है। तथा पक्षान्तर्गत सब व्यक्तियों को समुदायरूप से एक ही मानकर उसमें साध्य का निश्चय करना ही पक्षतावच्छेदकावच्छेद से साध्यसिद्धि कही जाती है। प्रकृत अनुमान से अभिन्ननिमित्तोपादानकत्वरूप साध्य के निश्चय को पक्षतावच्छेदकावच्छेद से साध्यसिद्धि समझनी चाहिये। इस पक्ष में पक्ष के एक देश में साध्यसिद्धि होने पर भी सिद्धसाधनतादोष नहीं होता, बल्कि उसको अनुमान में दृष्टान्तरूप से दिया जा सकता है। अतः प्रकृतानुमान में सुखादि पक्षान्तर्गत होता हुआ भी दृष्टान्तरूप से दिया गया है, क्योंकि नैयायिकों के मत में

(श्वे० ४।१०) इत्यनया श्रुत्यैकवाक्यत्वेन तथैव प्रतिपत्तेः, "अतोऽन्यदार्तम्" (बृ० ३।४।२) इत्यन्यस्य सर्वस्याऽऽर्तत्वा-ऽभिधानाच्च, "नान्तरिक्षेऽग्निश्चेतव्यः" (तै०सं०५।२।७।१) इतिवदप्राप्तेऽपि निषेधोपपत्तेः ।

अत्यन्ताभाव का बोधन अशक्य है-ऐसी शंका भी नहीं होनी चाहिये; क्योंकि सृष्टिवाक्य मायामय सृष्टि का प्रतिपादक है और "माया को प्रकृति जानो, मायी को तो परमेश्वर जानो" इस श्रुति के साथ सृष्टिवाक्य की एकवाक्यता होने से उसका (सृष्टि वाक्य का) माया-मयसृष्टि प्रतिप्रादकत्व हो सकता है। और "इससे भिन्न नश्वर है" इस श्रुति से भी ब्रह्मभिन्न सबको नश्वर कहा गया है। इसके अति-रिक्त—"अन्तरिक्ष में अग्नि का चयन नहीं करना चाहिये" इस वाक्य के समान ब्रह्म में जगत् प्राप्त न होने पर भी उसका निषेध हो सकता(१) है।

सुखादि के दोनों निमित्तकारण और उपादानकारण (समवायिकारण) आत्मा ही होती है।

(१) पूर्वमीमांसा के अर्थवादाधिकरण में "न पृथिव्यामग्निश्चे-तव्यो नाऽन्तरिक्षे न दिवि" (तै० सं० ५।२।७।१) अर्थात्— भूमि में अग्नि का चयन नहीं करना चाहिए, न अन्तरिक्ष में अथवा न द्युलोक में करना चाहिए" इस अर्थवाद को भी लेकर विचार हुआ है। उसमें पूर्वपक्षी का कहना है— "अभागिप्रतिषेधाच्च" (पू०मी० १।२।५)—अर्थात्-पृथिवी में तो अग्नि का चयन हो सकता है, अतः उसका भले ही निषेध हो; किन्तु अन्तरिक्ष और द्युलोक में तो किसी भी दशा में चयन की प्राप्ति नहीं होती। उस अप्राप्त के निषेध करने से यह अर्थवाद वाक्य अप्रमाण है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं- अन्त्ययोर्यथोक्तम्" (पू० मी० १।२।१८)—"हिरण्यं निधाय चेतव्यम्" (तै० सं० ५।२।७।१) अर्थात् सुवर्ण बिछाकर उसके ऊपर अग्नि का चयन करना चाहिये-इस विधि का स्तावक होकर यह वाक्य अप्राप्तका

न च—ब्रह्मणि प्रपञ्चनिषेधेऽप्यन्यत्रसत्त्वं किं न स्यात् ? भूतले निषिध्यमानस्य घटस्य देशान्तरे सत्त्ववदिति—साम्प्रतम्, स्वोपादाने निषिद्धस्य वस्तुनोऽन्यत्र सत्त्वाऽनुपपत्तेः, घटस्य च भूतलं नोपादानम्। न चोपादानत्वं ब्रह्मणोऽसिद्धम्; "जन्माद्यस्य यतः" (ब्र० सू० १।१।२) इत्यादिन्यायसिद्धत्वात्, तत्र श्रुत्यनुमानयोरुपन्यस्तत्वाच्च। न च—एकस्याऽनारम्भकत्वं, सततकार्याऽऽरम्भप्रसंगादिति—वाच्यम्; विवर्तवादाऽभ्युपगमात्। अत्र चैकस्या एव रज्वाः सर्पदण्ड-

शंका—ब्रह्म में प्रपञ्च के निषेध होने पर भी अन्यत्र प्रपञ्च का सत्त्व क्यों नहीं होगा ? जिस प्रकार भूतल में निषिध्यमान घट का देशान्तर में सत्त्व होता है, वैसा यहां भी होना चाहिये।

समाधान—इस प्रकार का कथन अयुक्त है; क्योंकि अपने उपादान में निषिद्ध वस्तु का अन्यत्र सत्त्व नहीं हो सकता। और घट का तो भूतल उपादान नहीं (अतः वह दृष्टान्त नहीं हो सकता)। और ब्रह्म का जगदुपादानत्व भी असिद्ध नहीं, क्योंकि "जन्माद्यस्य यतः" अर्थात्—इस जगत् का जन्म, स्थिति और प्रलय जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है—इत्यादिन्याय से वह सिद्ध है; और उसमें श्रुति तथा अनुमान पहले ही उपन्यस्त कर चुके है।

शंका— एक ही उपादान से कार्य का आरम्भ नहीं हो सकता, कारण कि ऐसा होने पर निरन्तर कार्यारम्भ का प्रसङ्ग आता (१) है।

निषेधक होने पर भी प्रमाण हो सकता है। यहाँ जिस प्रकार अप्राप्त का निषेधक होने पर भी अर्थवाद वाक्य प्रमाण है, उसी प्रकार प्रकृत में भी "अस्थूलम्" इत्यादि वाक्य ब्रह्ममें अप्राप्त जगत् का निषेधक होता हुआ भी ब्रह्म के अद्वितीयत्व सिद्ध करने में प्रमाण है—यह भाव है।

(१) नैयायिक और वैशेषिक लोग आरम्भवाद मानते है।

भूच्छिद्राद्यनेकोपादानत्वदर्शनात्, मायाद्वितीयत्वाऽङ्गीकाराच्च उपादानस्यैकत्वेऽपि कारणान्तरसापेक्षत्वेन सततकार्याऽऽरम्भाऽनापत्तेः; आरम्भवादस्य च श्रुतिस्मृतिपुराणादिविरुद्धत्वेन प्रतिभामात्रोत्प्रेक्षितत्वेन चोपेक्षणीयत्वाच्च ।

किञ्च-आरम्भवादे कार्यं सत्, उताऽसत् ? नाद्यः, कारकव्यापारवैयर्थ्यापत्तेः । न द्वितीयः, असतः कारकव्यापारेणोत्पत्त्यसंभवात्, शशविषाणस्याऽपि तथा सति कारकव्यापारादुत्पत्त्यापत्तेः । अथ शशे कार्यस्याऽत्यन्ताभावः,

समाधान—यह कथन भी उचित नहीं, क्योंकि हम विवर्तवाद (१) को मानते है। क्योंकि इस वाद में एक ही रज्जु में सर्प दण्ड, भूच्छिद्रादि अनेक कार्यों का उपादानत्व देखने आता है। और माया को द्वितीय सहकारिकारण मानने से उपादान एक होने पर भी कारणान्तर सापेक्ष होने से निरन्तर कार्यारम्भ का प्रसङ्ग भी नही आ सकता। और आरम्भवाद तो श्रुति, स्मृति, पुराणादि से विरुद्ध है, अतः स्वप्रतिभामात्र से कल्पित होने के कारण वह उपेक्षणीय है।

किञ्च-आरम्भवाद में उत्पत्ति के पूर्व कार्य सत् है, अथवा असत् ? सत् हो नहीं सकता; क्योंकि उत्पत्ति के पहले ही कार्य वर्तमान होने से कर्त्ता, करण आदि कारकों का व्यापार व्यर्थ होगा। द्वितीय असत् पक्ष भी हो नहीं सकता; कारण कि असत् की कारकों के व्यापार से उत्पत्ति हो नहीं सकती। यदि असत् की उत्पत्ति कारक

इस वाद में समवायिकारण (उपादान कारण) रूप अनेक अवयवों से अवयवी कार्य का आरम्भ माना जाता है। एक ही समवायिकारण से कार्य का आरम्भ नहीं होता। यदि कदाचित् एक ही समवायिकारण से कार्य का आरम्भ हो जाय तो कार्यारम्भ सतत होते रहना चाहिये; क्योंकि कार्यारम्भक कारण वर्तमान है-यह भाव है।

(१) पूर्व रूप त्यागे विना रूपान्तर की प्रतीति का कथन विवर्तवाद है।

मृदादौ च घटादेः प्रागभाव इत्यस्ति विशेष इति चेन्न; उत्पत्तेः पूर्वमसत्त्वाऽविशेषे एतस्यैव विशेषस्याऽसिद्धेः। तथापि– इतरकारणसमवधाने समवायिकारणे उत्पत्स्यते कार्यमिति प्रतीतिरस्ति घटादौ, नेतरत्र; तथा चोत्पत्स्यमान एव घटोऽभावस्य विशेषक इति चेन्न; असता संबन्धस्याऽनिरूपणात्। तज्ज्ञानमभावस्य निरूपकमिति–चेन्न; ज्ञानस्याऽपि संबन्धाऽभावे तदीयत्वाऽसिद्धेः। अथ–उत्पत्त्यनन्तरं घटस्य प्रागभावोऽत्राऽऽसीदिति ज्ञायते; कथमन्यथा न सर्वत्र घटस्योत्पत्तिरिति–चेन्न; तदानीं प्रागभावस्याऽसत्त्वेन घटस्य

व्यापार से मान ली जाये तो शशविषाण की भी कारक व्यापार से उत्पत्ति होने का प्रसङ्ग आ जायेगा। यदि ऐसा कहो कि–शश में कार्य रूप विषाण का अत्यन्ताभाव है, और मृदादि में कार्यरूप घट का प्रागभाव है–इस प्रकार दोनों में विशेष है। तो भी यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व दोनों में असत्त्व के अविशेष होने पर अत्यन्ताभाव और प्रागभावरूप विशेष की सिद्धि ही हो नहीं सकती।

शंका–तो भी अन्य कारणों के सहयोग होने पर समवायिकारण कपालादि में घटादिरूप कार्य उत्पन्न हो जायेगा–ऐसी प्रतीति घटादि में होती है, अन्य में नहीं होती। अतः उत्पन्न होने वाला घटादि ही अत्यन्ताभाव से प्रागभाव का विशेषक (विशेष बोधक) है।

समाधान–यह हो नहीं सकता; क्योंकि असत् कार्य के साथ समवायिकारण के संबन्ध का निरूपण हो नहीं सकता। यदि कहो कि संबन्ध भले ही न हो, किन्तु समवायिकारण में कार्य उत्पन्न हो जायेगा ऐसा ज्ञान तो होता ही है; वह ज्ञान ही प्रागभाव का निरूपक है–तो यह कथन भी अयुक्त है; क्योंकि असत् कार्य और समवायिकारण दोनों में संबन्ध का अभाव होने पर ज्ञान का भी कार्यप्रागभावनिरूपकत्व सिद्ध नहीं होता। यदि पुनः यह शंका हो कि–उत्पत्ति के अनन्तर "घट का प्रागभाव कपालरूप समवायिकारण में था" ऐसा जाना जाता

तदीयत्वाऽसिद्धेः, स्वरूपसंबन्धस्य द्वयात्मकत्वात्, प्रतीतिमात्रस्य च वस्त्वसाधकत्वात्। अनिर्वचनीयत्वेनाऽप्युपपत्तेः, प्रागभावस्य सत्त्वे प्रामाणाऽभावाच्च।

है; यदि ऐसा न हो तो घट की उत्पत्ति सर्वत्र क्यों नहीं होती? (अतः घट का प्रागभाव कपाल में मानना चाहिये)–यह भी ठीक नहीं; कारण कि घटोत्पत्ति के अनन्तर काल में प्रागभाव का असत्त्व होने से "घट का प्रागभाव" इस प्रकार संबन्ध बताना असिद्ध है, क्योंकि स्वरूप संबन्ध द्विसंबन्ध्यात्मक होता है और प्रतीतिमात्र तो वस्तु का असाधक भी होता है। और वह ज्ञान तो अनिर्वचनीयत्वरूप से भी हो सकता है; अतः प्रागभाव के सत्त्व में कोई प्रमाण(१) नहीं।

---

(१) घटोत्पत्ति से पूर्व "कपाले घटो नास्ति" अर्थात् "कपाल में घट नहीं" ऐसी बुद्धि होती है, वह बुद्धि घट प्रागभाव को विषय करने वाला प्रमाण नहीं, क्योंकि घटानयन से पूर्व "भूतले घटोनास्ति" इस प्रकार घटात्यन्ताभाव की प्रतीति से "कपाले घटो नास्ति" इस प्रतीति की कोई विशेषता नहीं। अतः अत्यन्ताभाव से अतिरिक्त प्रागभाव के सत्व में कोई प्रमाण नहीं। यदि इस में कहा जाये कि घटोत्पत्ति के अनन्तर "एतावन्तं कालं कपाले घटो नासीत्" अर्थात् "इतने समय तक कपाल में घट नहीं था" इत्यात्मिका बुद्धि ही कपाल में घट प्रागभाव का प्रमाण है, तो भी ठीक नहीं; क्योंकि इसमें भी "एतावन्तं कालं भूतले घटो नासीत्" इस अत्यन्ताभावविषयक बुद्धि से उस बुद्धि की कोई विलक्षणता नहीं। और किसी अनिष्ट पदार्थ को लेकर "इदं मा भूत्" अर्थात् "यह न हो" इत्यात्मिका कामना की अन्यथा अनुपपत्ति ही प्रागभाव का प्रमाण है, ऐसा कथन भी अयुक्त है, क्योंकि ऐसे स्थलों में जिस प्रकार नैयायिकादि के मत में अनिष्ट पदार्थ का साधन नष्ट करके अनादि प्रागभाव का पालन किया जाता है, वैसा ही अत्यन्ताभाव का भी पालन किया जा सकता है। अतः "यह न हो" इस कामना की अन्यथा उपपत्ति अत्यन्ताभाव को लेकर

अथ–उत्पन्नोऽपि घटः पुनरुत्पद्येत यदि प्रागभावस्य न कारकत्वम्। सामग्रीक्षणोत्तरक्षणस्य कार्यसत्त्वेन व्याप्तत्वात्। तत्र च घटस्य प्रतिबन्धकत्वे प्रतिबन्धकाऽभावस्य कारणत्व-पर्यवसानेऽन्यस्याऽभावस्य वक्तुमशक्यत्वेन गलेपादुकान्यायेन प्रागभावे पर्यवसानमिति–चेन्न; "एका सामग्री एकमेव कार्यं

शंका– यदि प्रागभाव का कारकत्व (कार्य के प्रति कारणत्व) न मानेंगे तो उत्पन्न घट की भी पुनरुत्पत्ति का प्रसंग होगा, क्योंकि सामग्रीक्षण का उत्तरक्षण कार्यसत्त्व से व्याप्त होता है (किसी एक कार्य के यावत्कारण समुदाय को सामग्री कही जाती है)। और उस पुनरुत्पत्ति में घट को प्रतिबन्धक मानेंगे तो प्रतिबन्धकाभाव कारण कोटि में आ ही जायेगा, तब तो किसी दूसरे अभाव का कथन अशक्य होने से "गले पादुका" न्याय से प्रतिबन्धकाभावका प्रागभाव में पर्यव-सान (१) होता है।

हो सकती है। इसी प्रकार "कपाले घटो भविष्यति" अर्थात् "कपाल में घट उत्पन्न होगा" यह अनुभव भी प्रागभाव में प्रमाण नहीं, क्योंकि "कपाल में घट होगा" यह अनुभव तो घट के भविष्यत्काल संबन्ध को विषय करता है, घट प्रागभाव को नहीं; अतः अत्यन्ताभाव से अतिरिक्त प्रागभाव के सत्त्व में प्रमाणाभाव सिद्ध होता है।

(१) नैयायिकादि के मत में प्रागभाव कार्यमात्र का सामान्य कारण है। अतः प्रागभाव सहित कारण समुदाय के अव्यवहित उत्तर क्षण में कार्य की उत्पत्ति मानी जाती है। और कार्योत्पत्ति के अनन्तर केवल प्रागभाव को छोड़कर अन्य सब कारण वर्तमान होने पर भी प्रागभावरूप कारण के अभाव से पुनः उस कार्य की उत्पत्ति नहीं होगी। किन्तु जो प्रागभाव को नहीं मानते, उनके मत में तो कार्यो-त्पत्ति के उत्तर क्षण में भी कारण समुदाय जैसे पहले था, वैसा ही अविघटित मानना होगा। तब तो कारण वर्तमान होने पर कार्य भी अवश्य होना चाहिये। अतः प्रागभाव को अनङ्गीकृत पक्ष में पुनः कार्योत्पत्ति का प्रसङ्ग आता है। यदि उत्पन्न घटादि कार्य ही पुनः

जनयति" इति स्वभावस्य कल्पनात्। धर्मिकल्पनातो धर्म-कल्पनाया लघुत्वात्, तत्क्षणाऽदृष्टादिरूपकारणाऽभावेन

समाधान– यह भी अयुक्त है; क्योंकि "एक सामग्री एक ही कार्य को उत्पन्न करती है" इस स्वभाव की कल्पना की जाती है; कारणकि धर्मी की कल्पना से धर्म की कल्पना में लघुत्व है, और कार्योत्पत्तिक्षण, अदृष्टादिरूप कारणों के अभाव से सामग्री का अभाव भी सिद्ध (१) है। इसके अतिरिक्त "यदि प्रागभाव कारण नहीं है;

घटोत्पत्ति में प्रतिबन्धक मान लिये जायें तो कारण कोटि में प्रतिबन्ध-काभाव को भी मानना होगा। तब तो घटोत्पत्ति में प्रतिबन्धकरूप घट का अभाव भी कारण हो गया। उस अभाव को अत्यन्ताभावादि कहा नहीं जा सकता, क्योंकि अत्यन्ताभाव नित्य होने से यदि घटा-त्यन्ताभाव कपाल में है तो घटकी उत्पत्ति नहीं होगी, और वह अभाव ध्वंस भी नहीं हो सकता, क्योंकि उत्पत्ति से पहले ध्वंस नहीं होता। अतः परिशेष प्रागभाव को ही प्रतिबन्धकरूप घटाभाव कहना होगा। इस रीति से तो जिस प्रकार किसी को बलात् जूतों की माला पहननी पड़ती है, उसी प्रकार अन्ततः आपको भी प्रागभाव को मानना होगा-यह पूर्व पक्षी का भाव है।

(१) यहां कहने का अभिप्राय यह है कि यदि प्रतिबन्धका-भाव कारण कोटि में आता है तो आपका कहना ठीक है; किन्तु प्रति-बन्धकाभाव कारणकोटि में आ नहीं सकता। क्योंकि प्रतिबन्धक का लक्षण है "सति पुष्कलकारणे कार्योत्पादविरोधित्वम्" अर्थात्–कार्यो-त्पादक सब पुष्कलकारणों के होते हुए भी कार्योत्पादन में जो विरोधी हो, वह प्रतिबन्धक कहा जाता है। यदि प्रतिबन्धकाभाव का भी कारण-कोटि में समावेश करेंगे तो वह प्रतिबन्धक ही कहा नहीं जायेगा। लोक में भी ऐसा कहा जाता है कि सब कुछ कारण होते हुए भी प्रति-बन्धक आने से कार्य नहीं हो पाया। कोई भी यह नहीं कहता कि सब कुछ होते हुए भी प्रतिबन्धकाभावरूप कारण की कमी से कार्य नहीं हो पाया। इसी से स्पष्ट है कि प्रतिबन्धकाभाव कार्य के प्रति कारण नहीं। अतः प्रतिबन्धकरूप घट का अभाव कारण नहीं। और

सामग्र्यभावाच्च। किञ्च–"यदि प्रागभावः कारणं न स्यात्, उत्पन्नोऽप्युत्पद्येत" इत्यत्रोत्पन्नस्योत्पत्तिरापाद्यमानाऽऽप्रसिद्धा।

अथ–मा भूत्प्रागभावस्य नियामकत्वम्, तथापि का नो हानिः? शशस्य विषाणं प्रति कारणत्वाऽभावादेव न ततस्तदुत्पत्तिः, तत्त्वं चाऽन्वयव्यतिरेकगम्यमिति चेन्न; असतः

तो उत्पन्न की भी उत्पत्ति होनी चाहिए" इस प्रकार के तर्क में "उत्पन्न की उत्पत्ति" यह आपाद्य अप्रसिद्ध (१) है।

शंका—कार्य के प्रति प्रागभाव भले ही नियामक न हो, तो भी उस से हमारी क्या हानि है? शश की विषाण (सींग) के प्रति कारणता के अभाव से उस से शृङ्ग की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु कारणता तो अन्वय और व्यतिरेक से जानी जाती है।

उत्पन्न की पुनः उत्पत्ति का निवारण तो "एका सामग्री" इत्यादि स्वभाव की कल्पना से किया जा सकता है। जहां लघु कल्पना से कार्यसिद्धि हो सकती है, वहां गुरु कल्पना की आवश्यकता नहीं। अतः धर्मविशिष्ट धर्मी प्रागभाव की कल्पना की अपेक्षा कारणगत धर्मरूप स्वभाव की कल्पना ही युक्तियुक्त है। इस स्वभाव की कल्पना भी न करें, तो भी उत्पन्न की पुनः उत्पत्ति का प्रसङ्ग नहीं होगा; कारण कि तत्तत् कार्य की उत्पत्ति के प्रति तत्तत्क्षण, अदृष्टादि भी कारण होते हैं। इनके अभाव होने पर सामग्री विघटित होने से कार्य नहीं होता।

(१) जिस प्रकार "यहां यदि अग्नि न हो तो धूम भी नहीं होना चाहिये" इस तर्क में आपाद्य धूमाभाव जलह्रदादि में प्रसिद्ध है, उसी प्रकार प्रकृत तर्क में आपाद्य "उत्पन्न की उत्पत्ति" कहीं भी प्रसिद्ध नहीं। अतः इस तर्क का उत्थापन नहीं हो सकता। इस प्रकार यहां पर प्रागभाव के खण्डन में इतना आग्रह इस लिये किया गया है कि यदि प्रागभाव मान लिये जाये तो भावरूप अज्ञान या अविद्या

कार्यस्य कारणत्वनियामकत्वाऽयोगात् संबन्धाऽभावात्। तथा कारणस्याऽपि न तन्नियामकत्वम्, असता संबन्धाऽनिरूपणात्। किञ्च–कार्यं विद्यमानमेकदेशेन वा वर्तते, सर्वात्मना वा? नाद्यः, आरम्भकाऽतिरिक्तैकदेशाऽनभ्युपगमात्, तेनैव वृत्तावात्माऽऽश्रयात्। न द्वितीयः, प्रत्यवयवं गोत्व-

समाधान—नहीं, क्योंकि (सत् और असत् में) संबन्ध का अभाव होने से असत् कार्य में कारणता का नियामकत्व अयोग्य है। उसी प्रकार कारण में भी असत् कार्य का नियामकत्व हो नहीं सकता; क्योंकि असत् कार्य के साथ कारण के संबन्ध का निरूपण नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त—विद्यमान कार्य अपने कारण में एकदेश से ही रहता है अथवा सर्वात्मरूप से? इन में आद्य हो नहीं सकता, क्योंकि तुम आरम्भक अवयवों से भिन्न एकदेश अर्थात् अवयव को मानते नहीं; अतः उस एकदेश से ही कार्य की वृत्ति होने पर आत्माश्रय (१) होता है। द्वितीय पक्ष भी नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्येक अवयव में गोत्व के समान व्याप्त होकर कार्य की वृत्ति (स्थिति) मानेंगे तो गौ के पुच्छ से भी स्तन के कार्य होने की आपत्ति आयेगी (कारण कि सर्वात्मरूप से अवयवी गोव्यक्ति पुच्छ में स्थित है)।

की सिद्धि नहीं होगी; क्योंकि वह प्रागभाव से ही चरितार्थ हो जायेगा। ऐसा होने पर अद्वैत सिद्धान्त का आधार ही न रह जायेगा। अतः आगे भी अज्ञान के प्रकरण में पुनः प्रागभाव का खण्डन किया जायेगा।

(१) आरम्भवाद में कार्य का आरम्भक अवयवों से अतिरिक्त अवयव नहीं माना जाता। इस परिस्थिति में आरम्भक अवयवों में से जिस अवयव में कार्य की स्थिति एकदेश से है, वह अवयव वस्तुतः कार्य का एकदेश ही है। अतः वह आश्रयभूत अवयव कार्य से अभिन्न होने से अपने में ही कार्य आश्रित होकर रहने के कारण आत्माश्रय-रूप दोष आता है—यह अभिप्राय है।

वत्समाप्य वृत्तौ पुच्छेनाऽपि स्तनकार्यापत्तेः। अथ–अवयवी वर्तत एतावन्मात्रम्, तस्यैकत्वात्कात्स्न्यैंकदेशविकल्पनाऽनुपपत्तिरिति-चेन्न; एकस्याऽपि गोत्ववद्वृत्तिप्रश्नोपपत्तेः, सर्वाऽवयवाऽसन्निकर्षे चाऽवयविनोऽप्रत्यक्षत्वापत्तेः। गोत्ववद्भविष्यतीति-चेन्न; असंप्रतिपत्तेः, अत्यन्तभेदे चोपादानोपादेयभावे हिमवद्विन्ध्ययोरपि तदापत्तेः। तस्मादारम्भवादाऽनुपपत्तेर्विकारवादस्य च कात्स्न्यैंकदेशविकल्पग्रस्तत्वेन दुःस्थत्वा-

शंका—अवयवों में अवयवी है– इतना मात्र है; और वह अवयवी तो एक ही होने से उसमें सर्वात्मत्व और एकदेश का विकल्प नहीं हो सकता।

समाधान—ऐसी शंका नहीं हो सकती; क्योंकि गोत्व के समान एक में भी वृत्तिविषयक प्रश्न हो सकता है और सर्व अवयवों का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष न होने पर अवयवी के अप्रत्यक्ष होने का प्रसङ्ग भी आता है।

शंका—सर्व अवयवों का सन्निकर्ष न होने पर भी जिस प्रकार गोत्व का प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार यहां भी होगा।

समाधान—ऐसी शंका भी नहीं कर सकते; कारण कि उसमें मतैक्य(१) नहीं। इसके अतिरिक्त अवयव और अवयवी में अत्यन्त भेद स्वीकृत होने पर भी उपादानोपादेयभाव मानेंगे तो हिमालय और विन्ध्यपर्वत में भी उपादानोपादेयभाव होने लगेगा। इस प्रकार आरम्भवाद असम्भव है, तथा परिणामवाद भी सर्वात्मत्व और एकदेश के विकल्प से ग्रस्त होने के कारण दुर्निरूप(२) है। और संघात-

---

(१) जिस प्रकार गोत्व प्रति गो व्यक्ति में प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार अवयवी भी प्रत्येक अवयव में प्रत्यक्ष होना चाहिये, किन्तु होता नहीं। अतः असंप्रतिपत्ति है।

(२) सांख्यों का सिद्धान्त परिणामवाद है। उनके मत में

त्संघातवादस्य चाऽतिरिक्तकार्याऽनुभवेन बाधितत्वाच्छून्य-वादस्य च सकलप्रमाणनिरस्तत्वाद्विवर्तवाद एव परिशिष्यते।
अथ—एवमेकस्याऽऽत्मनो नित्यस्याऽविनाशिनो जगदुपादानत्वे

वाद भी संघात से अतिरिक्त कार्य का अनुभव होने से बाधित होता है, और शून्यवाद तो सब प्रमाणों से निरस्त(१) है। अतः विवर्त-वाद ही बाकी रह जाता है।

शंका—इस प्रकार से नित्य अविनाशी एक ही आत्मा को जगत् का उपादान मानेंगे तो उससे उत्पन्न सारे जगत् भी नित्य सिद्ध होगा, क्योंकि कार्यनाश का प्रयोजक समवायिकारणनाश और

सत्वरजस्तमोगुणात्मक प्रकृति का परिणाम यह जड़ जगत् है। इस मत में भी प्रश्न उठता है—क्या प्रकृति का परिणाम साकल्य से होता है, अथवा एकदेश से? प्रथम पक्ष में तो प्रकृति पुनः अपने स्वरूप में आ नहीं सकेगी; क्योंकि लोक में वैसा ही देखा गया है; जैसे दूध से दहि होने पर वह पुनः दूध नहीं हो सकता। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं; क्योंकि निरवयव प्रकृति के एकदेश में परिणाम नहीं हो सकता। इसका विस्तार तो "स्वपक्षदोषाच्च" (ब्र० सू० २।१।२९) इस सूत्र के शांकर भाष्य में देखना चाहिये।

(१) दार्शनिक दृष्टि से बौद्ध चार विभागों में विभक्त होते हैं—सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक। इनमें सौत्रा-न्तिक और वैभाषिक दोनों ही बाह्यार्थवादी होते हुए भी सौत्रान्तिक बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी है और वैभाषिक बाह्यार्थानुमेयवादी है। योगा-चार क्षणिकविज्ञानवादी है और माध्यमिक शून्यवादी है। बाह्यार्थ-वादी के मत में दृश्यमान पृथिव्यादि जगत् परमाणुपुञ्जात्मक संघात मात्र है। वे लोग उसके अतिरिक्त कार्य नहीं मानते। अतः उनको संघातवादी कहते हैं। किन्तु लोक में परमाणुपुञ्ज से अतिरिक्त घट-पटादि कार्य अनुभव से सिद्ध है। इस कारण यह सिद्धान्त ठीक नहीं, क्षणिक विज्ञानवाद भी अनुभव विरुद्ध होने से बाधित ही होता है।

उत्पन्नमपि कार्यजातं नित्यं स्यात् । समवायिकारणाऽसमवायिकारणनाशयोः कार्यनाशप्रयोजकयोरभावात्, अन्यस्य कार्यनाशकस्याऽदर्शनादिति–चेन्न; तदभावेऽपि मरुमरीचिकायामुत्पन्नस्य नदीपूरस्य, रज्ज्वामुत्पन्नस्य च सर्पादेः, शुक्तिकायामुत्पन्नस्य च रजतादेर्द्वित्वादेश्च नाशदर्शनात् । न तत्र नाशः । किं तर्हि ? बाध इति-चेत्; प्रकृतेऽपि समानमेतत् । यथा च प्रपञ्चस्याऽपि शुक्तिरजतादितुल्यता,

असमवायिकारणनाश इन दोनों का अभाव है। और इन दोनों के अतिरिक्त कोई कार्यनाशक तो देखने में नहीं आता (१)।

समाधान—ऐसा नहीं, क्योंकि उन दोनों के अभाव होने पर भी मरुमरीचिका में नदी के जलप्रवाह का, रज्जु में उत्पन्न सर्पादिका, शुक्तिका में उत्पन्न रजतादि का और चन्द्र में प्रतीत द्वित्वादि का नाश देखने में आता है। इसमें यदि इस प्रकार शंका हो कि उन स्थलों में नाश नहीं होता, किन्तु बाध होता है, तो प्रकृत में भी उत्तर समान है। जिस प्रकार से प्रपञ्च की भी शुक्तिरजतादितुल्यता होती है,

---

शून्यवाद तो सर्व प्रमाण विरुद्ध है। यदि शून्य को कोई एक तत्त्व माने तो वह ब्रह्मतत्त्व से भिन्न सिद्ध नहीं होगा। और शशशृङ्ग के जैसे अलीक असत् को शून्य माने तो इस प्रपञ्च की संवृत्ति(अविद्या) से प्रतीति नहीं हो सकती; क्योंकि निरधिष्ठान भ्रम कहीं भी नहीं होता। अतः अलीकात्मक शून्यवाद निष्प्रमाणक है।

(१) कार्यनाश के प्रति समवायिकारणनाश और असमवायिकारणनाश का प्रयोजकत्व केवल आरम्भवाद में ही हो सकता है, परिणामवादादि अन्य वादों में नहीं। उसमें भी स्थूल प्रपञ्च से लेकर त्रसरेणु पर्यन्त कार्य नाश में समवायिकारणनाश प्रयोजक हो सकता है; द्व्यणुक के नाश में नहीं; क्योंकि उनके मत में द्व्यणुक का समवायिकारण परमाणु नित्य होने से उसका नाश नहीं हो

तथोपपादयिष्यामः। तस्मादुपादानकारणे ब्रह्मणि निषिद्धस्य प्रपञ्चस्य नाऽन्यत्र सत्त्वमस्तीति सिद्धम् ॥

इत्यद्वैतरत्नरक्षणे श्रुतिप्रामाण्योपपत्तिः ॥२॥

उसका आगे प्रतिपादन किया जायेगा। अतः उपादानकारणभूत ब्रह्म में निषिद्ध प्रपञ्च का अन्यत्र सत्त्व नहीं- यह सिद्ध हुआ ?

इत्यद्वैतरत्नरक्षणे श्रुतिप्रामाण्योपपत्तेर्भाषानुवादः ॥२॥

सकता। अतः उसके लिए दूसरा प्रयोजक असमवायिकारणनाश (समवायिकारणों के संयोगादि का नाश) कहा गया है।

——००——

अथ श्रुतीनां भेदपरत्वभङ्गः ॥३॥

अत्र(१) कश्चिदाह— नाऽद्वैतज्ञानं मुक्तिहेतुः; किन्तु देहादिप्रतियोगिकभेदवदात्मज्ञानम् । वदति चाऽत्र भेदनिरूपणप्रतिज्ञापूर्वकभेदस्थापने प्रमाणम् । तथा हि—

देहादेस्तात्त्विकाद्भेदं सत्यमात्मन्यजानताम् ।
मुमुक्षूणां न मोक्षोऽस्तीत्यतो भेदो निरूप्यते ॥१॥
न सा धीः क्वचिदप्यस्ति यत्र भेदो न भासते ।
अत एव न तन्मानं यन्न भेदप्रमापकम् ॥२॥

"स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमस्पर्शमगन्धमरसमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेज-

इसमें कोई कहता है—अद्वैतज्ञान मुक्ति का हेतु नहीं; किन्तु देहादिप्रतियोगिक भेद से विशिष्ट आत्मा का ज्ञान ही हेतु है। और इसमें भेदनिरूपण करने के लिये प्रतिज्ञापूर्वक भेद की स्थापना में प्रमाण कहता है। तथा हि—पारमार्थिक देहादि से आत्मा में वास्तविक भेद को न जानने वाले मुमुक्षुओं का मोक्ष नहीं हो सकता; इस कारण यहां भेदनिरूपण किया जाता है॥१॥ जिसमें भेद प्रतीत न होता हो, वैसी बुद्धि कहीं भी नहीं। अतएव जो भेद का प्रमापक न हो, वह प्रमाण नहीं होता॥२॥

---

(१) यहां "कश्चित्" शब्द से श्रीशंकर मिश्र को ही समझना चाहिये। आगे प्रायः सब पूर्वपक्ष उनके द्वारा रचित "भेदरत्न" से उद्धृत किये गये हैं।

स्कमप्राणममुखमनामाऽगोत्रमजरममरमभयममृतमरजोऽ-शब्दमविवृत्तमसंवृत्तमपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्, न तद-श्नोति कञ्चन, न तदश्नोति कश्चन(१)" (मा० श० प० १४।६।८।८) इति श्रुतावन्योन्याऽभावात्मकभेदस्यैव नञा-र्थत्वात्। तथा च स्थूलं यच्छरीरादि, तद्भिन्नं ब्रह्मेत्यर्थः। एवमणु यन्मनः प्रभृति, तद्भिन्नं ब्रह्मेत्यर्थः—इत्यादि। तथा च भेदज्ञानादेव कैवल्यमिति।

अत्रेदमालोचनीयम् – भेदज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वे यदि प्रमाणं स्यात्तदाऽस्याः श्रुतेर्भेदे तात्पर्यवर्णनं युक्तम्, तदेव

"उस याज्ञवल्क्य ने कहा – हे गार्गि ! यही तो वही अक्षर है, जिसको ब्राह्मण लोग इस प्रकार कहते हैं—वह अस्थूल है, अनणु है, अह्रस्व है, अदीर्घ है, अरक्त है, अस्नेह है, अच्छाय है(छायारहित है), अतम है (अन्धकार शून्य है) अवायु है, अनाकाश है, असङ्ग है, अस्पर्श है, अगन्ध है, अरस है, अनेत्र है, अश्रोत्र है, अवाग् है, अमन है, अतेज है, अप्राण है, अमुख है, अनाम है, अगोत्र है, अजर है, अमर है, अभय है, अमृत है, अरज है, अशब्द है, न विवृत है, न संवृत है, न उसका कारण है, न उसका कार्य है, न उसके अन्दर कोई है, न उसके बाहर कोई है, वह किसी को व्याप्त नहीं करता, और कोई भी उसको व्याप्त नहीं करता" इस श्रुति में अन्योन्याभावरूप भेद ही नञ् का अर्थ है। इसलिये "अस्थूल" का अर्थ है जो स्थूल शरीरादि है, उससे भिन्न ब्रह्म है। इसी प्रकार – जो अणुरूप मन आदि है, उससे भिन्न ब्रह्म है—इत्यादि अर्थ समझना चाहिये। अतः भेदज्ञान से ही कैवल्य मोक्ष होता है।

---

(१) यह श्रुति "माध्यन्दिनीय शतपथब्राह्मण" के अन्तर्गत बृहदारण्यकोपनिषत् से उद्धृत है। अतः प्रचलित काण्वशाखीय बृहदा-रण्यकोपनिषत् (अ०३।८।८)से पाठ में कुछ भेद है।

नास्ति, प्रमाणाऽभावात्। तथाहि–"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" (बृ० २।४।५), "आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रुत्या मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विज्ञातं भवति" (बृ० २।४।५), तथा "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" (श्वे०३।८), "आत्मा ज्ञातव्यः", "न स पुनरावर्तते" (नि० उ०) इत्यादिश्रुतावात्मज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वं श्रुतम्, न तु भेदज्ञानस्य; तथा च तत्र श्रुतेस्तात्पर्यवर्णनं व्यर्थमेव। पद्यद्वयञ्चाऽत्र पठनीयम्—

अतात्त्विकाच्छरीरादेर्मिथ्याभेदमजानताम् ।
सत्यात्मनि मुमुक्षूणां कृतेऽभेदो निरूप्यते ॥१॥
न सा धीः क्वचिदप्यस्ति यत्राऽभेदो न भासते।
अत एव न तन्मानं यन्नाऽभेदप्रमापकम् ॥२॥

यहां यह विचारणीय है—भेद ज्ञान मुक्ति में हेतु है–इसमें यदि प्रमाण होता तो इस श्रुति का भेद में तात्पर्यवर्णन युक्तियुक्त होता, किन्तु प्रमाण का अभाव होने से भेदज्ञान का मुक्तिहेतुत्व सिद्ध ही नहीं होता। क्योंकि —"हे मैत्रेयि! आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिये, श्रवण करना चाहिये, मनन करना चाहिये, और निदिध्यासन करना चाहिये"; "अरे मैत्रेयि! आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान से यह सब विज्ञात हो जाता है"; इसी प्रकार— "उस आत्मा को ही जानकर अतिमृत्यु (मोक्ष) को प्राप्त होता है" "आत्मा ज्ञातव्य है"। "आत्मसाक्षात्कारी मनुष्य इस संसार में पुनः लौटकर नहीं आता" इत्यादि श्रुतियों में आत्मज्ञान का मोक्षहेतुत्व सुना गया है, न कि भेदज्ञान का। अतः भेदज्ञान में श्रुति का तात्पर्यवर्णन व्यर्थ ही है। यहां दो श्लोकों का पाठ करना चाहिये— "अपारमार्थिक देहादि से सत्य या सत् आत्मा में मिथ्याभूत भेद को न जानने वाले मुमुक्षुओं के लिये यहां अभेद का निरूपण किया जाता है ॥१॥

अथ—अस्थूलादिवाक्यमेव भेदज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वे प्रमाणमित्युच्यते; तदपि न, तस्य वाक्यस्य वस्तुतत्त्वपरत्वात्, अर्थान्तरकल्पने वाक्यभेदात्, श्रुतिस्वरसाद्वेतुहेतुमद्भावाऽप्रतीतेश्च। न च—देहादौ तादात्म्यज्ञानस्य संसारहेतुत्वात्तद्भेदज्ञानं विमुक्तौ कारणमिति—वाच्यम्; ब्रह्मात्माऽज्ञानस्यैव संसारहेतुत्वेन श्रुतौ स्मृतौ च श्रवणात्। तथाहि—

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युस्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥
(ऋ० वे० १०।८२।७)

जिसमें अभेद प्रतीत न होता हो, वैसी बुद्धि कहीं भी नहीं। अतएव जो अभेदका प्रमापक नहीं है, वह प्रमाण नहीं ॥२॥

शंका—हम पहले कह चुके हैं कि "अस्थूलम्" आदि वाक्य ही भेदज्ञान के मुक्तिहेतुत्व में प्रमाण है।

समाधान—वैसा नहीं हो सकता, क्योंकि वह वाक्य वस्तुस्वरूप (आत्मस्वरूप) का प्रतिपादक है। उस में यदि अर्थान्तर की कल्पना करेंगे तो वाक्य भेद का प्रसङ्ग आता है; और "अस्थूलम्" इस वाक्य में श्रुति के स्वरस से अर्थात् स्वनिष्ठ अर्थप्रकाशकशक्ति से भेदज्ञान और मुक्ति में कार्यकारणभाव की प्रतीति भी नहीं होती। इसमें—देहादि में आत्मतादात्म्यज्ञान संसार का हेतु है, अतः आत्मा में देहादि से भेदज्ञान विमुक्ति का कारण है-ऐसी शंका भी नहीं हो सकती; क्योंकि ब्रह्माभिन्न आत्मा का अज्ञान ही संसार के हेतुरूप से श्रुति और स्मृति में सुना जाता है। तथाहि—"हे नर! तुम उस विश्वकर्मा परमात्मा को नहीं जानते हो, जो इन सर्वभूतों का उत्पादन करने वाला था। वह अस्मत्प्रत्ययगम्य से भिन्न और तुम लोगों के अन्दर स्थित सर्ववेदान्तगम्य साक्षिरूप है। नीहाररूप अज्ञान से आवृत होने से तुम उस को नहीं जान रहे हो। तुम अज्ञान से आवृतमात्र ही नहीं हो, किन्तु "मैं मनुष्य हूं" इत्यादि अनृत जल्प

"अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः" (गीता ५।१५) इति च श्रुतिस्मृती तत्र प्रमाणम्; "मम देहः" इति देहभेदस्य भासमानत्वेऽपि संसारस्याऽनुभवसिद्धत्वाच्च। स्तम्भः पिशाचो न भवतीतिवत्सर्वमहं न भवामीति भेदस्य ज्ञानसंभवेऽपि सर्वेषां संसारस्याऽनुभवसिद्धत्वाच्च। तस्मान्न भेदज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वे प्रमाणमस्ति। न च—"द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये परं चाऽपरमेव च" (मैत्र० उप० ६।२२) इति श्रुतिर्मानम्; न तावदस्याः श्रुतेर्भेदः पदार्थः, भेदवाचकपदाऽभावात्; द्विवचनस्य भेदाऽवाचकत्वात्। नाऽपि वाक्यार्थः, पदार्थसंबन्धस्यैव वाक्येन प्रतिपाद्यत्वात्। अथ–द्वित्वस्य भेदव्याप्तत्वात्तेन भेदाऽनुमानमितिचेन्न; "तत्त्वमसि" (छा० ६।८।७) "अहं ब्रह्मास्मि" (बृ० १।४।१०) इत्यभेदबोधक-

(कथन) से भी आवृत हो। किञ्च–तुम लोग किसी भी उपाय से अपने प्राणों को तृप्त करने में लगे हुए हो। इतना ही नहीं–परलोक के लिये भी अनेक यज्ञों में "प्रउग" आदि उक्थ मन्त्रों को शसन (सामान्यरूप से उच्चारण) करते हुए पृथिवी में विचरण करते रहते हो। इस प्रकार ऐहिक और पारलौकिक भोगों में लगे रहने से तुम परमात्मा को नहीं जानते। (यह व्याख्या सायनभाष्य के आधार पर है)। "ज्ञानरूप आत्मा अज्ञान से आवृत है, इस कारण प्राणी मोहित रहते हैं" ये श्रुति और स्मृति अज्ञान के संसारहेतुत्व में प्रमाण है। और "मेरा देह" इसप्रकार अस्मत्प्रत्ययगोचर आत्मा से देहभेद भासमान होने पर भी संसार तो जैसा का तैसा अनुभव सिद्ध होकर रहता है; और "स्तम्भ पिशाच नहीं" इस भेदज्ञान के समान "ये सब मैं नहीं हूँ" ऐसा भेदज्ञान सम्भव होने पर भी सब का संसार अनुभवसिद्ध है। इस कारण भेदज्ञान के मुक्तिहेतुत्व में कोई प्रमाण नहीं है। इसमें यदि आप कहें कि "पर और अपर के भेद से दो ब्रह्म

श्रुत्यानुमानस्य बाधितत्वात्, प्रत्यक्षश्रुतिविरोधेन स्मृतिबाधवत्। बिम्बप्रतिबिम्बभेदेन द्वौ चन्द्रावितिवत्तद्द्वित्वस्योपपत्तेश्च न पारमार्थिकभेदाऽनुमानम्। किञ्च–"द्वे ब्रह्मणी" इति श्रुतिर्न जीवपरयोर्भेदे प्रमाणम्, "अथाऽपरम्" इत्यादिनाऽपरशब्देन शब्दब्रह्मण एव श्रुत्या प्रतिपादनात्। ज्ञाते च शब्दब्रह्मणि तेन परब्रह्मज्ञानस्य संभवात्तदुपयोगः। न

ज्ञातव्य है" यह श्रुति भेद में प्रमाण है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि इस श्रुति में भेद का वाचक पद न होने से भेद पदार्थ नहीं हो सकता, और द्विवचन भी भेद का वाचक नहीं। इसी प्रकार भेद वाक्यार्थ भी नहीं, कारण कि पदार्थों का संबन्धमात्र ही वाक्य से प्रतिपाद्य होता है। यह भी नहीं कह सकते कि द्वित्व भेद से व्याप्त है, अतः उससे भेद का अनुमान (१) होता है; क्योंकि जिस प्रकार प्रत्यक्ष-श्रुति से विरोध होने के कारण स्मृतिका बाध(२) होता है, उसी प्रकार "तत्त्वमसि" "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि अभेदबोधक श्रुति से अनुमान बाधित होता है। इसके अतिरिक्त बिम्ब और प्रतिबिम्ब के भेद से दो चन्द्रों के समान ब्रह्मगतद्वित्व भी हो सकता है; अतः उस द्वित्व से पारमार्थिक भेद का अनुमान नहीं हो सकता। किञ्च—"द्वे ब्रह्मणी" यह श्रुति जीव और परब्रह्म के भेद में प्रमाण नहीं हो सकती; क्योंकि "अथाऽपरम्" इत्यादि से "अपर" शब्द के द्वारा श्रुति ने "शब्दब्रह्म" का ही प्रतिपादन दिया है। शब्दब्रह्म ज्ञात होने पर उस से परब्रह्म का ज्ञान सम्भव होने से उसमें शब्दब्रह्म का उप-

---

(१) "द्वे ब्रह्मणी" इति श्रुतिः भेदसाधिका, द्वित्वात् "द्वे पुस्तके" इतिवदित्यनुमानम्।

(२) ज्योतिष्टोम याग में "सदस्" नामक मण्डप के मध्य निखात औदुम्बरी शाखा को लक्ष्य लेकर स्मृति कहती है–"औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या" अर्थात्–औदुम्बरी शाखा को समग्ररूप से वस्त्र के द्वारा लपेटना चाहिये। और श्रुति कहती है–"औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्" अर्थात्–औदुम्बरी शाखा को स्पर्श करके उद्गाता

तु तद्भेदज्ञानस्योपयोगः, आनुषङ्गिकभेदज्ञानस्य चाऽविद्या-विद्यमानत्वेनाऽप्युपपत्तेः। तस्मात् श्रुतेः पौर्वापर्याऽज्ञानविजृम्भितमेतद्वाचालवचनमित्युपेक्षणीयमेव। न च–

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।"
(मु० ३।१।१)

योग(१) है; उनके भेदज्ञान का उपयोग नहीं। और आनुसङ्गिक भेदज्ञान तो अविद्या के विद्यमान होने से भी हो सकता है। अतः श्रुति के पौर्वापर्य के अज्ञान से फैलाया हुआ यह वाचालों का वचन है; इस कारण उपेक्षणीय ही है।

शंका—"समान आख्यान वाले दो पक्षी (जीव और ईश्वर) एक ही शरीर रूप वृक्ष में आश्रय लेकर साथ ही साथ रहते हैं। उनमें

सामगान करें। यहांपर यदि स्मृति के अनुसार शाला को सर्वाङ्ग-वेष्टन करें तो उस का स्पर्श नहीं हो सकता। अतः श्रुति और स्मृति में विरोध होने के कारण दोनों में से कौन सा होना चाहिए-ऐसा सन्देह होने पर महर्षि जैमिनि कहते हैं—"विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्" (पू० मी० १।३।३) अर्थात् प्रत्यक्षश्रुति और स्मृति में विरोध होने पर किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा न रखने वाली प्रत्यक्षश्रुति ही प्रमाण है; स्मृति तो श्रुतिप्रमाण की अपेक्षा दुर्बल होने से बाधित होती है। प्रत्यक्षश्रुति से विरोध न होने पर ही स्मृति प्रमाण होती है। इस न्याय को लेकर यहां उदाहरण दिया गया है।

(१) "द्वे ब्रह्मणी" इस उदाहृत श्रुति का उत्तरार्ध है—"शब्द-ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माऽधिगच्छति।" अपरब्रह्मरूप शब्दब्रह्म यहां पर ॐकार है। मैत्रायण्युपनिषत् की श्रुति स्वतः ही इसकी व्याख्या करती है—"यः शब्दस्तदोमित्येतदक्षरम्" इत्यादि। अतः ओम्कार की उपासना से निर्मलचित्तवाला पुरुष ब्रह्मज्ञान का अधिकारी बन सकता है।

इति श्रुतिर्भेदे प्रमाणम् । एतस्या अपि श्रुतेरापाततो भेदप्रतिपत्तावपि तज्ज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वाऽप्रतिपत्तेः । किञ्चाऽत्रापि न पदार्थो भेदो न वा वाक्यार्थः । अनुपपत्त्या प्रतिपाद्यमानस्य च भेदस्याऽभेदश्रुतिविरोधेनाऽऽभासत्वात् । अवच्छिन्नाऽनवच्छिन्नभेदेन च व्यवस्थोपपत्तेरुक्तत्वात् । किञ्च–"अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्" इतिन्यायेन लोकसिद्धभेदाऽनुवादेनाऽभेदे श्रुतेस्तात्पर्यम्; तथैवोपक्रमोपसंहारयोः पर्यवसानात् । नह्येकस्य वाक्यस्याऽर्थो भवति । किं तर्हि ? प्रघट्टकस्य । नाऽपि "सहस्रशीर्षा" (श्वे० ३।१४; ऋ० वे० १०।९०।१) इत्यादिवाक्यानां भेदप्रतिपादकत्वम्; तत्रा-

एक (जीव) तो स्वकृतकर्मफलों का भोग करता है और दूसरा (ईश्वर) भोग न करके केवल देखता रहता है" यह श्रुति भेद में प्रमाण है।

समाधान–यह भी हो नहीं सकता; कारण कि स्थूलदृष्टि से देखने पर इस श्रुति से भेद की प्रतीति होने पर भी इस भेदज्ञान का मुक्तिहेतुत्व सिद्ध नहीं होता। इसके अतिरिक्त–इस श्रुति में भी श्रुतिगत किसी पद का अर्थ भेद नहीं अथवा श्रुतिवाक्य का अर्थ भी भेद नहीं। "द्वासुपर्णा" इस श्रुति में निर्दिष्ट द्वित्व को अन्यथा अनुपपत्ति से प्रतीयमान भेद तो अभेदश्रुति से विरोध होने के कारण आभास ही मानना चाहिये। और जो भेद प्रतीत होता है, उसकी (घटावच्छिन्न आकाश और घटानवच्छिन्न आकाश के भेद के समान) अन्तःकरणादि से अवच्छिन्न चेतन और अनवच्छिन्न चेतन के भेद से व्यवस्था हो सकती है। किञ्च–"अप्राप्त (अज्ञात) वस्तु के प्रतिपादन में शास्त्र सार्थक होता है" इस न्याय से लोकसिद्ध भेद का अनुवाद कर के अभेदप्रतिपादन में ही श्रुति का तात्पर्य है; क्योंकि उसी प्रकार से ही उपक्रम और उपसंहार दोनों का पर्यवसान होता है। एक ही वाक्य का अर्थ पूर्ण हुआ नहीं करता; किन्तु प्रकरणगत

ऽपि भेदस्याऽशब्दत्वात् । आत्मभेदाऽप्रतिपादकत्वात् देह-भेदस्यैवाऽऽपाततो भेदप्रतिपत्तेः । तत्राऽपि न तद्रूपे तात्पर्यम् । किं तर्हि ? उपासनायाम् । तस्याश्चाऽभ्युदयसत्त्व-शुद्धिद्वारकज्ञानोत्पत्तिफलत्वात् ।

कई वाक्यों का अर्थ मिलकर पूर्ण हुआ (१) करता है। और "सहस्र-शीर्षा" अर्थात्–"हजारों सिर वाले" इत्यादि श्रुतिवाक्यों में भी भेदप्रतिपादकत्व नहीं; कारण कि उनमें भी भेद का प्रतिपादक शब्द नहीं; अतः आत्मभेद का प्रतिपादक न होने से देहभेद का ही आपाततः भेद प्रतीत होता है। उसमें भी सहस्रशीर्षत्वादि स्वरूप के प्रतिपादन में तात्पर्य नहीं, किन्तु उसी प्रकार से उपासना में तात्पर्य है; क्योंकि पुण्योदय और अन्तःकरण शुद्धि द्वारा ज्ञानोत्पत्तिरूप फल होता है।

---

(१) किसी एक प्रकरण में एक वाक्य को देखकर उसके अर्थ के अनुसार तात्पर्य निर्णय करना असंभव है। इसलिये प्रकरणगत सब वाक्यों का अर्थ मिलकर किस में तात्पर्य है यह निर्णय करने के लिये शास्त्रकारों ने तात्पर्यनिर्णायक छः लिंग माना है। यहां पर छिपा हुआ अर्थ के ज्ञापक को लिङ्ग कहा गया है। वे छः लिङ्ग ये हैं–

"उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥"

अर्थात्–उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उप-पत्ति ये छः तात्पर्य-निर्णय में लिङ्ग हैं। प्रकरणप्रतिपाद्य विषय का आदि में निर्देश करके अन्त में भी उसमें समाप्ति करना उपक्रमोप-संहार है। पूर्वपक्षी के द्वारा भेद में प्रमाण रूप से उदाहृत "द्वा सुपर्णा" यह श्रुति मुण्डकोपनिषत् की है। उस मुण्डकोपनिषत् में तो अद्वितीय वस्तुको लेकर–"कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" इस प्रश्न के उत्तर में "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। यत्तदद्रेश्यम्" यह उपक्रम है; और "ब्रह्मैवेदं विश्वम्" इत्यादि उपसंहार है। प्रकरण के मध्य में उस वस्तु का पुनः पुनः प्रतिपादन

न च–"तद्विष्णोः परमं पदम्" (कठ० १।३।९) इत्यादौ भेदप्रतीतिः; षष्ठ्या भेदाऽप्रतिपादकत्वात्, "राहोः शिरः" इतिवदुपपत्तेश्च न भेदाऽविनाभावसिद्धिः। न च–"स्वर्गकामो यजेत" (तै० सं०२।५।५) इत्यादौ विधिवाक्यात्कार्यकारणभावः प्रतीयते, स च भेदमन्तरेणाऽनुपपन्नस्तं कल्पयतीति–साम्प्रतम्; भेदमात्रकल्पनेऽपि तस्य पारमार्थिक-

और "विष्णु के उस परम पद को प्राप्त होता है" इत्यादि श्रुति में भी भेद की प्रतीति नहीं होती; कारण कि षष्ठी विभक्ति भेद की प्रतिपादिका नहीं (किन्तु सामान्य संबन्ध की ही प्रतिपादिका है); और अभेद में भी "राहु का सिर" इत्यादि के समान सम्भव होने से षष्ठी विभक्ति के प्रयोग में भेद के अविनाभाव की सिद्धि नहीं होती।

शंका–"स्वर्ग की कामना वाला याग करे" इत्यादि में विधि-वाक्य से स्वर्ग और यागादि में कार्यकारणभाव प्रतीत होता है; और वह कार्यकारणभाव भेद के विना अनुपपन्न होकर भेद की कल्पना कराता है।

करने का नाम अभ्यास है; जैसे कि उसमें ही –"येनाऽक्षरं पुरुषं वेद", "तदेतदक्षरं ब्रह्म", "तमेवैकं जानथ आत्मानम्" इत्यादि अभ्यास है। और प्रामाणान्तर से उस विषय की अप्राप्ति ही अपूर्वता है; जैसे कि उसमें ही "न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा" इत्यादि से अपूर्वता का प्रतिपादन है। उसी प्रकार फल का भी "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इत्यादि से प्रतिपादन किया गया है। उस विषय की प्रसंशा करना अर्थवाद है; जैसे कि उसमें ही–"एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य" इत्यादि से प्रशंसा की गई है। प्रकरणप्रतिपाद्य विषयको सिद्ध करने के लिये युक्ति देना उपपत्ति है; जैसे कि उसमें ही–"यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः" इत्यादि। अतः प्रकरण का तात्पर्य भेद में नहीं; किन्तु अभेद में ही है।

त्वांशस्याऽकल्पनात्। तावतैव प्रवृत्त्युपपत्तेः, अभेदश्रुति-विरोधेन तथा कल्पयितुमशक्यत्वात्। "अतोऽन्यदार्तम्" (बृ० ३।४।२) इति च ब्रह्माऽतिरिक्तस्य सर्वस्य पारमार्थिकत्वनिषेधात्।

एतेन— मैत्रेयीयाज्ञवल्क्यप्रश्नोत्तररूपोपनिषत्प्रवृत्तिरपि भेदे प्रमाणम्। नह्यभेदे प्रश्नः, न वा प्रष्टृप्रष्टव्यभाव उपपद्यते, तयोर्भेदव्याप्तत्वादिति। तथा श्रोतव्यादिप्रतिपत्तीनां विधानादपि भेदोऽभ्युपेतव्यः। अन्यथैकामेव प्रतिपत्तिं विदध्यादिति— परास्तम्; अविद्यादशायां कल्पितभेदमाश्रित्य

समाधान—ऐसा कहना भी अयुक्त है; कारण कि उससे भेदमात्र की कल्पना होने पर भी उस भेद के पारमार्थिकत्वांश की कल्पना तो नहीं होती; क्योंकि भेदमात्र की कल्पना से ही यागादि में प्रवृत्ति हो सकती है; और अभेदश्रुति से विरोध होने के कारण उसमें पारमार्थिकत्वांश की कल्पना तो हो ही नहीं सकती। और "इस से भिन्न नश्वर है" इस श्रुति से ब्रह्मभिन्न सब पदार्थों के पारमार्थिकत्व का निषेध भी किया गया है।

इस प्रकार पूर्वोक्त युक्ति और वक्ष्यमाण हेतु से— मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य की प्रश्नोत्तररूप उपनिषत् की प्रवृत्ति भी भेद में प्रमाण है; क्योंकि अभेद में प्रश्न नहीं हो सकता, अथवा प्रष्टृप्रष्टव्यभाव भी नहीं हो सकता; कारण कि दोनों ही भेद से व्याप्त है (जहां प्रश्न होता है, वहां भेद अवश्य होता है अथवा जहां प्रष्टृप्रष्टव्यत्व रहता है, वहाँ भेद रहता है—इस प्रकार दोनों ही भेद से व्याप्त हैं)। इसी प्रकार "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इस श्रुति में श्रवणादि प्रतिपत्ति (उपाय) यों के अलग अलग विधान से इनमें भेद मानना ही होगा। यदि इनमें भेद नहीं होता तो किसी एक ही प्रतिपत्ति का विधान होता— ऐसा कथन भी खण्डित हुआ। क्योंकि— अज्ञानदशा में कल्पित भेद को लेकर प्रश्नादि सब हो सकता है;

प्रश्नाद्युपपत्तेः, ज्ञाते तु तत्त्वे प्रश्नाद्यभावस्येष्टत्वात् । एवं प्रतिपत्तिभेदोऽपि । किञ्च– प्रश्नादिवाक्यानामात्मतत्त्वे तात्पर्यम्; तथैवोपक्रमात्; न प्रश्नादिरूपे, तत्प्रतिपादनेन प्रयोजनाऽभावात् । "यत्परः शब्दः, स एव शब्दार्थः" इतिहि न्यायविदः, एवं श्रवणादीनामिष्टसाधनत्वं शाब्दम्, न तु परस्परभेदोऽपि, तत्प्रतिपादने प्रयोजनाऽभावात् । आत्मज्ञान-संबद्धं हि प्रयोजनं श्रूयते, न तु तद्भेदज्ञानसंबद्धमित्यावेदितं पुरस्तात् । तस्मादशाब्दे निष्प्रयोजने श्रुतेस्तात्पर्यवर्णन-मर्थापत्तिवर्णनञ्च देवानांप्रियस्य परं शोभते, न शाब्द-न्यायमर्यादाभिज्ञस्येति । तस्मादस्थूलादिवाक्यस्याऽन्योन्या-ऽभावभेदार्थकत्ववर्णनमयुक्तमेव, भेदज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वे प्रमाणाऽभावात् ।

और तत्त्व ज्ञात होने पर तो प्रश्नादि सबका अभाव इष्ट ही है। इसी प्रकार प्रतिपत्ति के भेद को भी समझना चाहिये। किञ्च—प्रश्नादि वाक्यों का आत्मतत्त्व में तात्पर्य है, क्योंकि आत्मतत्त्व को जानने के लिये ही वैसा उपक्रम किया गया है, प्रश्नादिरूप में तात्पर्य नहीं, कारण कि प्रश्नादिरूप के प्रतिपादन से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। "जिस अभिप्राय को लेकर शब्द का प्रयोग होता है, वही अभिप्राय शब्द का अर्थ होता है" इस प्रकार से न्यायवित् शबरमुनि आदि की मान्यता है। इस रीति से श्रवणादिकाइष्ट-साधनत्व शब्द से बोधित है; किन्तु इसका परस्पर भेद तो शब्द से बोधित नहीं होता; क्योंकि उसके प्रतिपादन में प्रयोजन नहीं। कारण कि आत्मज्ञान से सम्बद्ध ही प्रयोजन सुना जाता है, आत्म-भेदज्ञान से संबद्ध नहीं– यह बात पूर्व ही कह चुके हैं। अतः अशब्द और निष्प्रयोजन भेद में श्रुतिका तात्पर्यवर्णन और अर्थापत्तिवर्णन करना तो मूर्खों को ही शोभा देता है, शब्दन्याय की मर्यादा के

ननु— अत्यन्ताऽभावबोधनेऽपि वैधर्म्यरूपोभेदः प्रतिपादितो भवति । यथा घटाऽत्यन्ताऽभावः पट इति । तथा चाऽन्योन्याभावोऽप्यार्थिकः प्रतिपादितो भवति । वैधर्म्यप्रतिपादनस्य तदेकफलत्वात् । तथा च घट्टकुट्यां प्रभातायितमिति— चेन्न; सर्वेषां पदार्थानां ब्रह्मण्युपादानकारणे प्रतिपन्नानामत्यन्ताऽभावबोधने द्वितीयस्याऽसत्त्वे वैधर्म्यप्रतिपत्तेर्वक्तुमशक्यत्वात् । अत एव च न प्रतीतिरपि; द्वितीयस्य भेदप्रतियोगिनोऽभावात् ।

अभिज्ञों को नहीं। इस कारण "अस्थूलम्" आदि वाक्य के अन्योन्याभावरूपभेदार्थकत्व का वर्णन अयुक्त ही है; क्योंकि भेदज्ञान के मुक्तिहेतुत्व में प्रमाण नहीं।

शंका—"अस्थूलम्" इत्यादि में नञ् से अत्यन्ताभाव का बोधन होने पर भी साथ ही साथ वैधर्म्यरूप भेद प्रतिपादित होता है; जैसे—घट का अत्यन्ताभाव पट है— इसमें घट से पट का विधर्मत्वरूप भेद सिद्ध है। तब तो अन्योन्याभाव भी अर्थतः प्रतिपादित हो जाता है, क्योंकि वैधर्म्यप्रतिपादन का फल अन्योन्याभाव को सिद्ध करनामात्र होता है। इस प्रकार से "चुङ्गीघर में प्रभात हो जाने" की लोकोक्ति को ही तुमने चरितार्थ (१) की है।

समाधान—ऐसा नहीं; क्योंकि उपादानकारणभूत ब्रह्म में आश्रितरूप से ज्ञात सब पदार्थों के अत्यन्ताभाव का बोधन हो जाने

(१) घट्टकुटीप्रभात न्याय का आकार इस प्रकार है—एक मनुष्य अपने सामान की चुङ्गी से बचना चाहता है; अतः वह अन्धकार में अन्य मार्ग से जाता है। किन्तु बीच में ही रास्ता भूल जाने के कारण प्रातः काल होते-होते वह चुङ्गीघर के ठीक सामने आकर पहुंचता है, इससे उसको चुङ्गी देनी पड़ी। इसी प्रकार से प्रकृत में भी अन्योन्याभाद से बचने के लिये अनेक प्रयत्न करने पर भी वैधर्म्य के कारण अन्योन्याभाव सामने ही आ गया।

ननु-- अस्थूलमिति स्थूलत्वादीनामेव प्रतिषेधः, स्थूलादिशब्दानां स्थूलत्वादिपरत्वात् । तथा च धर्मिणां सत्त्वाद् वैधर्म्याऽन्योन्याभावयोः सत्त्वाऽविरोध इति- चेन्न; अघटं भूतलम्, नीरूपोवायुरित्यादौ तथा व्युत्पत्त्यभावात्, धर्मपरत्वे लक्षणापत्तेः, धर्मिनिषेधे बाधकाऽभावाच्च । न च- मनआदीनां नित्यत्वेन विद्यमानत्वात् कथमेवं स्यादिति- वाच्यम्; "यावद्विकारन्तुविभागः" (ब्र०सू०२।३।७) इति

पर द्वितीयवस्तु का असत्त्व होने से वैधर्म्यज्ञान होने की बात नहीं कही जा सकती। अतएव भेद की प्रतीति भी नहीं होगी; क्योंकि भेद के प्रतियोगी द्वितीय पदार्थ का अभाव है।

शंका— "अस्थूलम्" इत्यादि शब्दों से स्थूलत्वादियों का ही निषेध होता है; कारण कि स्थूलादि शब्दों का अभिप्राय स्थूलत्वादि में है। तब तो धर्मिरूप स्थूलादि पदार्थों के सत्त्व होने के कारण वैधर्म्य और अन्योन्याभाव के सत्त्व में अविरोध है।

समाधान- नहीं; क्योंकि "अघट भूतल है" और "नीरूप वायु है" इत्यादि स्थलों में उस प्रकार की व्युत्पत्ति (शक्तिग्रह) नहीं होती (अर्थात्- "घटत्वात्यन्ताभाववद्भूतलम्" और "रूपत्वात्यन्ताभाववान् वायुः" इस प्रकार का शाब्दबोध नहीं होता)। इसके अतिरिक्त- स्थूलादि शब्दों का स्थूलत्वादिरूप धर्मपरत्व मानने पर लक्षणा की आपत्ति होगी; किन्तु यहां लक्षणा नहीं हो सकती, क्योंकि धर्मियों के निषेध में कोई बाधक नहीं।

शंका – तो भी मन आदि अनेक नित्य पदार्थों के विद्यमान होने से "एक ही अद्वितीय ब्रह्म है" ऐसा कैसे हो सकता है?

समाधान— ऐसा भी कहना नहीं चाहिए; क्योंकि "यावद्विकारं तु विभागोलोकवत्" अर्थात्- जो कुछ भी विकारसमुदाय लोक में देखने में आता है, उसका विभाग होता है, विभक्तत्व होने से ही अनित्यत्व है। उसी प्रकार आकाश का भी पृथिव्यादि से विभक्तत्व होने से अनित्यत्व है- इस न्याय से ब्रह्मभिन्न सब पदार्थों का कार्यत्व

न्यायेन ब्रह्माऽतिरिक्तस्य कार्यत्वाऽभ्युपगमात्, "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" (मु०२।१।३); "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै०उ०२।१) इत्यादिश्रुत्या मनः प्रभृतीनां सृष्टिप्रतिपादनाच्च। न च– नित्यानां ज्ञप्तिरितरेषामुत्पत्तिरिति– व्याख्येयम्; श्रुतिविरोधेनेतरेषां नित्यत्वस्यैवाऽसिद्धेः, वैरूप्यप्रसङ्गाच्च।

ननु— अभेदज्ञानस्यापि मुक्तिहेतुत्वे न प्रमाणं पश्यामः। यदिदमान्ध्यं भवतः, यतः "तत्त्वमसि" (छ०।६ ८।७), "अयमात्माब्रह्म" (बृ०२।५।१९), "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि" (गी०१३।२) इत्यादि श्रुतिस्मृतिवादा जीवपरयोरभेदं प्रतिपादयन्ति। न चाऽत्र संबोध्यत्वाद्भेदाऽवगमः। आपाततः प्रतिपादकादात्मनो भेदाऽवगमेपि तत्पदार्थेनेश्वरेण

माना जाता है। "इस अक्षर पुरुष से प्राण, मन और सब इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं", "इस आत्मरूप उस परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ" इत्यादि श्रुतियों से मन आदियों की सृष्टि का प्रतिपादन किया गया है। इन श्रुतियों की ऐसी भी व्याख्या नहीं होनी चाहिए कि मन आदि नित्य द्रव्यों की तो ज्ञप्ति है और उनसे भिन्न की उत्पत्ति है; क्योंकि श्रुति से विरोध होने के कारण ब्रह्म से भिन्न पदार्थों के नित्यत्व की सिद्धि नहीं होती, और इस प्रकार की व्याख्या करने पर तो श्रुति में वैरूप्य का प्रसङ्ग भी आता है, अर्थात्– एक ही श्रुतिवाक्य में "जायते" इस एक ही पद का अर्थ कहीं विज्ञप्ति और कहीं तो उत्पत्ति करना ठीक नहीं।

यदि आप इसमें कहें कि – अभेदज्ञान के भी मुक्तिहेतुत्व में हम कोई भी प्रमाण नहीं देखते, तो यह आप का अन्धापन है; क्योंकि "वह सत् परमात्मा तुम हो", "यह आत्मा ब्रह्म है", "मुझ परमात्मा को तुम क्षेत्रज्ञ जीवरूप से भी जानो" इत्यादि श्रुति और

सह संबोध्यस्य जीवस्य भेदाऽनवगमात्, प्रत्युताऽभेद एव प्रतीयते; सामानाधिकरण्यस्वारस्यात्, "स एवाऽयं देवदत्तः"

स्मृति के वचन जीव और परमात्मा के अभेद का प्रतिपादन करते हैं (१)। और "तत्त्वमसि" इस वाक्य में जीव संबोध्य होने से उसका संबोधक आत्मा से भेद जाना जाता है, अर्थात् श्वेतकेतु की संबोध्य आत्मा का उद्दालक की संबोधक आत्मा से भेद ज्ञात होता है— ऐसी शंका भी नहीं करना चाहिए,— क्योंकि स्थूलदृष्टि से देखने पर प्रतिपादक (संबोधक) आत्मा से संबोध्य आत्मा का भेद-ज्ञान होने पर भा तत्पदार्थ परमात्मा के साथ संबोध्य जीव का भेद श्रुति से नहीं जाना जाता; किन्तु उसके विपरीत "यह वही देवदत्त है" इस वाक्य के समान सामानाधिकरण्य (समानविभक्तिप्रतिपाद्यत्व) के सामञ्जस्य से यहां पर अभेद ही प्रतीत होता है। यदि सामानाधिकरण्य से अभेद का प्रतिपादन नहीं मानेंगे तो अभेदमात्र

---

(१) देहादि से आत्मा का भेदज्ञान मोक्ष का हेतु नहीं, क्यों कि इस भेदज्ञान से मुक्ति होती है— इसमें श्रुतिवचनरूप कोई भी प्रमाण नहीं—इस ग्रन्थकार की उक्ति में यह शंका की जा सकती है कि "तत्त्वमसि" आदि वाक्य से अभेद का ज्ञान होने पर भी वह मोक्ष का हेतु नहीं, क्योंकि अभेदज्ञान से मोक्ष होता है– इसमें कोई श्रुतिरूप प्रमाण नहीं। इस का उत्तर यह है—"यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्याऽऽयतनं महत्। सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं तत्त्वमेव त्वमेव तत्। तद्ब्रह्माऽहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते" (कै० उ० १६।१७)। "यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः। तदा देवमविज्ञाय दुःखस्याऽन्तो भविष्यति" (श्वे ६।२०)। "आत्मैवेदं सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्······ स स्वराट् भवति" (छा०७।२५।२)। "विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्। ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" (मु०३।२।८,९)। "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ईश०७) इत्यादि अनेक श्रुतिरूप प्रमाण हैं। और उपासना के प्रकरण न होने से ये सब वाक्य स्तुतिपरक अर्थवाद भी नहीं हो सकते।

इतिवत्, अन्यथाऽभेदमात्रोच्छेदः स्यात्। प्रतिपादकादात्मनोऽपि भेदो न शाब्दः, किन्त्वार्थः। स चाऽऽकाशस्येव घटकरकाद्युपाधिनाऽन्तःकरणाद्युपाधिनाऽप्युपपद्यते। द्वितीयवाक्ये गीतावाक्ये च भेदगन्धोऽपि न प्रतीयते। तथा सर्वाऽभेदप्रतिपादिका श्रुतिः– "सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति" (बृ०४।३।३२) इति। सलिल इव सलिलः स्वच्छ

के उच्छेद का प्रसङ्ग होगा। और यहां पर प्रतिपादक आत्मा से संबोध्य आत्मा का भेद भी शाब्दबोध का विषय नहीं, किन्तु अर्थतः प्रतीत होना मात्र है। और वह भेद तो जिस प्रकार घट, कमण्डलु आदि उपाधि से आकाश का होता है, उसी प्रकार अन्तःकरणादि उपाधि से भी हो सकता है। "अयमात्मा ब्रह्म" इस द्वितीय वाक्य और "क्षेत्रज्ञं चापि" इत्यादि गीतावाक्य में तो भेद की गन्ध तक भी प्रतीत नहीं होती। वैसे ही सर्वाऽभेद का प्रतिपादन करने वाली श्रुति यह है– "शुद्ध एक अद्वितीय द्रष्टा है"। यहां "सलिल इव सलिलः" ऐसा विग्रह करके जल के समान स्वच्छ (शुद्ध) है–यह सलिल का अर्थ है। लिङ्ग के व्यत्यय को ऋषिप्रयोग समझना चाहिए (कहने का अभिप्राय यह है कि जलवाचक सलिलशब्द का नपुंसक लिङ्ग होता है, किन्तु यहां पर पुंलिङ्ग है। इस प्रकार लिङ्ग का परिवर्तन आर्षग्रन्थों में प्रायः देखने में आता है। तो भी शुद्ध प्रयोग ही माना जाता है, क्योंकि ऋषिलोग सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं)। "एक" शब्द का अर्थ– सजातीय भेद का अभाव है, और "अद्वैत" का अर्थ– विजातीय भेद का अभाव है, तथा "द्रष्टा" का अर्थ –। स्वप्रकाशरूप चित् है। इसप्रकार सजातीय-विजातीय भेद से रहित स्वप्रकाशरूप चेतन का सिद्धवत् निर्देश होने के कारण उसकी पूर्वकथित एवंरूपता सर्वदा ही स्थित है (१)– इस प्रकार श्रुतिज्ञापन

---

(१) एक ही जाति के पदार्थों में परस्पर भेद को सजातीय भेद कहते हैं; जैसे कि एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य का भेद। तथा

इत्यर्थः। आर्षो लिङ्गव्यत्ययः। एकः सजातीयभेदशून्यः, अद्वैतो विजातीयभेदशून्यः, द्रष्टा स्वप्रकाशचिद्रूपो भवतीति सिद्धवन्निर्देशात् सर्वदैवंरूपता यस्य विद्यत इतिज्ञापयति, तेन रूपान्तरं मायिकमिति ध्वन्यते।

कश्चित्त्वत्र उपक्रमोपसंहारश्रुतिपाठाद्यनभिज्ञो ब्रह्मद्वेषसमुद्भूतमहापातको वेदान्तसम्प्रदायाऽनभिज्ञो भगवद्वेदव्यासमतद्वेषी "सकिल एकोद्रष्टा" इति पाठं कल्पयित्वाऽन्येऽपि द्रष्टारः क्षेत्रज्ञा भेदवन्तः सन्तीत्यर्थस्य किलेत्यनेन

करती है। अतः उसका रूपान्तर तो मायिक ध्वनित हो जाता है।

उपक्रमोपसंहार, श्रुतिपाठादि से अनभिज्ञ, ब्रह्मद्वेष से समुत्पन्न महापाप वाले, वेदान्तसम्प्रदाय (वेदान्त अध्ययन की गुरुपरम्परा) से अनभिज्ञ और भगवान् वेदव्यास के मत के द्वेषी किसी एक (श्री शंकर मिश्र) ने तो "सलिल एकः" इस श्रुति में "सकिल एको द्रष्टा" ऐसे पाठ की कल्पना करके इस श्रुति को कल्पित अर्थ के द्वारा भेदपरक मानकर इस प्रकार व्याख्यान किया है कि "भेदयुक्त

भिन्न-भिन्न जाति के पदार्थों में परस्पर भेद को विजातीय भेद कहा जाता है, जैसे— गौ से अश्व का भेद। इसी प्रकार एक ही पदार्थ में अवयवों के भेद को स्वगत भेद कहते हैं, जैसे कि मनुष्य के हस्तपादादि में भेद। किन्तु ब्रह्मात्मा में सजातीय भेद नहीं, क्योंकि उसका सजातीय दूसरा ब्रह्म नहीं। एवं विजातीय पदार्थ न होने से ब्रह्मात्मा में विजातीय भेद भी नहीं, कारण कि ब्रह्म से भिन्न कहे जाने वाले सब पदार्थ उसमें आरोपित हैं। आरोपित पदार्थों की सत्ता अधिष्ठान ब्रह्म की सत्ता से भिन्न नहीं होती। अतः ब्रह्म भिन्न विजातीय पदार्थ नहीं। इसी प्रकार ब्रह्म में स्वगत भेद भी नहीं, क्योंकि ब्रह्म निरवयव और निराकार वस्तु है। इसलिए वह सदा ही सच्चिदानन्दरूप से निर्विकार स्थित है।

ध्वननादिति श्रुत्यर्थं कल्पयित्वैवाऽपि श्रुतिर्भेदपरैवेति व्याख्यातवान्, स च श्रुत्यन्यथाकरणाद् बिलवर्तिगोधाविभजनन्यायमनुहरन् बौद्धवदुपेक्षणीयः सद्भिरिति। किञ्च- किमिदं ध्वननम् ? न तावद्व्यञ्जनम्, आलंकारिकाणामिव वृत्यन्तरस्याऽनभ्युपगमात्। नाऽप्यनुमानम्; किलशब्दस्य नित्यभेदेन व्याप्त्यभावात्। निश्चयादावेव किलशब्दस्य कोशादौ प्रयोगात्। तथा "न तु तद्द्वितीयमस्ति, ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्" (बृ०४।३।२३) इति श्रुतिर्ब्रह्म-

अन्यभी द्रष्टा क्षेत्रज्ञ है" यह अर्थ "किल" शब्द से ध्वनित होता है। इस प्रकार श्रुति के अर्थ को अन्यथा करने के कारण बिल में स्थित गोधा के विभजन न्याय (१) का अनुसरण करने वाला वह सत्पुरुषों से बौद्धवत् उपेक्षणीय ही है। किञ्च- यह ध्वनन क्या है? व्यञ्जन तो नहीं हो सकता, क्योंकि आलंकारिकों (साहित्यिकों) के समान आपने व्यङ्ग्यार्थ के लिए व्यञ्जना वृत्ति नहीं मानी। अनुमान भी नहीं हो सकता, कारण कि "किल" शब्द की नित्यभेद के साथ व्याप्ति नहीं; और कोशादि में "किल" शब्द का निश्चयादि अर्थ में ही प्रयोग होता है। इसी प्रकार "वह कोई द्वितीय वस्तु तो नहीं, जिसको ब्रह्म से भिन्न विभक्त होकर देखें" यह श्रुति भी ब्रह्म के अतिरिक्त द्वितीय के अभाव को बताती है। और ऐसी शंका भी

(१) बिलवर्तिगोधा का मांसविभजनन्याय वहां प्रयुक्त होता है, जहां असम्भव को सम्भव मानकर मनोरथ पूर्ण किया जाता है। जिस प्रकार कई मनुष्य बिल में स्थित गोधा के मांस को विभक्त-करके अपने-अपने पेट भरने की कल्पना करते हैं, उसी प्रकार प्रकृत में भी श्रुति के अर्थ को अन्यथा करके उससे भेदसिद्धि की कल्पना की गई है। किन्तु वह मनोरथ मात्र है, उससे भेद की सिद्धि नहीं हो सकती, अतः कल्पना करने वाला उपेक्षणीय ही है— यह अभिप्राय है।

भिन्नत्वेन द्वितीयाऽभावं दर्शयति । न च– तद्ब्रह्म द्वितीयं नास्तीति धर्म्युपरागेण निषेधः; तथापि द्वितीयमात्रस्याऽभावप्रतीतेर्ब्रह्माऽद्वैतसिद्धिः । किञ्च– कथं तस्यामवस्थायां न पश्यतीति मैत्रेय्या पृष्टे–ज्ञानाऽभावान्न पश्यतीति न, किं तर्हि? द्वितीयस्य विभक्तस्याऽभावान्न पश्यतीति हेतुं वदन्ती श्रुतिर्द्वितीयमात्राऽभवमेव तात्पर्यतः प्रतिपादयति; यतो वदति– "पश्यन्वै तन्न पश्यति" (बृ०४।३।२३) इति । तस्मात्सकलद्वैताऽभावे ज्ञप्तिमात्रे चाऽऽत्मनि श्रुतेस्तत्र तात्पर्यमवगम्यते, तद्विरुद्धकल्पने बौद्धवदुपेक्षणीयत्वमेव तार्किकंमन्यस्य ।

तथा "एकमेवाऽद्वितीयम्" (छा०६।२।१) इति श्रुतिरप्यत्र प्रमाणम् । अत्र च एकमिति सजातीयाऽभावः प्रती-

होनी नहीं चाहिए कि– वह ब्रह्म द्वितीय नहीं– इस प्रकार धर्मी से संबन्धित होकर निषेध है अर्थात् द्वितीय धर्मी ब्रह्म का निषेध है, ब्रह्मनिष्ठद्वैतधर्म का नहीं; क्योंकि वैसा भी मान लिया जाये, तो भी द्वितीयमात्र के अभाव की प्रतीति होने से ब्रह्माद्वैत की सिद्धि होती है । किञ्च– "उस मोक्षावस्था में क्यों नहीं देखता?" इस प्रकार मैत्रेयी से पूछे जाने पर उत्तर में "ज्ञानाभाव से नहीं देखता, सो बात नहीं, किन्तु विभक्त द्वितीय के अभाव से नहीं देखता" इस रीति से दर्शनाभाव के हेतु को बताने वाली श्रुति द्वितीयमात्र के अभाव को तात्पर्य से प्रतिपादित करती है, क्योंकि वह श्रुति कहती है– "देखता हुआ भी वह नहीं देखता है" । अतः सकलद्वैत के अभाव और उस चिन्मात्र आत्मा में श्रुति का तात्पर्य जाना जाता है; और उसके विरुद्ध कल्पना करने पर तो बौद्ध के समान तार्किकंमन्य का मत उपेक्षणीय ही होता है ।

इसी प्रकार "एक ही अद्वितीय" यह श्रुति भी अद्वैत में

यते; घट एकोऽस्तीत्युक्ते यथा घटान्तराऽभावप्रतीतिस्तद्वत्। अद्वितीयमिति न विद्यते द्वितीयं यस्येति विजातीयाभावः प्रतीयते, अन्यथा तदुपादानवैयर्थ्यापत्तेः। यद्यप्येतावतैव सर्वप्रपञ्चरहितं वस्तु प्रतिपादितं भवति, तथाऽप्येकत्वादिसंख्याया धर्मधर्मिभावः, प्रकृतिवत् स्वगतभेदो वा भवेदिति कस्यचिन्मन्दमतेराशंका स्यात्, तन्निरासार्थमेवेति। अद्वैतदार्ढ्यार्थं केनापि प्रकारेण भेदगन्धो नास्तीति सर्वथैकरसं वस्तु, नाऽत्र शंकातुषोऽप्यस्तीति। किञ्च— "नेह नानाऽस्ति किञ्चन" (बृ०४।४।१९) इति श्रुत्यन्तरेण सर्वस्य जगतोऽविशेषण निषेधः प्रतीयते।

प्रमाण है। और इसमें "एक" पद से सजातीय का अभाव प्रतीत होता है। जैसे कि "घट एक है" ऐसा कहने पर जिस प्रकार घटान्तर के अभाव की प्रतीति होती है, उसी प्रकार यहां भी सजातीयाभाव की प्रतीति होती है। और "अद्वितीय" इस पद से- जिसका कोई द्वितीय नहीं है, वह अद्वितीय है – इस विग्रह के अनुसार विजातीय के अभाव की प्रतीति होती है। यदि ऐसा अर्थ न हो तो "अद्वितीय" पद का यहां ग्रहण करना व्यर्थ है। यद्यपि "एकम्" और "अद्वितीयम्" इन दोनों पदों के देने मात्र से ही सर्वप्रपञ्च से रहित वस्तु प्रतिपादित हो जाती है, तथापि एकत्वादि संख्या से ब्रह्म में धर्मधर्मिभाव हो, अथवा सत्वादि गुणभेद से जिस प्रकार प्रकृति (प्रधान) का स्वगत भेद होता है, उसी प्रकार ब्रह्म में भी स्वगत भेद हो- ऐसी किसी मन्दमति को शंका हो सकती है, उसके निवारणार्थ श्रुति में "एव" शब्द का प्रयोग है। अर्थात् किसी भी प्रकार से ब्रह्म में भेद की गन्ध तक भी नहीं, इस कारण वह सर्वथा एकरस वस्तु है, तथा उसमें लेशमात्र की शंका भी नहीं—इस प्रकार अद्वैतभाव को दृढ़ करने के लिए ही एवकार है। इसके अतिरिक्त "इस ब्रह्म में

ननु-- इह भूमण्डले एक एव नरपतिरद्वितीयः, अथवा इह कानने किंशुकतरुरेक एवेत्यभिधाने राजकिंशुकगत-नानात्वव्यतिरेकः प्रतीयते, न तु हस्त्यश्वादीनामप्यभावः, न वा वृक्षान्तरस्याऽभावः । तथेहाऽपि किं न स्यादिति-- चेन्न; तत्र हि राजकिंशुकयोः स्तुतौ तात्पर्यम्, न तु वस्त्व-न्तराऽभावे, तत्प्रतिपादने प्रयोजनाऽभावात्, समकक्षप्रमा-णान्तरबाधकसत्त्वाच्च । सकलद्वैताऽभावप्रतिपादने पुनः परमपुरुषार्थः श्रूयते--"यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं शृणोति" (बृ०२।४।१३) इत्य-विद्यावस्थायां द्वैतदर्शनमनूद्य "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभू-त्तत्केन कं विजानीयात्" (बृ०२।४।१३), तथा "विद्वान्नाम-रूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" (मु०३।२।८) इत्यादिश्रुतिवादेभ्यः ।

नाना कुछ भी नहीं' इस दूसरी श्रुति से सर्व प्रपञ्च का अविशेषरूप से निषेध प्रतीत होता है ।

शंका-- इस भूमण्डल में एक ही अद्वितीय राजा है, अथवा इस वन में एक ही पलाशवृक्ष है - ऐसे कथन में जिस प्रकार राजा और पलाश में नानात्व का अभाव प्रतीत होता है, हस्ति, अश्वादि का अभाव प्रतीत नहीं होता, अथवा पलाशभिन्न वृक्षों का अभाव प्रतीत नहीं होता, उसी प्रकार यहाँ भी क्यों न हो?

समाधान-- ऐसा नहीं हो सकता, कारण कि वहां राजा और पलाश की स्तुति में तात्पर्य है, अन्य वस्तु के अभाव में तात्पर्य नहीं, क्यों कि अन्य वस्तुओं के अभावप्रतिपादन में प्रयोजन नहीं; और वहां समकक्ष बाधक प्रमाणान्तर भी वर्तमान है। और यहां सकल-द्वैताभाव के प्रतिपादन में तो परमपुरुषार्थ अनेक श्रुतिवाक्यों से जाना जाता है। जैसे-- "जिस अज्ञानावस्था में द्वैत जैसा होता है, उसमें

न च--- तात्पर्यज्ञानं हेतुरिति; किं तर्हि? स्वसामर्थ्य-वशात् पदैः पदार्थप्रतिपादनद्वारा आकांक्षादिकमासाद्य वाक्यार्थे प्रतिपादिते वस्तुगत्या एकस्मिन्नेव तस्मिन् पुरुष-दोषान्नानात्वेन प्रतिपन्ने विचारेण तात्पर्ये निर्णीते एकोऽर्थः सत्य इत्यवधार्यते, पुरुषदोषकृतास्त्वपरे–इति निश्चीयते। अन्यथा मीमांसावैयर्थ्यापत्तेः। तस्मादुपक्रमादिनाऽद्वितीये ब्रह्मणि तात्पर्येऽवगतेऽर्थान्तरप्रतीतिर्भ्रान्तिरिति कल्प्यते।

एक दूसरे को देखता है, अन्य-अन्यको सुनता है'' इस प्रकार अविद्या की अवस्था में द्वैत दर्शन का अनुवाद करके "जिस ज्ञानावस्था में तो उस ज्ञानी का सब आत्मस्वरूप ही होता है, उस अवस्था में वह किस करण के द्वारा किसको जाने'', "विद्वान् नामरूप से विमुक्त होकर स्वप्रकाशस्वरूप परात्पर पुरुष को प्राप्त करता है'' इत्यादि। और सामान्यरूप से तात्पर्यज्ञान वाक्यार्थबोध में हेतु नहीं (अर्थात् प्रत्येक वाक्यार्थबोध में तात्पर्यज्ञान की आवश्यकता नहीं; किन्तु जहां मुख्यार्थ में असामञ्जस्य होने पर ही तात्पर्य का निर्णय करके उससे वाक्यार्थबोध किया जाता है। इस बात को प्रश्नपूर्वक आगे कहते हैं) तब क्या है? सर्वप्रथम पदों के द्वारा अपने-अपने सामर्थ्यवश पदार्थों का प्रतिपादन किया जाता है; और उन पदार्थों के द्वारा सब पद परस्पर आकांक्षादि को भी प्राप्त कर लेते हैं, तदनन्तर उन पदों से वाक्यार्थ प्रतिपादित होने पर वस्तुगति (वस्तु के स्वभाव) से एक ही अद्वितीय वस्तु में पुरुषदोष से नानात्व ज्ञात होने पर विचार के द्वारा तात्पर्य का निर्णय करके एक अद्वितीय अर्थ ही सत्य है, और उससे भिन्न नाना पदार्थ पुरुषदोषकृत हैं – ऐसा निश्चय किया जाता है। यदि विचार के पहले तात्पर्यबोध मान लिया जाये तो मीमांसाशास्त्र ही व्यर्थ हो जायेगा। अतः उपक्रमादि से अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य ज्ञात होने पर अर्थान्तर की प्रतीति भ्रान्ति है – इस प्रकार माना जाता है (अर्थात् तात्पर्य से ज्ञात अद्वितीय वस्तु की अन्यथानुपपत्ति से द्वैत की प्रतीति भ्रान्ति सिद्ध हो जाती है)।

न च–प्रपञ्चग्राहकमानेन बाधात्कथं तत्र तात्पर्यकल्पनं युक्तिमदिति– वाच्यम्; भिन्नविषयत्वात् । तथाहि– प्रत्यक्षादिकं हि प्रपञ्चस्य सत्तामात्रं गृह्णाति, न तत्र तस्याः कालत्रयाऽबाध्यत्वमपि, तत्र तस्याऽसामर्थ्यात्, श्रुतिस्तु कालत्रयेऽस्याऽबाधो नास्तीति बोधयति । तावता मिथ्यात्वे पर्यवसानं भवतीत्यादेर्वक्ष्यमाणत्वात् ।

तथा "न तदश्नोति (१) कञ्चन, न तदश्नोति कश्चन" (मा०श०प०१४।६।८।८) इति श्रुतिरप्यभेदे

शंका— प्रपञ्च के ग्राहक प्रमाणों से बाध होने के कारण उस अद्वितीय वस्तु में तात्पर्य की कल्पना किस प्रकार युक्तियुक्त हो सकती है?

समाधान – ऐसा न सोचो; क्योंकि श्रुति और प्रपञ्चग्राहक प्रमाणों का विषय भिन्न-भिन्न है। तथाहि– प्रत्यक्षादि प्रमाण प्रपञ्च की सत्ता मात्र का ग्राहक है, और प्रपञ्च में सत्ता के कालत्रय में अबाध्यत्व का ग्राहक नहीं, क्योंकि कालत्रयाबाधित सत्ता के ग्रहण करने में प्रत्यक्षादि की सामर्थ्य नहीं है। और श्रुति तो प्रपञ्च के कालत्रय में अबाध का अभाव बताती है। इतने मात्र से प्रपञ्च का मिथ्यात्व में पर्यवसान होता है— यह बात आगे कही जायेगी।

इसी प्रकार "ब्रह्म किसी को व्याप्त नहीं करता और कोई भी ब्रह्म को व्याप्त नहीं करता" यह श्रुति भी अभेद में प्रमाण है।

---

(१) यह श्रुति माध्यन्दिनीय शतपथ ब्राह्मण की है। श्री शंकर मिश्र ने भी इसकी व्याख्या– "तद्ब्रह्म न कञ्चन व्याप्नोति" की है। यहां "अशूव्याप्तौ" धातु का परस्मैपद में आर्ष प्रयोग है। और प्रचलित काण्वशाखीय ब्राह्मण में तो "न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन" (बृ०३।८।८) ऐसा पाठ है। यहां पर "अश भोजने" धातु का प्रयोग है। अतः व्याख्यानुसार "अश्नाति किञ्चन" के स्थान में "अश्नोति कञ्चन" यह पाठ दिया गया है।

प्रमाणम् । तथाहि– तद्ब्रह्म न कञ्चन व्याप्नोति, एतावता ब्रह्मसंबन्धो जगति निषिध्यते; तद्ब्रह्म न कश्चन व्याप्नोति, एतावता जगत्संबन्धो ब्रह्मणि निषिध्यते; ब्रह्मणोऽसङ्गाऽद्वितीयचिन्मात्रस्य परमार्थसत्यत्वात्, प्रपञ्चस्य च मायाकल्पितत्वेन स्वप्नवदनृतत्वात्, सत्याऽनृतयोर्वास्तवसंबन्धाऽयोगात् । तदुक्तं वार्तिककृद्भिः--

नि:सङ्गस्य ससङ्गेन कूटस्थस्य विकारिणा ।
आत्मनोऽनात्मना योगो वास्तवो नोपपद्यते ॥ इति (बृ० वा०४।३।११७६) तथा च सर्वाऽनृतसंबन्धशून्यं सर्वभ्रमाऽधिष्ठानं सर्वबाधाऽवधिभूतं परमार्थसत्यमेकरसं ब्रह्मेति प्रतिपादितं भवति । आरोप्याऽधिष्ठानयोश्च संबन्धाऽभावो भाष्यकारैः प्रतिपादितः– "तत्रैवं सति यत्र यदध्यस्तम्, तत्कृतेन दोषेण गुणेन वाऽणुमात्रेणाऽपि न संबन्ध्यते" इति (अध्यासभाष्यम्) । विवृतश्चैतत्संक्षेपशारीरककारैः--

तथाहि— "ब्रह्म किसी को व्याप्त नहीं करता" श्रुति के इस अंश से जगत् में ब्रह्मसंबन्ध का निषेध होता है; और "कोई भी ब्रह्म को व्याप्त नहीं करता" इस अंश से तो ब्रह्म में जगत्संबन्ध का निषेध होता है; क्योंकि असङ्ग अद्वितीय एवं चिन्मात्र ब्रह्म का परमार्थसत्यत्व है और मायाकल्पित होने से प्रपञ्च का स्वप्न के समान अनृतत्व है। अतः सत्य और अनृत में वास्तविक संबन्ध नहीं हो सकता। इस बात को वार्तिककारने इस प्रकार कहा है— "ससङ्ग के साथ निःसङ्ग का, विकारी के साथ कूटस्थ का, और अनात्मा के साथ आत्मा का वास्तविक संबन्ध नहीं हो सकता।" इस प्रकार सर्व अनृत वस्तुओं के साथ संबन्धरहित, सर्वभ्रम का अधिष्ठान, सर्वबाध का सीमारूप, परमार्थसत्, और एकरस ब्रह्म प्रतिपादित हो जाता है। और भाष्यकार ने भी आरोप्य तथा अधिष्ठान का संबन्धाभाव प्रति-

"नहि भूमिरूषरवती मृगतृड्जलवाहिनीं सरितमुद्वहति ।
मृगवारिपूरपरिवारवती न नदी तथोषरभुवं स्पृशति ॥"
इति (सं०शा०३।२५) ।

यत्तु तार्किकंमन्येन जल्पितम्– तद्ब्रह्म कञ्चनाऽऽत्मानं नाऽश्नोति न व्याप्नोति, न वा कश्चिदात्मा तद्ब्रह्म व्याप्नोति, केनाऽप्यात्मना क्षेत्रज्ञेन नैतत्संबध्यते; विभुनोः संयोगकारणाऽन्यतरकर्मोभयकर्माऽवयवसंयोगाऽनुपपत्तौ संयोगाऽभावादिति– तन्न; स्वाध्यायाऽध्ययनविध्यापादितप्रयोजनवदर्थपरेण वेदेन निष्प्रयोजनाऽर्थाऽनुवादाऽयोगात् । नहि विभुनोः संयोगाऽभावाऽनुवादे किञ्चित्प्रयोजनमस्ति, अद्वितीयब्रह्मप्रतिपादने च निःश्रेयसं प्रयोजनम् ।

पादित किया है–"प्रत्यगात्मा में अनात्मा का अध्यास इस प्रकार सिद्ध होने पर जिस में जो अध्यस्त होता है, उससे होने वाले दोष अथवा गुण से लेशमात्र भी अधिष्ठान सम्बन्धित नहीं होता"; और संक्षेपशारीरककार ने भी इस का विवरण इस प्रकार दिया है –"ऊषरयुक्त भूमि मृगतृष्णा की जलवाहिनी नदी को धारण नहीं करती, तथा मृगतृष्णा के जल से आर-पार परिपूर्ण नदी ऊषरभूमि का स्पर्श नहीं करती।" इति ॥

इसमें अपने को तार्किक मानने वाले (श्री शङ्कर मिश्र) ने जो कहा है– "वह ब्रह्म किसी आत्मा को व्याप्त नहीं करता, और कोई भी आत्मा उस ब्रह्म को व्याप्त नहीं करती, किसी भी क्षेत्रज्ञ आत्मा से यह ब्रह्म सम्बन्धित नहीं, क्योंकि दो विभुओं में संयोग के कारणभूत– दोनों में से किसी एक में कर्म, दोनों में कर्म और अवयवों का संयोग असम्भव होने से संयोग का अभाव होता है।" किन्तु यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि स्वाध्यायाध्ययन विधि से विहित प्रयोजनवत् अर्थ के प्रतिपादक वेद से निष्प्रयोजन अर्थ का

किञ्च– विभुनोरप्यजसंयोगाऽभ्युपगमात्कथं तदभावाऽनुवादः ? तथाहि– मल्लयोरुभयकर्मजसंयोगदर्शनेऽपि यथा स्थाणुश्येनयोरेकतरकर्मजोऽपि संयोगोऽभ्युपेयते, एवं श्येनचरणस्थाणुसंयोगाच्छ्येनस्थाणुसंयोगः कर्मजन्य इव संयोगजोऽभ्युपेयते; तथैतत्सर्वाऽजन्योऽपि विभुनोः संयोगो नित्य एव किं नाऽभ्युपेयते? तथा च प्रयोगः– आत्मा आकाशसंयोगी, ईश्वरसंयोगी वा, घटसंयोगित्वात्, पटवदिति । न च– दिक्कालयोर्व्यभिचारः, पक्षसमत्वात् । विपक्षे च सर्व-

अनुवाद नहीं हो सकता। कारण कि दो विभुओं के संयोगाभाव के अनुवाद में कुछ भी प्रयोजन नहीं है। परन्तु अद्वितीय ब्रह्म के प्रतिपादन में तो मोक्षरूप प्रयोजन है। किञ्च— दो विभुओं के अजसंयोग (नित्यसंयोग) मान्य होने से इनमें संयोगाभाव का अनुवाद भी कैसे हो सकता है ? जैसे आप के मत में – दो मल्लों में दोनों के कर्म से उत्पन्न संयोग दिखने पर भी जिस प्रकार स्थाणु और श्येन (बाज पक्षी) में अन्यतरकर्म (श्येननिष्ठ कर्म) से उत्पन्न संयोग भी माना जाता है, और कर्मजन्य संयोग जैसे– श्येनचरण और स्थाणु के संयोग से श्येन और स्थाणु का संयोग संयोगजन्य माना जाता है; उसी प्रकार ही इन सब से (अर्थात् पूर्वोक्त संयोग के तीन कारणों से) अजन्य होने पर भी दो विभुओं का संयोग नित्य ही क्यों नही मानते(१) ? इसमें अनुमान का यह प्रयोग है—आत्मा आकाश से संयोगी है, अथवा ईश्वर से संयोगी है, क्योंकि उस में घटसंयोगित्व है, जैसे पट (पट में घटसंयोगित्व है, अतः उस में आकाशसंयोगित्व या ईश्वरसंयोगित्व है; वैसे ही पक्ष आत्मामें भी समझना चाहिये)। दिक् और काल में घटसंयोगित्व हेतु का व्यभिचार भी नहीं; क्योंकि

(१) श्री शंकरमिश्रकृत "कणादरहस्य" नामक ग्रन्थ के "संयोग" प्रकरण में लिखी हुई बातों को लेकर यहां ग्रन्थकारने संक्षिप्त विवरण दिया है।

संयोगित्वलक्षणविभुत्वभङ्गलक्षण एव बाधकस्तर्कः। न च–यावन्मूर्तसंयोगित्वमेव विभुत्वम्, न यावद्द्रव्यसंयोगित्वमिति– वाच्यम्; मूर्तत्वं हि क्रियावद्द्रव्यत्वं, परिच्छिन्नपरिमाणवद्द्रव्यत्वं वा, उभयथापि तदपेक्षया द्रव्यत्वस्य लघुत्वात्। क्रियासमवायिकारणतावच्छेदकतया मूर्तत्वजातिकल्पनं स्पर्शादिसमवायिकारणतावच्छेदकजात्यप्रसङ्गादिना निरसनीयम्। तथा च विभुनोः संयोगाऽभावे विभुत्वभङ्गो भवति बाधकः। एवञ्च लाघवमपि सर्वप्रमाणाऽनुग्राहकम्।

दोनों ही पक्षसम हैं अर्थात् उनमें भी इस हेतु से साध्य सिद्ध करने योग्य है। और विपक्ष में (अर्थात् पक्ष में हेतु हो, किन्तु साध्य न हो– ऐसी व्यभिचार की शंका होने पर) सर्वसंयोगित्वरूप विभुत्व का भङ्गप्रसङ्ग आना ही उसमें बाधक तर्क है (यदि आत्मा आकाशसंयोगी, ईश्वरसंयोगी वा न स्यात्, तर्हि सर्वसंयोग्यपि न स्यात्, किन्तु स सर्वसंयोगी, तस्मादाकाशसंयोगी, ईश्वरसंयोगी वा भवितुमर्हतीतितर्कः पूर्वोक्तशंकाया बाधक इत्यर्थः। अर्थात्– यदि आत्मा आकाशसंयोगी या ईश्वरसंयोगी नहीं होती है, तो सर्वसंयोगी भी होनी नहीं चाहिए, किन्तु वह सर्वसंयोगी होती है, अतः आकाशसंयोगी या ईश्वरसंयोगी होनी ही चाहिए– यह तर्क पूर्वोक्तशंका का बाधक है)। और सर्वमूर्तसंयोगित्व ही विभुत्व है, सर्वद्रव्यसंयोगित्व नहीं– ऐसा भी कहना नहीं चाहिए; क्योंकि क्रियावद्द्रव्यत्व अथवा परिच्छिन्नपरिमाणवद्द्रव्यत्व ही मूर्तत्व का स्वरूप है। किन्तु इन दोनों पक्षों में कथित स्वरूप की अपेक्षा द्रव्यत्वमात्र मानना ही लघु है (अलग मूर्तद्रव्य मानने की कोई आवश्यकता नहीं)। इसमें कहा जाये कि क्रिया की समवायिकारणता का अवच्छेदक (व्यावर्तक धर्म) होकर (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन में) मूर्तत्वजाति सिद्ध होती है (अतः इन पांचों को मूर्त मानना आवश्यक है), तो स्पर्शादि की समवायिकारणता का अवच्छेदक होकर (पृथिवी, जल, अग्नि और वायु को

न च– एवं विभुनोरजविभागोऽपि सिद्ध्येत्; आत्मा आकाशाद्विभक्तः घटाद्विभक्तत्वात् पटवदिति प्रयोगसम्भवादिति– वाच्यम्; संयोगाऽनभ्युपगमे विभुत्वभङ्गवद्विभागाऽभावे बाधकाऽभावेनाऽप्रयोजकत्वात्। यदि च लाघवादाकाशविभक्तत्वं द्रव्यमात्रवृत्तीत्यजविभागः सिध्येत्, सिध्यतु न नो हानिः। न च– यन्निरूपितो यदा यत्र संयोगः, तन्निरूपित एव तदा तत्र विभाग इति विरुद्धद्वयं कथमेकत्र भवेदिति– वाच्यम्; प्रमाणसिद्धे विरोधस्यैवाऽसिद्धेः।

व्यावृत्त करने वाली) कोई एक जाति भी माननी चाहिए, किन्तु मानी नहीं जाती; उसी प्रकार मूर्तत्व जाति को भी मानना नहीं चाहिए। अतः दो विभुओं में संयोगाभाव होने पर विभुत्वभङ्ग होना ही (उक्त व्यभिचार शंका में) बाधक तर्क है। इसी प्रकार लाघवरूप तर्क भी सब प्रमाणों का अनुग्राहक है।

शंका— इस प्रकार तो दो विभुओं का अजविभाग भी सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि— आत्मा आकाश से विभक्त है, कारण कि उसमें घट से विभक्तत्व है, जैसे पट— यह अनुमान का प्रयोग यहां भी संभव है।

समाधान— ऐसा न कहो; क्योंकि संयोग को न मानने पर जिस प्रकार विभुत्व का भङ्गप्रसङ्ग होता है, उसी प्रकार विभाग का अभाव होने पर उसके बाधक तर्क का अभाव होने से हेतु में अप्रयोजकत्व है (हेतु और साध्य में व्यभिचार की शंका होने पर उसके निवारक अनुकूल तर्क का अभाव होना ही हेतु का अप्रयोजकत्व है)। और यदि लाघव तर्क से आकाशविभक्तत्व द्रव्यमात्रवृत्ति मान लिया जाये तथा उससे अजविभाग सिद्ध हो जाये तो सिद्ध होने दो, उससे हमारी कोई हानि नहीं।

शंका— जिससे (आकाश से) निरूपित होकर जिस समय जिसमें (आत्मा में) संयोग रहता है, उससे (आकाश से) निरूपित होकर ही उस समय उसमें (आत्मा में) विभाग भी रहता है— इस

अनित्ययोरेव तयोर्विरोधः, तत्र प्रमाणभावात्; तन्नित्यत्वस्य ज्ञाननित्यत्ववदुपपत्तेः। विरोधेऽपि वा विभागस्यैव परित्यागोऽस्तु, तावताऽपि विरोधशान्तेः। तस्माद्विभुनोः संयोगनिषेधोऽशुद्ध एवेति यथावस्थित एव श्रुत्यर्थः।

एवं–"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति (१)" (बृ०४।४।१९,कठ०४।११) इति श्रुतिरपि भेद-

प्रकार विरुद्ध धर्मद्वय एक ही अधिकरण आत्मा पें कैसे हो सकते हैं?

समाधान— ऐसा भी न कहो; क्योंकि दोनों धर्मों का एकाधिकरणत्व प्रमाण से सिद्ध होने पर विरोध की ही असिद्धि होती है। अनित्य संयोग और अनित्य विभाग के समानाधिकरणत्व में तो विरोध है, क्योंकि विरोध होने में प्रमाण है। संयोग और विभाग का (परमत में) नित्यत्व भी ज्ञाननित्यत्व के समान हो सकता है (परमत में जिसप्रकार जीवगत ज्ञान में अनित्यत्व होने पर भी ईश्वरगत ज्ञान में नित्यत्व है, उसी प्रकार परिच्छिन्नद्रव्यगत संयोग और विभाग में अनित्यत्व होने पर भी विभुगत उन दोनों में नित्यत्व हो सकता है)। अथवा उन दोनों में विरोध मान भी

---

(१) इस श्रुति का अर्थ करते हुए श्रीशंकरमिश्र "भेदरत्न" में लिखते हैं- "इति श्रुतिरपिभेदे मानम्। स पुरुषः मृत्योः संसारात् मृत्यु संसारमाप्नोति पुनः पुनः संसरति, य इह नानेव पश्यति; न तु वस्तुगत्यैव नाना पश्यतीत्यर्थात्, इवपदसन्दानात्; अन्यथा नाना पश्यतीत्येव स्यात्।" इसका अभिप्राय यह है- यह श्रुति भी भेद में प्रमाण है। वस्तुतः आत्मा नाना है, तो भी एक ही मानकर जो मनुष्य इसमें नाना जैसा देखता है, किन्तु वास्तविकरूप से नाना नहीं देखता, वह मृत्युरूप एक संसार से दूसरे संसार को प्राप्त होता रहता है। यह अर्थ "इव" शब्द देने से हुआ है; अन्यथा "नाना देखता है" इतने मात्र ही होना चाहिये। इस अर्थ का खण्डनात्मक दूसरा अर्थ यहां किया गया है।

निन्दयाऽभेदमेव द्रढ़यति। तथाहि– वस्तुगत्या नाना नास्त्येव, तथाऽपि नाना पश्यति यः, स तस्मात् पुनः पुनः संसारमापद्यत इति नानादर्शनस्य संसारहेतुत्वेऽर्थादेकदर्शनस्य मोक्षहेतुत्वमायाति, इवशब्दस्तु वस्तुगत्या दर्शनस्याऽपि नानात्वं निवारयति, तदप्यविद्यादशायां विद्यमानमित्यर्थः।

तथा–"एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" (ब्र०वि०१२) इति श्रुतिरप्यात्माऽभेदे प्रमाणम्। तथाहि– देवतिर्यङ्मनुष्यादि-

लिया जाये, तो भी विभाग का ही परित्याग करें, उतने मात्र से विरोध शान्त हो जायेगा। अतः दो विभुओं के संयोग का निषेध ठीक नहीं। इस कारण अस्मत्कृत श्रुत्यर्थ यथावत् ही अवस्थित है।

इसी प्रकार "जो इस ब्रह्मात्मा में नाना जैसा देखता है, वह एक मृत्यु से दूसरी मृत्यु को प्राप्त होता ही रहता है" यह श्रुति भी भेद की निन्दा करके अभेद को ही दृढ़ करती है। तथाहि – वस्तु-स्वभाव से नाना तो है ही नहीं, तो भी जो नाना देखता है, वह उससे बारम्बार संसार को प्राप्त होता रहता है। इस प्रकार नानादर्शन संसार का हेतु सिद्ध होने पर अर्थतः एकदर्शन मोक्ष का हेतु बन जाता है। "इव" शब्द तो वस्तुगति से दर्शन में भी नानात्व का निवारण करता है; वह नानात्व तो अविद्यादशा में ही विद्यमान है– यह अभिप्राय है।

वैसे ही "एक ही सत्य आत्मा प्रत्येक शरीर में व्यवस्थित है। और जलचन्द्र जैसी वह एकरूप से और अनेकरूप से देखी जाती है" यह श्रुति भी आत्मा के अभेद में प्रमाण है। तथाहि– देव, तिर्यक्-प्राणी, मनुष्यादि के देहों में क्या एक ही आत्मा है, या अनेक– इस प्रकार सन्देह होने पर श्रुति निर्णय देती है कि एक ही आत्मा है। अनेक प्रकार से विद्यमान नाना देहों में भूत अर्थात् पारमार्थिक एक ही आत्मा है। इस प्रकार यहां आत्मा के पारमार्थिकत्व के प्रतिपादन

देहेषु किमेक आत्मा, उतानेक इति संदेहे एक एवेति श्रुतिर्निर्णयति। अनेकधा विद्यमानेषु नानादेहेषु भूतः पारमार्थिक एक एवाऽऽत्मा; आत्मनो भूतत्वप्रतिपादनेनाऽर्थादन्येषां मिथ्यात्वमुक्तं भवति। तथा चैकधा नानादेहभेदेन भ्रमप्राप्तात्मनानात्वनिषेधेनाऽज्ञातज्ञापकत्वं श्रुतेर्निर्वहति। ननु- यद्येक एवाऽऽत्मा, कथं तर्हि सुखित्वदुःखित्व-बन्धमोक्षादिव्यवस्था सेत्स्यति? तस्या आत्मभेदसाध्यत्वादिति-चेन्न; अज्ञानभेदात्तज्जन्याऽन्तःकरणोपाधिभेदाद्वोपपत्तेरित्याह श्रुतिः- "एकधा बहुधा चैव दृश्यते" इति। तत्रैव योग्यं दृष्टान्तमाह "जलचन्द्रवत्" इति। यथा दिविष्ठे चन्द्रे विद्यमाने एकस्मिंस्तत्तज्जलशरावोपाधिभेदेन बहवो जलचन्द्रा उपलभ्यन्ते उपाधिदोषवशाद्भ्रान्त्या, तथा एकस्मिन्नद्वितीये

से अर्थतः अन्यों का मिथ्यात्व उक्त होता है। और इसी प्रकार आत्मा एक होती हुई भी नाना देहों के भेद से भ्रमप्राप्त आत्मनानात्व के निषेध से श्रुति के अज्ञातज्ञापकत्व का भी निर्वाह होता है। इसमें शंका हो कि यदि एक ही आत्मा है तो किस प्रकार सुखित्व, दुःखित्व, बन्ध, मोक्षादि की व्यवस्था सिद्ध होगी? क्योंकि यह व्यवस्था आत्म-भेद से साध्य है। इसका उत्तर है कि यह कोई दोष नहीं; कारण कि अज्ञान के भेद से अथवा अज्ञानजन्य अन्तःकरणरूप उपाधियों के भेद से यह व्यवस्था हो सकती है। अतः इसको श्रुति स्वयं कहती है- "आत्मा एक होती हुई भी अनेकरूप से दिखाई पड़ती है।" वहीं श्रुति योग्य दृष्टान्त देती है कि वह आत्मा जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र जैसी है। आकाश में एक ही चन्द्र विद्यमान होने पर तत्तत् शरावादि जलपात्ररूप उपाधियों के भेद से भ्रम के कारण जिस प्रकार अनेक चन्द्र उपाधिदोषवश उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार एक अद्वितीय ब्रह्म विद्यमान होने पर तत्तद् अन्तःकरणरूप उपाधियों में प्रतिबिम्ब-

ब्रह्मणि विद्यमाने तत्तदन्तःकरणोपाधिषु बहवः प्रतिबिम्ब-कल्पा जीवाः प्रतीयन्ते भ्रान्त्या । तत्र च बिम्बभूत ईश्वरः, प्रतिबिम्बभूता जीवाः । यथा चैकस्मिन् जलचन्द्रे कम्पमाने न सर्वे कम्पन्ते, तथैकस्मिन् जीवे सुखिनि दुःखिनि वा न सर्वे तथा भवन्ति । यथा चैकोपाधिनिवृत्तौ न सर्वेषां जल-चन्द्राणां बिम्बैकता भवति, किन्तु यस्योपाधिर्निवृत्तस्तस्यैव, तथा ज्ञानध्यानादिना यस्योत्पन्नस्तत्त्वसाक्षात्कारः, स एव ब्रह्मैकतां याति, नाऽन्य इति बन्धमुक्तिव्यवस्था सुकरैव । एवं जीवेश्वरव्यवस्थापि । उपाधिस्तु बह्वज्ञानवादिमते बहून्येवाऽज्ञानानि, तत्रैकैकाऽज्ञानहानिरेकैकज्ञानोत्पत्त्या; एकाऽज्ञानपक्षे तु तस्यैवाऽवस्थाभेदो वा; शक्तिभेदो वा तत्तदन्तःकरणोपादानभूतस्तत्तज्ज्ञानेन निवर्त्यते, अपरत्र बन्धाऽनुवृत्तिरिति व्यावहारिकीं दृष्टिमवष्टभ्य कथ्यते, वस्तुगत्या बन्धमोक्षाऽभावस्त्विष्ट एव ।

रूप से कल्पित अनेक जीव भ्रम से प्रतीत होते हैं; और उनमें बिम्ब-भूत ईश्वर है तथा प्रतिबिम्बरूप जीव हैं। जिस प्रकार एक जल-चन्द्र के कम्पमान होने से सब जलचन्द्र कम्पित नहीं होते, उसी प्रकार एक जीव के सुखी या दुःखी होने पर सब जीव सुखी या दुःखी नहीं होते। और जिस प्रकार एक उपाधि की निवृत्ति होने पर सब जलचन्द्रों की बिम्ब के साथ एकता नहीं होती, किन्तु जिसकी उपाधि निवृत्त होती है, उसकी ही एकता होती है, उसी प्रकार ज्ञान ,ध्यानादि से जिसका तत्त्वसाक्षात्कार हुआ है, वही ब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त करता है, अन्य प्राप्त नहीं करते। इस रीति से बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था सुगम ही है। इसी प्रकार जीव और ईश्वर की व्य-वस्था भी है। उपाधि तो अनेकाज्ञानवादी के मत में अनेक अज्ञान ही हैं। उनमें एक एक ज्ञान की उत्पत्ति से एक-एक अज्ञान की हानि

ननु— एकात्मपक्षे सर्वशरीरेषु सुखदःखाद्यनुसंधान-प्रसङ्गः। न च– यथाऽऽतीताऽनेकदेहेषु भोगाऽनुसंधानाऽभाव-स्तथा विद्यमानेष्वपि देहान्तरेषु न स्यादिति— वाच्यम्; जन्मान्तरव्यवधानस्य दोषत्वात्। न च– अविद्यावशान्न सर्वदेहेष्वनुसंधानमिति– युक्तिमत्; स्वदेहेऽप्यनुसंधानाऽभा-वापत्तेः। न चाऽनुसंधानमिष्टमेव; तथासति देवदत्तचरण-लग्नकण्टकोद्धारं प्रति यज्ञदत्तस्य प्रवृत्त्यापत्तेः। किञ्च– यथा बाल्यादिभेदेन देहभेदेऽप्यनुसंधानमस्ति, तस्यैव भोक्तुः

होती है। और एक अज्ञान पक्ष में तो उस अज्ञान का अवस्थाविशेष या शक्तिविशेष जो तत्तदन्तःकरण का उपादानरूप है, वह तत्तत् ज्ञान से निवृत्त होता है; अन्यों में तो बन्ध की अनुवृत्ति होती रहती है– ऐसा व्यावहरिक दृष्टि का अवलम्बन करके कहा जाता है; वास्तव में तो आत्मा में बन्ध और मोक्ष का अभाव इष्ट ही है।

शंका— एकात्मपक्ष में सब शरीरों में सुख, दुःखादि के स्मरण का प्रसङ्ग होगा। इसमें जिस प्रकार अतीत अनेक शरीरों में भुक्त भोगों का स्मृत्यभाव होता है, उसी प्रकार विद्यमान अन्य शरीरों में भी स्मृति नहीं होनी चाहिए– ऐसा नहीं कहना चाहिए; क्योंकि अतीत अनेक शरीरों में भुक्त भोगों के स्मृत्यभाव में जन्मान्तर का व्यवधान ही दोष है (किन्तु वर्तमान अनेक शरीरों में तो ऐसा दोष नहीं; अतः सुखदुःखादि का अनुसंधान होना ही चाहिए)। इसी प्रकार अविद्यावश सब देहों में स्मृति का अभाव है– ऐसा कहना भी अयुक्त है; कारण कि अविद्यावश अपने देह में भी स्मृति न होने की आपत्ति आयेगी। और अपने देह में अनुस्मृति होना तो इष्ट ही है– ऐसा भी कह नहीं सकते; क्योंकि ऐसा होने पर एकात्मा होने से देवदत्त के पाद में लग्न कण्टक निकालने में यज्ञदत्त की प्रवृति का प्रसङ्ग होगा। किञ्च– जिस प्रकार बाल्यादि अवस्था के भेद से देहभेद होने पर भी उस भोक्ता का ही "जो मैं बाल्य में स्थित था, वही मैं अब युवा

"योऽहं बाल्यस्थितः, सोऽहमिदानीं युवा" इति, यथा वा—जीवन्मुक्तस्य भोगार्थं कायव्यूहं कृतवतो बहुदेहेषु विद्यमानेष्वप्यनुसंधानमस्ति; तथेहापि स्यादेवेति— चेन्न; एकात्मवादाऽसिद्धौ सर्वस्याऽस्य विचारस्याऽऽश्रयाऽसिद्धेः; सिद्धौ च धर्मिग्राहकप्रमाणबाधादेव। तथापि सुहृद्भावेन पृच्छतः किमुत्तरमितिचेत्; शृणु वत्स! अदृष्टविशेषसहकृतस्याऽज्ञानस्यैव तत्सामर्थ्यम्, यत् क्वचिद्देहे कस्यचिद्भोगानुसंधानम्, क्वचिन्न; फलबलेन तथैव कल्पनात्। तदुक्तं भगवता—

अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥
(गीता५।१५,१६)

हो गया हूँ" ऐसा अनुसंधान होता है; अथवा जिस प्रकार एक जीवन्मुक्त योगी प्रारब्ध भोग समाप्त करने के लिये कायव्यूह बना कर अनेक विद्यमान देहों में अनुसंधान करता है, उसी प्रकार यहां भी होना ही चाहिये।

समाधान — ऐसा नहीं; क्योंकि एकात्मवाद की असिद्धि होने पर इन सब विचार के आश्रय की असिद्धि हो जायेगी; और एकात्मवाद की सिद्धि होने पर तो धर्मिग्राहक अर्थात् एकात्मा के ग्राहक प्रमाण से आपकी सब युक्ति बाधित हो जायेंगी। तो भी मित्रभाव से पूछने वाले के प्रति क्या उत्तर होगा — ऐसा आपका आग्रह हो तो सुनो हे वत्स! अदृष्टविशेष को साथ लिया हुआ अज्ञान की ही वह सामर्थ्य है, जिस से किसी देह में किसी का भोगानुसंधान होता है, और किसी में नहीं होता; क्योंकि वह फलबल से ही कल्प्य है। इस बात को भगवान् ने कहा है— "अज्ञान से ज्ञानस्वरूप आत्मा

जीवन्मुक्तस्य च तत्त्वज्ञानादेवाऽनुसंधानम्, नेतरस्य, तदभावादिति सर्वं सुस्थम्। एतेनेदं कस्यचिद् व्याख्यानं परास्तं वेदितव्यम्। तथाहि— "जन्ममरणप्रबन्धेन बाल्य-कौमारादिभेदेन वा भिन्नेषु शरीरेषु एक एव भूतः सत्य आत्मा क्षेत्रज्ञो व्यवस्थितः, न तु देवदत्तयज्ञदत्तशरीरभेदे-नाऽऽत्मभेदवज्जन्ममरणप्रबन्धेन शरीरभेदेऽप्यात्मभेद इति; यथा एकधा=एकप्रकारो जलचन्द्रो बहुधा=बहुप्रकारो दृश्यते तरङ्गप्रसङ्गेन, तथा तरङ्गवदतिचपलजन्ममरणप्रबन्धभिन्न-शरीरावच्छिन्न एक एवाऽऽत्मा बहुप्रकारो दृश्यते। तथाहि—

आवृत रहती है, उसी से लोग मोहित हैं। आत्मविषयक ज्ञान से जिनका वह अज्ञान नष्ट हो जाता है, उनका वह वृत्तिरूप साक्षात्कार ज्ञान आदित्य के समान उस परमतत्त्व को प्रकाशित करता है"

और जीवन्मुक्त योगी का तो तत्त्वज्ञान से ही अनुसंधान है, अन्य का नहीं; क्योंकि अन्य में तत्त्वज्ञान नहीं है। अतः सब सुस्थ है। इसी से किसी का (श्री शंकरमिश्र का) यह व्याख्यान भी खण्डित समझना चाहिये। तथाहि— ("एकधाबहुधा चैव" इत्यादि श्रुति-वाक्य भी आत्मभेद का विरोधी नहीं; क्योंकि इस श्रुति का यह अर्थ है)— "जन्म और मरण के प्रवाह से अथवा बाल्य कौमारादि अवस्था के भेद से भिन्न भिन्न शरीरों में एक ही भूत अर्थात् सत्य आत्मा क्षेत्रज्ञ व्यवस्थित है; जिस प्रकार देवदत्त और यज्ञदत्त के शरीरभेद से आत्मभेद होता है, उसी प्रकार जन्ममरण के प्रवाह से शरीरभेद होने पर भी आत्मभेद नहीं होता। जैसे एक ही प्रकार से स्थित जलचन्द्र तरङ्गों के प्रसङ्ग से अनेक प्रकार होकर देखा जाता है, वैसे ही तरङ्गों के समान अति चपल जन्ममरण के प्रवाह से होने वाले विभिन्न शरीरों से युक्त एक ही आत्मा अनेक रूप से देखी जाती है। जैसे कि— किसी जन्म में "राजा हूँ" और किसी में "मैं स्थूल हूँ"

क्वापि जन्मनि राजाहम्, क्वापि स्थूलोऽहमित्येकमेवाऽऽत्मानमविद्या शरीराच्छरीरे समारोप्य प्रकारवैचित्र्येणाऽऽवेदयति" इति। "भूते भूते व्यवस्थितः" इति वीप्सया देहमात्रस्य प्रतीतेः, देहविशेषपरत्वे संकोचापत्तेः। किञ्च– यथा विद्यमानेष्वेकदा बहुषूपाधिष्वेक एव चन्द्र प्रतीयते, तथा विद्यमानेष्वेकदा सर्वदेहेष्वेक एवाऽऽत्मा प्रतीयत इत्यस्यैवाऽर्थस्य दृष्टान्तबलेन प्रतीतेः। किञ्च बाल्ययौवनभेदेनाऽऽत्मभेदो न लोकसिद्धो न वा तन्त्रसिद्धः, प्रत्युत "योऽहं बाल्ये पितरावन्वभूवम्, स एव स्थाविरे प्रणप्तृननुभवामि" इत्यभेद एवाऽनुभवसिद्धः। तथा च तत्र भेदप्रसक्त्यभावान्निषेधोऽनुपपन्न एव। विद्यमानदेहान्तरे पुनर्लोकसिद्धात्म-

इस प्रकार एक ही आत्मा को एक शरीर से दूसरे शरीर में समारोपित करके अविद्या अनेक विचित्र प्रकार से दिखाती है।"

अब इस व्याख्यान में त्रुटि निकालते हुए कहते हैं—"भूते भूते" इस प्रकार वीप्सा (शब्द की आवृत्ति) होने से देहमात्र की प्रतीति होती है, और इसको शरीरविशेषपरक मानने पर अर्थ करने में संकोच की आपत्ति आती है। किञ्च– विद्यमान अनेक उपाधियों में एक ही समय में एक ही चन्द्रमा अनेकरूप से जिस प्रकार प्रतीत होता है, उसी प्रकार विद्यमान अनेक देहों में एक ही समय में एक ही आत्मा अनेकरूप से प्रतीत होती है- यह अर्थ दृष्टान्तबल से प्रतीत होता है। किञ्च–बाल्य-यौवनादि अवस्था के भेद से आत्मभेद न लोक में सिद्ध है, और न शास्त्रों में सिद्ध है। इसके विपरीत "जिस मैंने बाल्यावस्था में प ।और माता का अनुभव किया था, वही मैं वृद्धावस्था में पौत्र-प्रपौत्रों का अनुभव कर रहा हूं" इस प्रकार आत्मा का अभेद ही अनुभव से सिद्ध होता है। बाल्याद्यवस्थायुक्त आत्मा में भेद की प्राप्ति ही न होने से उसका निषेध भी नहीं हो सकता। और विद्य-

भेदप्रतिषेधार्थं वचनमर्थवद्भवति; शास्त्रस्याऽज्ञातज्ञापकत्व-नियमात् । न च जन्मान्तरे आत्मभेदाऽऽशंका संभवति; वीतरागजन्माऽदर्शनन्यायेनैव तस्या असंभवात् । किञ्च—

अविच्छिन्नश्चिदात्मैकः पुमानस्तीह नेतरत् ।
स संकल्पवशाद्बद्धो निःसंकल्पः स मुच्यते ॥
(यो०वा०२।१।३६)

इतिवाक्येनाऽस्मदुक्तव्याख्यानस्यैव स्वहस्तीतत्वात् ।

"यदा सर्वेषु देहेषु पुमानेको व्यवस्थितः"
(वि०पु०२।१३।६१)

इति विष्णुपुराणे पराशरोऽप्युक्तमेवाऽर्थं द्रढयति स्म । तस्मात् श्रुति-स्मृतिपुराणाऽनभिज्ञव्याख्यानमुपेक्ष्यमेव सद्भिः ।

मान देहान्तर में लोकसिद्ध आत्मभेद के प्रतिषेध के लिए तो यह वचन सार्थक होता है; क्योंकि शास्त्र नियमतः अज्ञातज्ञापक होता है । और जन्मान्तर में आत्मभेद की आशंका भी नहीं हो सकती; क्योंकि वीत-राग ज्ञानी के जन्मादर्शन न्याय (१) से ही वह आशंका असंभव है ।

किञ्च— "निरवच्छिन्न चिद्रूप एक ही आत्मा इस संसार में है, उससे अन्य नहीं है । वही संकल्पवश बद्ध होता है और वही संकल्परहित होकर मुक्त होता है ।" इस वाक्य से हमारा व्याख्यान ही युक्तियुक्त सिद्ध होता है ।

"जब सब देहों में एक ही पुरुष व्यवस्थित है" इस प्रकार विष्णुपुराण में भी पराशर जी ने पूर्वोक्त अर्थ को ही पुष्ट किया है । अतः श्रुति, स्मृति और पुराण से अनभिज्ञ का व्याख्यान सत्पुरुषों

---

(१) "वीतरागजन्माऽदर्शनात्" (न्या०द०३।१।२५) इस सूत्र के भाष्य में कहा गया है कि वीतराग पुरुष का जन्म नहीं होता, किन्तु अवीतराग जीवों का बार-बार जन्म होता रहता है । अतः जन्मान्तर में आत्मभेद नहीं होता ।

किञ्च–– जीवब्रह्मणोरभेदे सर्वत्र श्रुतेस्तात्पर्यग्राहकाणि लिङ्गानि दृश्यन्ते । तथा चोक्तम्––

"उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।

अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥" इति (बृहत्संहिता) तथाहि–– "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्" (छा०।६।२।१) इत्युपक्रमः । "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" (छा०६।१६।३) इत्युपसंहारः । तथा "ऐतदात्म्यम्" इत्यादि नवकृत्वोऽभ्यस्यते । प्रमाणान्तराऽनधिगतमद्वितीयब्रह्मात्मतत्त्वं प्रतिपाद्यते । 'आचार्यवान्पुरुषो वेद" (छा०।६।१४।२), "तस्य तावदेवचिरं यावन्न विमोक्ष्ये" (छा०।६।१४।२) इति च निरतिशयपुरुषार्थाऽवा-

के द्वारा उपेक्षणीय ही है।

किञ्च–– जीव और ब्रह्म के अभेद में श्रुतियों का तात्पर्यग्राहकलिङ्ग सर्ववेदान्तों में पाये जाते हैं। जैसे कहा भी है–– "उपक्रम और उपसंहार, अभ्यास (पुनः पुनः आवृत्ति) अपूर्वता (प्रमाणान्तर से अज्ञातता), फल, अर्थवाद (प्रशंसादि) और उपपत्ति (युक्ति) ये छः तात्पर्य के निर्णय में लिङ्ग (ज्ञापक) है।"

तथाहि–– "हे सौम्य! सृष्टि के पहले यह दृश्यमान जगत् एक ही अद्वितीय सत् ही था" यह उपक्रम है। "यह सब सद्रूप ही है, वह सत्य है, वह आत्मा है और वह तू है।" यह उपसंहार है। उसी प्रकार "यह सद्रूप है" इत्यादि का नौ बार अभ्यास किया गया है। प्रमाणान्तर से अज्ञात अद्वितीय ब्रह्मात्मतत्त्व का प्रतिपादन किया गया है; यह अपूर्वता है। "आचार्यवान् पुरुष इस तत्त्व को जान सकता है," "उस ज्ञानी का कैवल्यमोक्ष होने में उतना ही विलम्ब है, जब तक प्रारब्ध समाप्त होकर वह शरीर से विमुक्त नहीं होता"

प्तिर्ब्रह्मज्ञानफलमवगम्यते । "अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य" (छा०।६।३।२), "येनाऽश्रुतं श्रुतम्" (छा०।६।१।३)इत्यादि ब्रह्मण्यर्थवादश्चोपादीयते । मृल्लोहतप्तपरशुग्र-

इस प्रकार निरतिशय पुरुषार्थ की प्राप्ति ही ब्रह्मज्ञान का फल जाना जाता है। "इस जीवात्मारूप से प्रवेश करके" "जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है" इत्यादि ब्रह्मविषयक अर्थवाद है। मृत्तिका, लोहा, तप्त-परशुग्रहणादि दृष्टान्तों से (१), स्वपिति नाम के निर्वचन से एवं सृष्टि, स्थिति और संहार से ब्रह्म और आत्मा का एकत्व

---

(१) (क) मृद्दृष्टान्त– हे सौम्य! जिसप्रकार एक मृत्तिकापिण्ड के ज्ञान से सम्पूर्ण मृन्मय विकारों का सामान्यज्ञान हो जाता है कि सब विकार केवल वाणी पर अवलम्बित नाम मात्र है, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है, उसी प्रकार यह भी है। (छा०६।१।४)

(ख) लोहदृष्टान्त– हे सौम्य! जिसप्रकार एक लोहमणि का ज्ञान होने पर सम्पूर्ण लोहमय (सुवर्णमय) पदार्थ सामान्यरूप से जाने जाते है कि सब विकार वाणी पर अवलम्बित नाममात्र है, सत्य तो केवल सुवर्ण ही है, उसी प्रकार यहां भी एकके विज्ञान से सब का ज्ञान होता है। (छा०६।१।५)

(ग) परशुहस्तग्रहणदृष्टान्त– राजपुरुष किसी एक पुरुष को चोरी के आरोप में पकड़ लाते हैं और उसके चोरी से इन्कार करने पर परिक्षा के लिए तप्त परशु उसको पकड़वाते हैं। और उससे उसका हाथ दग्ध हो जाये तो मिथ्यावाद के फलस्वरूप वह मारा जाता है, और चोरी न करने के कारण सत्य के प्रभाव से यदि उसका हाथ उससे नही जलता तो तत्काल वह छोड़ दिया जाता है। इसी प्रकार वास्तविक ज्ञानी मुक्त होकर ब्रह्म में लीन होता है और अविद्वान् संसार में मारा-मारा फिरता रहता है (छा०६।१६।१-३)।

हृणदृष्टान्तैः, स्वपितिनामनिर्वचनेन (१), सृष्टिस्थितिसंहारैश्च ब्रह्मात्मैकत्वमुपपाद्यत इति छान्दोग्ये । तथा तैत्तिरीयके "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै०२।१।१), "स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः" (तै०३।१०।४) इत्युपक्रमोपसंहारयोः प्रत्यगद्वितीयं ब्रह्माऽवगम्यते । तथा "सच्च त्यच्चाऽभवद् यदिदं किञ्च" (तै०।२।६।१), "तदात्मानं स्वयमकुरुत" (तै०२।७।१), "यतो वाचोनिवर्तन्ते" (तै०२।४।१) इति च प्रत्यगद्वितीयं ब्रह्माऽभ्यस्यते; प्रमाणान्तरेणाऽनधिगतञ्च तत्प्रतिपाद्यते । "सर्वान् कामान् समश्नुते" (२।१।१) इत्यादि च फलं ब्रह्मज्ञानेऽवकल्पते । सृष्टिश्रुतयश्चाऽद्वितीयब्रह्म-

छान्दोग्य में युक्तिपूर्वक प्रतिपादित है। इसी प्रकार तैत्तिरीयक में भी- "सत्य, ज्ञान और अनन्तरूप ब्रह्म है", "यह जो शरीर में है और वह जो आदित्य में है, वह एक ही है" इस उपक्रम और उपसंहार से प्रत्यग्भूत अद्वितीयब्रह्म जाना जाता है। तथा "वह मूर्त और अमूर्त सब कुछ हो गया", "उसने स्वयं अपने आपको बनाया", "जहां वाणी निवृत्त हो जाती है" इत्यादि वाक्यों से प्रत्यगभिन्न अद्वितीय ब्रह्म का अभ्यास किया गया है। और प्रामाणान्तर से अज्ञात ब्रह्म का प्रतिपादन भी किया है। "कामना के सब विषयों को प्राप्त करता है" इससे ब्रह्मज्ञान का फल जाना जाता है। और सृष्टिविषयक श्रुतियां

---

(१) "यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति (छा०६।८।१) । अर्थात्- "जिस अवस्था में यह पुरुष "सोता है" ऐसा कहा जाता है, उस समय वह सत् से सम्पन्न होता है, यानि वह अपने स्वरूप में लीन रहता है। इसी से उसको "स्वपिति" ऐसा कहते हैं, क्योंकि उस समय वह अपने में लीन होता है।" इस स्वपिति के निर्वचन से यह सिद्ध होता है कि आत्मा का स्वरूप वस्तुतः सत् ब्रह्म ही है।

प्रतिपत्त्यर्थवादभूता दृश्यन्ते। तथा कोशोपन्यासमुखेन प्राणादिव्यापारलिङ्गैश्च ब्रह्मात्मैकत्वमुपपाद्यत इति। एवं सर्वेषु वेदान्तेषु ब्रह्मात्मैकत्वप्रमितौ तात्पर्यलिङ्गानि द्रष्टव्यानि। एवं तात्पर्येण समन्वयाद्ब्रह्मैव वेदान्तप्रमेयमित्येवं वैयासिके मते गङ्गाजलवत्प्राञ्जले निर्दुष्टे श्रुतिस्मृतिपुराणन्यायादि-संमते येषां चित्तं न सतृष्णं दोषदर्शि च; ते सततं शोचनीयाः (१)॥

इति अद्वैतरत्नरक्षणे श्रुतीनां भेदपरत्वभङ्गः ॥३॥

अद्वितीय ब्रह्म के ज्ञान में अर्थवादरूप से जानी जाती है। तथा अन्न-मय कोशादि के उपन्यास से और प्राणादि के व्यापाररूप लिङ्गों से ब्रह्मात्मैकत्व युक्ति से प्रतिपादित किया जाता है। इसी प्रकार सब वेदान्तों में ब्रह्मात्मैकत्व के प्रमाज्ञान करने में तात्पर्यग्राहक लिङ्ग समझना चाहिये। इस प्रकार तात्पर्य से समन्वित होने के कारण ब्रह्म ही वेदान्त का प्रमेय सिद्ध होता है। अतः गङ्गाजल जैसे स्वच्छ, दोषरहित तथा श्रुति-स्मृति-पुराण-न्यायादि से सन्मत इस वैयासिक मत में जिनका चित्त सतृष्ण नहीं है, अपितु दोषदर्शी है, वे सदा ही शोचनीय अर्थात् दया के पात्र हैं।

इत्यद्वैतरत्नरक्षणे श्रुतीनां भेदपरत्वभङ्गस्याऽनुवादः ॥३॥

---

(१) "न सा श्रुतिः, यत्र शब्दबलादर्थबलाद्वा भेदो न भासते" इस श्री शंकरमिश्रोक्त प्रतिज्ञा का यहां तक के ग्रन्थ से खण्डन किया गया है।

अथ सर्वबुद्धिभेदविषयत्वभङ्गः ॥४॥

ननु— तथापि नाऽद्वैतश्रुतेः प्रामाण्यं निर्वहति, भेदप्रमापकप्रत्यक्षादिविरोधादिति— चेत्; अत्र ब्रूमः—

न सा धीः क्वचिदप्यस्ति यत्र भेदोऽवभासते ।
अत एव प्रमाणत्वमद्वैतेऽव्याहतं श्रुतेः ॥

तथाहि— न तावत् सविकल्पबुद्धेर्भेदग्राहकत्वम् । साहि घटोऽयं पटोऽयमित्याकारा जायते, तदाकारा च बुद्धिस्तदेव साधयति, नाऽधिकम् । अस्याञ्च घटघटत्वयोर्वै-

अथ सर्वबुद्धिभेदविषयत्वभङ्गस्यानुवादः ॥४॥

शंका—तो भी अद्वैतश्रुतियों के प्रामाण्य का निर्वाह नहीं हो सकता, क्योंकि भेद के प्रमापक प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उसका विरोध है।

समाधान— इस पर हम कहते हैं—"कहीं भी ऐसी कोई बुद्धि नहीं है, जिसमें भेद अवभासित हो। अतएव श्रुतियों का अद्वैत में प्रामाण्य अव्याहत है।" तथाहि— सविकल्पक बुद्धि भेद की ग्राहक नहीं है; कारण कि वह बुद्धि "यह घट है", "यह पट है" इसप्रकार से उत्पन्न होती है, उस आकार वाली बुद्धि उसी को ही विषय करती है, उससे अधिक नहीं। और उस बुद्धिमें घट तथा घटत्व का वैशिष्ट्य (१) अवभासित होता है। और उन अवभासित पदार्थों में घट भेद-

(१) विशेषणविशेष्यभावरूप संबन्ध का नाम वैशिष्ट्य है— "वैशिष्ट्यन्तु विशेषणविशेष्यभावः सम्बन्ध एव" (सप्तपदार्थी)।

शिष्ट्यं भासते, तत्र च न घटो भेदः, नाऽपि घटत्वम्, नाऽपि वैशिष्ट्यम्, तच्छब्दबुद्धिभेदशब्दबुद्ध्योर्वैलक्षण्यात् ।

अत्र कश्चिदाह—वैशिष्ट्यस्य पदार्थान्तरत्वाऽनुपपत्तौ परिगणितभावपदार्थाऽनन्तर्भाविऽतद्व्यावृत्तिरूपाऽन्योन्याभावाख्यभेदरूपतैव वाच्या । तथा च वैशिष्ट्यविषयकज्ञानानां सिद्धा भेदविषयता । तथा चाहुराचार्याः गुणकिरणावल्याम्—"अतद्व्यावृत्तिर्वैशिष्ट्यम्" इति । निर्विकल्पकाऽनन्तरभाविनो घटो-

रूप नहीं, घटत्व भी भेदरूप नहीं, इसी प्रकार वैशिष्ट्य भी भेदरूप नहीं; क्योंकि "घटोऽयम्" इस शब्द से उत्पन्न बुद्धि तथा भेदशब्द से उत्पन्न बुद्धि में विलक्षणता है (१)। (अतः "घटोऽयम्" इस बुद्धि में भेद की प्रतीति न होना तो अनुभवसिद्ध है)।

इसमें कोई (श्री शंकरमिश्र) कहते हैं— (विशिष्टज्ञानों की वैशिष्ट्यविषयता होने से भेदविषयकता है, क्योंकि) वैशिष्ट्य का पदार्थान्तर होना असम्भव होने पर (वैशेषिकाभिमत सप्तपदार्थों से भिन्न पदार्थ होना असम्भव होने पर) परिगणित द्रव्यादि षड्भावपदार्थों में अन्तर्भाव न होने से अतद्व्यावृत्तिरूप (२) अन्योन्याभावाख्य भेदरूपत्व ही कहना होगा। तब तो वैशिष्ट्यविषयक ज्ञानों की भेदविषयता सिद्ध है। उदयनाचार्य ने गुणकिरणावली में यह बात कही है— "वैशिष्ट्य अतद्व्यावृत्ति है"। इसमें— निर्विकल्पक (३)

---

(१) "न सा धीर्यत्र भेदो न विषयः" इस श्री शंकरमिश्रोक्त प्रतिज्ञा का यह खण्डन है।

(२) "न तत्=अतत्; तस्य व्यावृत्तिरतद्व्यावृत्तिः; अन्यव्यावृत्तिरित्यर्थः" यहां तत्पद से उस पदार्थ का ग्रहण करना चाहिए, जिसको अन्यपदार्थों की व्यावृत्ति करके समझना है।

(३) "वस्तुस्वरूपमात्रग्रहणं निर्विकल्पकम्। विशिष्टस्य ग्रहणं सविकल्पकम्।" (शिवादित्यकृतसप्तपदार्थी)।

ऽयमिति सविकल्पकस्याऽतद्व्यावृत्तिरज्ञाता कथं विषय इति चेन्न; वैशिष्ट्यविषयत्वाऽन्यथानुपपत्त्या संज्ञास्मरणस्येव निर्विकल्पकसमनन्तरकालीनस्य प्रत्ययस्याऽतद्व्यावृत्तिविषयत्वकल्पनात् । सर्वतो ह्यन्यथानुपपत्तिर्बलीयसी । एवं सत्य-

ज्ञान के बाद होने वाला "यह घट है" इत्यात्मक सविकल्पक ज्ञान का विषय अज्ञात अतद्व्यावृत्ति कैसे हो सकती है (१)– ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए; क्योंकि वैशिष्ट्यविषयकता की अन्यथानुपपत्ति से संज्ञास्मरण के समान निर्विकल्पक ज्ञान के समनन्तर काल में होने वाले ज्ञान की अतद्व्यावृत्तिविषयकता की कल्पना की जाती है (२)। अन्यथानुपपत्ति सब से बलवती होती है। पुनः इसमें—

---

(१) नैयायिकों के मत में निर्विकल्पकज्ञानपूर्वक सविकल्पकज्ञान होता है। अतः उससे पहले "इदं किञ्चित्" इस रूप से घट का निर्विकल्पकज्ञान होगा। और उस समय घट की अन्य से व्यावृत्ति का ज्ञान नहीं होता; अतः उसके उत्तरक्षण में उत्पन्न "अयं घटः" यह सविकल्पक ज्ञान अतद्व्यावृत्तिपूर्वक घटत्वविशिष्टघटविषयक कैसे हो सकता है? क्योंकि अतद्व्यावृत्ति पहले ज्ञात नहीं- यह शंका करने वाले का अभिप्राय है।

(२) अतद्व्यावृत्तिके बिना घटत्वविशिष्टघट का ज्ञान नहीं हो सकता; किन्तु घटत्वविशिष्टघट का ज्ञान तो होता ही है। अतः उस ज्ञान की अन्यथानुपपत्ति से अतद्व्यावृत्ति सिद्ध है— यह समाधाता का अभिप्राय है। संज्ञास्मरण के दृष्टान्त का भी अभिप्राय यह है कि संज्ञास्मारक ज्ञान सदा ही निर्विकल्पक होता है; अतः "कणादरहस्य" में श्री शंकरमिश्र ने लिखा है—"संज्ञास्मारकन्तु निर्विकल्पकमेव, यदुक्तम्— यत् संज्ञास्मरणं नाम न तदप्यन्यहेतुकम् । पिण्ड एवहि दृष्टःसन् संज्ञां स्मारयितुं क्षमः ॥" इति । सर्वप्रथम देवदत्त के पिण्डमात्र को सामने देखकर उस पिण्ड का निर्विकल्पक ज्ञान होता है, उसके बाद उसका नाम स्मरण करके "देवदत्तोऽयम्" यह विशिष्ट

न्याऽपोहः पदार्थः स्यात्; तथा च जितमवैदिकैरिति- चेन्न; गोत्वादीनां पदादनुपस्थितौ वैशिष्ट्यमपि कस्य भासेत, येनाऽन्याऽपोहभाननैयत्यं स्यात्? तथा च बौद्धपक्षादयमेव भेदो यत्तैरन्याऽपोह एव पदार्थतावच्छेदको धर्मोऽङ्गीक्रियतेऽस्मदादिभिस्तु गोत्वादिरिति ।

अतद्व्यावृत्ति को इस प्रकार मानेंगे तो वह अन्यापोह पदार्थ से भिन्न न होगी, तबतो तुम बौद्धों से जीते गये— ऐसा भी न कहो; क्योंकि गोत्वादि की गवादिपद से उपस्थिति नहीं मानेंगे तो वैशिष्ट्य भी किसका प्रतीत होगा, जिससे अन्यापोह के भान का नियतत्व हो जाये? इसलिए बौद्ध पक्ष से हमारे पक्ष का यही तो भेद है कि वे लोग अन्यापोह को ही पदार्थतावच्छेदक (पदार्थों का व्यावर्तक) धर्म मानते है, और हमतो गोत्वादि को मानते हैं (१) ।

ज्ञान होता है । यहां पर संज्ञास्मरण के बिना पिण्डमात्र के निर्विकल्पक ज्ञान से "देवदत्तोऽयम्" यह विशिष्टज्ञान नहीं हो सकता; अतः इस विशिष्टज्ञान की अन्यथानुपपत्ति से संज्ञास्मरण सिद्ध होता है । इसी प्रकार अतद्व्यावृत्ति की भी सिद्धि होती है- यह भाव है ।

(१) जिसको नैयायिक अतद्व्यावृत्ति कहते है; उसको बौद्ध अपनी परिभाषा में अन्यापोह कहते हैं । क्षणिकविज्ञानवादी बौद्ध का कहना है कि गोशब्द के श्रवण से सब गोव्यक्तियों की उपस्थिति होती है, तथा गोभिन्न अश्वादि सब की भी व्यावृत्ति होती है । अतः अन्यापोह अर्थात् अन्यव्यावृत्तिपूर्वक गोव्यक्ति ही गोशब्द का वाच्यार्थ है । गोव्यक्ति का व्यावर्तन करने के लिये गोनिष्ठ गोत्वादि धर्म की आवश्यकता नहीं । इसमें नैयायिक कहते हैं कि—यद्यपि गोव्यक्ति की अन्यापोहरूप अतद्व्यावृत्ति है, तथापि वैशिष्ट्य की प्रतीति गोत्वादि के माने विना नहीं हो सकती । अतः गोत्व भी गोशब्द का वाच्य है । इस प्रकार नैयायिक गोत्वादि धर्म को पदार्थतावच्छेदक धर्म मानते हैं, और बौद्ध अन्यापोह को ही मानते हैं । यही दोनों में भेद है ।

तदिदमतिस्थवीयः-- तथाहि वैशिष्ट्याख्यं तावत्पदार्थान्तरं मतान्तराऽनुसारिभिरङ्गीकृतम्, तदेवाऽत्र भासते। न च तस्याऽसम्भवः; प्रतीतिबलेन विशेषणविशेष्यतत्संबन्धाऽतिरिक्तस्य तत्संभवात्; अन्यथा दण्डपुरुषसंबन्धा इत्यत्राऽपि विशिष्टव्यवहाराऽऽपत्तेः। न च पदार्थान्तरस्वीकारे गौरवम्; प्रमाणवतो गौरवस्याऽपि न्याय्यत्वात्। अन्यथा समवायाद्युच्छेदापत्तेः। न च- "दण्डिनमानय" इत्युक्ते पदार्थान्तरस्यैवाऽऽनयनं स्यान्न दण्ड्यादेरिति- युक्तिमत्; पटाऽऽनयने तन्त्वाद्यनियमवदुपपत्तेः। किञ्च-तार्किकमतेऽपि नाऽतद्व्या-

समाधान— इस प्रकार की मान्यता तो अत्यन्त स्थूल है; तथाहि— वैशिष्ट्य नामक पदार्थान्तर मतान्तरानुसारी (नैयायिकादि से भिन्न) लोगों ने माना है। उनका माना हुआ वही वैशिष्ट्य "घटोऽयम्" इत्यादि में अवभासित होता है; और वह असम्भव भी नहीं; क्योंकि प्रतीति के बल से विशेषण, विशेष्य और दोनों के संबन्ध के अतिरिक्त वैशिष्ट्य सम्भव है। यदि इन तीनों के अतिरिक्त वैशिष्ट्य नहीं मानेंगे तो दण्ड, पुरुष और दोनों का संबन्ध–इन तीनों में भी "दण्डी पुरुषः" इस प्रकार विशिष्ट व्यवहार की आपत्ति आजायेगी। और वैशिष्ट्य को पदार्थान्तर मानने पर गौरव दोष भी नहीं; क्योंकि प्रमाणसिद्ध गौरव युक्तियुक्त ही माना जाता है; अन्यथा समवायादि के उच्छेद की आपत्ति होगी। तब तो- "दण्डी को लाओ" ऐसा कहने पर वैशिष्ट्यरूप पदार्थान्तर का ही आनयन होने लगेगा, न कि दण्डी आदि का— ऐसा कथन भी युक्तियुक्त नहीं; कारण कि— जिस प्रकार "पट लाओ" कहने पर पट का ही आनयन होता है, तन्त्वादि के आनयन का नियम नहीं होता, उसी प्रकार यहां भी हो सकता है। किञ्च – तार्किकों के मत में भी अतद्व्यावृत्ति वैशिष्ट्य नहीं है; क्योंकि "नील कमल" इत्यादि वाक्य में अनील पदार्थ का उल्लेख न होने से अनील की व्यावृत्ति का उल्लेख नहीं।

वृत्तिर्वैशिष्ट्यम्; नीलमुत्पलमित्यादावनीलाऽनुल्लेखे तद्व्यावृत्त्यनुल्लेखात्। न च—वैशिष्ट्यप्रतीत्यनुपपत्त्या मध्येऽनीलस्मृतिः कल्प्यत इति— वाच्यम्; प्राथमिकनीलादिविशिष्टबुद्धेस्तथाप्यनुपपत्तेः, अनीलाऽनुभवस्य तस्मिन् जन्मन्यसंभवात्, जन्मान्तरीयकल्पने च कल्पनागौरवात्।

किञ्च–अनीलं नाम नीलाद्व्यावृत्तं वा रूपान्तरं वा? नाद्यः, अन्योन्याश्रयत्वापत्तेः; अनीलव्यावृत्त्या नीलप्रतीतौ नीलप्रतीत्याऽऽनीलव्यावृत्तेः। न द्वितीयः, नीलप्रतीतेरपि तथैवोपपत्तेः; अत्राऽपि व्यावृत्तिभाने मानाऽभावात्। किञ्च– गौरित्येव प्रतीयते, नत्वसावगोव्यावृत्त इति; अनु·

इसमें वैशिष्ट्यप्रतीति की अन्यथानुपपत्ति से मध्य में (वाक्योच्चारण और विशिष्टज्ञानोत्पत्ति के मध्य में) अनीलस्मृति की कल्पना होती है – ऐसा भी कहना नहीं चाहिये; क्योंकि ऐसी कल्पना करने पर सर्वप्रथम होने वाली नीलादिविशिष्टबुद्धि नहीं होगी; कारण कि स्मरण करने के लिये अनील का अनुभव इस जन्म में असम्भव है, अनुभव हुए विना कालान्तर में स्मरण होता नहीं, और जन्मान्तरीय अनुभव की कल्पना करेंगे तो कल्पनागौरव दोष होता है।

किञ्च— अनील नाम क्या नील से व्यावृत्त को कहते हैं, या रूपान्तर को? आद्य पक्ष हो नहीं सकता; कारण कि - अनील की व्यावृत्ति से नील की प्रतीति, और नील की प्रतीति से अनील की व्यावृत्ति— इसप्रकार अन्योन्याश्रय का प्रसङ्ग आता है। द्वितीयपक्ष भी नहीं हो सकता; क्योंकि व्यावृत्ति के विना जिसप्रकार अनील की प्रतीति होती है, उसी प्रकार ही नील की प्रतीति भी हो सकती है; यहां भी व्यावृत्ति का भान होने में कोई प्रमाण नहीं है। किञ्च— "गौ" ऐसा कहने पर गौ मात्र ही प्रतीत होती है, वह अगोव्यावृत्त अर्थात् गोभिन्न अश्वादि से व्यावृत्त प्रतीत नहीं होती। और वैशिष्ट्य

भवविरोधश्च, गोत्ववैशिष्ट्यं हि भावरूपमनुभूयते, नत्वभावरूपम्। अगोरप्रतीतौ गोः प्रतीत्यनुपपत्तेरगोव्यावृत्तिरेव तथा प्रतीयत इति– चेत्; अहो व्याख्याकौशलमायुस्मतो यदनुभवोऽपि व्याख्याय प्रदर्श्यते। यदि चाऽगोव्यावृत्तिरेव भासते विशिष्टबुद्धौ, तदा तयैवोपपत्तौ अतिरिक्तसामान्यकल्पने मानाऽभावे बाह्यपक्षः स्वहस्तितः स्यात्। न च–– गोत्वाद्यस्वीकारे वैधर्म्याऽभावे व्यावृत्तिबुद्धिः कथं स्यादिति– वाच्यम्; तदभावेऽपि व्यक्तिस्वरूपस्यैव विलक्षणत्वेन तदुपपत्तेः। अन्यथा तदपि वैधर्म्यं कस्य स्यादिति प्रश्ने धर्मान्तरस्वीकारेऽनवस्थापत्तेः। तस्मात्प्रथमतो व्यावृत्तिभानस्वी-

को व्यावृत्तिरूप अभाव मानना अनुभव का विरुद्ध भी है; क्योंकि गोत्ववैशिष्ट्य भावरूप से अनुभव होता है, अभावरूप से नहीं।

शंका— अगौ की अप्रतीति होने पर गौ की प्रतीति नहीं हो सकती, अतः अगोव्यावृत्ति ही गोत्ववैशिष्ट्यरूप से प्रतीत होती है।

समाधान–– अहो! तब तो चिरञ्जीवी आपके व्याख्याकौशल का तो क्या कहना! जो अनुभव को भी व्याख्यान करके प्रदर्शित करता है। और यदि विशिष्टबुद्धि में अगोव्यावृत्ति ही प्रतीत होती है तो उसी से विशिष्टबुद्धि सम्भव होने पर उसके अतिरिक्त गोत्वादि सामान्य की कल्पना करने में प्रमाण न होने से बौद्धपक्ष ही अपनाना होगा। इसपे तुम यदि कहो कि गोत्वादि स्वीकार न करने पर गौ, अश्वादि में वैधर्म्य का अभाव होने से उनमें व्यावृत्तिबुद्धि किस प्रकार होगी, तो इस प्रकार कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि वैधर्म्य का अभाव होने पर भी व्यक्तिस्वरूप में ही विलक्षणता होने से व्यावृत्तिबुद्धि हो सकती है। यदि इस प्रकार नहीं मानोगे तो वह वैधर्म्य भी किसका है? ऐसा प्रश्न होने पर उस वैधर्म्य को नियत धर्मी में रखने के लिए धर्मान्तर स्वीकार करने पर अनवस्था होगी।

कारेऽन्याऽपोहः पतत्येवेति निश्चितम्। न च- वैशिष्ट्यस्याऽन्यस्य वक्तुमशक्यत्वात् सर्वतो बलवती ह्यन्यथानुपपत्तिरिति न्यायात् अन्यस्मरणमिति- युक्तिमत्; यत्र यस्य यः संबन्धः, स एव तत्र तस्य वैशिष्ट्यमिति वक्तुं शक्यत्वेनाऽर्थापत्तेः शान्तेः। तथा चोक्तं मणिकृता- "दण्डी पुरुष इति ज्ञानानन्तरं दण्डवत्यदण्डव्यावृत्तिरनुभूयते" इति। अन्यथा विशिष्टबुद्धेरेव व्यावृत्तिविषयत्वे तदनन्तरमिति नाऽवक्ष्यत्। आचार्यवचनं त्वस्मान्प्रति नाऽप्तवाक्यविधया प्रमाणम्, किन्तु युक्त्युत्थापकत्वेन, युक्तिश्च सर्वा निराकृता, विशिष्टबुद्ध्युत्तरकालाऽभिप्रायेण वा ज्ञेया। सर्वथापि सर्वा विशिष्ट-

अतः पहले ही अतद्व्यावृत्ति का भान स्वीकार करने पर अन्यापोह आ ही जाता है- यह निश्चित है। और अन्य वैशिष्ट्य का कथन असम्भव होने से तथा "सब से बलवती अन्यथानुपपत्ति होती है" इस न्याय से अतद्व्यावृत्ति का स्मरण है-ऐसा कहना भी युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि जिसमें (गो में) जिसका (गोत्व का) जो संबन्ध होता है, वही संबन्ध उसमें (गो में) उसका (गोत्व का) वैशिष्ट्य है- ऐसा कथन संभव होने से अर्थापत्ति शान्त हो जाती है। और इसी प्रकार मणिकृत गङ्गेशोपाध्याय ने कहा है- "दण्डी पुरुष-ऐसा ज्ञान होने के अनन्तर दण्डयुक्त पुरुष में अदण्डव्यावृत्ति का अनुभव होता है।" अन्यथा विशिष्टबुद्धि की ही व्यावृत्तिविषयता होने पर तो "तदनन्तरम्" अर्थात् "दण्डी पुरुष" इत्यात्मक ज्ञान होने के बाद- ऐसा आचार्य को नहीं कहना चाहिए था। यह आचार्य (गङ्गेशोपाध्याय) का वचन हमारे प्रति आप्तवाक्यरूप से प्रमाण तो नहीं; तो भी युक्ति के उत्थापकरूप से प्रमाण है; और सब युक्ति निराकृत हो चुकी है; अथवा विशिष्टबुद्धि के उत्तरकाल के अभिप्राय से सब युक्ति है- ऐसा समझना चाहिए। किसी भी परिस्थिति में "सब विशिष्ट-

बुद्धिर्भेदविषयेति बालभाषितमेव । यदपि गोत्वादीनां पदादनुपस्थितावित्यादि, तदपि न; प्रत्यक्षानुभवस्य विचार्यमानत्वात्, तदनन्तरं शब्दस्य प्रवृत्तेः । अन्याऽपोहस्यैव च पदार्थत्वाऽवच्छेदकत्वोपपत्तौ गोत्वाद्युच्छेदापत्तेः । तथा च नायमपि विशेषो नैयायिकबौद्धयोः ।

इत्यद्वैतरत्नरक्षणे सर्वबुद्धिभेदविषयत्वभङ्गः ।।४।।

बुद्धि भेदविषयिका है" यह तो बालकों का कथनमात्र है। और जो "गोत्वादि की पद से उपस्थिति नहीं मानेंगे तो" इत्यादि कहा था, वह भी नहीं हो सकता; क्योंकि यहां पर प्रत्यक्षानुभव ही विचार्यमाण है, और उसके बाद शब्द की प्रवृत्ति होती है। और अन्यापोह का ही पदार्थत्वव्यावर्तकत्व सम्भव होने से गोत्वादि के उच्छेद की आपत्ति होती है। इसप्रकार तार्किक और बौद्ध में यह विशेष भी नहीं हुआ ।

इत्यद्वैतरत्नरक्षणे सर्वबुद्धिभेदविषयत्वभङ्गस्याऽनुवादः ।।४।।

अथाऽन्योन्याऽभावत्वनिर्वचनभङ्गः ॥५॥

अथ— अस्तु विशेषणविशिष्टविशेष्यबुद्ध्यनन्तरं भेदबुद्धिः, वैधर्म्यज्ञानस्य भेदबुद्धिहेतुत्वादिति— चेन्न; प्रतिज्ञाहान्यापत्तेः। सर्वा बुद्धिः भेदं गृह्णातीत्येव हि प्रतिज्ञानमायुष्मतः। किञ्च— यतो यत्र भेदो गृह्यते, तयोर्भिन्नत्वेन प्रतीतिरस्ति, न वा ? अस्ति चेत्तेनैव भेदेन, भेदान्तरेण वा? तेनैव

अथाऽन्योन्याभावत्वनिर्वचनभङ्गस्याऽनुवादः ॥५॥

शंका— तो भी (सर्वबुद्धि भेदविषयिका न होने पर भी) विशेषण से विशिष्ट विशेष्य की बुद्धि होने के बाद भेदबुद्धि हो, क्योंकि वैधर्म्य का ज्ञान भेदबुद्धि का हेतु है (१)।

समाधान— ऐसा नहीं; कारण कि इसमें तुम्हारी प्रतिज्ञा की हानि होगी; सब बुद्धि भेद को ग्रहण करती हैं— यही तो आयुष्मान् आपकी प्रतिज्ञा है। किञ्च— जिससे (घट से) जिसमें (पट में) भेद गृहीत होता है, उन दोनों की भिन्नत्वरूप से प्रतीति होती है, या नहीं? यदि भिन्नत्वरूप से प्रतीति होती है तो उस गृहीत भेद से ही होती है, या भेदान्तर से? उस गृहीत भेद से ही भिन्नत्व की प्रतीति मानोगे तो

---

(१) घटत्वविशिष्टघटविषयक ज्ञान को विशिष्टज्ञान कहा जाता है। इस ज्ञान का भेदविषयकत्वाभाव प्रतिपादन हो चुका है। इसको मानकर पूर्वपक्षी कहता है कि घटत्वविशिस्ट घट में पटत्व का अभाव जाना जाता है, तथा पटत्वविशिष्ट पट में घटत्व का अभाव जाना जाता है। इस प्रकार वैधर्म्य के ज्ञान से घटत्वविशिष्ट घट और पटत्वविशिष्ट पट में भेद का ज्ञान होता है। अतः भेद का खण्डन नहीं किया जा सकता— यह अभिप्राय है।

चेत्तत्प्रतीतौ तत्प्रतीतिरित्यात्माश्रयापत्तेः । अन्येन चेत्तत्रापि पूर्वन्यायेन भेदान्तरापत्तावनवस्थापत्तेः । तदङ्गीकारेऽपि च प्रतीतिपराहतिः । नह्यनन्ता भेदमाला कस्याऽप्यनुभवपद्धति-मध्यास्ते, किं भेदविशिष्टे किं भेदवृत्तिरित्यव्यवस्थापत्तेश्च । न द्वितीयः, स्वस्मादपि स्वभेदग्रहापत्तेः । अथ– स्वस्मात् स्वभेदाऽभावात्तद्ग्रहः कथं स्यात्? तत्प्रतीतौ तस्य हेतुत्वा-दित्यसिद्धेः, प्रत्यक्षस्यैव विचार्यमाणत्वात् । यथा स्वस्मात् स्वभेदो नास्ति, तथाऽन्यस्मादपि नास्तीत्यस्मन्मतम् । तथापि वस्तुगतिस्तादृशीति– चेन्न; क्वापि प्रमित्यसम्भवे वस्तु-

उस भेद की प्रतीति में उस भेद की प्रतीति की अपेक्षा होने से आत्माश्रय दोष होगा। अन्यभेद से दोनों के भेद की प्रतीति मानोगे तो उस अन्य भेद में भी पूर्वोक्त न्याय से भेदान्तर की आपत्ति होने पर अनवस्था हो जायेगी। और अनवस्था मानने पर भी भेद की प्रतीति पराहत हो जाती है, क्योंकि अनन्त भेद की पंक्ति किसी के भी अनुभव में नहीं आती; और किस भेद से विशिष्ट में किस भेद की वृत्ति है– यह निर्णित न होने से अव्यवस्था की भी आपत्ति आती है। इसी प्रकार द्वितीयपक्ष भी नहीं हो सकता; कारण कि दोनों का भिन्नत्व प्रतीत हुए विना भेद गृहीत मानोगे तो स्वयं से भी स्वभेदग्रह की आपत्ति होगी। यदि इसमें शंका हो कि अपने से अपने भेद का अभाव होने के कारण स्व से स्वभेद का ग्रह कैसे हो सकता है? क्योंकि भेद की प्रतीति में भेद ही विषयरूप से हेतु है; तो ऐसा कहना अयुक्त है; कारण कि प्रत्यक्ष ही यहां विचार का विषय है। जिस प्रकार स्व से स्वभेद नहीं है, उसी प्रकार अन्य से भी स्वभेद नहीं है– यह तो हमारा मत है। तो भी वस्तुगति वैसी ही है (अर्थात्–स्व से स्वभेद तो नहीं, किन्तु अन्य से स्वभेद स्वभाव से सिद्ध है); ऐसा भी आप कह नहीं सकते; क्योंकि कहीं भी भेदप्रमा असम्भव होने पर (अभीतक भेदविषयक प्रमाणज्ञान सिद्ध न होने के कारण भ्रम

गतिरित्येवाऽसिद्धेः, प्रत्यक्षज्ञाने विषयस्याऽजनकत्वाच्च स्वप्नादिविषयवत्, यत्र यदस्ति, तत्रैव तद्ग्रह इत्यस्य नियमस्याऽसंभवाच्च, अभिन्नेऽपि भेदप्रत्ययदर्शनात्। तयोरभिन्नत्वेन प्रतिपत्तौ भेदबुद्धिस्तु दूरापास्तैव। भेदाऽभेदोदासीनतृतीयप्रकाराऽभावाच्च न तृतीयप्रकारेणोपस्थितौ भेदग्रह इति सुवचम्। अथ– प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारेण तज्ज्ञानं

से ही भेद प्रतीयमान सम्भव होने पर) वस्तुगति कहना ही असिद्ध है। (और भेद प्रतीति में भेद ही विषयत्वेन हेतु है– ऐसा जो आपने कहा था, वह भी अयुक्त है, क्योंकि) स्वाप्निक विषय के समान प्रत्यक्षज्ञान के प्रति विषय जनक भी नहीं हो सकता (१)। और "जहां जो है, वहीं उसका ग्रह होता है" (अन्य में स्वभेद है, अतः अन्य में स्वभेद का ग्रह होगा और स्व में स्वभेद न होने से उसका ग्रह नहीं होगा)– ऐसा नियम भी असम्भव है; क्योंकि अभिन्न में भी भेदज्ञान देखा जाता है (वस्तुतः आकाश एक होता हुआ भी उसमें घटाकाश, मठाकाश आदिरूप से भेद का ज्ञान होता है; तथा एक चन्द्र में भी भ्रम से दो चन्द्र का ज्ञान होता है)। दोनों में अभिन्नत्वरूप से ज्ञान होने पर भेदबुद्धि तो दूर से ही निराकृत हो जाती है। और भेद तथा अभेद से उदासीन तृतीय प्रकार का अभाव होने से तृतीय प्रकार से इसका उत्थापन करने पर भी भेदग्रह नहीं होता– यह कहना सुगम ही है। इसमें तुम यह कह नहीं सकते कि प्रतियोगिता के अवच्छेदकीभूत प्रकार अर्थात् घटत्व का पट में अभाव मात्र से घटभेद

(१) तार्किकों के मत में कारण में कार्यनियतपूर्ववृत्तित्व होना आवश्यक है। किन्तु स्वाप्निक विषय स्वाप्निकप्रत्यक्षज्ञान से पूर्ववृत्ति नहीं, दोनों युगपत् उत्पन्न होते हैं। अतः दोनों में कार्यकारणभाव नहीं। इस प्रकार प्रत्यक्षज्ञान के प्रति विषय के जनकत्व में व्यभिचार होने से वह अन्यथासिद्ध है। अतः प्रत्यक्षज्ञान के प्रति विषय हेतु नहीं हो सकता। सिद्धान्त में यावद्भ्रमविषय ज्ञान के साथ ही उत्पन्न होते हैं।

नाऽधिकमपेक्षत इतिचेन्न; अभावाऽग्रहे प्रतियोगित्वस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्, अभावविरहात्मत्वस्य स्वभावविशेषस्य च तद्ग्रहणाऽधीनग्रहणत्वात्, तदग्रहे च तदवच्छेदकरूपस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात्; वस्तुगतिरिति च मां प्रति वक्तुमशक्यत्वात्। घटत्वेन प्रकारेण घटज्ञाने जाते भेदज्ञानं जायत इति–चेन्न; स्वस्मादपि तज्ज्ञानापत्तेरुक्तत्वात्। अभा-

का ज्ञान होता है, उससे अधिक सामग्री की अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि– अभाव का ग्रहण हुए विना प्रतियोगिता का ज्ञान नहीं हो सकता; कारण कि अभावविरहात्मक स्वभावविशेषरूप प्रतियोगी का ग्रहण अभावग्रहण के अधीन होता है (१)। इस प्रकार प्रतियोगी का अग्रह होने पर प्रतियोगितावच्छेदक धर्म का ग्रहण अशक्य हो जाता है। और प्रतियोगी के ग्रहण हुए विना प्रतियोगितावच्छेदक धर्म का ग्रहण वस्तु के स्वभाव से ही होता है– ऐसा तो तुम मुझे कह नहीं सकते। और घटत्वप्रकारक घटज्ञान उत्पन्न होने के बाद भेदज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा भी नहीं; क्योंकि ऐसा मानने पर स्व से स्वभेद का ज्ञान होने की आपत्ति हम पहले कह चुके हैं (प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों के भिन्नत्व का ज्ञान होने पर ही भेदज्ञान होता है; दोनों में से एक का ज्ञान होने पर भेदज्ञान मानेंगे तो विशे-

---

(१) "स्वाऽभावविरहात्मत्वं प्रतियोगित्वम्" इस उदयनाचार्योक्त लक्षण के अनुसार स्वाभावज्ञानपूर्वक प्रतियोगी का ज्ञान होता है। यहाँ पर स्वपद से प्रतियोगी का ग्रहण है। जिसका अभाव होता है, वह प्रतियोगी है। जिसमें अभाव होता है, वह अनुयोगी है। प्रतियोगी स्वाभावरूप नहीं होता, किन्तु अनुयोगी ही प्रतियोग्यभावरूप होता है; अतः प्रतियोगी स्वाभावविरहरूप होता है। इसलिए लक्षणघटित स्वाभावग्रहणपूर्वक तद्विरहात्मक प्रतियोगी का ग्रहण होता है।

वान्तरज्ञानमपि कथमिति– चेत्; तत्र भेदाऽज्ञानस्यापेक्ष्यत्वेऽपि दोषाऽभावात् ।

किञ्च– घटः पटो न भवतीत्यत्रादौ घटपटयोस्तादात्म्यज्ञानं वाच्यम्; तयोस्तादात्म्याप्रतीतौ तदभावरूपस्य भेदस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात् । भेदो हि तादात्म्याऽभाव इत्यत्र नाऽऽवयोर्विवादः । तथा चोपजीव्यविरोधात् पश्चाज्जायमानं भेदज्ञानं न प्रामाण्यमश्नुवीत । तदुक्तं भगवता खण्डनकृता—

अभेदं नोल्लिखन्ती धीर्न भेदोल्लेखने क्षमा ।
तथा चाऽऽद्ये प्रमा स्यान्नाऽन्त्ये स्वाऽपेक्षवैशसात् ॥ इति
(खं०खा० १।१२)

पता न होने से स्व से स्वभेद का ज्ञान होना भी अवश्यम्भावी है) । इसमें अभावान्तर का ज्ञान भी कैसा होगा – ऐसी शंका हो तो उसमें भेद के अज्ञान की अपेक्षा मानने पर कोई दोष नहीं ।

किञ्च– "घट पट नहीं" इसमें प्रथम घट और पट का तादात्म्यज्ञान मानना होगा (क्योंकि प्राप्तिपूर्वक निषेध होता है) । इस प्रकार दोनों के तादात्म्य की अप्रतीति होने पर तादात्म्याभावरूप भेद की प्रतीति होना तो असम्भव है ।"भेद तादात्म्याभाव है" इसमें हम दोनों का कोई विवाद नहीं है । तब तो उपजीव्य तादात्म्यज्ञान से विरोध होने के कारण पश्चात् उत्पन्न भेदज्ञान प्रामाण्य को प्राप्त नहीं कर सकेगा । यही भगवान् खण्डनकार ने कहा है– "अभेद (तादात्म्य) को उल्लेख न करने वाली बुद्धि भेद के उल्लेखन में समर्थ नहीं । तब तो अभेद में वह प्रमा होती है, और भेद में नहीं होती, अन्यथा भेदबुद्धि में अपने उपजीव्य के नाशकत्व का प्रसंग आ जाता है ।" इसमें– अभेदज्ञान का प्रामाण्य उपजीव्य नहीं है – ऐसा

न च- अभेदज्ञानस्य प्रामाण्यम् नोपजीव्यमिति-- साम्प्रतम्; भ्रान्तोऽसि। नहि वयं पूर्वज्ञानप्रामाण्यस्योपजीव्यत्वेन बलवत्त्वं वदामः। किं तर्हि? किं ज्ञानं प्रमा इति विचिकित्सायामुपजीव्यत्वेन पूर्वमिति वदामः। तद्विरोधेन चोत्तरं ज्ञानं जायमानमपि द्विचन्द्रादिज्ञानवदवतिष्ठते।

विनिगमनायांतु प्रमाणमुपजीव्यत्वमेव। न च पूर्वात्पर-

समझना भी ठीक नहीं; क्योंकि तुम भ्रान्त हो, हम तो पूर्वज्ञान के प्रामाण्य को उपजीव्यत्वरूप से बलवान् नहीं कहते, किन्तु दोनों में से कौन सा ज्ञान प्रमा है— ऐसा सन्देह होने पर उपजीव्यत्वरूप से पूर्वज्ञान प्रमा है— ऐसा कहते हैं। और उसके विरोध से उत्तरज्ञान उत्पन्न होता हुआ भी द्विचन्द्रादिज्ञान (१) जैसा हो जाता है। और एकतरपक्षपातिनी युक्ति होने पर तो उपजीव्यत्व ही प्रमाण होता है। यहां पर "पूर्वात्परबलीयस्त्व" न्याय (२) भी नहीं

---

(१) अन्यालम्बक पदार्थ उपजीवक है और आलम्ब्य पदार्थ उपजीव्य है। यहां पर यदि प्रथम उत्पन्न तादात्म्यज्ञान उपजीव्य होने से बाद में उत्पन्न उपजीवकात्मक भेदज्ञान के द्वारा बाधित नहीं किया जाता है तो "इदं रजतम्" इस प्रकार उपजीव्यरूप से पहले उत्पन्न रजतज्ञान बाद में उपजीवकरूप से उत्पन्न "नेदं रजतम्" इस ज्ञान से बाधित नहीं होना चाहिये- ऐसी शंका होनी नहीं चाहिये; क्योंकि "इदं रजतम्" यह ज्ञान निषेध्यसमर्पकत्वरूप से उपजीव्य है, प्रामाण्यरूप से नहीं। अतः रजतज्ञान शुक्तिज्ञान से बाधित है; और जहां उपजीव्योपजीवकभाव से उत्पन्न दो ज्ञानों में किसमें प्रमात्व है- ऐसा सन्देह होने पर उपजीव्यरूप अभेदज्ञान श्रुत्यादि प्रमाणों से समर्थित होने के कारण उपजीवक भेदज्ञान का बाधक होता है- यह अभिप्राय है।

(२) यह न्याय इसप्रकार है- ज्योतिष्टोमयाग में जहां सोमरस के पात्र रखे जाते हैं, वहां "बहिष्पवमानस्तोत्र" करने के

बलीयस्त्वन्यायः, तस्य निरपेक्षविषयत्वात् । तदुक्तं—

पूर्वात्परबलीयस्त्वं तत्र नाम प्रतीयताम् ।
अन्योन्यनिरपेक्षाणां यत्र जन्म धियां भवेत् ।।
(तं०वा०पृ०८१६)

रजतादिस्थले चाऽधिस्ठानज्ञानस्यैव बाधकत्वम्, न तु

हो सकता; क्योंकि वह न्याय परस्परनिरपेक्ष विषय को लेकर होता है। कहा भी है– "पूर्व से पर को अधिक बलवान् वहां समझना चाहिये, जहां परस्परनिरपेक्ष विषयों की बुद्धि का जन्म

लिये यजमान सहित ऋत्विग् लोगों में क्रम से आगे-आगे का कच्छ पकड़ते हुए दूसरे को जाना पड़ता है। उसका क्रम इस प्रकार है– "अध्वर्युं विनिष्क्रामन्तं प्रस्तोता सन्नन्वारभेत प्रतिहर्ता तमुद्गाता तं ब्रह्मा तं यजमानः" इति। अर्थात् सबसे आगे अध्वर्यु जाए, उसके बाद क्रम से प्रस्तोता, प्रतिहर्ता, उद्गाता, ब्रह्मा और यजमान आगे-आगे का कच्छ पकड़े हुए जाए। और उसमें विच्छेद होने पर प्रायश्चित्त का विधान इस प्रकार किया गया है– "यदि प्रस्तोता अपच्छिन्द्यात् ब्रह्मणे वरं दद्यात्, यदि प्रतिहर्ता सर्ववेदसं दद्यात्, यद्युद्गाता अदक्षिणं यज्ञमिष्ट्वा तेन पुनर्यजेत, तत्र तद्दद्याद् यत्पूर्वस्मिन् दास्यन् स्यात्" इति। यहां पर प्रतिहर्ता से कच्छ छूटने पर सर्वस्वदक्षिणा देकर याग की समाप्ति और उद्गाता से कच्छ छूटने पर वही याग दक्षिणा से रहित समाप्त करके पुनः उस याग को करके उसमें वही दक्षिणा देवें, जो पूर्वयाग में देनी थी– ऐसा कहा गया है। इसमें यदि कदाचित् क्रम से पहले उद्गाता से और बाद में प्रतिहर्ता से अपच्छेद हो जाये, अथवा पहले प्रतिहर्ता से और बाद में उद्गाता से अपच्छेद हो जाये तो कौन सा प्रायश्चित्त करना चाहिए–ऐसा सन्देह होने पर पूर्वपक्षी कहते हैं कि प्रथम उपस्थित होने के कारण पूर्वापच्छेद प्रबल है, अतः तन्निमित्तक प्रायश्चित्त ही करना चाहिये–ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्ती कहते हैं– "पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्" (पू० मी० ६।५।५४) अर्थात् अपच्छेदरूप परस्परनिरपेक्ष निमित्तद्वय का

रजताऽभावज्ञानस्य, येन तस्य रजतज्ञानाऽपेक्षा स्यात् । किञ्च— अनतिप्रसक्ताऽधिकरणस्वरूपेणैव प्रतीत्युपपत्तौ अन्योन्याऽभावस्वीकारे मानाऽभावः । न चाऽऽधाराऽऽधेयभावेन प्रतीत्यनुपपत्तिः; घटाऽन्योन्याभावो घटो नेतिवदुपपत्तेः । स्वरूपभेदस्याऽवश्याऽभ्युपगन्तव्यत्वे तेनैवोपपत्तेरति-

होता हो।" और शुक्तिरजतादिस्थल में तो अधिष्ठानविषयक ज्ञान की ही बाधकता है, रजताभावज्ञान की तो बाधकता नहीं, जिससे बाधकज्ञान को रजतज्ञान की अपेक्षा हो। किञ्च- अतिप्रसक्ति से रहित अधिकरण के स्वरूप से ही प्रतीति सम्भव होने पर अन्योन्याभाव स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है। इसमें –आधाराधेयभाव से प्रतीति असम्भव हो जायेगी– ऐसा भी नहीं; क्योंकि घटान्योन्याभाव घट नहीं अर्थात् जिस प्रकार घटान्योन्याभाव में घटभेद की आधाराधेयभाव से प्रतीति होती है, उसी प्रकार घट में स्वरूपभूत भेद की आधाराधेयभाव से प्रतीति हो सकती है। आप को भी स्वरूपभूत भेद को तो अवश्य ही मानना होगा; तब तो उसी से ही व्यवहार सम्भव होने पर अतिरिक्त अन्योन्याभाव स्वीकार

पौर्वापर्य होने पर पूर्वनैमित्तिक कर्म की दुर्बलता है, अर्थात् परनैमित्तिक कर्म से वह बाधित होना चाहिये, क्योंकि जिस समय पूर्वनिमित्त का ज्ञान हुआ है, उस समय उत्तरनिमित्त उत्पन्न हुआ नहीं, अतः उत्तर को पूर्व बाधित नहीं कर सकता; और उत्तरज्ञान तो पूर्व को बाधित करके निरपेक्ष उत्पन्न हुआ है। इसमें दृष्टान्त है प्रकृतिवदिति- अर्थात् जिस प्रकार प्रकृतियाग में विहित कुश को बाधित करके विकृतियाग में "शरमयं बर्हिर्भवति" इससे शर का विधान होता है, उसी प्रकार यहां भी है। प्रकृत में तो अभेदज्ञानपूर्वक भेदज्ञान है, अतः भेदज्ञान निरपेक्ष नहीं, किन्तु अभेदज्ञानाधीन है। अतः वह पर होने पर भी पूर्व का बाधक नहीं हो सकता। इसके विपरीत पूर्व उपजीव्य होने से उसका बाधक है।

रिक्तस्वीकारे मानाऽभावात्, संसर्गाद्यभावाऽतिरिक्ताऽन्यो-न्याऽभावस्य वक्तुमशक्यत्वाच्च। न च– संसर्गप्रतियोगिको-ऽभावः संसर्गाऽभावः, तादात्म्यप्रतियोगिकोऽभावोऽन्योन्या-ऽभाव इति लक्षण-सुवचम्; उभयत्राऽप्यभावे घटस्यैव प्रति-योगित्वाऽनुभवात्तस्यैवाऽऽरोपयितुं युक्तत्वात्; अनुभवस्य व्याख्याय दर्शयितुमयुक्तत्वात्, संसर्गाऽन्योन्याऽभाव-तादा-त्म्याऽत्यन्ताऽभावयोरतिव्याप्तेः। न च–तत्राऽपि तयोस्ता-दात्म्यसंसर्गाविव प्रतियोगिनाविति–वाच्यम्; तयोरेवाऽभा-वद्वयेऽतिव्याप्तेः; अग्रे धावने चाऽतिव्याप्तेरनवस्थाऽऽप-रोश्च।

करने में प्रमाण नहीं है। और संसर्गाभाव के अतिरिक्त अन्योन्या-भाव का निर्वचन भी नहीं किया जा सकता।

शंका– जिस अभाव का प्रतियोगी संसर्ग है, वह संसर्गाभाव है, और तादात्म्य जिस अभाव का प्रतियोगी है, वह अन्योन्याभाव है– ऐसा लक्षण होगा।

समाधान– आपने ठीक नहीं कहा; क्योंकि दोनों अभावों में घट की ही प्रतियोगिता का अनुभव होता है (संसर्ग और तादात्म्य की प्रतियोगिता का अनुभव नहीं)। अतः घट का ही प्रतियोगिरूप से आरोप करना युक्तियुक्त होगा। अनुभव को व्याख्यान करके दिखाना तो ठीक नहीं है। इसके अतिरिक्त– पहले लक्षण की संसर्गान्योन्या-भाव में और दूसरे की तादात्म्यात्यन्ताभाव में अतिव्याप्ति होती है। उसमें भी दोनों अभावों का तादात्म्य और संसर्ग ही प्रतियोगी है– ऐसा भी नहीं कहना चाहिये; क्योंकि तादात्म्य और संसर्ग इन दोनों के अभावद्वय में अतिव्याप्ति होती है, और उससे आगे दौड़ते जाने पर अतिव्याप्ति की अनवस्था हो जायेगी (१)।

---

(१) यहां पर पूर्वपक्षी का कहना है कि– संसर्गान्योन्याभाव का अर्थ है– संसर्गतादात्म्याभाव, तथा तादात्म्यात्यन्ताभाव का

अथ— यत्र प्रतियोगिनमारोप्य निषेधबुद्धिः, स संसर्गाऽभावः, यत्र पुनः प्रतियोगितावच्छेदकरूपमारोप्य निषेधबुद्धिः, सोऽन्योन्याऽभावः । आरोपे च प्रमाणं "इदमिह नास्ति", "इदमिदं न भवति" इति प्रतीतिः; तद्वृत्तिधर्म एव च तादात्म्यम्, नत्वभेदः, तस्याऽप्रामाणिकत्वादिति— चेन्न; प्रतियोगितावच्छेदकधर्मस्याऽऽरोपितस्यैव निषेधापत्तेः, न तु घटादेः, नह्यन्यदारोप्यतेऽन्यन्निषिध्यत इति युक्तिमत्,

शंका— जहां प्रतियोगी का आरोप करके निषेधबुद्धि होती है; वह संसर्गाभाव है (अत्र भूतले यदि घटः स्यात्तर्हि उपलभ्येत, न तूपलभ्यते, तस्माद् घटोनास्तीति) । और जहां प्रतियोगिता के अवच्छेदक धर्म का आरोप करके निषेधबुद्धि होती है, वह अन्योन्याभाव है (पटे यदि घटत्वं स्यात्तर्हि पट एव घटः स्यात्, न त्वेवम्; तस्मात्पटो घटोनेति) । और इस आरोप में "यह यहां नहीं", "यह यह नहीं" इस प्रकार की प्रतीति ही प्रमाण है । और भेदानुयोगिनिष्ठ धर्म ही तादात्म्य है, अभेद नहीं, क्योंकि अभेद अप्रामाणिक है ।

समाधान— नहीं, ऐसा मानने पर आरोपित प्रतियोगितावच्छेदक धर्म की ही निषेधापत्ति होगी, घटादि का निषेध तो होगा नहीं; क्योंकि आरोप तो अन्य का होता है और निषेध दूसरे का

अर्थ है— तादात्म्यसंसर्गाभाव । अतः अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी क्रम से तादात्म्य और संसर्ग ही होते हैं । इसमें उत्तरपक्षी कहते हैं कि "घटः संसर्गो न" इत्यादि में संसर्गान्योन्याभाव तथा "भूतले घटतादात्म्यं नास्ति" इत्यादि में तादात्म्यात्यन्ताभाव अनुभव से सिद्ध है । अतः लक्षणों में परस्पर अतिव्याप्ति होना अवश्यम्भावी है । तुम्हारे कहे हुए के अनुसार तादात्म्य और संसर्ग को आगे बढ़ाते जाये तो अतिव्याप्ति भी आगे बढ़ती जायेगी । इसी से अतिव्याप्ति में अनवस्था होगी ।

अतिप्रसङ्गात् । प्रतीतिबलात्तथा कल्प्यत इति चेन्न; कराण-बाधे प्रतीतेर्भ्रान्तत्वात् । प्रतीतिमात्रशरणत्वे च यौक्तिकत्व-विरोधः । किञ्च– यत्र प्रतियोगिनमारोप्य निषेधबुद्धिः, स संसर्गाऽभाव इत्यत्र यत्तदोः संबन्धेऽधिकरणस्यैव संसर्गाऽभा-वत्वं विधेयं स्यात्; तच्चाऽयुक्तम् । एवं द्वितीयलक्षणेऽपि बोध्यम् ।

अथ— अधिकरणविषयकप्रतियोग्यारोपपूर्वकनिषेधधी-विषयः संसर्गाऽभावः; तथाऽधिकरणविषयकप्रतियोगिताव-च्छेदकधर्माऽऽरोपपूर्वकनिषेधधीविषयोऽन्योन्याऽभाव इति

किया जाता है– यह कहना युक्तियुक्त नहीं है; इसमें अतिप्रसङ्ग होता है । और इसमें प्रतीति के बल से ऐसी कल्पना भी नहीं हो सकती; क्योंकि प्रतीति के कारण के बाध से वह प्रतीति भ्रान्त सिद्ध हो जाती है । और प्रतीतिमात्र की शरण लेने पर तो यौक्तिकता का विरोध है ।

किञ्च – जहां प्रतियोगी का आरोप करके निषेधबुद्धि होती है, वह संसर्गाभाव है– इस कथन में "यत्" और "तत्" दोनों में संबन्ध होने पर अधिकरण का ही संसर्गाभावत्व विधेय होगा (क्योंकि यत् और तत् का एकार्थबोधकत्व है); वह तो युक्तियुक्त नहीं । वैसे ही द्वितीय लक्षण में भी समझना चाहिये (अर्थात् जहां प्रतियोगिता-वच्छेदक धर्म का आरोप करके निषेधबुद्धि होती है, वह अन्योन्या-भाव है– इस लक्षण में भी यत् और तत् में एकार्थबोधकत्वसंबन्ध होने से अधिकरण का ही अन्योन्याभावत्व विधेय होने का प्रसङ्ग आयेगा) ।

यदि इसका व्याख्यान इस प्रकार करें कि– अधिकरणविष-यक अर्थात् अनुयोगी से निरूपित प्रतियोगी की आरोपपूर्वक निषेध-बुद्धि का विषय संसर्गाभाव है, तथा अधिकरणविषयक प्रतियोगिता-वच्छेदक धर्म की आरोपपूर्वक निषेधबुद्धि का विषय अन्योन्याभाव है; तो भी यह व्याख्यान ठीक नहीं; कारण कि प्रतियोगी और

व्याख्यायते, तदपि न; प्रतियोगिन्यधिकरणे च अतिव्याप्तेः; तयोरपि तद्धीविषयत्वात्। अभावत्वे सतीति चेन्न; पूर्वनिषेधपदस्य वैयर्थ्यापत्तेः, अन्योन्याभावसंसर्गाभावाऽभावे भावरूपे तदसिद्धेश्च। किञ्च– तादृशधीविषयत्वमुपलक्षणम्, विशेषणं वा? न प्रथमः; उपलक्ष्यतावच्छेदकैकधर्माऽसद्भावे तावतीनामभावव्यक्तीनामसंग्रहापत्तेः। तत्सद्भावे च तदेव लक्षणमस्तु, किमनेन? न द्वितीयः, संसर्गाभावस्याऽतीन्द्रियत्वापत्तेः। उपनीतभानेऽपि ज्ञानाऽभावसमये संसर्गाभावनाश-

अधिकरण (अनुयोगी) दोनों में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि दोनों भी निषेधबुद्धि के विषय हैं। इस दोष के निवारण के लिये विषय में "अभावत्व होने पर" यह विशेषण देंगे तो पूर्वनिषेधपद (निषेधधी-विषय में पठितनिषेधपद) व्यर्थ हो जायेगा। और अन्योन्याभाव का अभाव तथा संसर्गाभाव का अभाव भावरूप होने से उनमें "अभावत्वे सति" इस विशेषण की असिद्धि होगी। किञ्च – इस प्रकार का निषेधधीविषयत्व अभाव का उपलक्षण है, अथवा विशेषण? (अविद्यमान और विशेष्य से अनन्वित होकर विशेष्य का अन्य से व्यावर्तक उपलक्षण है, और विद्यमान तथा विशेष्य से अन्वित होकर विशेष्य का अन्य से व्यावर्तक विशेषण है)। प्रथम पक्ष हो नहीं सकता; क्योंकि संसर्गाभावनिष्ठ या अन्योन्याभावनिष्ठ उपलक्ष्यता के अवच्छेदक किसी एक धर्म का सद्भाव न होने पर लक्षणघटित सब अभावव्यक्तियों का संग्रह नहीं होगा, यदि उपलक्ष्यतावच्छेदक धर्म का सद्भाव है तो उसको ही लक्षण मानो (क्योंकि असाधारण धर्म ही लक्षण होता है), तुम्हारे किये हुए इस लक्षण से क्या लाभ? द्वितीय पक्ष भी नहीं हो सकता; क्योंकि संसर्गाभाव के अतीन्द्रियत्व की आपत्ति होगी (उक्तनिषेधधीविषयत्वविशिष्ट यावत्संसर्गाभाव उपस्थित न होने के कारण उनमें अतीन्द्रियत्व का प्रसङ्ग है)। और उसमें ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति से उपनीत सब संसर्गाभावों का भान

प्रसङ्गात्। तथा च निर्जले बन्धविच्छेदे जलनिःसरणं स्यात्। अथ– तादृशधीयोग्यत्वं तदिति– चेन्न; तस्यैव स्वरूपाऽतिरिक्तस्य वक्तुमशक्यत्वात्। तत्र चाऽननुगम एव, अतीन्द्रियाऽभावेऽतिव्याप्तिश्च; तत्रचाऽऽरोपहेतुकज्ञानाऽभावात्। किञ्च– विषयत्वं स्वरूपसंबन्धः, स च संबन्धान्तरेण विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यत्वरूपः। तच्च नियतपूर्ववर्त्तित्वज्ञानाऽधीनम्। नियमस्तु व्याप्तिः। सा चाऽन्योन्याभावगर्भा वा स्यादत्यन्ताभावगर्भा वा ? उभयथापि यथासंभवं

मान भी ले, तो भी ज्ञानाभाव के समय में संसर्गाभाव के नाश का प्रसङ्ग होगा (क्योंकि ज्ञान से उपनीत होने के कारण ज्ञान न होने पर उसका नाश होना अवश्यम्भावी है)। तब तो जल रहित होने पर भी बान्ध टूट जाने पर जल का निःसरण होगा। यदि इसमें पुनः शंका हो कि उक्तनिषेधधीविषययोग्यता ही लक्षण है; तो भी ठीक नहीं, क्योंकि स्वरूप के अतिरिक्त उस योग्यता का ही कथन नहीं हो सकता, और उसको स्वरूप मानने पर तो अननुगतत्वरूप दोष ही होगा (क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का भिन्न भिन्न स्वरूप है)। और अतीन्द्रिय अभाव में अव्याप्ति भी होगी; क्योंकि अतीन्द्रिय अभाव में आरोपनिमित्तक ज्ञान नहीं हो सकता। किञ्च विषयत्व स्वरूपसंबन्ध ही है, और वह संबन्ध संबन्धान्तर से विशिष्टज्ञान का जननयोग्यतारूप है; और वह योग्यता भी नियतपूर्ववर्तित्व के ज्ञान की अधीन है। नियम तो व्याप्ति है। वह व्याप्ति अन्योन्याभावगर्भा है, अथवा अत्यन्ताभावगर्भा ? इन दोनों पक्षों में भी यथासम्भव दूषण स्वयं ही विचार करके देखने चाहिये (१)। इसी

(१) अभिप्राय यह है कि– जहां किसी के पूर्ववर्तित्व का ज्ञान होता है, वहां स्वरूपसंबन्ध (विषयता) संबन्धान्तर से (संयोगतादात्म्यादि से) विशिष्टज्ञान का जननयोग्य होता है– इस व्याप्ति में पूर्ववर्तित्व के ज्ञान में किसका पूर्ववर्तित्व– ऐसी आकांक्षा होने पर

दूषणं स्वयमूहनीयम् । एवमधिकरणपदार्थनिर्वचनेऽपि ।

आरोपस्य संसर्गाभावज्ञानकारणत्वे च पूर्ववर्तित्वं प्रागभावघटितम् । प्रागभावत्वं च संसर्गाऽभावज्ञानाधीनज्ञानम्,

प्रकार अधिकरणपदार्थ के निर्वचन में भी समझना चाहिये (१)। और आरोप को संसर्गाभावविषयक ज्ञान का कारण मानोगे तो उसका पूर्ववर्तित्व प्रागभावघटित (संसर्गाभावविषयकज्ञानप्रागभावघटित) होगा। और प्रागभाव संसर्गाभावज्ञान के अधीन ज्ञान का

प्रसङ्ग के अनुसार यहां पर अन्योन्याभाव के पूर्ववर्तित्व का ज्ञान अथवा अत्यन्ताभाव (संसर्गाभाव) के पूर्ववर्तित्व का ज्ञान जहां होता है, वहां स्वरूपसंवन्ध संवन्धान्तर से विशिष्टज्ञान (तादात्म्य से घटभेदविशिष्टपटज्ञान अथवा संयोग से घटात्यन्ताभावविशिष्टभूतलज्ञान) का जननयोग्य होता है-ऐसी अन्योन्याभावगर्भा या अत्यन्ताभावगर्भा व्याप्ति होगी। तब तो अन्योन्याभाव और संसर्गाभाव के लक्षणों में आत्माश्रय होना अनिवार्य है।

(१) लक्षणघटित अधिकरण का निर्वचन भी नहीं हो सकता। तथाहि — साक्षात् या परम्परा से क्रियाश्रय अधिकरण है — ऐसा कह नहीं सकते; क्योंकि आश्रय ही तो विचार्यमान होने से आत्माश्रय है। "जहां" (यत्र) इस ज्ञान का विषय भी अधिकरण नहीं, क्योंकि "तहां" (तत्र) इस ज्ञान के विषय में अव्याप्ति होती है। और इसी प्रकार अव्याप्ति होने से "यहां (इह) इस ज्ञान का विषय भी अधिकरण नहीं हो सकता। और अधःस्थित संवन्धी अधिकरण है— ऐसा भी कह नहीं सकते; क्योंकि गुण का अधिकरण गुणी अधःस्थित संवन्धी मालूम नहीं होता। पतन का प्रतिवन्धक भी अधिकरण नहीं होता; कारण कि अवयवी के पतन में अवयव प्रतिबन्धक नहीं होता; किन्तु अवयवी का अधिरण अवयव होता है — इत्यादि खण्डनकार की युक्ति के अनुसार अधिकरण के लक्षण का खण्डन समझना चाहिए।

तथाचाऽऽत्माश्रयः । गन्धाऽनाधारसमयाऽनाधारत्वादिकमेव तदिति- चेन्न; अनाधारत्वं चाऽऽधारत्वाऽभाव इत्यात्माऽऽश्र- यात्- इत्यादिकमूह्यम् । अथ- संसर्गाऽभावत्वाऽन्योन्याभा- वत्वेऽखण्डोपाधी आभ्यां लक्षणाभ्यामुपलक्ष्येते, तथा च नोक्त- दोष इति- चेन्न; तदुभयस्वरूपाऽनिर्वचनात् । स्वरूपे निरु- क्ते हि लक्षणाऽभिधानं युक्तिमत् । तयोः पदार्थान्तरताप- त्तिश्च, द्रव्यादिष्वनन्तर्भावात् । अथ- सामान्येऽन्तर्भावः; तथाहि- सामान्यं द्विविधम्; उपाधिरूपं जातिरूपञ्च । तत्रोपाधिर्द्विविधः- सखण्डोऽखण्डश्चेत्युपाधावन्तर्भाव एतयो-

विषय है, तबतो आत्माश्रय है। और गन्ध के अनाधारभूत समय में अनाश्रितत्वादिक ही (अर्थात् गन्ध के आश्रयभूत समय में वर्तमान- त्वादिक ही) पूर्ववर्तित्व है— ऐसा भी कहना ठीक नहीं; क्योंकि अनाधारत्व का अर्थ है- आधारत्व का अभाव, अतः संसर्गाभाव के लक्षण में आत्माश्रय दोष होता है- इत्यादि विचार यहां पर करना चाहिये।

शंका- संसर्गाभावत्व और अन्योन्याभावत्व अखण्डोपाधि है (समवायसंबन्ध से असंबद्ध अनिर्वचनीय धर्मविशेष अखण्डो- पाधि है); ये दोनों पूर्वोक्त दो लक्षणों से उपलक्षित होते हैं। तबतो आत्माश्रयादि उक्त दोष नहीं होता।

समाधान- नहीं; क्योंकि उन दोनों के (संसर्गाभावत्व और अन्योन्याभावत्व के) स्वरूप का निर्वचन अभी तक नहीं हुआ है। स्वरूप का निर्वचन होने के अनन्तर ही लक्षण कहना युक्तिसगत है। और इन दोनों अखण्डोपाधियों के पदार्थान्तर होने की आपत्ति भी है; क्योंकि उनका द्रव्यादियों में अन्तर्भाव नहीं होता।

शंका- सामान्य में अन्तर्भाव होगा। तथाहि-उपाधिरूप और जातिरूप भेद से सामान्य दो प्रकार का है। उनमें भी उपाधि द्विविध है- एक सखण्ड (बहुपदार्थघटित निर्वचनीय धर्मविशेष),

स्तत्तेदन्तयोरिवेति– चेन्न; उपाधेः सामान्यात्मकत्वे प्रामाणाऽभावात्; नित्यमेकमनेकसमवेतं हि सामान्यम्; तच्च परमपरञ्चेति भाष्यकृता विभक्तम्; न तूपाधिजातिरूपेण। तदिदं व्याख्यानं भाष्यविरुद्धम्।

किञ्च– अखण्डोपाधिनाऽनुगतप्रत्ययव्यवहारयोरुपपत्तौ गोत्वादिस्वीकारोऽनर्थक एवाऽऽयुष्मतः। जातिबाध एवोपाधिकल्पनेति चेन्न; फलतोऽविशेषात्। उपाधिरप्यखण्डः, जातिरप्यखण्डेति लाघवस्योभयत्र तुल्यत्वात्। जातेः समवायोऽस्तीति चेत्; किं तेन? नहि समवायेनाऽनुगतबुद्धिर्जन्यते, अपितु जात्या; तत्र च नास्ति कश्चिद्विशेषः।

और दूसरी अखण्ड। अतः तत्ता और इदंता के समान उन दोनों का अन्तर्भाव उपाधि में होता है।

समाधान— ऐसा नहीं है; क्योंकि उपाधि के सामान्यस्वरूपत्व में प्रमाण नहीं। नित्य, एक और अनेकसमवेत ही तो सामान्य है, और उसका पर और अपर भेद से भाष्यकार प्रशस्तपाद ने विभाग किया है; उपाधि और जातिरूप से तो उसका विभाग नहीं किया। अतः यह व्याख्यान भाष्यविरुद्ध है।

इसके अतिरिक्त–अखण्डोपाधि से ही अनुगतबुद्धि और व्यवहार सम्भव होने पर आयुष्मान् आपका गोत्वादिस्वीकार व्यर्थ होगा। इसमें— जातिबाध ही उपाधिकल्पना का कारण है– ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि फलसे दोनों में कोई विशेष नहीं। उपाधि भी अखण्ड है, तथा जाति भी अखण्ड है— इस प्रकार से लाघव दोनों में तुल्य है। इसमें शंका हो कि जाति का समवाय है, अतः विशेष क्यों नहीं; तो उस से क्या? समवाय से तो अनुगतबुद्धि उत्पन्न नहीं होती, किन्तु जाति से होती है; और उसमेंतो जाति

जातौ व्यञ्जकनियमोऽस्तीति– चेन्न; साक्षात्कारत्वादौ तदभावात्; इन्द्रियजन्यत्वस्य तत्त्वे ईश्वरज्ञानस्य तदभावापत्तेः। तस्मादखण्डोपाधिस्वीकारे जातिपदार्थापलाप एव। तत्तेदन्तयोः का वार्तेति चेत्; अनभ्युपगम एव। तत्र हि यदि तत्ता पदर्थान्तरम्, सा किं पूर्वाऽनुभवे भासते न वा ? नाऽऽद्यः, स्मृतिवदनुभवेऽपि "सः" इत्याकारस्योल्लेखापत्तेः। न द्वितीयः; स्मरणे तद्भानानापत्तेः। किञ्च–तत्कालसंबन्धो वा, तद्देशसंबन्धो वा, तद्वृत्तिगुणादिकं वा यदेवेदन्तया भासते, तस्यैव कालान्तरेऽपि तत्त्वेन भाने तत्ताप्रतीत्युपपत्ताव-

और उपाधि में कोई विशेष नहीं है। इसमें— जाति में व्यञ्जकनियम है– ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि साक्षात्कारत्वादि जाति में उसका (व्यञ्जकनियम का) अभाव है (कारण कि ईश्वरज्ञान में साक्षात्कारत्व होता हुआ भी उसमें व्यञ्जकनियम नहीं); और इन्द्रियजन्यत्व का ही साक्षात्कारत्व होने पर ईश्वरज्ञान में साक्षात्कारत्वाभाव की आपत्ति आजायेगी। अतः अखण्डोपाधि को मानोगे तो जाति पदार्थ का ही अपलाप होगा। तब तो तत्ता और इदन्ता का क्या होगा ? दोनों को ही नहीं मानना चाहिये। उसमें यदि तत्ता पदार्थान्तर है तो वह क्या पदार्थों के पूर्वानुभव में प्रतीत होती है या नहीं ? आद्य पक्ष हो नहीं सकता; क्योंकि स्मृति के समान अनुभव में भी "वह" इस प्रकार उल्लेख होने लगेगा (इदंतारूप से "यह" ऐसे अनुभव का विषय नहीं होगा)। द्वितीय पक्ष भी नहीं हो सकता; क्योंकि स्मृति में भी तत्ता का भान न होने की आपत्ति आयेगी (कारण कि स्मृति का विषय अनुभूतपदार्थ ही होता है)। किञ्च— तत्कालसंबन्ध हो, या तद्देशसंबन्ध हो, या तत्पदार्थनिष्ठ-गुणादिक हो, जो ही इदंतारूप से भासित होता है, उसी के ही कालान्तर में उसी रूप से भान होने में तत्ता की प्रतीति सम्भव होने पर

खण्डोपाधिकल्पनं व्यर्थमेव, एतत्सर्वमभिसंधायैवाऽभ्युपगमवादेनाऽमुं पक्षमुपक्षिप्य त्यक्तवान्मणिकारस्तत्त्वेदन्तयोरभेदं ब्रुवन्। तस्मादन्योन्याभावानिरुक्तौ तद्रूपं भेदं प्रत्यक्षादि गृह्णातीति बालभाषितमेव।

इत्यन्योन्याभावत्वनिर्वचनभङ्गः ॥५॥

अखण्डोपाधि की कल्पना करना व्यर्थ है। इन सब बातों का विचार करके ही मणिकारने अभ्युपगमवाद से (वादी के सामर्थ्य को निरीक्षण करने के लिये अनिष्ट पक्ष का स्वीकार करके अर्थात् अखण्डोपाधिपक्ष मान कर) वादिपक्ष का खण्डन करने के बाद तत्ता और इदंता में अभेद कह कर त्याग दिया था। अतः अन्योन्याभाव का निर्वचन असम्भव होने पर अन्योन्याभावरूप भेद प्रत्यक्षादि का गोचर है— ऐसा कथन तो बालकों का ही है।

इत्यद्वैतरत्नरक्षणेऽन्योन्याभावत्वनिर्वचनभङ्गस्यानुवादः ॥ ५ ॥

अथ निर्विकल्पकस्य भेदविषयकत्वभङ्गः

अथ— (१) निर्विकल्पकं ज्ञानं भेदं गृह्णातीत्यस्तु द्वितीयः । न; तस्य वस्तुमात्रविषयत्वात् । न च–घटस्वरूपं घटत्वरूपञ्च विशकलितं गृह्णन्निर्विकल्पकं स्वरूपभेदं वैधर्म्यरूपञ्च भेदं गृह्णातीति-साम्प्रतम्; भेदत्वेनाऽनुल्लेखात् ।

अथ निर्विकल्पकस्य भेदविषयकत्वभङ्गानुवादः ॥६॥

शंका— निर्विकल्पक ज्ञान भेदविषयक होता है- यह द्वितीय पक्ष तो हो सकता है।

समाधान— नहीं; वह वस्तुमात्रविषयक है, भेद का ग्रहण नहीं करता। इसमें- घटस्वरूप और घटत्वधर्म को विखण्डित होकर ग्रहण करने वाला निर्विकल्पकज्ञान स्वरूपभूत भेद और वैधर्म्यरूप भेद का ग्राहक है (घट में पटभेद को घटस्वरूप ही मानने वाले के पक्ष में उस भेद को स्वरूपभेद कहा जाता है, उसी प्रकार घट में पटभेद को घटनिष्ठधर्मत्व मानने वाले के पक्ष में उस भेद को वैधर्म्यभेद कहा जाता है)- ऐसा कथन युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि उसमें भेदत्वरूप से उल्लेख नहीं होता। पुनः इसमें भी शंका हो कि वस्तु का स्वभाव

---

(१) श्री शंकरमिश्रकृत भेदरत्न में— "निर्विकल्पकधियां यद्यपि वैशिष्ट्यं न विषय इति अन्योन्याभावो भेदो न भासते; तथापि स्वरूपभेदो घटादिर्वैधर्म्यञ्च घटत्वादिर्भासते; तेनैव भेदविषयता। तदपि भेदत्वेन न भासते इति चेत्; यत्किञ्चिदेतत्।" यह कह कर छोड़ दिया गया है। उसका यहां पर "अथ" इत्यादि से विस्तारपूर्वक खण्डन किया जाता है।

वस्तुगतिस्तथेति चेत्; भ्रान्तोऽसि । क्वापि भेदाऽसिद्धौ वस्तुगतेरसिद्धेः । किञ्च—भेदाऽभेदो हि सः, न वस्तुमात्रं निर्विकल्पके भासते— इति सर्वसम्मतम्, तस्य यदि भेदे प्रामाण्यं त्वयोच्यते, तदाऽभेदेऽपि मया वक्तुं शक्यत एवेति न त्वया निवारयितुं शक्यते । वस्तुतस्तु निर्धर्मकं वस्तुमात्रं गृह्णत् निर्विकल्पकमभेद एव प्रमाणं भवितुमर्हति; तस्य तथारूपत्वात् ।

ननु— भेदप्रतीतिस्तावदनुभवसिद्धा, ततस्तस्या विषयेणापि भवितव्यम्; अन्यथा ज्ञानाऽसम्भवात् । तदुक्तं— "अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्" (न्या०कु० ४।४) इति- चेन्न; किमियं प्रतीतिस्तव, किं वाऽद्वैतवादिनः, किं वा सर्वस्य ? नाऽऽद्यः, तव प्रतीतेरस्मान्प्रत्यसं-

वैसा ही है, तो तुम भ्रान्त हो; क्योंकि कहीं भी वस्तुतः भेद सिद्ध न होने से वस्तुगति की भी असिद्धि होती है । किञ्च— निर्विकल्पक का विषय तो भेदाभेद ही है, निर्विकल्पक में वस्तुमात्र अवभासित नहीं होता— यह सर्वसम्मत है । इस अवस्था में तुम यदि निर्विकल्पक का प्रामाण्य भेद में कहते हो तो मैं भी अभेद में कह सकता हूँ; उसको तुम निवारण नहीं कर सकते । वास्तविकरूप से तो निर्धर्मक वस्तुमात्र का ग्रहण करने वाला निर्विकल्पकज्ञान अभेद में ही प्रमाण है; क्योंकि वस्तुमात्र का स्वरूप भेदरहित है ।

शंका— भेद की प्रतीति अनुभव से सिद्ध है; अतः उस प्रतीति का विषय भी अवश्य होना चाहिये; अन्यथा ज्ञान होना असम्भव होगा (क्योंकि ज्ञान निर्विषयक नहीं होता) । इस बात को उदयनाचार्य ने भी कहा है— ज्ञान निराकार होने के कारण उसमें विषय के द्वारा ही विशेषता आती है ।" इति ।

समाधान— ऐसा नहीं हो सकता; क्या यह प्रतीति तुम्हारी है, या अद्वैतवादी की, अथवा सबकी ? आद्य पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि

प्रतिपन्नत्वात्, तव वचने विश्वासाऽभावाच्च; प्रतारकत्वो-पपत्तेश्च । न द्वितीयः; सर्वाऽद्वैतं मन्यमानस्य मम भेदबुद्ध्य-भावात्, तव तज्ज्ञानाऽसंभवाच्च; परबुद्धेः परस्याऽप्रत्यक्ष-त्वात् । अनुमानादिना ज्ञानेऽपि तवैव भेदज्ञानम्, न तु मम । नाऽपि तृतीयः; सर्वबुद्धेरसर्वज्ञेन ज्ञातुमशक्यत्वात्, तेषाम-भेदज्ञानस्याऽपि संभवाच्च । तथापि प्रतीत्यपलापे वादि-त्वान्निवृत्तिरिति–चेन्न; अद्वैतप्रतिपत्तेरपि श्रुत्यादिनाऽऽपाद्य-मानाया अपलापे तथा वक्तुमशक्यत्वात् । तस्मात्साधूक्तम्–

न सा धीः क्वचिदप्यस्ति यत्र भेदोऽवभासते ।
अतएव श्रुतेर्मात्त्वमद्वैते सर्वदाऽक्षतम् ।।इति।।

तुम्हारी प्रतीति हमें मान्य नहीं और तुम्हारे वचन में विश्वास भी नहीं तथा उसमें प्रतारकत्व (ठगपना) भी हो सकता है। द्वितीय पक्ष भी सम्भव नहीं; क्योंकि सर्वाद्वैत मानने वाले हम लोगों की भेदबुद्धि नहीं है, और हमारे अन्दर भेदबुद्धि है— ऐसा ज्ञान करना भी तुम्हारे लिये असम्भव है, कारण कि परबुद्धि दूसरे के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होती। अनुमानादि से होने वाले ज्ञान में भी तुम्हारा ही भेदज्ञान है, हमारा तो नहीं (अर्थात् अनुमानादि से भी दूसरे के ज्ञान का ज्ञान नहीं हो सकता)। तृतीय पक्ष भी उचित नहीं; क्योंकि असर्वज्ञ के द्वारा सब लोगों का ज्ञान गृहीत नहीं हो सकता और उनमें अभेदज्ञान भी सम्भव है।

शंका– तो भी प्रतीति का अपलाप करने पर वादित्व से निवृत्ति होने का प्रसङ्ग आ जायेगा।

समाधान— ऐसा भी न कहो; क्योंकि श्रुत्यादि से होने वाली अद्वैतप्रतीति के भी अपलाप का प्रसङ्ग होने से वैसा नहीं कहा जा सकता (वादित्व से निवृत्ति नहीं कही जा सकती)। अतः ठीक ही कहा है—

"कहीं भी इस प्रकार की बुद्धि नहीं है, जिसमें भेद प्रतीत होता

तदेवं(१) सर्वज्ञानानां भेदाऽविषयत्वे सिद्धे बाधकप्रमाणाभावात् श्रुत्या सर्वाऽद्वैते प्रतिपादिते आपाततः अनु पश्चात् श्रवणानन्तरं ईक्षा मननमन्वीक्षेति व्युत्पत्त्या मन्तव्य इति विधेर्बादरायणीयं चतुर्लक्षणीशास्त्रमध्येतव्यं "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (वे०द०१।१।१) इत्यादि। तेनैवाऽद्वैततर्कव्यु-

हो। अतएव अद्वैत में श्रुति का प्रामाण्य सर्वदा अक्षत है।" इस प्रकार से सब ज्ञानों का भेदाऽविषयत्व सिद्धहोने पर बाधक प्रमाण के अभाव से श्रुतिद्वारा सर्वाऽद्वैत प्रतिपादित होता है। अत: साधारण तौर पर- अनु=पश्चात् अर्थात् श्रवण के अनन्तर ईक्षा=मनन को अन्वीक्षा कहा जाता है- इस प्रकार की व्युत्पत्ति करके "मन्तव्य:" (बृ०२।४।५) इस विधि से "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इत्यादि चार अध्याय वाले बादरायणीय शास्त्र का अध्ययन करना चाहिये; क्योंकि उसी से अद्वैतसिद्धिके लिये तर्क का प्रतिपादन किया गया है। तभी श्रवण और मनन में समानविषयकत्व उपलब्ध होगा, अन्यथा नहीं (अभिप्राय यह है कि श्रवण आत्मविषयक होता है। यदि "मन्तव्य:"

---

(१) भेदरत्न में-- "तदेवं सर्वधियां भेदविषयत्वे सिद्धे" शरीरादिभिन्नत्वेनाऽपि श्रुत्या समधिगतस्याऽऽत्मनो ब्रह्मणोऽनु पश्चादीक्षणं मननमन्वीक्षा इति व्युत्पत्त्या मन्तव्य इति विधेरन्वीक्षाऽध्ययनमेव विषय:; प्रकारान्तरेण मननाऽनुपपत्तेर्विध्यनिर्वाहात्। वेदान्तशास्त्रन्तु मुमुक्षूणां तत्त्वज्ञानविरोध्यर्थोपस्थापकतयाऽनादेयमेव। यदि तु तैर्थिकप्रवृत्त्यनुरोधात् कथञ्चिदुपादेयता, तदा श्रोतव्य इति विधिविषयतयैव, श्रुत्यक्षरार्थव्याख्यानमात्रपरत्वात्, न तु मन्तव्य इति विधिविषयतया, युक्तिवैधुर्येण मननाऽसंस्पर्शात्। मन्तव्यश्चोपपत्तिभिरित्यनेन मननस्योपपत्तिसाध्यत्वाऽवगमात्।" अर्थात्--इस प्रकार बुद्धियों का भेदविषयत्व सिद्ध होने पर श्रुति द्वारा शरीरादि से भिन्नरूप से आत्मा और ब्रह्म ज्ञात होने के अनु=पश्चात् ईक्षण=मनन करने का नाम अन्वीक्षा है-इस व्युत्पत्ति के अनुसार "मन्तव्य:" इस विधि का

त्पादनात् । तदैव श्रवणमननयोः समानप्रकारकत्वं लभ्यते,
नाऽन्यथा । एतच्चाऽभ्युपेत्यवादेनोक्तम् ।

वस्तुतस्तु तस्य श्रवणाऽङ्गत्वान्न मननविधेर्विचारप्रयोज-
कत्वम् । किन्तु साङ्गश्रवणविधेरेवेति व्युत्पादितमद्वैतसिद्धौ ।
न्यायशास्त्रन्तु विरोध्यर्थोपस्थापकत्वात् मुमुक्षूणामनादेयमेव ।

इस विधि से मनन का विषय आन्वीक्षिकी विद्या नाम से प्रसिद्ध
गौतमीय या कणादीय न्यायशास्त्र माना जाये तो श्रवण और मनन
दोनों में विभिन्नविषयकत्व का प्रसङ्ग होगा । किन्तु यह ठीक नहीं,
क्योंकि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"
इस प्रकार एक ही वाक्य में आये हुए श्रवण और मनन का एक
ही विषय होना चाहिये) । यह अभ्युपगमवाद से कहा गया है ।
वास्तव में तो मनन श्रवणविधिका अङ्ग होने से मननविधि का वेदा-
न्तविचारप्रयोजकत्व नहीं है; किन्तु साङ्गश्रवणविधिका विचार-
प्रयोजकत्व है— यह बात "अद्वैतसिद्धि" में प्रतिपादित (१) है । न्याय-
शास्त्र तो विरुद्धार्थ का प्रतिपादक होने से मुमुक्षुओं को अग्राह्य ही

अन्वीक्षा (न्यायशास्त्र) का अध्ययन ही विषय है, क्योंकि प्रकारान्तर
से मनन असम्भव होने से विधि का निर्वाह नहीं हो सकता । वेदान्त-
शास्त्र तो तत्त्वज्ञानविरोधी अर्थ का उपस्थापक होने से मुमुक्षुओं
द्वारा अनादेय है । यदि शास्त्रकारों की प्रवृत्ति के अनुरोध से किसी
प्रकार वेदान्तशास्त्र की उपादेयता है, तो "श्रोतव्यः" इसविधि के
विषयरूप से ही है; क्योंकि वह श्रुत्यक्षरार्थ का व्याख्यानमात्र
करता है; "मन्तव्यः" इस विधि के विषयरूप से तो वह उपादेय
नहीं; क्योंकि युक्तिहीन होने से वह मनन से सम्बन्धित नहीं होता,
और "मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः" इससे मनन युक्तिसाध्य जाना जाता
है—इसका उत्तर यहां दिया गया है ।

(१) अद्वैतसिद्धि में "मनननिदिध्यासनयोः श्रवणाङ्गत्वनिरू-
पणम्" तथा "विचारस्य श्रवणविधिमूलत्वोपपत्तिः" इन दोनों
प्रकरणों में इसका विचार हुआ है ।

तदुक्तं भगवता वेदव्यासेन– "एतेन शिष्टाऽपरिग्रहा अपि व्याख्याताः" (वे०द०२।१।१२) इति। यदि च ऋषिप्रणीतमित्यादेयम्, तदापि व्यावहारिकपदार्थनिरूपणार्थं तस्य प्रवृत्तिः; न तु "मन्तव्यः" इति विधिविषयतया, युक्तिवैधुर्येण मननाऽविषयत्वात्। "मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः" इत्युक्तेर्मननस्योपपत्तिसाध्यत्वात्। वेदान्तशास्त्रेण च श्रुत्यनुकूलयुक्तिप्रतिपादनात्। ये तु न्यायशास्त्र एव युक्तिं संभावयन्ति, ते शास्त्रान्तरवार्ताऽनभिज्ञाः कूपमण्डूकवदुपेक्षणीयाः।

इति निर्विकल्पकस्य भेदविषयत्वभङ्गः ॥६॥

है। इसको भगवान् वेदव्यास ने कहा भी है–"सांख्याभिमत प्रधानकारणवाद के निराकरण की युक्तियों से मनु आदि शिष्ट पुरुषों के द्वारा अगृहीत अणुकारणवाद भी खण्डित समझना चाहिये" इति। यदि ऋषिप्रणीत होने से न्यायशास्त्र उपादेय मान भी लिया जाये, तो भी व्यावहारिक पदार्थों के निरूपण के लिये उसकी प्रवृत्ति है; किन्तु "मन्तव्यः" इस विधि का विषय होकर उसकी प्रवृत्ति नहीं; क्योंकि युक्तिवैधुर्य होने से वह मनन का विषय नहीं हो सकता। और "मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः" अर्थात् युक्तियों से मनन करना चाहिये – इस उक्ति से मनन युक्तियों से ही साध्य है। वेदान्तशास्त्र से तो श्रुत्यनुकूल युक्तियों का प्रतिपादन किया गया है। जो लोग न्यायशास्त्र में ही युक्ति की सम्भावना मानते हैं, वे शास्त्रान्तर की वार्ता से अनभिज्ञ होने के कारण कूपमण्डूक जैसे ही उपेक्षणीय हैं।

इत्यद्वैतरत्नरक्षणे निर्विकल्पकस्य भेदविषयत्वभङ्गानुवादः ॥६॥

अथ भिन्नादिवृत्तिविकल्पेन भेदयाथार्थ्यभङ्गः ॥७॥

किञ्च– युक्त्यन्तराऽसहत्वाच्च भेदो नाऽङ्गीकारमर्हति। तथाहि– किं भेदो भिन्ने निविशते, किं वाऽभिन्ने, किं वोदासीने ? न प्रथमः; भेदान्तरेण भिन्ने तद्वृत्तौ भेदान्तरवृत्तावपि तथात्वापत्तौ द्वितीयस्य प्रथमाऽपेक्षायामन्योन्याश्रयः। अग्रे धावनेऽनवस्थाऽविनिगमनाप्राग्लोपाऽनुभवविरोधादयो दोषा यथायथमूहनीयाः। तेनैव भिन्ने तद्वृत्तावात्माश्रय-

(७)

अथ भिन्नादिवृत्तिविकल्पेन भेदयाथार्थ्यभङ्गानुवादः

किञ्च – अन्य युक्तियों से असह्य होने के कारण भेद अङ्गीकार करने के योग्य नहीं। तथाहि – क्या भेद भिन्न (भेदविशिष्ट) में रहता है, या अभिन्न में, अथवा भिन्न और अभिन्न से उदासीन वस्तु में ? आद्य पक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि भेदान्तर से भिन्न में उस भेद की वृत्ति मानने पर भेदान्तर की वृत्ति में भी भेदान्तर की अपेक्षा होने से यदि द्वितीय भेद को प्रथम भेद की अपेक्षा है, तो अन्योन्याश्रय होता है। और आगे दौड़ने पर (अर्थात् तृतीय भेदादि मानकर आगे बढ़ाने पर) अनवस्था, अविनिगमना, प्राग्लोप, अनुभवविरोधादि (१) दोषों का यथासंभव उत्थापन करना चाहिये।

---

(१) भेदविशिष्टमें भेद रहता है– इस कथन में आधार के विशेषणीभूत प्रथम भेद से आधेयीभूत द्वितीय भेद भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो विशेषणीभूत प्रथम भेद भी भेदत्वेन भेद-

तांऽशतः । न हि स्वविशिष्टे स्ववृत्तिर्दृष्टा, संभवति वा । न द्वितीयः; व्याघातात्, स्वतोऽप्यापत्तेश्च । न तृतीयः; कोटिद्वयव्यतिरेककोटेरसंभवादिति ।

ननु– एतावता भेदानुभवो नास्तीत्युच्यते, किं वा सन्नपि न यथार्थः ? न तावदाद्यः; "घटात्पटो भिन्नः" इति भेदाऽनुभवस्य लौकिकपरिक्षकसाधारणत्वात् । न द्वितीयः; अयथार्थता हि विषयबाधगम्या, बाधश्च विपरीतप्रमा, सा

और उस भेद से ही विशिष्ट में उस भेद की वृत्ति मानने पर अंशतः आत्माश्रय दोष होता है; स्वविशिष्ट में स्व की वृत्ति कहीं भी देखी नहीं जाती, और सम्भव भी नहीं । द्वितीय अभिन्नपक्ष भी नहीं हो सकता; क्योंकि अभिन्न में भेद होना व्याघात है और स्व से भी स्व के भेद की आपत्ति होगी । तृतीय पक्ष भी संभव नहीं; क्योंकि उपर्युक्त भिन्न और अभिन्न कोटिद्वय से अन्यकोटि असम्भव है ।

शंका– इसके द्वारा तुम कहना क्या चाहते हो ? क्या भेद का अनुभव ही नहीं होता–ऐसा कहते हो, अथवा अनुभव होते हुए भी यथार्थ नहीं–ऐसा कहना चाहते हो ? आद्य पक्ष उचित नहीं; क्योंकि "घट से पट भिन्न है" ऐसा भेदानुभव साधारण लोग और परीक्षक दोनों में सामान्य है । द्वितीय पक्ष भी सम्भव नहीं; क्योंकि

विशिष्ट में ही स्थित है– ऐसा कहना होगा; तब तो वह तृतीयभेद आधेयीभूत द्वितीय भेद ही है, या प्रथम और द्वितीय भेदों से भिन्न है ? यदि वह द्वितीय भेद ही है तो अन्योन्याश्रय होगा; क्योंकि द्वितीय भेद की स्थिति के लिए प्रथम भेद की अपेक्षा है; तथा प्रथम भेद की स्थिति के लिए द्वितीय भेद की अपेक्षा है । यदि वह तृतीय भेद दोनों से भिन्न है तो उसके लिए भी एक चतुर्थ भेद की अपेक्षा होगी । क्या वह चतुर्थ भेद द्वितीय भेद ही है या तीनों भेदों से भिन्न है ? यदि द्वितीय भेद ही है तो तृतीय भेद की स्थिति के लिये द्वितीय भेद की अपेक्षा, द्वितीय भेद की स्थिति के लिये प्रथम भेद की अपेक्षा,

च प्रकृते प्रात्यक्षिकी नास्ति; "घटः पटो न भवति" इति प्रत्यक्षानन्तरं "घटः पट एव" इतिविपरीतप्रत्यक्षस्याऽभावात्। नाऽपि युक्त्या, तथाविधयुक्तेरनालोकनादिति-चेन्न; सर्वाऽदृष्टेरविज्ञानात्स्वाऽदृष्टेर्व्यभिचारतः। "घटः पट एव" इति सर्वाऽद्वैतवादिनामनुभवोऽस्त्येव, ततश्च तान् प्रति

अयथार्थता विषयबाध से गम्य है, और बाध तो पूर्वज्ञान से विपरीत प्रमा है। और विपरीत प्रमा प्रकृत भेद में प्रत्यक्ष नहीं; कारण कि "घट पट नहीं" इस प्रत्यक्ष के अनन्तर "घट पट ही है" ऐसा विपरीत प्रत्यक्ष होता नहीं, और युक्ति से भी भेद का बाध नही होता; क्योंकि उस प्रकार की युक्ति कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती।

समाधान – ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि "घट पट नही है" इस विषय में सब लोगों का बाधाभाव नहीं जाना जा सकता ("घट पट ही है" इत्यात्मक बाध का अभाव सब लोगों को होता है – इस प्रकार असर्वज्ञ का ज्ञान नहीं हो सकता), और स्वबाधाभाव (तुम्हारा बाधाभाव) तो व्यभिचार से ग्रस्त है। (इस संग्रह-वाक्य की व्याख्या अग्रिम ग्रंथ है) – "घट पट ही है" इस प्रकार से सर्वाद्वैतवादियों का अनुभव है ही (घट और पट भिन्नत्वेन प्रतीयमान होते हुए भी वस्तुतः कारणरूप से एक ही है – ऐसा अनुभव है

और प्रथम भेद की स्थिति के लिये तृतीय भेद की अपेक्षा– इसप्रकार चक्रक दोष होगा। यदि चतुर्थ भेद तीनों भेदों से भिन्न है तो उसके लिये भी पञ्चम भेदादि मानकर आगे बढ़ाने पर अनवस्था होगी। और किस भेद से भिन्न में कौन भेद है– इसमें विनिगमना का अभाव होगा। उत्तरोत्तर भेद से पूर्व पूर्वभेद अन्यथासिद्ध होने से प्राग्लोप और अनन्त भेद एक ही में होने में प्रमाणाभाव से अनुभवविरोध– इत्यादि अनेक दोष होंगे। और अभिन्न पक्ष में तो अंशतः आत्माश्रय है; क्योंकि विशिष्टवृत्तिक धर्म का विशेषण में भी वृत्तित्वनियम है। अतः वस्तुतः भेद सिद्ध नहीं हो सकता— यह अभिप्राय है।

प्रत्यक्षबाधाऽभावोऽसिद्धः । अन्यस्याऽपि नास्तीत्यत्र तव निश्चायकप्रमाणाऽभावात् । अन्येऽपि एतद्विषये बाधरहिताः, ज्ञातृत्वादहमिवेति–चेन्न; ब्रह्मवादिनि व्यभिचारात्, सर्वाऽसद्वादिनि च । तदन्यत्वे सतीति– चेन्न; विशेषणाऽप्रसिद्धेः । स्वार्थाऽनुमाने न दोष इति– चेन्न; अप्रयोजकत्वात्, प्रमातृत्वञ्चाऽसिद्धम्, सामान्यव्याप्तौ चेतरबाधरहिते शुक्ति-

ही); अतः उनके प्रति प्रत्यक्षबाध का अभाव असिद्ध है। अन्य लोगों के भी बाधाभाव होने में तुम्हारे पास कोई निश्चायक प्रमाण नहीं है।

शंका—अन्य लोग भी "घट पट नहीं है" इस विषय में बाध रहित होते हैं, क्योंकि उनमें ज्ञातृत्व है, जैसे मैं—यह अनुमान उसमें निश्चायक प्रमाण है।

समाधान—नहीं; क्योंकि ब्रह्मवादी और सर्वशून्यवादी में ज्ञातृत्वहेतुका व्यभिचार होता है—(कारण कि उनमें ज्ञातृत्वहेतु है और एतद्विषयकबाधरहितत्वरूप साध्य नहीं)।

शंका—"एतद्वादिद्वयाऽन्यत्वे सति ज्ञातृत्वात्" इस प्रकार ज्ञातृत्वहेतु में "उन दोनों से भिन्नत्व होने पर" ऐसा विशेषण देंगे तो व्यभिचार नहीं होगा।

समाधान— नहीं; क्योंकि "एतद्विषये बाधरहितत्व" रूप साध्य की प्रसिद्धि नहीं है (अनुमान का साध्य वही हो सकता है; जो पक्ष से भिन्नस्थल में उभयवादिसम्मत होकर प्रसिद्ध हो; प्रकृत में तो इस प्रकार से साध्य प्रसिद्ध नहीं; क्योंकि अद्वैतवादी के मत में ब्रह्मभिन्न सब बाध्य हैं)। और स्वार्थानुमान में तो यह दोष नहीं है—ऐसा कहना भी उचित नहीं, क्योंकि हेतु अप्रयोजक है (पक्ष में हेतु तो हो, किन्तु साध्य न हो—ऐसी व्यभिचारशंका का निवारक अनुकूलतर्क से रहित हेतु अप्रयोजक है; उस हेतु से साध्य सिद्ध नहीं हो सकता। वास्तव में तो यहां स्वार्थानुमान की कोई आवश्यकता ही नहीं)। और ज्ञातृत्व के स्थान में प्रमातृत्व हेतु भी

रजतादावन्येषां बाधसत्त्वात् । परवचनस्य बाधाऽभावो ज्ञायत इति– चेन्न; तेषां बहुत्वेन सर्वेषां ज्ञातुमशक्यत्वात् । मम तावद्बाधविरहोऽत्र विषये वर्तते इति– चेन्न; तवाऽपि न भविष्यतीत्यत्र प्रमाणाऽभावात् । इदानीं नास्तीति चेत्; ततः किम् ? नहि शुक्तिरजतादिभ्रमाऽनन्तरं तव तस्मिन् जन्मनि बाधो नाऽभवत्तिष्टेत्येतावता तत्तथेत्युपैषि ? तथापि तव बाधयोग्यत्वमस्तीति चेत्, न तत्प्रकृतेऽपि दण्डवारितम् । यदा च तव कदाचिद्भगवदनुग्रहात् सत्त्वशुद्धिरुत्पत्स्यते, तदा सर्वाऽद्वैतज्ञाने जाते भेदप्रत्ययस्य बाधमपि साक्षात्करिष्यसि । तदुक्तम्––

असिद्ध है; क्योंकि "यत्र प्रमातृत्वं, तत्र बाधरहितत्वम्" इस सामान्य व्याप्ति में एक मनुष्य का शुक्ति में "यह रजत है" इस प्रकार बाधरहित ज्ञान होने पर भी अन्य लोगों का "यह रजत नहीं है" ऐसा बाध होता है। तो भी "घट पट नहीं है" इसका तो अन्य के वचन से भी बाध नहीं जाना जाता है—ऐसा भी कहना ठीक नहीं; क्योंकि अन्य लोग बहुत होने के कारण उन सबका बाधाऽभाव जाना नहीं जा सकता। और इस विषय में मेरा तो बाधविरह है—ऐसा भी न कहो, कारण कि तुम्हारा भी भविष्य में बाध नहीं होगा—इसमें कोई प्रमाण नहीं। भविष्य की बातों को रहने दो, इस समय तो बाध नहीं है। वाह, इससे क्या ? शुक्ति में रजत के भ्रम होने के अनन्तर तुम्हारा इस जन्म में उसका बाध नहीं हुआ, एतावता तुम उसको वैसा ही मानते ? तो भी शुक्तिरजत में बाधयोग्यता है-ऐसा भी न कहो, क्योंकि "घट पट नहीं है" इसमें भी बाधयोग्यता दण्डवारित नहीं की जा सकती। जिस समय कदाचित् भगवान् के अनुग्रह से तुम्हारी चित्तशुद्धि हो जायेगी, उस समय सर्वाऽद्वैतविषयक ज्ञान उत्पन्न होने पर भेदप्रत्यक्ष का बाध भी साक्षात् हो जायेगा। खण्डनकारने कहा भी है–"महाभय से त्राण करने वाली

ईश्वराऽनुग्रहादेषा पुंसामद्वैतवासना ।
महाभयकृतत्राणा द्वित्राणां यदि जायते ।।इति।।
(खं०खा० १।२५)

कालान्तरे देशान्तरे च बाधाऽभावो दुर्ज्ञेय एव सर्वथा-ऽसर्वज्ञेन ।

किञ्च– "नीलं तमः" इति प्रत्ययानन्तरं "अनीलं तमः" इति प्रत्ययो नास्ति; "अहं कृशो गौरः स्थूलो मनुष्यः" इत्यादयश्च प्रत्यया आसंसारमनुवर्तन्ते; तावता किं तेषां तात्त्विकत्वमभ्युपेतम् ? अथ– तत्र युक्त्या तमसोऽभावत्वे, आत्मनो देहादिभिन्नत्वे च सिद्धे तेषां प्रत्ययानां भ्रान्तित्वं कल्प्यते । तर्ह्यत्रापि श्रुत्याऽभेदे प्रतिपादिते भेदबुद्धेर्भ्रान्तित्वं कल्प्यताम् । प्रत्यक्षं श्रुतेर्बलवदिति चेत्;

यह मनुष्यों की अद्वैतवासना ईश्वर के अनुग्रह से होती है; यदि वह हो भी जाये, तो भी दो तीन की ही होती है" इति । और असर्वज्ञ के द्वारा कालान्तर और देशान्तर में बाध का अभाव सर्वथा दुर्ज्ञेय ही है । किञ्च–"अन्धकार काला है" ऐसा ज्ञान होने के बाद "अन्धकार काला नहीं है" इस प्रकार ज्ञान नहीं होता, इसी प्रकार "मैं कृश हूँ, गौर हूँ, स्थूल मनुष्य हूँ" इत्यादिज्ञान जब तक संसार है, तब तक अनुवर्तित होते हैं; एतावता क्या उन ज्ञानों को तात्त्विक माना जाता है ? यदि उसमें आप यों कहें कि तमकास्वरूप तेजोऽभाव (क्योंकि तार्किकों के मत में तेज का अभाव ही अन्धकार है) युक्ति से सिद्ध होता है, और आत्मा का भी देहादि से भिन्नत्व सिद्ध होता है; अतः उन ज्ञानों के भ्रान्तित्व की कल्पना (अनुमान) की जाती है, तो यहाँ भी श्रुति से अभेद प्रतिपादित होने से भेदबुद्धि के भ्रान्तित्व की कल्पना कर लीजिये । यदि कहो कि प्रत्यक्ष श्रुति से बलवान् है, तो युक्ति से प्रत्यक्ष बलवान् क्यों नहीं होगा ? तब

युक्तेः कथं न बलवत् ? तथा च तद्विरोधे तमसोऽभावत्व-मात्मनो देहादिव्यतिरिक्तत्वं च त्यक्तव्यं स्यात् । श्रुतेः शब्दात्मकप्रमाणत्वात्तस्य च योग्यताज्ञानसापेक्षस्यैवाऽर्थबोधकत्वात्तदभावेऽप्रामाण्यमिति यदि, तदाऽनुमानेऽप्यबाधित-विषयत्वमङ्गमिति परिभावय । किञ्च– प्रकृतेऽपि युक्ति-विरोधो विद्यत एव; किं भिन्ने, किं वाऽभिन्ने, किं वोदासीन इति विकल्पग्रामस्योक्तत्वात् ।

ननु– भेदो वर्तत इति कोऽर्थः ? किं संयोगसमवाययोरन्यतरः पृच्छ्यते, किं वा स्वभावसंबन्धः ? नाऽऽद्यः; अभावे तदनङ्गीकारात् । यदि द्वितीयः, तदा घटः स्वभावं

तो प्रत्यक्ष से विरोध होने के कारण तम के अभावरूपत्व का और आत्मा के देहादिभिन्नत्व का त्याग करना होगा । यदि इसमें आप कहें कि श्रुति शब्दात्मक प्रमाण है, और शब्दप्रमाण योग्यताज्ञान (पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में अबाधज्ञान) की अपेक्षा रख कर अर्थ का अवबोधक है; अतः योग्यताज्ञान न रहने पर श्रुतिवाक्य में प्रामाण्य नहीं है, तो अनुमान में भी अबाधितविषयत्व (अबाधितसाध्यत्व) अङ्ग है-इस विषय में भी आप विचार करें (अनुमान का प्रामाण्य तब ही होता है; जब साध्य बाधित न हो-यह अभिप्राय है) । किञ्च–"घट पट नहीं है" इस प्रकृत में भी युक्ति से विरोध होता ही है; क्योंकि-क्या भिन्न में भेद है, अथवा अभिन्न में, या भिन्नाभिन्न उभय से उदासीन में-इस प्रकार विकल्पसमुदाय कह ही चुके हैं ।

शंका– "किं भेदो भिन्ने वर्तते" इत्यादि में "वर्तते" का क्या अर्थ है ? क्या संयोग और समवाय का अन्यतर इस प्रश्न का विषय है, अथवा स्वरूपसंबन्ध ? आद्य पक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव में संयोग और समवाय सम्बन्धों का अङ्गीकार नहीं किया जाता । यदि द्वितीय पक्ष है तो घट स्वस्वरूप का नियमन करता हुआ पटादि-

नियमयन्नन्योन्याभावेनोपरक्तो भासत इत्येवोत्तरमिति-चेन्न; अन्योन्याभावेनोपरक्तो भासत इत्यत्रैव प्रश्नस्य विद्यमानत्वात्। तथाहि–उपरक्तो नाम विशिष्टः, वैशिष्ट्यञ्चाऽन्योन्याभावसंबन्धः। स किमन्योन्याभावस्वरूपमेव, अथोभयस्वरूपम्, अर्थान्तरं वा? न तृतीयः; अनभ्युपगमात्। तत्राऽपि संबन्धान्तरेऽनवस्थाऽऽपाताच्च। न द्वितीयः, घटस्वरूपस्य घटाऽवृत्तेः घटतत्संबन्धप्रतीत्यनुपपत्तेः। न प्रथमः, तथात्वेऽन्योन्याभावस्य वैशिष्ट्यं घट इति न स्यात्; संबन्धस्य भेदाऽधिष्ठानत्वात्। "राहोः शिरः" इतिवद् भविष्यतीति

प्रतियोगिक अन्योन्याभाव से संसक्त होकर प्रतीत होता है-यह हमारा उत्तर है।

समाधान- नहीं; इस प्रकार कहना अनुचित है; क्योंकि अन्योन्याभाव से उपरक्त होकर घट प्रतीत होता है-इस कथन में ही हमारा प्रश्न विद्यमान है। तथा हि–उपरक्त का अर्थ विशिष्ट है, और वैशिष्ट्य (विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध) अन्योन्याभाव का घट के साथ सम्बन्ध है। क्या वह सम्बन्ध अन्योन्याभाव का स्वरूप है, या अन्योन्याभाव और घट दोनों का स्वरूप है, अथवा स्वरूप से भिन्न कोई अर्थान्तर? तृतीय पक्ष तो नहीं होगा; क्योंकि तुम उसको अर्थान्तर नहीं मानते। यदि मान भी लो, तो भी उसको रखने के लिये सम्बन्धान्तर मानने पर अनवस्था आ जायेगी। द्वितीय पक्ष भी नहीं होगा; क्योंकि घटस्वरूप की घट में वृत्ति न होने से (अर्थात् अन्योन्याभाव में भी सम्बन्धरूप घटस्वरूप की वृत्ति होने से) घट और उस सम्बन्ध की प्रतीति नहीं होगी। प्रथम पक्ष भी नहीं हो सकता; क्योंकि वह सम्बन्ध अन्योन्याभाव का स्वरूप होने पर अन्योन्याभाव का वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) घट में है-ऐसा कहना असम्भव होगा; कारण कि उस सम्बन्ध का अधिष्ठान अन्योन्याभाव है। इसमें शंका हो कि स्वरूप वस्तुतः सम्बन्ध न होने

चेत्; तर्हि संबन्धाऽभावे संबन्धबुद्धिर्भ्रम इत्युक्तं स्यात्। तथा च न घटेऽन्योन्याभाववैशिष्ट्यसिद्धिः। अन्योन्याभाव-स्वरूपमेव विशिष्टबुद्धिमुत्पादयतीति ब्रूम इति चेत्; तर्हि तदेव कुत्रोत्पादयेत्? किं भिन्ने, किं वाऽभिन्ने, किं वोदासीन इति प्रश्नाऽवसरो विद्यत एव। यत्र विद्यते, तत्रोत्पादय-तीति चेत्, वर्तत एव कुत्र? यत्र प्रतीयत इति चेत्, तदेवा-ऽधिकरणं भिन्नमभिन्नं वेति पृच्छ्यमानत्वात्।

ननु–गोत्वादिकमपि तद्वति तदभाववति वा वर्तत इति विकल्पस्य सम्भवान्न स्यादिति; तथा च तद्व्यवहारोच्छेद-प्रसङ्ग इति–चेन्न;

"बाधेऽदृढेऽन्यसाम्यात्किं दृढेऽन्यदपि बाध्यताम्।

पर भी "राहु का सिर" जैसे सम्बन्ध की प्रतीति होगी; तो भी सम्बन्ध के अभाव में सम्बन्धबुद्धि भ्रम है—ऐसा ही कहना होगा; तब तो घट में अन्योन्याभाव के वैशिष्ट्य की सिद्धि नहीं होगी। यदि तुम इसमें कहो कि अन्योन्याभाव का स्वरूप ही विशिष्टबुद्धि का उत्पादन करता है, तो वह उस विशिष्टबुद्धि का कहां उत्पादन करता है, क्या भिन्न में करता है, या अभिन्न में, अथवा उदासीन में? इस प्रकार प्रश्न करने का अवसर आ ही जायेगा। यदि इसमें तुम कहो कि इसका उत्तर यह है–जहां भेद है, वहां विशिष्टबुद्धि का उत्पादन करता है, तो हम पूछते हैं कि वह भेद किस में है? जहां प्रतीत होता है, वहां ही तो है। अहो! उस अधिकरण को तो हम पूछ रहे हैं कि क्या वह भिन्न है या अभिन्न?

शंका– इस प्रकार से तो गोत्वादि भी क्या गोत्ववान् में है, या गोत्वाभाववान् में– इत्यादि विकल्प के सम्भव होने से सिद्ध नहीं होगा। तब तो गोत्वादिव्यवहार का उच्छेद होगा।

समाधान– इससे क्या? क्योंकि "हमारे कहे हुए दूषण यदि

क्व ममत्वं मुमुक्षूणामनिर्वचनवादिनाम् ।।
(खण्डन १।३३)

इत्युक्तत्वात् । तथा सत्यर्थान्तरतेति–चेन्न; तस्याः पुरुषदोषत्वात् । न वा तदपि, "न हि पक्षे पक्षसमे वा व्यभिचारः" इति न्यायस्य सम्भवात् ।

किञ्च– उत्पन्नमात्रो घटः कथं भिन्नः स्यात् ? भेदेन संबन्धाऽभावात् । ननूत्पन्नमात्रो घटः कथं घटः स्यात् ? घटत्वेनाऽऽसंबन्धादिति चेत्; त्यज तर्हि घटस्यापि घटत्वम्; किं नश्छिन्नम् ? प्रतीतिः वर्तत इति–चेन्न; दत्तोत्तरत्वात् ।

ननु–"जातः संबद्धश्चेत्येकः कालः" इति न्यायादुत्पत्ति-

अदृढ़ (आभास) हैं तो स्वतः ही खण्डित हो जायेंगे, उसमें गोत्वादि लाकर अन्यसाम्य दिखलाने से क्या लाभ ? यदि दूषण दृढ़ हैं तो उसी से गोत्वादि अन्य भी बाधित होवें । अनिर्वचनीयवादी मुमुक्षुओं का कहां ममत्व है ? अर्थात् कहीं भी नहीं है"— ऐसा खण्डनकार ने कहा है। ऐसा होने पर तो अर्थान्तरता होगी (अर्थात् प्रकृत विषय को छोड़कर गोत्वादि का खण्डनरूप विषयान्तर लाने का प्रसङ्ग होगा)– ऐसा भी न कहो; क्योंकि वह पुरुषगतदोष है, अथवा यहां पर वह दोष भी नहीं हो सकता, कारण कि "पक्ष और पक्षसम में व्यभिचार-दोष नहीं होता" यह न्याय यहां लग सकता है।

किञ्च— उत्पन्नमात्र घट किस प्रकार अन्य से भिन्न होगा ? क्योंकि उस समय भेद के साथ उसका संबन्ध नहीं है । शंका —उत्पन्न-मात्र घटभी घट कैसे होगा ? उसमें भी घटत्व का संबन्ध नहीं है। उत्तर– तब तो घट के घटत्व को भी त्याग दो । उससे हमारी क्या हानि है ? शंका— घटत्व की प्रतीति होने से त्याग कैसे हो सकता है ? उत्तर–, इसका उत्तर पहले दे चुके हैं (अर्थात् प्रतीतिमात्र से किसी वस्तु की सिद्धि नहीं होती; प्रतीति तो भ्रम भी हो सकती है) ।

शंका— "उत्पन्न होना और संबद्ध होना दोनों का एक ही

समय एव घटत्वादिना संवन्ध इति चेन्न; क्षणमगुणस्वव-दुत्पत्तिक्षणे विधर्मकत्वसम्भवात्। लब्धसत्ताकस्यैव द्वितीय-क्षणेऽन्येन संवन्धसम्भवात्।

किञ्च– घटनिष्ठो योऽन्योन्याभावः, तस्य पटे कथं विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यत्वं नास्तीति वक्तव्यम्। विशिष्ट-प्रत्ययाऽदर्शनादिति चेत्; उत्पत्तिक्षणे किं विशिष्टप्रत्ययो न दृश्यते ? उत्तरकाले न दृश्यत इति चेत्; तदा तर्हि स्व-रूपसंवन्धः स्वीक्रियताम्। घटवति भूतले चत्वरीयघटाऽभा-वयोग्यत्वस्येव कालभेदेन सत्त्वाऽसत्त्वाङ्गीकारात्। सर्वदा-

काल है" इस न्याय से उत्पत्ति के समय में ही घट का घटत्व के साथ संवन्ध होता है।

समाधान– ऐसा नहीं; क्योंकि ("उत्पन्नं द्रव्यं क्षणं निर्गुणं निष्क्रियञ्च तिष्ठति" इस तुम्हारे नियम के अनुसार) जिस प्रकार उत्पन्न द्रव्य क्षणभर अगुण रहता है, उसी प्रकार उत्पत्तिक्षण में द्रव्य निधर्मक हो सकता है, और लब्धसत्ताक द्रव्य का ही द्वितीयक्षण में अन्य के साथ संवन्ध हो सकता है। किञ्च– घटनिष्ठ जो अन्योन्याभाव है, उसकी पट में किस प्रकार विशिष्टज्ञानजननयोग्यता नहीं है– इस बात को भी कहना होगा। शंका– पट में घटनिष्ठान्योन्याभावविशिष्ट प्रत्यय देखने नहीं आता; अतः वह पट में विशिष्टप्रत्ययजननयोग्य नहीं है। उत्तर– क्या उत्पत्तिक्षण में पट में विशिष्टप्रत्यय देखने में नहीं आता ? शंका– आता है (क्योंकि उत्पन्न होते समय पट स्वाति-रिक्त अन्य सब पदार्थों से भिन्न होकर उत्पन्न होता है); किन्तु उत्तर-काल में तो देखने में नहीं आता। उत्तर– तब तो उत्पत्तिक्षण में स्वरूप-सम्बन्ध मान लो; क्योंकि घटवद्भूतल में चत्वरीय (चबुतरास्थित) घटाभावयोग्यता के समान आपने काल भेद से (उत्पत्तिकाल और उत्तरकाल के भेदसे) विशिष्टप्रत्यय के सत्त्व और असत्त्व का अङ्गीकार किया है। सर्वदा अयोग्यत्व होने पर तो घटवद्भूतल में भी चत्वरीय-

ऽयोग्यत्वे घटवत्यपि भूतले तत्प्रतीत्यापत्तिः। तस्मात्कालभेदेन तदेव योग्यमयोग्यञ्चेति वक्तव्यम्, तथाऽत्रापि किं न स्यात् ?

किञ्च- योग्यतावच्छेदकं रूपमस्ति, न वा ? नाऽऽद्यः; तस्याऽतिरिक्तस्याऽसम्भवात्, अनङ्गीकाराच्च। नाऽन्त्यः, तथा सति तत्र जनकत्वतद्योग्यत्वयोर्ग्रहीतुमशक्यत्वात्। तयोरनुगतरूपाऽवच्छेद्यत्वात्; अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। अथ- अस्ति वैशिष्ट्यमतिरिक्तमिति-चेन्न; तस्यैकत्वेऽतिप्रसङ्गात्। भिन्नत्वेऽननुगम एव। किञ्च-उत्पत्तेः पूर्वं कीदृगासीद्घट इति

घटाभाव की अयोग्यता प्रतीत होने लगेगी। अतः कालभेद से वही योग्य और अयोग्य हो जाता है—ऐसे ही कहना होगा। इसी प्रकार यहाँ भी (घटनिष्ठान्योन्यभाव में भी) कालभेद से (पट में) विशिष्ट-प्रत्ययजनन की योग्यता और अयोग्यता क्यों नहीं होगी ?

किञ्च — विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यता में योग्यता का कोई अवच्छेदक धर्म है, या नहीं ? आद्य पक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि घटनिष्ठान्योन्याभाव में अतिरिक्त योग्यतावच्छेदक धर्म असम्भव है, और अभाव में कोई अतिरिक्त धर्म का अङ्गीकार आपने नहीं किया है। द्वितीय पक्ष भी नहीं; क्योंकि योग्यतावच्छेदक धर्म का अभाव होने पर-घटनिष्ठ अन्योन्याभाव में विशिष्टप्रत्यय के जनकत्व और जनकयोग्यत्व का ग्रहण करना अशक्य है। कारण कि ये दोनों किसी एक अनुगत धर्म से अवच्छेद्य है; अन्यथा अति-प्रसङ्ग होगा। शंका—घटनिष्ठ अन्योन्याभाव में वैशिष्ट्य नामक अति-रिक्त धर्म है और वही अवच्छेदक है।

समाधान - वह वैशिष्ट्य एक है, या अनेक ? यदि एक ही है तो अतिप्रसक्ति होगी, तथा अनेक है तो अनुगम ही नहीं होगा। किञ्च—उत्पत्ति से पूर्व किस प्रकार का घट था—यह भी आपको

वक्तव्यम् । नाऽऽसीदिति चेत्; तर्हि तदन्योन्याभावः कथमासीत् ? तत्प्रागभावतज्जात्यादिवदिति चेत्; अहो श्लाघनीयप्रज्ञो देवानांप्रियः । यदयमसिद्धमसिद्धेनैव साधयति, दृष्टान्ते साध्यसाधनविकलताञ्च न पश्यति । प्रतियोग्यसत्त्वकाले संबन्धाऽभावेनोदिते प्रागभावे कं विशेषं दृष्ट्वा स दृष्टान्तीकृतः ? अथ प्रलये व्यक्त्यभावेऽपि जातिस्तिष्ठतीति चेत्; तत्काले जातेः सत्त्वे प्रमाणाऽभावात् । नित्यत्वं प्रमाणमिति- चेन्न; तदसिद्धेः, ब्रह्माऽतिरिक्तस्य सर्वस्याऽनित्यतास्वीकारात् । अर्थान्तरतेति- चेन्न; दृष्टान्तस्योभयवादिसिद्धस्यैव व्याप्तिग्रहहेतुत्वात् । पक्षेऽन्यतराऽसिद्धि-

कहना होगा । यदि इसमें आप कहें कि उस समय घट नहीं था, तो उसका अन्योन्याभाव कैसा था ? शंका— जैसा उसका प्रागभाव था, और उसकी जाति (घटत्व) थी, उसी प्रकार था । उत्तर-अहो ! तब तो आप श्लाघनीयप्रज्ञावाले देवानांप्रिय (मूर्ख) हैं; जो आप असिद्ध को असिद्ध से ही सिद्ध करते हैं; और दृष्टान्त में साध्य और साधन की विकलता (रहितता) को भी नहीं देखते । प्रतियोगी घट के असत्त्वकाल में सम्बन्धाभाव (कपाल और घट के सम्बन्धाभाव) से उदित प्रागभाव में किस विशेष को देखकर आपने उसको दृष्टान्त बनाया है ? शंका-प्रलयकाल में व्यक्ति का अभाव होने पर भी जाति तो रहती ही है । उत्तर-नहीं, उस समय जाति के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं । शंका— उसका नित्यत्व ही प्रमाण है । उत्तर— ऐसा भी नहीं, क्योंकि उसका नित्यत्व असिद्ध है; कारण कि हम ब्रह्म के अतिरिक्त सबकी अनित्यता मानते हैं । और इसमें अर्थान्तरता भी नहीं है; क्योंकि उभयवादिसिद्ध (वादी और प्रतिवादी दोनों से मान्य) दृष्टान्त ही अनुमानार्थ व्याप्तिग्रह का हेतु है (स्थल है) । पक्ष में उभयवादी के अन्यतरासिद्धिवश जिस प्रकार हेतु असिद्ध

वशात् दृष्टान्तेऽपि तद्दोषस्य संभवाच्च, तस्य पुरुषदोषत्वाच्च। सकलपदार्थाऽनङ्गीकारे बौद्धवन्निराकरणीया वेदान्तिन इति- चेन्न; तेषां युक्तिशून्यत्वेन निर्मूलत्वात्, न्यायशास्त्रवत्। वेदान्तिनस्तु श्रुतिं सकलप्रमाणमूर्धवर्तिनीं ब्रह्मविषयां दृढ़मूलामादाय तदविरुद्धां युक्तिमुद्भावयन्तो व्यवहरन्तस्तव पितामहेनाऽपि निराकर्त्तुमशक्याः, प्रत्युत तैरेव तार्किकंमन्यः सुखनिरस्यः। तदुक्तं--

एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नाऽन्यं गणयतः क्वचित्।
आस्ते न धीरवीरस्य भङ्गः संगरकेलिषु॥
(खण्डन १।१५) इति।

होता है, उसी प्रकार दृष्टान्त में भी अन्यतरासिद्धिरूप दोष हो सकता है; और अर्थान्तरता तो पुरुषगत दोष है (प्रकृत में अनुपयुक्त कथन अर्थान्तरतादोष है, अज्ञानवश पुरुष इस प्रकार का कथन करता है, अतः वह पुरुषगतदोष है; किन्तु यहां तो पूर्वपक्षी ने जाति को नित्य मानकर दृष्टान्त दिया है, उसको खण्डित करने के लिये ही सिद्धान्ती ने ब्रह्मभिन्न सब अनित्य कहा है। यह कथन प्रकृतानुकूल ही है; अज्ञानवश प्रकृत में अनुपयुक्त कथन नहीं)। शंका-इस प्रकार सब पदार्थों को नहीं मानोगे तो बौद्ध जैसे वेदान्ती लोग (युक्तियों से) निराकरणीय ही हैं। उत्तर- बौद्धों का सिद्धान्त युक्तिशून्य होने से न्यायशास्त्र जैसा वह निर्मूल है। और वेदान्ती लोग तो सर्व प्रमाण की मूर्धस्थिता ब्रह्मविषयिका और दृढमूला श्रुति को लेकर उससे अविरुद्ध युक्तियों का उद्भावन करते हुए सब व्यवहार करते हैं। अतः वे तेरे पूर्वजों से भी निराकर्तव्य नहीं हैं। इसके विपरीत-अपने को तार्किक मानने वाले आप उन वेदान्तियों से अनायास ही निराकरणीय हैं। अतः कहा भी है-"एक ब्रह्मरूप अस्त्र को अर्थात् अभेदप्रतिपादक युक्ति को लेकर अन्य द्वैतवादियों

तदेवं भिन्नादिवृत्तिविकल्पग्रस्तत्वान्न भेदसिद्धिः संभवतीति सिद्धम् ।

इति भिन्नादिवृत्तिविकल्पेन भेदयाथार्थ्यभङ्गः ॥७॥

को कुछ भी न गिनते हुए उस अद्वैतवादी धीर वीर की शास्त्रार्थरूप युद्धलीला में पराजय नहीं होती" इति । इस प्रकार भिन्नादिवृत्ति के विकल्प से ग्रस्त होने के कारण भेदसिद्धि नहीं हो सकती यह सिद्ध हुआ ।

इति भिन्नादिवृत्तिविकल्पेन भेदयाथार्थ्यभङ्गस्याऽनुवादः ॥७॥

अथ स्वविशिष्टे स्ववृत्तावंशतः आत्माश्रयोपपत्तिः ॥८॥

ननु–– अस्तु भिन्ने भेदो वर्तत इत्ययं पक्षः । न चाऽनवस्था; भेदान्तराऽनङ्गीकारात्; तेनैव भेदेन भिन्ने स भेदो वर्तत इत्यङ्गीकारात् । न चाऽऽत्माश्रयः, तद्भेदे तद्भेदाऽनङ्गीकारात् । न च– तद्विशिष्टवृत्तावंशतो विशेषणस्य वृत्तिरायातीति– वाच्यम्; यद्विशेष्यवृत्ति, तद्विशेषणेऽपि वर्तत इति नियमाऽनङ्गीकारात्, "घटे रूपम्" इत्यत्र व्यभिचारात्,

॥ ८ ॥

अथ स्वविशिष्टे स्ववृत्तावंशत आत्माश्रयोपपत्तेरनुवादः

शंका– भिन्न में भेद रहता है–यही पक्ष हो । और इसमें अनवस्था नहीं है; क्योंकि भेदान्तर का अङ्गीकार नहीं किया जाता, उसी भेद से भिन्न में वही भेद है—ऐसा अङ्गीकार किया जाता है। और आत्माश्रय भी नहीं है; कारण कि उस भेद में उस भेद का अङ्गीकार नहीं है। तथा उस भेद से विशिष्ट में उस भेद की वृत्ति होने पर उस भेदरूप विशेषणांश में उस भेद की वृत्ति होने से अंशतः आत्माश्रय है–ऐसा कहना भी अनुचित है; क्योंकि "जिसकी विशेष्य में वृत्ति है, उसकी विशेषण में भी वृत्ति होती है" इस नियम को हम नहीं मानते; क्योंकि "घट में रूप है" इसमें व्यभिचार है; तथा "दण्डी पुरुष कुण्डलधारी" इसमें भी व्यभिचार है ("घट में रूप है" का अर्थ है "घटत्वविशिष्ट में रूप है"। यहां उक्तनियम के अनुसार घटत्वविशेषण में भी रूप होना चाहिये, किन्तु होता

"दण्डी पुरुषः कुण्डली" इत्यत्र व्यभिचाराच्चेति- चेन्न; "रूपवति रसः" इत्यत्रेवोक्तस्थलेऽप्युपलक्षणत्वस्यैव मणिकृतोक्तत्वाद्विशेषणत्वस्वीकारेऽपसिद्धान्तापत्तेः।

अथ–व्यावर्तकत्वे सति क्रियाऽन्वयित्वं विशेषणत्वमिति

नहीं, अतः नियम में व्यभिचार है। इसी प्रकार "दण्डी पुरुष कुण्डलधारी" का अर्थ है–"दण्डविशिष्ट पुरुष कुण्डलधारी है"। इसमें भी दण्डविशेषण में कुण्डलधारण के अभाव होने से व्यभिचार है-यह अभिप्राय है)।

समाधान- ऐसा नहीं हो सकता; कारण कि "रूपवान् में रस है" इसमें जिस प्रकार रूपोपलक्षित द्रव्य में रस माना है, उसी प्रकार पूर्वोदाहृत स्थलों में भी उपलक्षणत्व ही चिन्तामणिकार (गङ्गेशोपाध्याय) ने कहा है, (अपने आप को पृथक् रखकर किसी वस्तु को अन्यों से भिन्न बोधन करना उपलक्षण कहा जाता है, बोधक उपलक्षक है, और उससे बोधित उपलक्षित है। उपलक्षक उपलक्षित से अन्वित नहीं होता। अतः "रूपवान् में रस है" का अर्थ है "रूप से उपलक्षित द्रव्यमात्र में रस है," न कि रूप में भी रस है। इसी प्रकार न्यायाचार्य गङ्गेशोपाध्याय जी ने भी उक्त स्थलों में "घटत्वोपलक्षित घट में रूप है" और "दण्डोपलक्षित पुरुष में कुण्डलधारित्व है" ऐसा कहा है, ऐसे स्थलों पर घटत्व दण्डादि को विशेषण नहीं माना है)। अतः उनमें विशेषणत्व मानोगे तो आपकी अपसिद्धान्तापत्ति होगी। (तब तो यहां भी उपलक्षण ही मान लो -ऐसा भी नहीं कह सकते; कारण कि तद्भेदोपलक्षितत्व को विशेषण मानोगे तो तद्भेदोपलक्षितत्वविशिष्ट में तद्भेद रखने पर पूर्ववत् अंशतः आत्माश्रय है, और उसको भी उपलक्षण मानोगे तो तद्भेदोपलक्षितत्व से उपलक्षित में तद्भेद रखने पर व्याघात होता है। यदि उस व्याघात को अदोष भी मान लिये जावे, तो भी धारा परम्परा चलने से अनवस्था होगी)।

शंका- "व्यावर्तक होते हुए क्रियान्वयी विशेषण है" इस लक्षण-

लक्षणपक्षे भवदुक्तदोषाऽवकाशोऽस्तु, न तु तल्लक्षणं विशेषणस्य। किं तर्हि ? प्रत्याय्यव्यावृत्त्यधिकरणतावच्छेदकत्वम्, स्वकाले नियतव्यावृत्तिबोधजनकत्वं वा विशेषणत्वम्। तच्च विशेष्यवृत्तिधर्माऽनधिकरणतायामपि संभवत्येव। तथा चेत्तद्भेदाऽनाश्रितोऽपि स भेदस्तद्भेदवदाश्रितो भवतीति– चेन्न; विशिष्टवृत्तेर्धर्मस्य विशेषणांशे वृत्तेरेव विशेषणत्वव्यवहाराल्लोकिकानाम्, तदतिक्रमे विशेषणत्वस्य पारिभाषिकत्वापत्तेरुपेक्षणीयत्वापत्तेश्च। अन्यथा "दण्डिनं भोजय" इत्यादावपि विशेषणत्वसम्भवे तत्रोपलक्षणत्वव्यवहारः सर्वेषां लोकानां भज्येत। लक्ष्याऽनुसारेण हि लक्षणं कर्तव्यम्, न तु लक्षणा-

पक्ष में आपके द्वारा कहे हुए दोष को भले ही अवकाश प्राप्त हो, परन्तु वह तो विशेषण का लक्षण ही नहीं है। तब उसका लक्षण क्या है ? ज्ञाप्य जो व्यावृत्ति है, उसकी अधिकरणता का अवच्छेदक विशेषण है; अथवा स्वस्थितिकाल में नियतरूप से व्यावृत्तिबोध का जनक विशेषण है (यहां पर विशेषणरूप से अभिमत पदार्थका स्वपद से ग्रहण करना चाहिये)। इस प्रकार का विशेषण तो विशेष्यवृत्ति धर्म का अनधिकरण होने पर भी सम्भव है। तब तो वह भेद उस भेद में अनाश्रित होने पर भी उस भेद से विशिष्ट विशेष्य में आश्रित रह सकता है।

समाधान - ऐसा नहीं हो सकता; कारण कि विशिष्टवृत्ति धर्म की विशेषणांश में वृत्ति होनी ही लोक मे विशेषणरूप से व्यवहार होता है। उस लोकव्यहार का अतिक्रम हो जाने पर तो विशेषण परिभाषिकमात्र रह जायेगा, तब तो वह उपेक्षणीय होने की आपत्ति होगी। यदि तुम ऐसा नही मानोगे तो "दण्डी को भोजन कराओ" इत्यादि में भी तुम्हारे किये हुए लक्षण से लक्षित विशेषणत्व दण्ड में सम्भव होने से उसमें (दण्ड में) सब लोगों के उपलणत्व का

ऽनुसारेण लक्ष्यं त्याज्यम् । तथा सति घटत्वादीनामपि पृथिवीलक्षणत्वापत्तेः ।

किञ्च-- "घटोऽयं" इति प्रतीत्यनन्तरं अघटात्पटाद् व्यावृत्तिः प्रतीयत इति स्वीक्रियते त्वया, सा च प्रतीतिः "पटाद्भिन्नो घटः" इत्याकारा । तथा च पटभिन्नत्वमपि घटविशेषणं चेत्स्वीकुरुषे, तेनाऽपि पुनर्व्यावृत्तिः प्रत्याय्येति स्वीकार्यम् । सा च किं घटादुत पटादुताऽन्यस्मात् ? न प्रथमतृतीयौ, असम्भवात् । द्वितीयपक्षेऽपि विशेषणभूता व्यावृत्तिः, अन्या वा ? नाऽन्त्यः, अग्रे धावनेऽनवस्थापत्तेः, अननुभवश्च । न प्रथमः, तस्या व्यावृत्तेः प्रथमत एव बुद्धत्वात्;

व्यवहार भङ्ग हो जायेगा। लक्ष्य के अनुसार ही लक्षण करना चाहिये, लक्षण के अनुसार लक्ष्य का त्याग तो नहीं होना चाहिये। जैसे तुम कहते हो, वैसे ही मान लिया जाये तो घटत्वादि भी पृथिवी का लक्षण होने लगेगा।

किञ्च -"यह घट है" इस प्रतीति के अनन्तर अघट पट से उसकी व्यावृत्ति प्रतीत होती है-ऐसा आपने माना है। और वह प्रतीति तो "पट से भिन्न घट है" इस आकार की है। तब तो इसमें पटभिन्नत्व को भी घट का विशेषण यदि मानोगे तो उससे भी पुनः व्यावृत्ति ज्ञाप्य है-ऐसा मानना ही होगा। वह दूसरी व्यावृत्ति क्या घट से है, या पट से, अथवा किसी अन्य से ? इनमें प्रथम और तृतीय पक्ष नहीं हो सकते; क्योंकि असम्भव है (कारण कि पटभिन्नत्व के द्वारा घट से घट की व्यावृत्ति नहीं होती; तथा पटभिन्न अन्य से भी घट की व्यावृत्ति नहीं होती, केवल पट से ही होती है)। और द्वितीय पक्ष में भी वह व्यावृत्ति विशेषणरूप है क्या, अथवा अन्य ? इनमें अन्तिम पक्ष नहीं हो सकता; कारण कि इसी प्रकार उसका भी आगे दौड़ने पर अनवस्था आती है, और उसका अनुभव भी नहीं होता। प्रथम पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि

अन्यथा विशेषणत्वाऽयोगात्तदधिकरणतायाश्च तदव्यवच्छेद्यत्वे आत्माश्रयापत्तेश्च। एतेन– स्वकाले नियतव्यावृत्तिबोधजनकत्वमित्यप्यपास्तम्, विशेषणस्याऽपि सर्वदा व्यावृत्तिबुद्ध्यजनकत्वात्, कदाचिदुपलक्षणस्याऽपि जनकत्वाच्च; "दण्ड्ययमासीत्" इत्यादौ स्वाऽकालेऽपि व्यावृत्तिबुद्धिजनकत्वाच्च। न च––उपलक्षणमेव प्रतियोगीति––वाच्यम्; काकप्रतीतिं विनाऽपि गृहप्रतीतिवत् प्रतियोगिप्रतीतिं विनाऽप्यभावबुद्ध्यापत्तेः। न चेष्टापत्तिः; अभावस्य सविकल्पकैकवेद्यत्वत्यागेऽपराधान्तापत्तेः। निर्विकल्पकैकवेद्यस्य च व्यवहाराऽनङ्गत्वात्।

वह व्यावृत्ति तो पहले ही ज्ञात हो चुकी है। यदि पहले ज्ञात नहीं है तो उसमें विशेषणत्व असम्भव होने से उसकी (व्यावृत्ति की) अधिकरणता उससे (व्यावृत्ति से) अवच्छेद्य न होने पर तो आत्माश्रय की आपत्ति होगी (क्योंकि अपने आप की व्यावृत्ति में स्व ही व्यावर्तक है)। इसीसे—स्वकाल में नियतरूप से व्यावृत्तिबोध का जनकरूप विशेषण भी निराकृत हुआ; क्योंकि विशेषण सर्वदा व्यावृत्तिबुद्धि का जनक नहीं होता, और कदाचित् उपलक्षण भी जनक हो जाता है; और "यह दण्डी था" इत्यादि में स्व (दण्ड) के अवर्तमानकाल में भी दण्डरूप विशेषण व्यावृत्तिबुद्धि का जनक है। और उपलक्षण ही प्रतियोगी होता है - ऐसा कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि "काकवद्गृहम्" इसमें जिस प्रकार काकप्रतीति के बिना गृह की प्रतीति होती है, उसी प्रकार प्रतियोगी की प्रतीति के बिना भी अभावबुद्धि होने लगेगी। इसमें इष्टापत्ति भी नहीं हो सकती; कारण कि - अभाव केवल सविकल्पकज्ञानगम्य है -- इस सिद्धान्त का त्याग करोगे तो आपके ऊपर अपसिद्धान्त अपनाने की आपत्ति आयेगी; और केवल निर्विकल्पकज्ञानगम्य पदार्थ व्यवहार का अङ्ग भी नहीं होता।

किञ्च— प्रत्याय्यव्यावृत्तिरित्यत्र किं येन केनाऽपि प्रत्याय्या, उत विशेषणेन? नाऽऽद्यः, तस्य सर्वत्र सुलभत्वात्। न द्वितीयः; आत्माश्रयापत्तेः। किञ्च— प्रतीतिर्विशेषणमुपलक्षणं वा? नाद्यः; प्रतीतेः पूर्वं विशेषणत्वाभावापत्तेः; ततश्च कथं तेन व्यावृत्तिर्बोध्या? न द्वितीयः; व्यावृत्तिनिष्ठैकरूपाऽनिर्वचने उपलक्ष्यत्वाऽनुपपत्तावव्यावर्तकतापत्तेः; कथं वा प्रत्याय्यपदमुपादीयते? नह्यप्रत्याय्या व्यावृत्तिरास्ते; येन सा व्यावर्तनीया स्यात्; काकादीनामपि प्रत्याय्यव्यावृत्त्यधिकरणतावच्छेदकत्वाच्च।

अथ— अवच्छेदकत्वं नाऽवच्छिन्नप्रत्ययजनकत्वम्, किन्तु

किञ्च– "प्रत्याय्यव्यावृत्ति" इसमें वह व्यावृत्ति जिस किसी से भी प्रत्याय्य (ज्ञाप्य) है, अथवा विशेषण से? आद्य पक्ष उचित नहीं, क्योंकि वह ज्ञापक सर्वत्र सुलभ है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं; कारण कि आत्माश्रय की आपत्ति आती है। किञ्च–"प्रत्याय्यव्यावृत्ति" इसमें प्रत्याय्यशब्दवाच्य (प्रतीतिविषय) के अन्तर्गत प्रतीति व्यावृत्ति का विशेषण है, अथवा उपलक्षण? आद्य पक्ष ठीक नहीं; क्योंकि व्यावृत्ति की प्रतीति से पूर्व उसमें विशेषणत्वाभाव का प्रसङ्ग आता है, अतः उससे व्यावृत्ति किस प्रकार बोध्य हो सकती है? द्वितीय पक्ष भी नहीं हो सकता; क्योंकि व्यावृत्तिनिष्ठ किसी एक (उपलक्ष्यतावच्छेदक) धर्म का निर्वचन किये विना उपलक्ष्यता की अनुपपत्ति होने पर प्रतीति में अव्यावर्तकता आ जायेगी, और इस परिस्थिति में प्रत्याय्यपद का प्रयोग भी किस प्रकार हो सकता है? कोई ऐसी अप्रत्याय्या व्यावृत्ति तो है नहीं; जिससे वह (अप्रत्याय्या व्यावृत्ति) प्रतीति से व्यावर्तनीय हो। और काकादि उपलक्षण भी प्रत्याय्य व्यावृत्ति की अधिकरणता का अवच्छेदक होता है।

शंका-अवच्छेदक व्यावृत्तिप्रत्यय का जनक नहीं, किन्तु व्यावृत्ति

अवच्छिन्नत्वन्यूनाऽनतिरिक्तकालीनविशेष्यसंबन्धवत्त्वम् । एवं हि काकादेरुपलक्षणस्य व्युदासः । गृहादौ विशेष्ये काकादि-विरहकालीनाया अपि व्यावृत्तेः प्रतीत्या तस्य व्यावृत्त्यधि-करणत्वन्यूनकालीनविशेष्यसंबन्धवत्त्वात्, दण्डस्य तु न तथा, पुरुषे दण्डसंबन्धविरहकालीनाया अदण्डिव्यावृत्तेरप्रतीते-रिति- चेन्न; "दण्ड्ययमासीत्" इत्यत्र दण्डाभावकालीनाया अपि व्यावृत्तिबुद्धेर्जायमानत्वात् । न च- तत्कालीनाया एव व्यावृत्तेरिदानीं बोध्यमानत्वम्, तदानीं विशेषणस्याऽपि सत्त्वमासीदिति- वाच्यम्; इदानीं व्यावृत्तिबुद्ध्यनुत्पत्त्या-पत्तेः । तत्कालीनसत्त्वस्येदानीं बुद्धिं प्रत्यहेतुत्वात्; हेतुत्वे वाऽसतोऽपि काकस्य विशेषणत्वेन किमपराद्धम् ? अथ- तदानीं दण्ड उपलक्षणमेवेति- चेन्न; अपराद्धान्तापत्तेः,

से अन्यून और अनतिरिक्तकाल में वर्तमान होने वाला विशेष्य के साथ सम्बन्धवान् है। इस प्रकार से काकादि उपलक्षण का निरास है, क्योंकि गृहादि विशेष्य में काकादिविरहकालीन व्यावृत्ति की प्रतीति होने से काकादि व्यावृत्त्यधिकरणता से न्यूनकालीन विशेष्य के साथ सम्बन्धवाला है। दण्ड का तो ऐसा नहीं है, कारण कि पुरुष में दण्डसम्बन्धाभावकालीन अदण्डिव्यावृत्ति की प्रतीति नहीं होती।

समाधान-नहीं; क्योंकि "यह दण्डी था" इसमें दण्डाभाव-कालीन व्यावृत्तिबुद्धि भी हो जाती है। शंका - दण्डकालीन व्यावृत्ति की इस समय (दण्डाभावकाल में) बोध्यमानता है। उस समय में (दण्डभाव काल में) तो विशेषण का भी सत्त्व था। उत्तर-ऐसा कहना अनुचित है; क्योंकि इस समय (दण्डाभावकाल में) व्यावृत्ति-बुद्धि न होने की आपत्ति होती है, दण्डभावकालीन विशेषणसत्त्व इस समय (दण्डाभावकाल) की बुद्धि के प्रति हेतु नहीं है। यदि हेतु है तो अवर्तमान काक की भी विशेषणता होने में क्या अपराध ? शंका - दण्डभावकाल में भी दण्ड उलक्षण ही है। उत्तर-नहीं; ऐसा

तदानीं तद्व्यावृत्ति प्रति दण्डस्य विशेषणत्वाऽभ्युपगमात् ।

किञ्च– पूर्वोक्तवैचित्र्ये प्रमाणाऽभावाच्च; उभयत्राऽपि वैशिष्ट्यबुद्धेरविशेषात् । नहि "काकवन्तो देवदत्तस्य गृहाः", "दण्डी देवदत्तः" इत्यनयोः संबन्धबोधे कश्चिद्विशेषोऽस्ति । अथ–"काकवन्तो देवदत्तस्य गृहाः" इत्यत्र गृहे काकस्याऽत्यन्ताऽयोगव्यवच्छेदः प्रतीयते, न तु तद्योगमात्रम् । स च तत्र कदाचित्काकसंबन्धे जाते काकविगमदशायामप्यस्तीति तत्राऽपि तत्प्रतीयत एव । तथा च तत्प्रतीत्या तत्र काकस्याऽत्यन्ताऽयोगव्यावृत्तिरपि बोध्यते; तदानीं तस्यास्तत्र सत्त्वादेव । "दण्डी पुरुषः" इत्यत्र पुरुषे न दण्डाऽत्य-

मानोगे तो अपसिद्धान्त होगा । कारण कि उस समय (दण्डभावकाल में) उस व्यावृत्ति के प्रति दण्ड की विशेषणता मानी है ।

किञ्च–विशेषण और उपलक्षण की पूर्वोक्त विलक्षणता होने में कोई प्रमाण नहीं है; क्योंकि दोनों में भी वैशिष्ट्यबुद्धि की विशेषता नहीं होती । कारण कि "देवदत्त का गृह काकवान् है" और "देवदत्त दण्डी है" इन दोनों का सम्बन्धबोध में कोई विशेष मालूम नहीं होता ।

शंका–"देवदत्त का गृह काकवान् है" यहां गृह में काक के अत्यन्त अयोग का व्यवच्छेद अर्थात् अत्यन्त असम्बन्ध की व्यावृत्ति प्रतीत होती है, काक का सम्बन्धमात्र प्रतीत नहीं होता । और वह अत्यन्तायोगव्यवच्छेद तो गृह में कदाचित् काकसम्बन्ध हो जाने पर काकके चले जाने की दशा में भी रहता है । इस कारण उस गृह में वह सम्बन्ध प्रतीत होता ही है । तब तो–उस सम्बन्ध की प्रतीति होने के कारण उस गृह में काक के अत्यन्त असम्बन्ध की व्यावृत्ति भी जानी जाती है; क्योंकि काकवत्त्वदशा में असम्बन्ध की व्यावृत्ति का सत्त्व उस गृह में था । और "दण्डी पुरुष" इसमें तो पुरुष में दण्ड का अत्यन्तायोगव्यवच्छेद प्रतीत नहीं होता, अपितु

न्ताऽयोगव्यवच्छेदः प्रतीयते, किन्तु दण्डसंयोग एव । स च दण्डविगमदशायां तत्र नास्तीति तत्र प्रत्येतुं न शक्यते । अत एव तत्र तदा दण्डयोगरहितव्यावृत्तिर्न प्रतीयते, न वाऽस्ति, तदानीं तस्यैव दण्डयोगरहितत्वादिति- चेन्न; एवं कल्पने प्रमाणाऽभावात् । प्रतीतिरेव कल्पिकेति चेन्न; विशेष्यक्रियाऽन्वयिनो विशेषणत्वं, तदन्यस्योपलक्षणत्वमित्येतावति प्रतीतेरुपपत्तेः । अत एव "रूपवति रसः" इत्यत्र रूपस्य सत्त्वेऽपि न विशेषणत्वम्, विशेष्यक्रियान्वयित्वाऽभावात्, अविद्यमानस्यापि दण्डस्य "दण्ड्ययमासीत्" इत्यादौ विशेषणत्वात् ।

किञ्च- काकादेरपि यदा योग एव तात्पर्यम्, तदा का

दण्डसम्बन्ध ही प्रतीत होता है। और वह दण्डसम्बन्ध तो दण्ड-विरहदशा में उस पुरुष में नहीं रहता। इस कारण उस पुरुष में दण्डसम्बन्ध नहीं जाना जा सकता । अतएव उस समय उस पुरुष में दण्डसम्बन्धाभाव की व्यावृत्ति प्रतीत नहीं होती, और न व्यावृत्ति है, क्योंकि उस समय वह पुरुष दण्डसम्बन्ध से रहित है।

समाधान–ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि इस प्रकार की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं। इसमें प्रतीति ही कल्पिका है–ऐसा कह नहीं सकते; कारण कि विशेष्यनिष्ठ क्रिया का अन्वयी विशेषण है और उससे भिन्न उपलक्षण है-इतने मात्र में वह प्रतीति हो सकती है। अतएव "रूपवान् में रस है" इसमें रूप वर्तमान होने पर भी विशेषण नहीं है, क्योंकि वह विशेष्यनिष्ठक्रिया का अन्वयी नहीं है, और "यह दण्डी था" इत्यादि में अविद्यमान दण्ड भी विशेषण होता है : किञ्च–काकादि का भी यदि गृहसम्बन्ध में ही तात्पर्य हो तो क्या गति होगी ? यदि कहो कि उस समय तो वह (काक) विशेषण ही है–तो काकाभावदशा में व्यावृत्ति का बोध नहीं होना

गतिः ? तदा विशेषणमेवेति– चेत्; तर्हि तदभावदशायां व्यावृत्तिबोधो न स्यात् । अस्ति च तत्राऽपि बोधः । न हि काकाऽपगमे देवदत्तगृहमितरभिन्नं न प्रतीयन्ति । किञ्च– यदि व्यावृत्तिघटितं विशेषणम्, तदा कथं पूर्वं प्रतीतिः स्यात् ? व्यावृत्तिबोधो नास्त्येवेति चेन्न; विशेषणत्वेन विशेषणबुद्ध्यभावे विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्ध्यनापत्तेः । न च– विशेषणताऽवच्छेदकप्रकारकं विशेषणज्ञानमपेक्षितम्, न तु विशेषणत्वप्रकारकमिति– वाच्यम्; विशेषणत्वाऽग्रहे तदवच्छेदकप्रकारकस्याऽप्यग्रहापत्तेः । न च– वस्तुतस्तथेति–

चाहिये, किन्तु उस दशा में भी बोध होता है, क्योंकि काक उड़ जाने के बाद कोई भी देवदत्त के गृह को अन्य गृहों से अभिन्न नहीं मानता । किञ्च–यदि व्यावृत्ति से घटित विशेषण है, तो व्यावृत्ति की प्रतीति पहले कैसी होगी ? इसमें यदि कहो कि व्यावृत्तिबोध पहले है ही नहीं, तो ऐसा कथन अयुक्त है; क्योंकि विशेषणत्वरूप से विशेषणबुद्धि (१) का अभाव होने पर विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि नहीं हो सकती ।

---

(१) "रक्तदण्डवान् पुरुषः" "घटज्ञानवान् देवदत्तः" इत्यादि ज्ञान को विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि कहते हैं । इसमें "विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणान्तरम्" अर्थात् विशेष्य में विशेषण, उसमें भी (विशेषण में भी) दूसरा विशेषण" इस रीति से पुरुष विशेष्य है, उसमें विशेषण दण्ड है, और उस दण्ड में भी विशेषण रक्तगुण है । इसमें विशेषणत्वरूप से रक्तबुद्धि पहले नहीं होगी तो पूर्वोक्त विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि नहीं हो सकती । इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में भी समझना चाहिये । प्रकृत में भी यदि विशेषण का विशेषण व्यावृत्ति है तो व्यावृत्ति का ज्ञान विशेषणरूप से पहले अवश्य होना चाहिये, अन्यथा विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि असम्भव है–यह अभिप्राय है ।

वाच्यम्; क्वाऽपि विशेषणत्वाऽग्रहे वस्तुत इत्यस्यैवाऽसिद्धेः। न च– पर्वते वह्न्यग्रहेऽपि वह्निव्याप्यवत्त्वग्रहवदिदं स्यादिति– वाच्यम्; तत्र दृष्टान्ते वह्निव्याप्यवत्त्वाऽनुभवेन तत्संस्कारसंभवे विशिष्टबुद्धेः सम्भवात्। इह तु प्राथमिकविशेषणबुद्धेर्विचार्यमाणत्वात्। अस्तु वा तत्राऽप्यनुपपत्तिः। तस्माद्विशेष्ये यदन्वेति, तदन्वयित्वे सत्येव विशेषणत्वं लोके

शंका– विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि में विशेषणतावच्छेदकप्रकारक विशेषणज्ञान अपेक्षित है, विशेषणत्वप्रकारक ज्ञान नहीं (१)।

समाधान–ऐसा कहना अनुचित है; क्योंकि विशेषणत्व का ज्ञान न होने पर विशेषणतावच्छेदकप्रकारक विशेषण का भी ज्ञान नहीं हो सकता। वस्तुस्वभाव से वैसे ही है–ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, कारण कि कहीं भी विशेषणत्व का अग्रह होने पर "वस्तुस्वभाव से" ऐसा कहना ही असिद्ध है। इसमें तुम शंका करो कि–जिस प्रकार पर्वत में वह्नि का अग्रह होने पर भी वह्निव्याप्य धूम का ग्रह होता है, उसी प्रकार यहाँ भी विशेषणत्व का अग्रह होने पर भी विशेषणतावच्छेदकप्रकारक विशेषण का ग्रह हो जायेगा,–तो यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि उस दृष्टान्त में तो वह्निव्याप्य धूम के अनुभव से उसके संस्कार सम्भव होने पर "वह्निव्याप्यधूमवान्" ऐसी विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि हो सकती है। प्रकृत में तो प्राथमिक विशेषणबुद्धि का ही विचार्यमाणत्व है (अतः पूर्वसंस्कार उसमें नहीं हो सकता)। अथवा दृष्टान्त में भी अनुपपत्ति ही हो (क्योंकि वहाँ भी पहले विशेषणरूप से वह्निव्याप्यत्व के ज्ञान हुए विना वह्निव्याप्यत्वविशिष्टधूम का ज्ञान नहीं हो सकता)। अतः जो विशेष्य में

(१) "रक्तदण्डवान् पुरुषः" इसमें दण्ड का विशेषण रक्त है। अतः विशेषणतावच्छेदक धर्म रक्तत्व है, वही रक्तत्व जिस रक्त का प्रकार (विशेषण) हो, ऐसा रक्तत्वविशिष्टरक्तज्ञान ही विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि के प्रति कारण है। उसके लिये विशेषणत्वप्रकारक ज्ञान की आवश्यकता नहीं– यह अभिप्राय है।

सिद्धं निर्वहति; तथा च तद्भेदविशेषणके विशेष्ये तद्भेद-वृत्तावंशतः स्वाश्रयतापत्तिरिति सुष्ठूक्तं भगवता खण्डन-कृता । अन्यदीयवचनं तु तदवोधविजृम्भितमिति सर्वम-वदातम् ॥

इति स्वविशिष्टे स्ववृत्तावंशत आत्माश्रयोपपत्तिः ॥८॥

अन्वित है, उसका अन्वयित्व होने पर ही लोकसिद्ध विशेषणत्व का निर्वाह हो सकता है । इस प्रकार— उस भेद से विशिष्ट विशेष्य में उसी ही भेद की वृत्ति होने पर अंशतः आत्माश्रय की आपत्ति है— ऐसा भगवान् खण्डनकार ने ठीक ही कहा है। अन्य लोगों का वचन तो खण्डनकार के वचन के अनवबोध से विजृम्भित है । अतः सब निर्दुष्ट है ।

इति स्वविशिष्टे स्ववृत्तावंशत आत्माश्रयोपपत्तेरनुवादः ॥८॥

अथ विशिष्टवृत्तौ संबन्धाऽनुपपत्तिः ॥९॥

किञ्च--- तद्भेदविशिष्टे स भेदो वर्तत इति वदन् प्रष्टव्यः- किं तद्भेदस्तत्र संबद्धः सन् विशेषणमुताऽसंबद्धः ? न चरमः; अतिप्रसङ्गात् । न प्रथमः; संबन्धस्यैव विचार्यमाणत्वात् । भेदस्याऽन्योन्याभावस्य नित्यत्वेन नित्यसंबन्धत्वात् असंबन्धपक्षस्याऽप्राप्तिरिति चेत्, संबन्धिनो घटादेरनित्यत्वेन नित्यः संबन्ध इत्यस्यैवाऽसिद्धेः । अथ- अतीतेनाऽनागतेन च प्रतियोगिना विशिष्टप्रतीतिदर्शनाद्विशिष्ट-

अथ विशिष्टवृत्तौ संबन्धाऽनुपपत्तेरनुवादः ॥९॥

किञ्च- उसी भेद से विशिष्ट में वह भेद है—ऐसा कहने वाले से यह पूछना चाहिये कि क्या वह भेद उसमें सम्बद्ध होता हुआ विशेषण है, अथवा असम्बद्ध होता हुआ ? अन्तिम पक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा होने पर अतिप्रसंग है (बिना सम्बन्ध के कोई भी किसी के ऊपर रहने लग जायेगा) । और आद्य पक्ष भी ठीक नहीं; कारण कि यहां पर वह सम्बन्ध ही तो विचार का विषय है। इसमें यदि तुम कहो कि भेदात्मक अन्योन्याभाव नित्य होने से उसका सम्बन्ध भी नित्य ही होता है; अतः असम्बन्धपक्ष की यहां पर प्राप्ति ही नहीं है, तो यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि सम्बन्धी घटादि अनित्य होने से नित्य सम्बन्ध होता है— ऐसा कहना ही असिद्ध है। फिर भी तुम ऐसा कहो कि -अतीत और अनागत प्रतीयोगी से विशिष्ट की प्रतीति देखी जाती है; अतः विशिष्ट की प्रतीति सम्बन्ध से साध्य नहीं ; अन्यथा (यदि सम्बन्ध से साध्य मान ली जाये तो) "घट का प्रागभाव," "घट का ध्वंस" इत्यादि

प्रतीतेः संबन्धाऽसाध्यत्वम्, अन्यथा "घटस्य प्रागभावः, घटस्य ध्वंसः" इत्यादिप्रत्ययो न स्यादिति– चेन्न; अप्रत्युत्पन्ने पदार्थे उपरक्तप्रत्ययजननयोग्यत्वस्याऽसंभवात्; सम्भवे वा धर्ममात्राऽपलापाऽऽपत्तेः। किञ्च– तत्रापि तज्ज्ञानमेव विशिष्टप्रत्ययोत्पत्तौ हेतुः न तु घटादिः; अन्यथाऽसत एव जनकत्वापत्तौ जितमसद्वादिना।

ननु–– उत्पत्स्यते घटो विनष्टो वेति त्वया प्रतीयते न वा ? नेति ब्रुवाणोऽपह्नवकृत् पक्षपाती, प्रथमे–प्रतीयते त्वयाऽपि संबन्धः, तदेव कथमिति तु न पर्यनुयोगाऽवकाशः; वस्तुस्वभावस्य तादृशत्वात्; प्रतीतेरेव च वस्तुस्वभावनियामकत्वादिति– चेन्न; सर्वाऽद्वैतवादिनं प्रत्यसिद्धेः, प्रतीति-

ज्ञान नहीं होगा, तो यह कथन भी ठीक नहीं; कारण कि अनुत्पन्न और विनष्ट पदार्थ में सम्बद्धविषयक ज्ञान उत्पन्न करने के लिये योग्यता नहीं हो सकती; यदि होना मान लें तो अनुयोगिरूप धर्मी मात्र के अपलाप की आपत्ति है।

किञ्च–"घट का प्रागभाव" इत्यादि में भी घटादिविषयक ज्ञान ही विशिष्टज्ञान की उत्पत्ति में हेतु है, असत् घटादि नहीं; यदि असत् घटादि को भी कारण मानोगे तो असत् की ही जनकत्वापत्ति होने से असद्वादी बौद्ध से आप विजित हो गये।

शंका– घट उत्पन्न होगा अथवा घट विनष्ट हो गया – इस प्रकार से तुझे प्रतीत होता है, या नहीं ? प्रतीत नहीं होता है – ऐसा कहने वाले तुम अपने अनुभव को छिपाने वाले पक्षपाती हो। प्रथम पक्ष लोगे तो तुम्हें भी संबन्ध प्रतीत होता है। उसमें "वह प्रतीत कैसे हुआ" ऐसा प्रश्न करने का तो अवकाश ही नहीं है, क्योंकि वस्तु का स्वभाव वैसा ही है और प्रतीति ही तो वस्तुस्वभाव की नियामिका है।

मात्रस्य च वस्त्वसाधकत्वात्, स्वभाववादापत्तेश्च । न च–यथाऽनुत्पन्नयोरपि संबन्धिनोः समवायः प्रागासीत्, एवमुत्पन्नस्याऽपि घटस्य भेदसंबन्धः सार्वदिको भवति; एतावांस्तु विशेषः– समवायः संबन्धिभिन्नः, अयन्तु संबन्ध्यात्मको ज्ञानविषययोरिवेति–वाच्यम्; तत्र हि संबन्धिभिन्नत्वादेव तदभावेऽपि संबन्धसत्त्वं न विरुद्ध्यते, अत्र तु स्वरूपसंबन्धस्य संबन्ध्यभिन्नत्वे तदसत्त्वे सत्त्वाऽनुपपत्तेः, समवायज्ञानविषयस्थलेऽपि विप्रतिपत्तेश्च । नचाऽर्थान्तरता; दृष्टान्तस्योभयवादिसिद्धस्यैव साधनोपयोगित्वात् । अन्यथा स्वाऽभिप्रायमवलम्ब्य यत्किञ्चिद्दूषणस्य सर्वैर्वक्तुं शक्य-

समाधान– नहीं; यह बात सर्वाद्वैतवादी के प्रति असिद्ध है, क्योंकि प्रतीतिमात्र वस्तु का साधक नहीं, (यदि साधक हो तो देहात्मवाद आदि सिद्ध होगा), और स्वभाववाद का प्रसङ्ग भी आयेगा ।

शंका– जिस प्रकार अनुत्पन्न संबन्धियों का समवायसंबन्ध पहले से ही था, उसी प्रकार उत्पन्न घट काभी भेदसंबन्ध सर्वकालिक है। हां, उनमें इतना विशेष तो है कि – समवाय संबन्धियों से भिन्न है, और यह भेदसंबन्ध तो ज्ञान और विषय के संबन्ध के समान संबन्धिस्वरूप ही है अर्थात् स्वरूपसंबन्ध है।

समाधान– ऐसा कहना अनुचित है; क्योंकि समवाय में तो संबन्धिभिन्नत्व होने से ही संबन्धियों का अभाव होने पर भी समवायसंबन्ध के सत्त्व में कोई विरोध नहीं; इस भेदसंबन्ध में तो स्वरूपसंबन्ध के संबन्धियों से अभिन्नत्व होने के कारण संबन्धियों का असत्त्व होने पर उसका (स्वरूपसंबन्ध का) सत्त्व नहीं हो सकता; और समवायसंबन्ध तथा ज्ञानविषयसंबन्ध स्थल में भी मतभेद है। और मतभेद कहने में प्रकृतानुपयुक्तत्व नहीं; क्योंकि उभयवादिसिद्ध दृष्टान्त ही किसी पदार्थ को सिद्ध करने में उपयोगी है। यदि दृष्टान्त को उभयवादिसिद्ध नहीं मानोगे तो सब लोग अपने अभिप्राय

त्वात् । तथा चाऽसिद्धमसिद्धेन साधयतो महानैयायिकत्वं तव । एवञ्च सति "रूपवति रूपम्", "रसवति रसः", "गवि गोत्वम्" इत्यादिकमपि कथञ्चिदुपलक्षणपक्ष एव योज्यम्; नतु विशेषणत्वपक्षे; अंशतः स्ववृत्त्यापत्तेरुक्तत्वात् ।

ननु–अस्त्वभिन्ने भेदो वर्तत इत्येवोत्तरम्, नहि स्वस्मादपि घटो नाऽभिन्नः । तथा च घटादभिन्ने घटे पटभेदो वर्तत इति प्रश्नोत्तरार्थः संपद्यत इति–चेत्; भ्रान्तोऽसि नितराम्,यत्परप्रश्नार्थमबुद्ध्वा परिहरसि, छलवादी वाऽन्याभिप्रायेण प्रयुक्तस्य वचनस्याऽन्यमर्थं वर्णयन्, कुतोऽस्य

लेकर अन्य के प्रति कुछ न कुछ दूषण तो कह ही सकते हैं । इस प्रकार से तुमने असिद्ध को असिद्ध से सिद्ध करके अपना महानैयायिकत्व व्यक्त किया है । इस प्रकार भेदसम्बन्ध असिद्ध होने पर "रूपवान् में रूप" "रसवान् में रस", गौ में गोत्व" इत्यादि को भी किसी प्रकार उपलक्षणपक्ष में ही लगाना चाहिये, विशेषणत्वपक्ष में नहीं; क्योंकि उसमें अंशतः आत्माश्रयापत्ति पहले ही प्रतिपादित हो (१) चुकी है ।

शंका– भेद भिन्न में है या अभिन्न में–इस प्रश्न का उत्तर यही हो कि अभिन्न में भेद है; क्योंकि घट अपने से अभिन्न नहीं है– ऐसा नहीं अर्थात् अभिन्न ही है । अतः घट से अभिन्न घट में पटभेद है—यह प्रश्न का उत्तर है ।

समाधान आप अत्यन्त भ्रान्त हैं; क्योंकि आप दूसरों के प्रश्नार्थ को समझे बिना उसका परिहार करते हैं । अथवा आप जानबूझकर छलवादी हैं, क्योंकि अन्याभिप्राय से प्रयुक्त वचन का दूसरा

(१) श्री शंकरमिश्रोक्त– "एवं सति रूपवति रूपं, रसवति रसः, गवि गोत्वमित्यादयुपलक्षणत्वविशेषणत्वाभ्यामुपपाद्यम्" इस वचन का प्रत्युत्तर है ।

नवकम्बलत्वम्, दरिद्रत्वादित्यादि। नहि घटाद्भिन्ने घटे घटादभिन्ने वा घटे पटभेदो वर्तत इति प्रश्नार्थः। किं तर्हि ? पटाद् भिन्नेऽभिन्ने वा घटे पटभेदो वर्तत इति। तथा च परिभावय स्वाऽज्ञानम्।

न च–एवंविधः प्रश्नो न युक्तिमान्, विरोधितावच्छेदक-प्रकारेणोपस्थितस्य धर्मिणो विरुद्धप्रकारावच्छेदेन प्रश्न-स्याऽदृष्टचरत्वात्। नहि भवति मृन्मयोऽयं घटो वह्निमयो न वा, ब्राह्मणोऽयं चैत्रः शूद्रो नवेति वा ? अन्यथा विज्ञाना-त्मकं ब्रह्म जडं न वा, सुखात्मकं ब्रह्म दुःखात्मकं नवेति पृच्छतो युक्तिशतेनाऽपि त्वया साध्यमानेऽपि विज्ञान-

ही अर्थ करते हैं; जैसे कि "नवकम्बलोऽयं ब्राह्मणः" यह वचन नवीन कम्बल वाले के अभिप्राय से कहा गया है, किन्तु इसका दूसरा ही अर्थ कोई करें कि यह तो दरिद्र है, इसके पास नौ कम्बल कहां से आयेंगे ? हमारे प्रश्न का अर्थ यह नहीं है कि घट से भिन्न घट में अथवा घट से अभिन्न घट में टपभेद है या नहीं। तब तो क्या है ? पट से भिन्न या अभिन्न घट में पटभेद हैं अथवा नहीं–यह प्रश्नार्थ है। ऐसी परिस्थिति में अपनी अज्ञानता के सम्बन्ध में जरा सोचो।

शंका– इस प्रकार का प्रश्न युक्तियुक्त नहीं हैं; क्योंकि विरो-धिता के अवच्छेदक प्रकार से उपस्थित धर्मीका उसके विरुद्ध प्रकार-रूप अवच्छेद से प्रश्न करना तो कहीं भी देखा नहीं जाता (अभि-प्राय यह है कि-घट और पट में विरोध है, अतः घटनिष्ठविरोधिता के अवच्छेदक घटत्वविशेषण से विशिष्ट होकर उपस्थित घटरूप धर्मी का उसके विरुद्धप्रकाररूप अवच्छेदक पटत्व से विशिष्ट पट के साथ अभिन्नत्वविषयक प्रश्न नहीं किया जा सकता); जैसे कि–"यह मृन्मय घट वह्निमय है या नहीं", "यह ब्राह्मण चैत्र शूद्र है या नहीं" इत्यादि प्रश्न नहीं होते। यदि हों तो "विज्ञानात्मक ब्रह्म जड़ है या नहीं", "सुखात्मक ब्रह्म दुःखात्मक है या नहीं"–इस प्रकार प्रश्न करने वाले के प्रति सैकड़ों युक्तियों से तुम्हारे द्वारा ब्रह्म

सुखात्मकत्वे पृच्छानिवृत्तिर्न स्यादिति–वाच्यम्; घटपटयोः पारमार्थिकभेदाऽसिद्धौ विरोधिताऽवच्छेदकप्रकारेणोपस्थितेरसिद्धेः; सिद्धौ वा विरोधाऽभावाऽऽपत्तेः। मम तावत् सिद्ध इति–चेन्न; देहात्मभावेन त्वसिद्धेन दत्तोत्तरत्वात्। "मृन्मयो घटः" इत्यादौ तु यदा घटादेस्तेजोमयत्वादिविरोधित्वं न निश्चितम्, तदा प्रश्नो भवत्येव। अन्यथा शब्दो नित्योऽनित्यो वेत्यपि प्रश्नो न स्यात्; शब्दस्याऽनित्यैकरूपत्वात् तव मते, मीमांसकमते च नित्यैकरूपत्वात्। यदि च तत्र विप्रतिपत्तितः प्रश्नं स्वीकरोषि, तर्ह्यत्रापि विप्रति-

का विज्ञानसुखात्मकत्व सिद्ध किये जाने पर भी उसकी प्रश्नेच्छा की निवृत्ति कथमपि न होगी।

समाधान—ऐसा न कहिये; क्योंकि घट और पट में पारमार्थिक भेद की असिद्धि होने पर विरोधिता के अवच्छेदक प्रकार से (घट की) उपस्थिति की असिद्धि होती है; और (पारमार्थिक भेद की सिद्धि हुए बिना उक्त उपस्थिति की) यदि सिद्धि हो जाये तो विरोधाभाव की आपत्ति होगी। यदि तुम कहो कि हमारे मत में पारमार्थिक भेद सिद्ध है, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि असिद्ध देहात्मभाव से इसका उत्तर हो जाता है (देह और आत्मा में पारमार्थिक भेद सिद्ध है, और देहात्मभाव असिद्ध है, तो भी आत्मा देह से भिन्न है अथवा अभिन्न–यह प्रश्न हो सकता है, इसी प्रकार तुम्हारे मत में घट और पट में भेद सिद्ध होने पर भी घट पट से भिन्न है या अभिन्न–यह प्रश्न हो सकता है)। "मृन्मय घट" इत्यादि में तो जब घटादि का तेजोमयत्वादि से विरोधित्व निश्चित नहीं होता है, तब प्रश्न होता ही है। अन्यथा "शब्द नित्य है या अनित्य" यह प्रश्न नहीं होगा, क्योंकि तुम्हारे मत में शब्द का एक ही अनित्यत्वरूप है और मीमांसक के मत में एक ही नित्यत्वरूप है। यदि उसमें मतभेद होने से प्रश्न मानते हो तो यहां भी मतभेद से उस प्रश्न को मानो। और

पत्तितः तं स्वीकुरु। ज्ञानात्मकं ब्रह्म जडं न वेत्यत्र प्रश्ने न जडमित्येवोत्तरम्। कुतः ? इति प्रश्ने-तद्विरुद्धत्वादित्येवोत्तरम्। यदित्थं, तत्तथा, यथा तमःप्रकाशाविति जातेन चोत्तरेण तस्य भ्रमनिवृत्तिर्भवत्येव। न च पुनः प्रश्नाऽवकाशः, भ्रमस्य निवृत्तत्वात्। तथा तवाऽपि प्रष्टुर्भ्रम इति चेत्, यदि विचारे कृते पटाद् घटो भिन्नो भविष्यति, तदा तथैव, अन्यथा तु तवैव विभ्रमः, प्रश्नस्तु ममोपपद्यत एव। न च-भेदः कुत्र वर्तत इति प्रश्ने यत्र प्रतीयत इत्युत्तरम्, कुत्र प्रतीयत इत्यत्र यत्र वर्तत इत्युत्तरमिति-वाच्यम्; तदेवाऽधिकरणं भिन्नमभिन्नं वेति प्रश्नस्य सम्भवात्।

"ज्ञानात्मक ब्रह्म जड़ है या नहीं" इस प्रश्न में तो "जड़ नहीं है" यह उत्तर है। क्यों ? इस प्रश्न में—"जड़ का विरुद्ध विज्ञान है" यह उत्तर है; जो इस प्रकार प्रकाशस्वरूप होता है, वह जड़ात्मक अप्रकाश का विरुद्ध होता है, जैसे अन्धकार और प्रकाश—इत्यादि उत्तरों से उस प्रश्नकर्त्ता की भ्रमनिवृत्ति होती ही है; उसमें पुनः प्रश्न करने का अवकाश नहीं रहता, कारण कि भ्रम की निवृत्ति हो चुकी है। शंका– उसी प्रकार प्रश्न करने वाले तुम्हें भी भ्रम हो गया है। उत्तर– यदि विचार करने पर पट से घट भिन्न सिद्ध होगा तो जैसे तुम कहते हो, वैसे ही मान लेंगे; अन्यथा तुम्हारा ही भ्रम सिद्ध होगा, और मेरा प्रश्न तो हो ही सकता है। शंका– तब तो "भेद किस में है" इस प्रश्न का "जहां प्रतीत होता है" यह उत्तर है; और "कहां प्रतीत होता है" इस प्रश्न का "जहां भेद रहता है" यह उत्तर है, इससे आगे प्रश्न नहीं हो सकता।

समाधान—ऐसा न कहिये; कारण कि भेद का वही अधिकरण भिन्न है या अभिन्न—ऐसा प्रश्न हो सकता है। शंका-हमारा यह उत्तर प्राभाकर मीमांसकों के प्रति है, क्योंकि उनके द्वारा भेद का अधिकरण पूछे जाने पर प्रतिबन्दिरूप से उत्तर देने के लिये हमारे

न च–प्राभाकरं प्रत्येतदुत्तरम्, तं प्रत्यवयव्यादेः प्रतिबन्दि-स्थानस्य विद्यमानत्वात्। दुर्दुरूढवेदान्तिनस्तु खण्डनयुक्त्यैव निरसनीया इति–साम्प्रतम्; वितण्डामाश्रित्य वदतो मायावादिनः प्रति पुनः पर्यनुयोगाऽनवकाशात् "त्वया निर्वाह्यं तेर्दूषणीयम्" इत्यस्यामेव नियमस्थितौ कथायाः प्रवृत्तत्वात्। किञ्च–खण्डनयुक्तयो ब्रह्मवादिभिरेव प्रयुक्ताः कार्यं साधयितुं समर्थाः, नत्वन्येन, चक्रमिव विष्ण्वतिरिक्तेन। न च–भेदः प्रतीतो न वा, यमधिकृत्य प्रश्न इत्यादिरूपा युक्ति-र्वक्तुं शक्यत इति–वाच्यम्; प्रतीतिमात्रस्य वस्त्वसाधक-त्वात्, प्रश्नेऽपि युक्त्यभावात्। किञ्च–एवं सति खण्डन-युक्तीनामेव बलवत्त्वं स्यात्। तथा च तद्वादिन एव जैत्रता।

पास अवयवी आदि है (समानविरोधी उत्तर को प्रतिबन्दी कहते हैं; जैसे प्राभाकर के प्रति–अवयव में अवयवी का भेद रहता नहीं क्या–इत्यादि)। और अत्यन्त दुरूढ़ वेदान्ती लोग तो खण्डन की युक्तियों से ही निरसनीय हैं। उत्तर–इस प्रकार कहना युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि वितण्डा का आश्रय लेकर कहने वाले मायावादी के प्रति पुनः प्रश्न करने का अवकाश तुम्हें नहीं मिल सकता। "तुम्हारे द्वारा अपना विषय निर्वाह्य (प्रतिपाद्य) है; और उन से वह विषय दूषणीय है" इस नियम के अनुसार ही इस कथा की प्रवृत्ति हुई है। किञ्च–खण्डन की युक्तियां ब्रह्मवादियों से प्रयुक्त होकर ही कार्य को सिद्ध करने में समर्थ हैं, अन्य से प्रयुक्त होकर नहीं, जैसे विष्णु से अन्य के द्वारा प्रयुक्त चक्र कार्य सिद्ध करने में समर्थ नहीं होता। शंका–"तुझे वह भेद प्रतीत होता है या नहीं, जिसको लेकर यह प्रश्न किया जा रहा है" इत्यादिरूप युक्ति तो हम भी दे सकते हैं। उत्तर–ऐसा भी न कहो, क्योंकि प्रतीतिमात्र वस्तु की साधक न होने से तुम्हारे इस प्रश्न में भी कोई युक्ति नहीं है।

किञ्च–ऐसा होने पर खण्डन की युक्तियों की ही बलवत्ता

न च—मया त्वत्पक्षनिराकरणे ममैव जय इति—वाच्यम्; मत्पक्षस्य त्वया निराकर्त्तुमशक्यत्वात्; जयप्रत्याशाऽभावात्, तावताऽपि च तत्र निर्णयाऽलाभात् । न च—अनुन्मत्तैः सह तत्त्वनिर्णयः कार्य इति—वाच्यम्; मायावादिनोऽपि तथात्वात् । तेषामुन्मत्तत्वेन वा तथात्वे का प्रत्याशा ? विचार्यमाणे त्वमेवोन्मत्तः, यथास्वरूपात्माऽविज्ञानित्वात् । तथोक्तम्—

अन्यथा सन्तमात्मानं योऽन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणाऽऽत्माऽपहारिणा ॥
(म० भा० आदि० ७४।२७)

तथा-मन्यन्ते ये स्वमात्मानं विभिन्नं परमेश्वरात् ।

होगी । तब तो उन युक्तियों का प्रयोग करने वाले ही विजेता होंगे । शंका—मेरे द्वारा तुम्हारे पक्ष का निराकरण किये जाने पर मेरी ही विजय होगी । उत्तर—ऐसा भी न कहो; क्योंकि मेरे पक्ष का निराकरण तुम से नहीं हो सकता । अतः जय की प्रत्याशा करना व्यर्थ है; और उतने मात्र से ही इस विषय में निर्णय का लाभ भी नहीं हो सकता । शंका—तत्त्वनिर्णय तो अनुन्मत्त शान्त पुरुष के साथ ही करना चाहिये; तुम्हारे जैसे के साथ नहीं । उत्तर—मायावादी भी भी अनुन्मत्त ही हैं अथवा उनके (मायावादियों के) उन्मत्तत्व होने से तुम्हारे अनुन्मत्तत्व होने में भी क्या आशा की जा सकती है ? विचार करने पर तो तुम ही उन्मत्त निकलोगे; क्योंकि तुम अपनी आत्मा को यथास्वरूप नहीं जान रहे हो । वैसा कहा भी है—"अन्य ही स्वरूप वाली आत्मा को जो पुरुष दूसरा ही स्वरूप वाली समभता है; उस आत्मापहारी चोर ने इस संसार में कौन सा पाप नहीं किया ?" तथा "जो लोग परमात्मा से अपनी आत्मा को भिन्न

न ते पश्यन्ति तं देवं वृथा तेषां परिश्रमः ।। इत्यादि ।

तत्वनिर्णये च क्रियमाणे खण्डनदूषणमवश्यमुद्धर्तव्यम्, अन्यथा तत्वनिर्णयस्य कर्त्तुमशक्यत्वात् । न च तदुद्धर्त्तुं शक्यं शक्रेणापीत्युक्तम्, वक्ष्यते च ।।

इति स्वविशिष्टवृत्तौ संबन्धानुपपत्तिः ।।९।।

मानते हैं, वे उस स्वप्रकाशरूप आत्मा को नहीं जानते; अतः उनका सब परिश्रम व्यर्थ है।" इत्यादि। तुम अपने सिद्धान्तानुसार तत्त्व-निर्णय करना चाहो तो पहले तुम्हें खण्डन के दूषणों का निराकरण करना होगा। अन्यथा तुम स्वसिद्धान्तानुसार तत्त्वनिर्णय नहीं कर सकते। किन्तु खण्डन के दूषणों का निराकरण इन्द्र से भी नहीं किया जा सकता-ऐसा हम पहले भी कह चुके हैं, और आगे भी कहेंगे।

इति स्वविशिष्टवृत्तौ संबन्धानुपपत्तेरनुवादः ।।९।।

अथ भेदवृत्तावभेदप्रतिबन्दिनिरासः ॥१०॥

ननु–सर्वाऽभिन्नं ब्रह्मेत्यत्राऽप्यभेदो नाम धर्मो भिन्ने ब्रह्मणि वर्तत उताऽभिन्ने ? आद्ये–यद्ब्रह्म पूर्वं भिन्नमासीत्, तत्कथं पश्चादभिन्नं स्यादिति विरोधः। द्वितीये–तेनेवाऽभेदेनाऽभिन्नोऽभेदान्तरेण वा ? आद्ये तवात्माश्रयत्वम्; द्वितीयेऽनवस्था। अपिच-यद्येकदा सर्वेऽभेदाः ब्रह्म परिरम्भन्ते, तदा किमभेदादभिन्ने कोऽभेद इति तेषां वृत्तावन्योन्यकोलाहलं कः समादध्यात् ? अभेदभूयस्त्वे च भेदपर्यवसानमित्यधिकं दूषणमिति–-चेन्न; प्रपञ्चस्याऽनिर्वचनीयत्वेन तेन

अथ भेदवृत्तावभेदप्रतिबन्दिनिरासस्याऽनुवादः॥१०॥

शंका–सर्वाभिन्न ब्रह्म है–इस पक्ष में भी क्या अभेद नामक धर्म भिन्न ब्रह्म में रहता है, अथवा अभिन्नब्रह्म में ?–आद्य पक्ष में तो–जो ब्रह्म पहले भिन्न था, वह बाद में किस प्रकार अभिन्न हो सकता है ? क्योंकि भेद और अभेद में विरोध है। द्वितीय पक्ष में भी–उस अभेद के द्वारा ही ब्रह्म अभिन्न है, या अभेदान्तर से ? आद्य पक्ष में तुम्हारा आत्माश्रय दोष होगा और द्वितीय पक्ष में तो अनवस्था होगी। अपि च– यदि एक ही समय में सभी अभेद ब्रह्म को प्राप्त होते हैं तो किस अभेद से अभिन्न ब्रह्म में कौन सा अभेद है–इस प्रकार से उन सब अभेदों की वृत्ति में जो परस्पर कोलाहल होगा, उसको कौन शान्त करेगा ? और अभेद के अनेकत्व होने पर भेद में ही पर्यवसान होगा, (क्योंकि एक अभेद से दूसरे अभेद का भेद मानना ही होगा)। यह और अधिक दूषण तुम्हारे पक्ष में है।

समाधान–नहीं; हमारे पक्ष में कोई भी दोष नहीं हो सकता; क्योंकि प्रपञ्च अनिर्वचनीय है, अतः उसके साथ ब्रह्म का अभेद

ब्रह्मणोऽभेदाऽनङ्गीकारात्; अन्यथा प्रपञ्चस्याऽपि सत्त्वस्वीकाराऽऽपत्तेः। तदभावे केन सहाऽभेदो निरूप्येत? भेदस्तर्हि स्वीकृतः स्यादिति–चेन्न; प्रपञ्चस्याऽनिर्वचनीयत्वादेव। तृतीयः पन्था नास्तीति–चेन्न; अधिष्ठानत्वस्य विद्यमानत्वात्। तदेव कथमिति चेत्; शृणु, समस्तजगदाकारपरिणममानाऽविद्याविषयत्वं तत्। तथा च तत्त्वज्ञानेन सविलासाऽज्ञाननिवृत्तौ बाधाऽवधित्वेन ब्रह्माऽवशेषः। रज्जु-

हमारे सिद्धान्त में नही माना जाता; यदि अभेद मान लिया जाये तो प्रपञ्च में भी सत्त्व स्वीकार करने का प्रसङ्ग आयेगा। इस प्रकार प्रपञ्च के अभाव होने पर किसके साथ ब्रह्म का अभेद निरूपित होगा? शंका— तब तो तुमने प्रपञ्च को ब्रह्म से भिन्न मानने के कारण भेद मान लिया। उत्तर— नहीं; क्योंकि प्रपञ्च अनिर्वचनीय है। (सत् और असत् से विलक्षण पदार्थ अनिर्वचनीय कहा जाता है; तीनों कालों में बाध से रहित होकर नित्यकूटस्थरूप से स्थित वस्तु सत् है; यह प्रपञ्च तो ऐसा नही है, अतः सत्रूप से उसका निर्वचन नही हो सकता। इसी प्रकार किसी भी अधिकरण में सत् रूप से प्रतीति होने के अयोग्य पदार्थ असत् है, जैसे वन्ध्यापुत्र। किन्तु यह प्रपञ्च सत्रूप से प्रतीत होने के कारण असत् भी नहीं है। इस प्रकार सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय पदार्थ सदा आरोपित वस्तु होने के कारण उसकी स्वतन्त्रसत्ता नहीं, अधिष्ठान की सत्ता से ही उसकी सत्ता प्रतीत होती है। अतः उसका अधिष्ठान से भेद अथवा अभेद नहीं होता। इसको आगे ग्रन्थकार स्वयं ही स्पष्ट करेंगे)। शंका–(सिद्धान्ती का अभिप्राय न समझकर) भेद और अभेद के अतिरिक्त कोई तृतीय मार्ग तो है नहीं। उत्तर–क्यों नहीं? अधिष्ठानत्वरूप तृतीय मार्ग विद्यमान है। यदि इसमें तुम कहो कि वह कैसा होता है तो सुनो, वह अधिष्ठानत्व समस्तप्रपञ्चरूप से परिणाम को प्राप्त हुई अविद्या का विषयत्व ही है। इस लिये अधिष्ठान के तत्त्वज्ञान से कार्यसहित अज्ञान की निवृत्ति होने

ज्ञाने सविलासतदज्ञाननिवृत्तौ रज्ज्ववशेषवत् । तथा च न कस्याऽप्यभेदः कुत्रचिद्वर्तत इति वृत्तिविकल्पकारी कथं नोपहासास्पदं परसिद्धान्ताऽनभिज्ञः स्यात् ? किञ्च घटादभिन्नो घट इत्यत्र वृत्तिविकल्पे यदेवोत्तरं त्वया दीयते, तदेव मम भविष्यति। तत्र चोत्तराऽभावे एकाऽभावाद्द्वयमपि न स्यादिति हा कष्टं तव । तत्र चाऽभेदो नाम घटस्वरूपमेवेति ब्रूषे, अस्माकमपि प्रपञ्चाऽभेदो ब्रह्मस्वरूपमेवेत्युत्तरमस्तु; न च तथाऽन्योन्याभावरूपो भेदः सम्भवति; तस्य वृत्तिमत्त्वेन स्वरूपाऽतिरिक्तत्वेन च भिन्नादिवृत्तिविकल्प-

पर बाध की अवधिरूप से ब्रह्ममात्र अवशेष रह जाता है, जैसे रज्जुज्ञान होने पर सर्पादिकार्यसहित रज्जुविषयक अज्ञान की निवृत्ति होने से रज्जुमात्र अवशेष रह जाता है। अतः किसी का भी अभेद कहीं भी नहीं रहता। इस कारण परसिद्धान्त से अनभिज्ञ होकर अभेद की वृत्ति से विकल्प करने वाले आप किस प्रकार उपहासास्पद नहीं होंगे ?

किञ्च—"घट से अभिन्न घट है" इसमें वृत्तिविकल्प करने पर अर्थात् घट से अभिन्न घट में अभेद है, या घट से भिन्न घट में ऐसा विकल्प करने पर इसमें जो उत्तर तुम्हारे द्वारा दिया जाता है, वही उत्तर मेरा भी होगा। उसमें उत्तर का अभाव होने पर एक के अभाव से दोनों ही सिद्ध नहीं होंगे अर्थात् घट से अभिन्न घट में अभेद का अभाव होने पर भेद और अभेद दोनों ही सिद्ध नहीं होंगे। हाय हाय, तुम्हें तो कष्ट ही कष्ट है। अब यदि तुम कहो कि अभेद घट का स्वरूप ही है, तो हमारा भी प्रपञ्चाभेद ब्रह्मस्वरूप ही है—यह उत्तर होगा। उसी प्रकार अन्योन्याभावरूप भेद तो नहीं हो सकता, क्योंकि भेद वृत्तिमान् और स्वरूपातिरिक्त होने से भिन्नादि में उसका वृत्तिविषयक विकल्प हो सकता है अर्थात् भेद क्या भिन्न में है या अभिन्न में— ऐसा विकल्प हो सकता है।

सम्भवात् । न च–त्यक्तं मयाऽन्योन्याभावरूपमस्त्रं वृत्तिविकल्पदूषणगणकुण्ठितशक्तित्वात्; स्वरूपभेदाऽस्त्रमादायैव योत्स्ये; तथा घटस्वरूपस्यैव भेदत्वाऽङ्गीकारे वृत्तिविकल्पमुखमुद्रणमस्त्विति–वाच्यम्; अर्थान्तरतापत्तेः; अन्योन्याभावभेदे विप्रतिपत्तौ स्वरूपभेदमादाय परिहरतस्तव । न च तस्य पुरुषदोषत्वम्, तावतैवाऽस्माकं जयव्यवहारात् । तत्त्वनिर्णयस्तु शुद्धसत्त्वैः सह करणीयः । किञ्च–मुखमुद्रणमपि कर्त्तुमशक्यम् । अन्याऽसाकांक्षस्वभावस्य घटस्य भेदत्वेऽन्यसाकांक्षतापत्तौ स्वभावव्याघातापत्तेः । न च–

शंका– मैंने अन्योन्याभावरूप अस्त्र का त्याग कर दिया है, कारण कि वह वृत्तिविकल्परूप दूषणगण से कुण्ठितशक्तिवाला है। अब मैं स्वरूपभूत भेद अस्त्र को लेकर तुम से लड़ूंगा। इस प्रकार घटस्वरूप को ही भेद मान लिया जाये तो वृत्तिविकल्प का मुख बन्द हो जायेगा।

समाधान—ऐसा भी मत कहो; ऐसा करने पर अर्थान्तरता की आपत्ति होगी, क्योंकि अन्योन्याभावरूप भेद में विप्रतिपत्ति होने पर तुम उसको छोड़कर स्वरूपभेद लेकर परिहार करना चाहते हो। और तुम उसको पुरुष का दोष कहकर टाल नहीं सकते; कारण कि उतने मात्र से हमारा जयव्यवहार हो जायेगा। तत्त्व का निर्णय तो शुद्धान्तःकरण वालों के साथ ही करने योग्य है। यहां तो केवल तुझे हराना मात्र है। किञ्च–तुम मुखबन्द भी नहीं कर सकते, क्योंकि अन्यानाकांक्षस्वभाव वाले घट के स्वरूप को भेद मानने पर उसमें अन्यसाकांक्षता की आपत्ति होने से (क्योंकि भेद प्रतियोगी की अपेक्षा करता है) स्वभाव में व्याघात हो जायेगा। शंका–ब्रह्म का भी अभेदस्वभावत्व होने पर (किसके साथ अभेद है–ऐसी आकांक्षा होने से) "घटाभिन्न ब्रह्म है" इस प्रकार अन्यसाकांक्षा की आपत्ति तो तुल्य ही है।

ब्रह्मणोऽभेदस्वभावत्वे घटाऽभिन्नं ब्रह्मेत्यन्यसाकांक्षापत्तिस्तुल्येति–वाच्यम्; घटस्याऽविद्याविनिर्मितत्वेन ब्रह्मनिरूपकत्वाऽनङ्गीकारात्। नह्यखण्डे चिदेकरसे ब्रह्मणि अद्वितीये कस्यचिन्निरूपकत्वसम्भवः। यदि च घटो भिन्नोऽस्ति, तदा कथमभिन्नता ? यदि नास्ति ततः पृथक्, तदा कस्याऽऽकांक्षा स्यात् ? तव तु पटस्य पृथग्विद्यमानत्वात् तत्साकांक्षत्वं घटस्य स्यात्, तदा स्वभावव्याघातापत्तिरिति। तस्मादस्थाने प्रतिबन्दिग्रहाऽऽग्रहस्ते परसिद्धान्तानवबोधकृतः।

ननु–घटत्वेन निरूप्यमाणो घटोऽन्याऽनपेक्ष एव, भेदत्वेन निरूप्यमाणोऽन्यसाकांक्षोऽस्तु, को दोषः ? प्रकारभेदेनोभयाऽविरोधात्; केवलं मम मते घटत्वभेदत्वयोः

समाधान—ऐसा मत कहो, क्योंकि घट अविद्याकार्य है, अतः उसमें ब्रह्मनिरूपकत्व अङ्गीकार नहीं किया जाता। अखण्ड चिदेकरस और अद्वितीय ब्रह्म में किसी का भी निरूपकत्व सम्भव नहीं है। यदि घट ब्रह्म से भिन्न है तो अभिन्नता किस प्रकार होगी ? और यदि ब्रह्म से घट पृथक् नहीं है तो किसकी आकांक्षा होगी ? और तुम्हारे मत में तो पट घट से पृथक् विद्यमान है; अतः यदि घट को पट की आकांक्षा है तो स्वभाव में व्याघात अवश्य होगा। इस लिये प्रतिबन्दिग्रह के अयोग्य स्थान (ब्रह्म) में तुम्हारे जो प्रतिबन्दिग्रह का आग्रह है, वह परसिद्धान्त के अनवबोध से ही है।

शंका– घटत्व से निरूप्यमाण घट अन्यनिरपेक्ष ही है, किन्तु भेदत्वरूप से निरूप्यमाण घट अन्यसाकांक्ष हो, उसमें क्या दोष है ? क्योंकि प्रकार (विशेषण) के भेद से दोनों में विरोध नहीं है। मेरे मत में तो घटत्व और भेदत्व दोनों में प्रकारभेद भी होता है, किन्तु तुम्हारे मत में तो वह भी दुर्लभ है।

प्रकारभेदोऽप्यस्ति; तव मते सोऽपि दुर्लभ इति–चेन्न; घटत्वाऽतिरिक्तस्य भेदत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् । यदि च घटत्वाऽतिरिक्तो घटवृत्तिधर्मो भेदत्वं नामाऽतिरिक्तमङ्गीक्रियते, तदापि प्रष्टव्यं किमसौ भावरूपः, आहोस्विदभावरूपः ? आद्ये द्रव्यादिरूपत्वे गुणादावसंभवो योऽयः ।

अतिरिक्तत्वेऽपसिद्धान्तः । द्वितीयेऽन्योन्याऽभावो वा, संसर्गाभावो वा ? आद्ये घट्टकुट्यां प्रभातायितम् । द्वितीये प्रागभावप्रध्वंसयोरनङ्गीकारेऽत्यन्ताभावः परिशिष्यते । सोऽपि पटस्य वा स्यात्, पटादेव वा ? नाऽद्यः, घटः पटाऽत्यन्ताभाववान्, घटः पटो नेत्यनयोः प्रतीत्यो-

समाधान– नहीं, घटत्व के अतिरिक्त भेदत्व का निर्वचन नहीं किया जा सकता । यदि घटत्वातिरिक्त घटनिष्ठधर्म भेदत्व को अतिरिक्त मानोगे तो उसमें प्रश्न होगा कि वह भावरूप है या अभावरूप । आद्यपक्ष में द्रव्यादिरूपत्व होने पर गुणादि में उस भेदत्व की वृत्ति होना असम्भव होगा । और षड्भाव पदार्थ से अतिरिक्तत्व मानने पर अपसिद्धान्त होगा । द्वितीय पक्ष में भी प्रश्न उठता है कि वह अन्योन्याभाव है; अथवा संसर्गाभाव है ? आद्य पक्ष में चुङ्गीघर में प्रभात होने का प्रसंग होगा (घट्टकुटिन्याय पहले बता चुके हैं । यहां कहने का अभिप्राय यह है कि वृत्तिविकल्पदोष से ग्रस्त होने के कारण अन्योन्याभाव को छोड़ कर स्वरूपभेद को लेकर चले । उसमें पुनः अन्योन्याभाव लायेंगे तो घूमफिर कर चुङ्गीघर पहुंचने जैसा ही हुआ) । द्वितीय पक्ष में भी प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव न मानें तो अत्यन्ताभाव रह जाता है (क्योंकि घट की वर्तमानदशा में उनका प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव नहीं हो सकते) । और वह स्वरूपभेदरूप अत्यन्ताभाव भी पट का है अथवा पट से है ? आद्य पक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि "घट पटात्यन्ताभाववान् है" और "घट पट नहीं है" इन दोनों प्रतीतियों में विलक्षणता है (यदि स्वरूपभेद को

विलक्षणत्वात् । द्वितीयेऽपि वैधर्म्ये भेदस्य नामान्तरकरणम् । तत्रापि वृत्तिविकल्पस्तुल्य एव । तस्यैव च भेदत्वमुचितम्, आधाराऽऽधेयप्रतीत्यनुरोधात् । स्वरूपभेदपक्षे चाऽऽधाराऽऽधेयप्रतीत्यनुपपत्तिः; अभावमात्रोच्छेदप्रसङ्गश्च । अधिकरणस्वरूपेणैव भेदबुद्धिवत्तद्बुद्ध्युपपत्तेर्जितं बुद्धबन्धुना; तथा च वृश्चिकभिया पलायमानस्याऽऽशीविषमुखे निपातस्ते । तस्मात्स्वरूपभेदे प्रकारभेदेन परिहारोऽसंगत एव ।

किञ्च—कस्मादभेद इत्याकांक्षा तावदस्त्येव । तथा च स्वरूपस्य साकांक्षताऽऽपत्तिर्दुर्वारा । तवाऽप्यभिन्नं ब्रह्म

अत्यन्ताभाव मानेंगे तो इन दोनों में विलक्षणता नहीं होनी चाहिये; किन्तु "घट पट नहीं है" इसमें तो भेद की प्रतीति होती है, अत्यन्ताभाव की नहीं; क्योंकि एकविभक्त्यन्त पदों से निर्दिष्ट अनुयोगी और प्रतियोगी में नञ् भेदबोधक होता है-यह नियम है) । द्वितीय पक्ष में भी वैधर्म्य में भेद का नामान्तर करना मात्र है (पट से अत्यन्ताभाव घट में है—इसका नाम भेदत्व कहेंगे तो वह पट से घट की विधर्मता के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता, अतः वह भेद का नामकरण मात्र है) । उसमें भी वृत्तिविकल्प तो तुल्य ही है । और वैधर्म्य का ही भेदत्व मानना उचित भी है, क्योंकि वह आधार और आधेय की प्रतीति के अनुकूल पड़ता है। स्वरूपभेदपक्ष में तो आधार और आधेय की प्रतीति नहीं होगी; और अभावमात्र के उच्छेद का प्रसङ्ग भी होगा । और अधिकरणस्वरूप से ही जिस प्रकार बौद्धों के मत में अतद्व्यावृत्तिरूप भेद की बुद्धि होती है, उसी प्रकार यहां भी स्वरूपभेद की बुद्धि सम्भव होने से आप बुद्धबन्धु द्वारा जीते गये । तब तो वृश्चिक के भय से पलायमान आपका सर्पमुख में निपात हुआ । अतः स्वरूपभेद में प्रकारभेदसे दोषपरिहार करना असंगत है ।

किञ्च—स्वरूपभेद मानने पर "किससे भेद है" यह आकांक्षा तो हो ही जाती है । अतः स्वरूप की साकांक्षता की आपत्ति दुर्वार

केनेत्याकांक्षा विद्यत एवेति–चेन्न; त्रिविधपरिच्छेदशून्ये ब्रह्मणीदृशप्रश्नस्याऽसङ्गतत्वात् । तथाप्यविद्यादशायां संभवतीति–चेन्न; तत्राप्येतस्य सद्रूपत्वादेव । अध्यस्तस्य च घटादेरधिष्ठानस्वरूपसत्तयैव सत्त्वं, तत्स्फूर्तिः, रूपान्तरन्तु तस्याऽनिर्वचनीयम् । अधिष्ठानज्ञाननिवर्त्याज्ञानतद्विकल्पाऽन्यतरत्वं न तत् । तथा च तत्र सापेक्षत्वं ब्रह्मणो वदन् बालैरप्युपहसनीयः । किञ्च–भेदविशेषणिका घटविशेष्यिका प्रतीतिरस्ति । न च स्वरूपभेदे सा घटेत । घटनायां वा दण्डीत्यादावतिरिक्तविशेषणस्वीकारे रुचिस्ते प्रमाणम्, न त्वन्यत् । तथा च मायावादिना सह योद्धुं स्वरूपभेदमस्त्र-

हैं । इसमें यदि शंका हो कि तुम्हारे मत में भी "किससे ब्रह्म अभिन्न है" ऐसी आकांक्षा रहती है, तो यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि देशतः कालतः और वस्तुतः परिच्छिन्नत्व से रहित ब्रह्म में इस प्रकार का प्रश्न असंगत है । शंका–तोभी अविद्यादशा में यह प्रश्न हो सकता है । उत्तर-ऐसी शंका भी न करो, क्योंकि उस दशा में भी वह सद्रूप ही रहता है। अध्यस्त घटादि का तो अधिष्ठानस्वरूप ब्रह्मसत्ता से ही सत्त्व है और उसका स्फुरण है; उसका रूपान्तर तो अनिर्वचनीय है । और वह अनुगत सत्त्व अधिष्ठानज्ञान से निवर्त्य अज्ञान और अज्ञान के कार्य का अन्यतरत्व नहीं है । तब तो ब्रह्म के उस सद्रूपत्व में सापेक्षत्व कहने वाले आप बालकों से भी उपहसनीय हैं (जिसकी सत्ता नहीं, वह अन्य की सत्ता से प्रतीयमान होने पर भी वस्तुतः तीनों कालों में नहीं होता; अतः सद् ब्रह्म को असत् की अपेक्षा नहीं होती) । किञ्च–"भिन्न घट" इस प्रकार भेदविशेषणक घटविशेष्यक प्रतीति (भेदविशिष्ट घट की प्रतीति) होती है। वह प्रतीति स्वरूपभेद में घटती नहीं (स्वरूपभेदविशिष्ट घट की प्रतीति होती नहीं; किन्तु घटमात्र की प्रतीति होती है, अर्थात् घट का स्वरूप घट में विशेषणरूप से प्रतीत नहीं होता) । यदि वह प्रतीति घटती है तो "दण्डी" इत्यादि में अतिरिक्त विशेषण स्वीकार करने में तुम्हारी रुचि ही प्रमाण है, न कि अन्य कोई प्रमाण ।

मन्मदीयं गृह्णतस्तव विशेषणमात्रोच्छेदमपश्यतो महान् व्यामोहो विद्वद्भिरवगतः । "अभिन्नं ब्रह्म" इत्यभेदविशेषणेद्धा बुद्धिस्तव मतेऽपि कथमिति—चेन्न; विशेषणविशेष्यभावाऽनङ्गीकारात् । प्रतिबन्दिग्रहेऽपि च दोषाऽनुद्धरणात्। यः परिहारस्तव, स तु ममाऽपि भविष्यतीति—चेन्न; एकमतपरिशेषापत्तेः । मम च सर्वव्यवहाराऽतीतनिर्धर्मकस्वप्रकाशचिन्मात्राऽभ्युपगम एव परिहारः । त्वयाऽपि च तथैव स्वीकारे मच्छिष्योऽसि, अनङ्गीकारे पृथगेव परिहारस्त्वया वाच्यः । तथा च प्रतिबन्दिग्रहाऽऽग्रहो वृथैवेति ।

इति भेदवृत्तावभेदप्रतिबन्दिग्रहनिरासः ॥१०॥

इस प्रकार मायावादी से लड़ने के लिये स्वरूपभेदरूप अन्य शस्त्र का ग्रहण करने वाले तथा उसके ग्रहण से विशेषणमात्र के उच्छेद को न देखने वाले आपका महान् व्यामोह (अज्ञान) विद्वान् लोगों मे अवगत हो गया। शंका —"अभिन्न ब्रह्म" इस प्रकार अभेदविशेषण से होने वाली बुद्धि तुम्हारे मत में भी कैसी होगी ? उत्तर— ऐसा मत कहो, क्योंकि हमारे मत में वहां विशेषणविशेष्यभाव का अङ्गीकार नही होता (कारण कि अखण्डैकरस अद्वितीय सत् ब्रह्म ही ही माना जाता है) । और प्रतिबन्दिग्रह करने पर भी तुम्हारे पक्ष में दोष का निराकरण नहीं किया जा सकता (समान विरोधी उत्तर को प्रतिबन्दी कहा जाता है) । शंका-परिहार क्यों नहीं होगा ? जो तुम्हारा परिहार होगा, वही हमारा भी हो जायेगा । उत्तर-ऐसा भी न कहो; क्योंकि उसमें एक ही मत रह जाने की आपत्ति आ जायेगी । मेरा तो सर्वव्यवहार से अतीत निर्धर्मक स्वप्रकाश चैतन्यमात्र मानना ही परिहार है। तुम्हारे द्वारा भी वैसा ही स्वीकार किये जाने पर तो तुम मेरे शिष्य हो गये हो; यदि तुम इसको अङ्गीकार नहीं करते तो अलग ही परिहार कहो। इस प्रकार से तो प्रतिबन्दिग्रह का आग्रह करना व्यर्थ ही हुआ ।

इति भेदवृत्तावभेदप्रतिबन्दिग्रहनिरासस्याऽनुवादः ॥१०॥

अथ भेदस्वरूपत्वनिरासः ॥११॥

किञ्च–भेदः स्वरूपमिति वदन् प्रष्टव्यः–किं स्वरूपं भेदेऽन्तर्भवति, स्वरूपे वा भेदः ? न प्रथमः, स्वरूपव्यवहार-लोपप्रसङ्गात्। द्वितीये तु भेदमात्रं वा स्वरूपेऽन्तर्भवति, प्रतियोगिघटितं वा ? न प्रथमः, भेदमात्रस्य प्रतीत्यनारूढ-त्वात्। तस्य च स्वरूपाऽन्तर्भावेऽभिधीयमानेऽविवादात्, व्यावहारिकस्य भेदस्य विचार्यमाणत्वात्। प्रतियोगिघटित-श्चेत् स्वरूपेऽन्तर्भवति, तथा च पटाद्भेद इत्येवंरूपस्य तस्य घटस्वरूपत्वे पटादभिन्नो घट इत्येव स्यात्। तथा च भेदाय धावता विपरीतं कृतं स्यादिति परिभावयाऽज्ञानम्। एवं

अथ भेदस्वरूपत्वनिरासस्याऽनुवादः ॥११॥

किञ्च—"भेद ही घटादि का स्वरूप है" ऐसा कहने वाले से यह पूछना चाहिये कि—क्या भेद में स्वरूप का अन्तर्भाव होता है, या स्वरूप में भेदका ? प्रथम पक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि स्वरूपव्यवहार के लोप का प्रसङ्ग होगा। द्वितीय पक्ष में तो—क्या भेदमात्र का ही स्वरूप में अन्तर्भाव होता है, या प्रतियोगिपटादिघटित भेद का ? प्रथम पक्ष सम्भव नहीं; क्योंकि प्रतियोगी के विना भेदमात्र प्रतीति का विषय कहीं भी नहीं होता; और भेदमात्र के स्वरूप में अन्तर्भाव होने में विवाद भी नहीं। यहां तो व्यावहारिक भेद ही विचार्यमाण है। यदि प्रतियोगिघटित भेद का स्वरूप में अन्तर्भाव है तो "पट से भेद" इत्यात्मक प्रतियोगिघटित भेद का घटस्वरूपत्व होने पर पट से अभिन्न घट ही होगा। तब तो भेद के लिये दौड़ते हुए उल्टा ही कर बैठेंगे। अतः अपने अज्ञान को तो जरा देखो। वैसे ही घट से

घटात्पटभेदोऽपि द्रष्टव्यः । तथा जगद्घटभेदेऽपि जगतो घटात्मता प्रतिपादिता स्यात् ।

ननु–पटः प्रतियोगी यस्य, तत्स्वरूपं भेद इत्युच्यमाने त्वयैव भेद कण्ठोक्तः स्यात् । नह्यभेदे बहुव्रीहिसमासो भवति । तथा च समस्यमानपदार्थीभूतात्पटात्तदन्यपदार्थो घटो भिन्नत्वेन प्रतिपादितो भवत्येव । समस्यमानपदार्थादन्यस्यैव बहुव्रीह्यर्थत्वात् । नहि "चित्रगुर्देवदत्तः" इत्युक्ते चित्रया गवाऽपि देवदत्तस्याऽभेदः प्रतीयते । किं तर्हि ? गोर्विशेषण-त्वमात्रम् । प्रकृतेऽपि पटभेदत्वेन घटस्वरूपे निरूप्यमाणे पटस्य विशेषणत्वमात्रमभ्युपगतम्, न त्वभेदोऽपि, एवं घटस्वरूपभेदप्रतियोगी पट इत्युक्ते कथं पटस्य घटात्म-

पटभेद को भी समझना चाहिये (अर्थात् घटप्रतियोगिक भेद पटस्वरूप होने से घट और पट में अभेद का प्रसङ्ग होगा) । इसी प्रकार जगत् और घट के भेद में भी जगत् की घटस्वरूपता कहना होगा ।

शंका –"पटप्रतियोगिक भेद घट का स्वरूप है" इस प्रयोग में "पट है प्रतियोगी जिसका, ऐसा भेद ही स्वरूप है" इस प्रकार विग्रह करके आपने भी भेद कण्ठोक्त कर दिया, क्योंकि अभेद में बहुव्रीहिसमास नहीं होता । तब तो समास किया जाने वाले पदार्थीभूत पट से वह अन्यपदार्थ घट भिन्नरूपसे प्रतिपादित हो ही जाता है; क्योंकि समस्यमान पदार्थ से भिन्नपदार्थ ही बहुव्रीहि का अर्थ होता है । "चित्रगुर्देवदत्तः" अर्थात् चित्रागौ है जिसकी, वैसा देवदत्त है-ऐसा कहने पर चित्रागौ से भी देवदत्त का अभेद प्रतीत नहीं होता; किन्तु गौ तो उसका विशेषणमात्र है । इसी प्रकार प्रकृत में भी पटभेदरूप से घटस्वरूप का निरूपण करने में पट को विशेषणमात्र मानना चाहिये । उसमें अभेद को भी साथ समझना नहीं चाहिये । वैसे ही "घट के स्वरूपभूत भेद का प्रतियोगी पट है" ऐसा कहने में किस प्रकार पट का घटात्मत्व हो सकता है ? क्योंकि पूर्वकथित युक्ति

त्वम् ? पूर्वयुक्तेः सत्त्वात् । तथा च यद्यद्वाक्यमुच्चार्य त्वया पटस्वरूपे घटस्वरूपे च घटः पटो वाऽन्तर्निवेशनीयः, तेन तेन त्वद्वचनेनैव तयोर्भेदो व्यवस्थापनीय इति यथायथा तव भेदनिरासाय यत्नः, तथातथाऽतिधृष्टबालक इव ते पुरोवर्ती भेद इति ।

अत्रोच्यते–"शिरःस्वरूपो राहुः" इत्यत्र, विविष्ठचन्द्रस्वरूपो जलचन्द्रः, महाकाशस्वरूपो घटाकाशः,कम्बुग्रीवादिस्वरूपो घटः, चिद्रूपः पुरुषः, कृष्ण ईश्वरस्वरूपः– इत्यादौ च बहुव्रीहिसमासेऽप्यभेद एव प्रतीयते । न हि राहुशिरसोर्भेदमभ्युपैषि । तथाऽन्येषामप्युदाहृतानामभेदमभ्युपगच्छसि । अथ तत्राऽभेदस्य प्रमाणसिद्धत्वाद्भेदबुद्धिरविद्यापक्षे निविशते, औपचारिकीति मन्यसे वा, तर्हि घटपटयोरपि तथैव स्वीक-

इसमें भी वर्तमान है। तब तो जिस जिस वाक्य का उच्चारण करके आप द्वारा पटस्वरूप में घट और घटस्वरूप में पट अन्तर्भावनीय होता है, उसी उसी तुम्हारे वचन से ही दोनों का भेद सिद्ध होता है। अतः जैसे जैसे भेदनिराकरण के लिये तुम प्रयत्न करते हो, वैसे वैसे अति उद्धत बालक के समान तुम्हारे सामने भेद उपस्थित होता जाता है।

समाधान यहां हम कहते हैं– "सिरस्वरूप राहु है" इसमें, तथा "दिविष्ठचन्द्रस्वरूप जलचन्द्र है," महाकाशस्वरूप घटाकाश है "कम्बुग्रीवादिस्वरूप घट है," चिद्रूप पुरुष है," "ईश्वरस्वरूप कृष्ण है" इत्यादि में बहुव्रीहिसमास होने पर भी अभेद ही प्रतीत होता है। तुम राहु और सिर में तो भेद नहीं मानते, उसी प्रकार उदाहृत अन्यों काभी अभेद मानते हो। उन स्थलों में अभेद प्रमाणसिद्ध होने से प्रतीयमान भेदविषयक बुद्धि को यदि तुम अविद्यापक्ष में निक्षिप्त करोगे अथवा औपचारिकी मानोगे तो घट और पट में उसी प्रकार

त्तुमर्हसि, तावता पितुस्ते का हानिः ? तथा च भेदसाधनाय प्रयुक्तो बहुव्रीहिरनिच्छन्तं रुदन्तमपि त्वामभेदं ग्राहयतीति त्वदीयमस्त्रं त्वामेव प्रहरतीति महत्कौतुकम् । किञ्च बहुव्रीहिरपि स्वरूपं भेदं वदता त्वयाऽभिधीयते, न त्वस्माभिः । तथा चाऽस्मान् प्रति निरनुयोज्यानुयोगः कृत इति परिभावय । तथापि त्वयाऽनुवादः कृत इति चेत्; ततः किम् ? नह्यनुवादमात्रे निर्बन्धः, तथासति परपक्षनिषेधार्थं कोऽपि नाऽनुवदेत् । किञ्च–चित्रगुरित्यत्र गौर्न विशेषणम् । किं तर्हि ? उपलक्षणम् । अन्यथा तद्गुणाऽतद्गुणसंविज्ञान-

ही तुम्हें भेदबुद्धि औपचारिकी माननी चाहिये; इसमें तुम्हारे पिता की क्या हानि है ? इस प्रकार भेद सिद्ध करने के लिये प्रयुक्त बहुव्रीहिसमास ही न चाहते हुए और उसके लिये रोते हुए तुमको अभेद का ग्रहण कराता है; इसलिये तुम्हारा अस्त्र तुझे ही मार रहा है; यह अत्यन्त कौतुक की बात है। किञ्च स्वरूप को भेद कहने वाले आपने ही बहुव्रीहि का अभिधान किया है; हमने तो नहीं किया। अत: आपने हमारे प्रति निरनुयोज्यानुयोग(१) किया है – इस बात को भी समझो। शंका—तो भी आपने उस बहुव्रीहि का अनुवाद तो किया है। उत्तर—इससे क्या ? अनुवादमात्र में कोई प्रतिबन्ध तो नहीं है; यदि प्रतिबन्ध होता तो परपक्ष के निराकरणार्थ किसी को भी अनुवाद नहीं करना चाहिये। किञ्च—"चित्रगु" इसमें भी 'गौ' विशेषण नहीं है; किन्तु उपलक्षण है। यदि विशेषण ही

(१) "अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाऽभियोगो निरनुयोज्याऽनुयोगः" (न्या. द. ५।२।२३)–निग्रह स्थान कौन कौन होते हैं–इस बात को न समझकर अनिग्रह स्थान में निगृहीत होने का अभियोग लगाना निरनुयोज्यानुयोग कहलाता है। जो पुरुष वैसा करता है, वह शास्त्रार्थ में हारा हुआ माना जाता है।

बहुव्रीह्योर्भेदो न स्यात् । भवतु तथा, तथापि भिदाऽस्तीति चेत्, तथापि तवाऽज्ञानमेव; सोऽपि स्वरूपं वा, अन्योन्याऽभावो वा ? नाऽऽद्यः,प्रतियोगिघटितस्य स्वरूपाऽन्तर्भावेऽभेद एव, भेदमात्रस्य च बुद्ध्यनारोहात् । तत्रापि बहुव्रीहिसमासेन भेदोपादाने पूर्वदोषान्न निवर्तसे । न द्वितीयः, स्वरूपभेदमादाय योत्स्य इति प्रतिज्ञाहान्यापत्तेः । वृत्तिविकल्पश्चाऽनुवर्तत एव । तथा च यद्यदेव त्वया भेदप्रतिपादकमुदाहरणीयम्, तत्तदेव स्वरूपभेदपक्षेऽभेदपर्यवसायित्वेन त्वां प्रत्युदाहार्यम् । किञ्च क्वचिच्चेद्भेदो निरूपणपथमगात्,

हो तो तद्गुणसंविज्ञान और अतद्गुणसंविज्ञान (१) दोनों बहुव्रीहियों में भेद नहीं होना चाहिये।

शंका—वैसे ही हो (अर्थात् उपलक्षण हो) तथापि भेद तो अवश्य है (गौ और देवदत्त में भेद है)। समाधान-वहां भी तुम्हारा अज्ञान ही है। क्या वह भेद भी स्वरूप ही है, या अन्योन्याभावरूप है ? आद्य पक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि प्रतियोगिघटित भेद का स्वरूप में अन्तर्भाव करोगे तो अभेद ही होगा, भेदमात्र तो बुद्धि का विषय बनता नहीं। उसमें भी बहुव्रीहिसमास से भेद का उत्पादन करोगे तो पूर्वोक्त दोष से पार नहीं हो सकोगे। द्वितीय पक्ष भी असम्भव है; क्योंकि "स्वरूपभेदरूप अस्त्र को लेकर लड़ूंगा" ऐसी आपकी प्रतिज्ञा भंग हो जायेगी। और उसमें वृत्तिविकल्प की अनुवृत्ति तो है ही। तब तो आपके द्वारा जो जो भेदप्रतिपादक उदाहरणीय

---

(१) समासार्थीभूत अन्यपदार्थ में यदि समासघटित पदार्थों का अन्वय हो जाये तो वह बहुव्रीहि तद्गुणसंविज्ञान कहलाता है, जैसे "लम्बकर्णमानय" इत्यादि। और समासार्थीभूत अन्यपदार्थ में यदि समस्यमान पदार्थों का अन्वय न हो तो उसको अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि कहते है। जैसे—"दृष्टसमुद्रकमानय" अथवा "चित्रगुः" इत्यादि।

ततः स दृष्टान्तीकर्त्तुं युक्तः। नह्यद्वैतवाद्यन्येषां परस्परभेदं स्वीकरोति, घटपटयोः परं न स्वीकरोति। ततः कथं तमसिद्धं दृष्टान्तीकुर्वन्न लज्जसे ? तदुक्तं भगवता 'खण्डनकृता–

नानात्वमवलम्ब्याऽपि वदत्यद्वैतवादिनि।

असिद्धभेदाद् व्याघातः पतेदापादकात्कुतः ॥इति॥

(ख०का० ११७)

किञ्च–स्वरूपस्य भेदत्वे तस्याऽन्यसाकांक्षापत्तिः, सा

है, वही वही स्वरूपभेदपक्ष में अभेद में पर्यवसायिरूप से आपके प्रति उदाहर्तव्य है। किञ्च–यदि कहीं (परमार्थतः) भेद होता तो निरूपणपथ में आ ही जाता, और उसीसे उसको दृष्टान्त बनाना युक्तियुक्त होता। अद्वैतवादी तो अन्य सभी पदार्थों के परस्पर भेद को (परमार्थरूप से) नहीं मानते, केवल घट और पट के भेद को नहीं मानते, ऐसा नहीं। अतः उस असिद्ध को दृष्टान्त बनाते हुए तुम्हें लज्जा क्यों नहीं आती ? इस बात को भगवान् खण्डनकार ने कहा है–"अपारमार्थिक प्रतीयमान नानात्व का अवलम्बन करके बोल–चाल आदि के व्यवहार करने वाले अद्वैतवादी के प्रति आपाद्य से भिन्नत्वेन असिद्ध आपादक से किस प्रकार व्याघात हो सकता है ?" (कहने का अभिप्राय यह है कि कोई द्वैतवादी अद्वैतवादी को कहता है–"यदि आप भेदज्ञानवान् नहीं हैं तोघटपटादिभेदव्यवहारवान् भी होना नहीं चाहिये।" इसमें भेदज्ञान आपादक है और घटपटादि-व्यवहार आपाद्य है, तथा आपादक भेदज्ञान के विना आपाद्य घट-पटादिव्यवहार होना व्याघात है। इसका उत्तर देते हुए खण्डनकार कहते हैं कि आपाद्य और आपादक में परमार्थतः भेद सिद्ध होता नहीं; अभेद ही है। तब आपाद्यापादकभाव अभेद में बनेगा ही नहीं तो कैसे व्याघात हो सकता है। रह गई व्यवहार की बात; वह व्यवहार तो प्रतीयमान आविद्यक भेद से हो सकता है। उसके लिये पारमार्थिक भेद की आवश्यकता नहीं)।

किञ्च–स्वरूप को ही भेद मानने पर तो उसको अन्य की

चाऽनिष्टा, एकस्य वस्तुनो द्वैरूप्याऽसम्भवात् । अथ-केयमन्यसाकांक्षता नाम ? घटादयो निष्प्रतियोगिकास्त एव चेद्भेदाः स्युः, तदा सप्रतियोगिकाः स्युः; अभाववत्स-मवायवच्चेति चेत्; भवन्तु नाम सप्रतियोगिकाः, तावता न नः किञ्चिद्बाध्यत इति—चेन्न; स्वभावव्याघातापत्तेः; लोकव्यवहारव्याघातापत्तेश्च । किञ्चिद्धि सप्रतियोगिकम्, किञ्चिन्निष्प्रतियोगिकमिति लोकव्यवहारः । लोकव्यवहार-त्यागे च वादित्वान्निवृत्तिस्तव ।

ननु—स्वाऽभावाऽभावेन निरूप्यमाणाः घटादयोऽपि

आकांक्षा हो जावेगी, क्योंकि भेद प्रतियोगी की आकांक्षा करता है; स्वरूप में यह अनिष्ट है, कारण कि एक ही वस्तु के निरपेक्ष और सापेक्ष दो स्वरूप नहीं होसकते ।

शंका—यह अन्यसाकांक्षता क्या है ? यदि तुम कहो कि जो प्रतियोगिरहित घटादि हैं, उनको ही यदि भेदस्वरूप मान लिया जावे तो वे सप्रतियोगिक होने चाहिये; इस प्रकार प्रतियोगी की अपेक्षा करना ही अन्यसाकांक्षता है, जैसे अभाव और समवाय प्रति-योगी की अपेक्षा करने से सप्रतियोगिक होते हैं, तो हम (नैयायिक) कहते हैं कि वे सप्रतियोगिक भले ही हों, उतने से ही हमारा कुछ भी बाधित नहीं होता ।

समाधान—ऐसा न कहो; क्योंकि घटादि का स्वभाव निष्प्र-तियोगिकत्व है, इनमें यदि सप्रतियोगिकत्व मानोगे तो स्वभाव में व्याघात हो जायेगा, और लोकव्यवहार में भी व्याघात की आपत्ति होगी। कुछ पदार्थ तो सप्रतियोगिक होते हैं और कुछ निष्प्रतियोगिक ही होते हैं—यह लोकव्यवहार है। इस लोकव्यव-हार का त्याग करोगे तो तुम्हारी वादित्व से निवृत्ति हो जायेगी ।

शंका—स्वाभाव के अभावरूप से निरूप्यमाण घटादि भी सप्रतियोगिक ही सकते हैं (यहां स्वपद से घटादि भावपदार्थ का

सप्रतियोगिकाः, तथा च को दोष इति-चेत्; तर्हि तद्वदेवेतरनिरूपणाऽधीननिरूपणाः स्युः, सप्रतियोगिकज्ञानमात्रविषयाश्च स्युरिति।

न च-सप्रतियोगिकपदार्थोऽपि प्रकारान्तरेण ज्ञायते; यथाऽभावः समवायो वा प्रमेयत्वादिना, तथा किं न स्यादिति-वाच्यम्; यथाऽभावत्वेनाऽभावज्ञाने प्रतियोग्यपेक्षाऽवश्यम्भाविनी, तथा घटत्वेनापि तज्ज्ञाने प्रतियोगिज्ञानाऽपेक्षाप्रसङ्गात्, नहि घटत्वादन्यद्भेदत्वं नाम। तथा च स्वाऽऽत्मानमुपालभस्व, येन तथानियममङ्गीकृत्याऽपि स्वयमेवाऽन्यथा

ग्रहण करना चाहिए। घटादि का स्वरूप अपने अभाव का अभावरूप होता है। और अभावज्ञान में प्रतियोगी की अपेक्षा रहती है। अतः घट के स्वरूप को घटभेदात्मक अभावरूप से निरूपित किया जाये तो वह सप्रतियोगिक हो जाता है)। अतः इसमें क्या दोष है? समाधान-तब तो घटादि भी अभाव के समान ही अन्यनिरूपण (प्रतियोगिनिरूपण) के अधीन निरूपणवाले होंगे, और सप्रतियोगिकज्ञानमात्र के विषय होंगे (निष्प्रतियोगिकज्ञान के विषय नहीं होंगे)।

शंका—सप्रतियोगिक पदार्थ भी प्रतियोगी के बिना अन्य प्रकार से भी जाने जाते हैं, जैसे कि अभाव अथवा समवाय सप्रतियोगिक होते हुए भी प्रतियोगी के बिना "अभाव प्रमेय है" अथवा "समवाय प्रमेय" इत्यादि करके प्रमेयत्वादि से जाने जाते हैं। उसी प्रकार यहां भी घटादि को अभावत्वेन न जानकर घटत्वेन जान लिया जाये तो उसका निष्प्रतियोगिकत्व क्यों नहीं होगा? समाधान-ऐसा नहीं कहना चाहिये; कारण कि जिस प्रकार अभावत्वरूपसे अभावज्ञान में प्रतियोगी की अपेक्षा अवश्यम्भाविनी है, उसी प्रकार घटत्वरूप से घटज्ञान में भी प्रतियोगिज्ञान की अपेक्षा का प्रसंग होगा; क्योंकि तुम्हारे कथनानुसार घटत्व से भेदत्व कोई अन्य पदार्थ नहीं है। अतः तुम अपने आपको उपालम्भ दो, क्योंकि इस प्रकार का

प्रलपसि ।

अथ–वयं सप्रतियोगित्वं निष्प्रतियोगित्वं वा वस्तुनः स्वाभाविकमेवेतिनाऽङ्गीकुर्मः । किं तर्हि ? यत्प्रकाराऽवच्छेदेन यज्ज्ञानं नियमतो यद्विशिष्टज्ञानमपेक्षते, तत्प्रकारावच्छेदेन तद्वस्तु सप्रतियोगिकमिति ब्रूमः । तथा च स एव घटो घटत्वेन ज्ञायमानो नाऽन्यद्विशिष्टज्ञानमपेक्षते; अतो घटत्वावच्छेदेन निष्प्रतियोगिक इत्यभिधीयते । स्वाऽभावाऽभावत्वेन तु ज्ञायमानो घटो नियमतः स्वाभावज्ञानमपेक्षत इति तेन प्रकारेण सप्रतियोगिक एवेत्यभिधीयत इति । यद्यपि च

नियम मानकर भी (अर्थात् घटत्व और भेदत्व को एक मान कर भी) स्वयं ही अन्यथा कहते हो ।

शंका–किसी एक वस्तु का सप्रतियोगित्व या निष्प्रतियोगित्व स्वाभाविक है–ऐसा हम नहीं मानते, किन्तु जिस विशेषण से विशिष्ट होकर जिसका ज्ञान होता है, वह ज्ञान नियमपूर्वक जिस किसी विशिष्ट ज्ञान की अपेक्षा करता है तो उस विशेषण से विशिष्ट वह पदार्थ सप्रतियोगिक होता है (अर्थात् घटप्रतियोगिकत्व से विशिष्ट होकर अभाव का ज्ञान होता है; वह ज्ञान घटनिरूपितत्व-विशिष्टप्रतियोगिकतत्वज्ञान की अपेक्षा करता है; केवल प्रतियोगिकत्वज्ञान की अपेक्षा नहीं होती । अतः अभाव सप्रतियोगिक कहा जायेगा) । इसलिये वही घट घटत्व से विशिष्ट होकर ज्ञान होता हुआ दूसरे विशिष्ट ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता । अतः घटत्व से अवच्छिन्न होकर वह निष्प्रतियोगिक है–इस प्रकार कहा जाता है । और वही घट स्वाभाव के अभावत्वरूप से ज्ञायमान हो जाये तो स्वाभावज्ञान की अपेक्षा करता है; केवल अभावत्व के ज्ञान से वह ज्ञान नहीं हो सकता । इस प्रकार स्वाभावाभावत्व से निरूपित होने के कारण वह सप्रतियोगिक ही कहा जाता है । यद्यपि वह्निस्वरूप से वह्निज्ञान भी कदाचित् अनुमितिरूप हो तो धूमज्ञान की अपेक्षा करता

बह्नित्वेन वह्निज्ञानमपि कदाचिद्धूमज्ञानमपेक्षतेऽनुमितिरूपम्, अतो बह्नित्वेनापि वह्निः सप्रतियोगिक एव स्यादित्यत उक्तं नियमत इति । नहि प्रात्यक्षिकमपि बह्नित्वप्रकारकज्ञानं धूमज्ञानाऽपेक्षि, येन धूमो वह्नेः प्रतियोगी स्यात् । यद्यपिच बह्नित्वनिर्विकल्पकं बह्नित्वविशिष्टज्ञानं नियमतोऽपेक्षत इति बह्नित्वमपि वह्नेः प्रतियोगि स्यात्; तथापि न तद्विशिष्ट-ज्ञानमित्यपेक्षणीयज्ञाने वैशिष्ट्यं विशेषणमुक्तमिति ।

मैवम्; एवंभूतप्रक्रियायां मानाऽभावात्, स्वबुद्धिमात्र-विकल्पितत्वेन परस्य तत्र विश्वासाऽभावात् । किञ्च–प्रति-योगित्वं विरोधित्वम्; न च घटपटयोस्तदस्ति । अथ–नियम-

है; अतः वह्नित्वरूप से वह्नि भी सप्रतियोगिक होगी, इस कारण "नियमत:" अर्थात् "नियमपूर्वक" कहा गया है । क्योंकि प्रत्यक्षीभूत वह्नित्वप्रकारक ज्ञान धूमज्ञान की अपेक्षा नहीं करता, जिससे धूम वह्नि का प्रतियोगी हो । और यद्यपि वह्नित्वविशिष्टवह्निज्ञान वह्नित्वनिर्विकल्पकज्ञान की नियमतः अपेक्षा करता है (क्योंकि पहले वह्नित्व का ज्ञान हुए विना वह्नित्वविशिष्ट वह्नि का ज्ञान नहीं हो सकता) । इस कारण वह्नित्व भी वह्नि का प्रतियोगी होने लगेगा, तथापि वह वह्नित्वनिर्विकल्पकज्ञान विशिष्टविषयक ज्ञान नहीं है। अतः उसका निवारण करने के लिये अपेक्षणीय ज्ञान में विशिष्टत्व विशेषण दिया गया है (अर्थात् "यद्विशिष्टज्ञानमपेक्षते" इसमें "यज्ज्ञानमपेक्षते" ऐसा न कह कर उसमें "विशिष्ट" पद भी विशे-षणरूप से दिया गया है) ।

समाधान—ऐसा नहीं होगा; क्योंकि इस प्रकार की प्रक्रिया में कोई प्रमाण नहीं है, स्वबुद्धिमात्र से परिकल्पित होने से उसमें दूसरे को विश्वास नहीं होता ।

किञ्च—प्रतियोगित्व का अर्थ है विरोधित्व; वह तो घट और पट में नहीं है। शंका–उस पदार्थ का ज्ञान होने के बाद नियमतः

तस्तज्ज्ञानाऽधीनज्ञानविषयत्वमेव तदिति चेत्, तर्हि घटस्य पटज्ञानमन्तरेण ज्ञानं न स्यात् । भेदत्वज्ञाने तथैव चेत् । तत्किं घटत्वादधिकम् ? तथा च सिद्धोऽन्योन्याऽभावोऽधिकः । अनधिकत्वे तु स दोषस्तदवस्थः । अथ-भेदशब्दवाच्यत्वं तदिति चेत्; भ्रान्तोऽसि नितराम्; प्रत्यक्षज्ञानविषयो भेदः क इति पृष्टे भेदशब्दवाच्यत्वं यदुदाहरसि । नहि "अयं घटः" इति-ज्ञाने घटशब्दवाच्यत्वमपि स्फुरति; तस्य पूर्वं नियमेनोपस्थितौ मानाऽभावेन प्रत्यक्षज्ञाने मानाऽभावात् । तथा च धंधनामात्रमेतत् ।

किञ्च– यद्यन्यज्ञानसापेक्षप्रतीतिविषयत्वमेव नियमेन विरोधित्वं स्यात्, तर्हि गोत्वाऽश्वत्वयोर्न विरोधित्वं स्यात् ।

उसके अधीन होकर उत्पन्न ज्ञान का विषयत्व ही प्रतियोगित्व होता है । समाधान–तब तो पटज्ञान के विना घटज्ञान नहीं होना चाहिये। शंका– इसमें क्या सन्देह है ? भेदत्वज्ञान में तो वैसा ही होता है। समाधान– क्या वह भेदत्व घटत्व से अतिरिक्त है ? तब तो स्वरूप से अतिरिक्त अन्योन्याभाव सिद्ध हो गया। यदि घटत्व से अतिरिक्त भेदत्व नहीं है तो वही दोष ज्यों का त्यों है (अर्थात् घटत्वेन ज्ञात घट में अन्यसाकांक्षत्व, सप्रतियोगिकत्वादि दोष रहते हैं) । शंका– भेदत्व भेदशब्दवाच्यत्व ही है। समाधान–तुम बिल्कुल भ्रान्त हो; क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय भेद कौन सा है-ऐसा पूछने पर तुम भेदशब्दवाच्यत्व का उदाहरण दे रहे हो। "यह घट है" इस ज्ञान में घटशब्दवाच्यत्व का भी तो स्फुरण नहीं होता । क्योंकि घटशब्द-वाच्यत्व की नियम से पूर्व उपस्थिति में प्रमाण का अभाव होने से प्रत्यक्षज्ञान में उसका भान नहीं होता, तब तो यह धंधना (हो हल्ला) मात्र ही हुआ ।

किञ्च– यदि अन्यज्ञान की अपेक्षा रखने वाली प्रतीति का विषयत्व ही नियम से विरोधित्व माना जाये तो गोत्व और अश्वत्व में विरोधित्व नहीं होना चाहिये । इसमें यदि तुम कहो कि उन

तत्र सहाऽनवस्थानलक्षणो विरोधस्तत्कृतश्च प्रतियोग्यनुयोगिभाव इति चेत्; तर्ह्येकरूपाऽनिर्वचने शब्दप्रवृत्त्यनुपपत्तिः। घटत्वादीनाञ्च सप्रतियोगित्वे सति प्रतियोगिनिष्प्रतियोगिव्यवहारस्य लोपः स्यात्। न च– यत्पदार्थस्य यदसाधारणं वाचकपदं तत्र यत्प्रवृत्तिनिमित्तम्, तत्प्रकारकज्ञानस्येतरविशिष्टज्ञानसापेक्षत्वनिरपेक्षत्वप्रयुक्तं तद्भविष्यतीति–वाच्यम्; "दण्डी पुरुषः" इति विशिष्टबुद्धिविषयत्वे नियमेन दण्डसविकल्पकज्ञानाऽपेक्षणेऽपि सप्रतियोगिकत्वव्यवहाराऽभावात्। प्रमेयपदेन च संयोगेऽभिधीयमानेऽन्यसापेक्षत्वाऽभावेन संयोगस्य निष्प्रतियोगिकत्वापत्तेः। संयोगपदेनाऽभिधानेऽपेक्षाऽस्तीति–चेन्न; संयोगस्य तथास्व-

दोनों में सहानवस्थानरूप विरोध है, और उस विरोध से होने वाले प्रतियोगित्व तथा अनुयोगित्व भी हैं, तो प्रतियोगित्व (विरोधित्व) का एकरूप से निर्वचन न होने के कारण प्रतियोगित्वशब्द की प्रवृत्ति ही नहीं होगी। और घटत्वादि के सप्रतियोगित्व होने पर उनमें प्रतियोगी और निष्प्रतियोगी के व्यवहार का लोप हो जायेगा। शंका– जिस पदार्थ का जो असाधारण वाचक पद हो, उसमें जो प्रवृत्तिनिमित्त है, उसी प्रकार (विशेषण) वाले ज्ञान में अन्यविशिष्टज्ञान के सापेक्षत्व और निरपेक्षत्व होंगे; और उनसे (सापेक्षत्वनिरपेक्षत्व से) प्रयुक्त सप्रतियोगित्व और निष्प्रतियोगित्व का व्यवहार होगा। समाधान–ऐसा मत कहो; क्योंकि "दण्डी पुरुष" इस विशिष्टबुद्धि के विषयत्व में नियमतः दण्डविषयकसविकल्पक ज्ञान की (विशिष्टज्ञान की) अपेक्षा होने पर भी सप्रतियोगिकत्व का व्यवहार नहीं होता। इसी प्रकार "संयोग प्रमेय है" इस प्रकार प्रमेयपद से संयोग का कथन करने में प्रमेयत्व के अतिरिक्त अन्यविशिष्टज्ञान की अपेक्षा न होने से संयोग में निष्प्रतियोगिकत्व की आपत्ति आयेगी। – शंका (ठीक है, वाचकपद में

भावत्ववद्घटस्यापि तथास्वभावत्वे नियमेनाऽन्वयप्रतीतिं विना प्रतीत्यनुपपत्तेरुक्तत्वात् । तत्सिद्धमेतन्न घटादय एव स्वरूपभेदाः; तथात्वेऽन्यसाकांक्षताऽपत्तौ स्वभावव्याघातापत्तेरिति ।

किञ्च-यदि स्वरूपं भेदः,तच्च नाना, न च तत्राऽनुगमकमेकं रूपमस्ति; तथा च कथं तत्र भेदपदस्य समयग्रहः ? किं यत्किञ्चित्स्वरूपे तद्ग्रहः, किं वा सकलस्वरूपे ? प्रथमे च विनिगमनाविरहः; द्वितीये सकलस्वरूपप्रतीत्यसंभवः, स्व-

"असाधारण" विशेषण दिया गया है, किन्तु संयोग का प्रमेयपद असाधारण वाचक नहीं है, अतः उसमें निष्प्रतियोगिकत्व भले ही हो, तो भी) संयोगपद से संयोग का अभिधान होने पर तो प्रतियोगी की अपेक्षा है ।

समाधान—ऐसा नहीं; क्योंकि संयोग का जिस प्रकार सप्रतियोगिकत्व स्वभाव है, उसी प्रकार घट का भी सप्रतियोगिकत्व स्वभाव है, तो नियम से प्रतियोगी की अन्वयप्रतीति के विना घट की प्रतीति असम्भव है—यह पहले ही कह चुके हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि घटादि ही स्वरूपभेद नहीं हैं, क्योंकि ऐसा होने पर अन्यसाकांक्षता की आपत्ति होने से स्वभाव में व्याघात हो जाता है ।

किञ्च—यदि स्वरूप ही भेद हो तो वह स्वरूप तो नाना है, उसमें कोई एक अनुगमक धर्म नहीं है; तब उसमें किस प्रकार भेदपद का शक्तिग्रह होगा ? क्या किसी एक ही स्वरूप में शक्तिग्रह है, अथवा सकलस्वरूपों में ? प्रथमपक्ष में तो–अमुक स्वरूप में शक्तिग्रह होता है और अमुक स्वरूप में तो नहीं होता– इसमें एकतरपक्षपातिनी युक्ति नहीं। द्वितीय पक्ष में भी सकलस्वरूपों की प्रतीति होना असम्भव है, क्योंकि स्वरूपत्वरूप एक अनुगत धर्म का अङ्गीकार न होने पर सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के द्वारा सब स्वरूप उपस्थापित नहीं किए जा सकते ।

रूपत्वस्यैकस्याऽनङ्गीकारे सामान्यलक्षणाया वक्तुमशक्यत्वात्। अथ–स्वरूपत्वमेकं सर्वस्वरूपेषु स्वीकरणीयम्; अन्यथा समयग्रहाद्यसंभवापत्तेः। न च–तदनिर्वचनम्; स्वनिष्ठधर्माऽत्यन्ताभावाऽसमानाऽधिकरणधर्मवत्त्वस्य तस्य सुवचत्वात्। अस्य चाऽयमर्थः–स्वनिष्ठो यो धर्मस्तस्य योऽत्यन्ताभावः, तदसमानाधिकरणधर्मवत्त्वमिति। अत एव न घटस्वरूपं पटः; तस्य पटनिष्ठधर्माऽत्यन्ताभावसमानाधिकरणधर्मवत्त्वात्। न वा घटान्तरस्वरूपं घटान्तरम्;

शंका–सकल स्वरूपों में एक ही स्वरूपत्व धर्म मानना चाहिये, यदि नहीं मानोगे तो शक्तिग्रहादि असम्भव होगा। स्वरूपत्व का निर्वचन भी असम्भव नहीं; स्ववृत्ति (अपने में रहने वाला) धर्म के अत्यन्ताभाव के साथ असमानाधिकरणधर्मवत्त्व ही स्वरूपत्व है–ऐसा निर्वचन किया जा सकता है। इसका यह अर्थ है–स्ववृत्ति जो धर्म (घटनिष्ठघटत्वादिधर्म), उसका जो अत्यन्ताभाव, उसके साथ एकाधिकरण में न रहने वाला धर्म (घटत्व) (क्योंकि घटत्व और घटत्वात्यन्ताभाव ये दोनों विरुद्ध होने से कभी भी एक अधिकरण में साथ नहीं रह सकते), तद्वत्त्व (घटत्ववत्त्व) ही स्वरूपत्व है। अतः घटस्वरूप पट नहीं है; क्योंकि घटस्वरूप पटनिष्ठ पटत्वधर्म के अत्यन्ताभाव के साथ घटरूप एकाधिकरण में वृत्ति घटत्वधर्म वाला है। और घटान्तर का स्वरूप भी घटान्तर नहीं हो सकता; क्योंकि उसमें भी एकतरनिष्ठ धर्म का अन्य में अत्यन्ताभाव नियत है।

समाधान– ऐसा नहीं; क्योंकि "स्वरूप" इस ज्ञान में उक्तलक्षण से घटित स्वरूपत्व का अभाव है, और स्वरूपत्व को शब्दप्रवृत्ति का निमित्त (१) मानोगे तो स्वरूपशब्द से स्वरूपत्वप्रकारक-

(१) गुण, क्रिया, जाति और सम्बन्ध ये चार यथासम्भव मिल कर अथवा पृथक् २ शब्दप्रवृत्ति का निमित्त होते हैं।

तत्राप्येकतरधर्मस्याऽपरत्राऽत्यन्ताभावनैयत्यादिति- चेन्न; स्वरूपमिति प्रत्यये उक्तरूपस्याऽभावात्; स्वरूपत्वस्य च प्रवृत्तिनिमित्तत्वे स्वरूपशब्दात्तत्प्रकारकबुद्ध्यापत्तेः । न चेष्टापत्तिः; तथाऽनुभवाऽभावात् । वस्तुमात्रं प्रतीयते ततः । न च स्वरूपत्वमुपलक्षणम्; उपलक्ष्यतावच्छेदकस्यैकस्याऽभावेनाऽननुगमापत्तेः । किञ्च– स्वनिष्ठधर्माऽत्यन्ताभावाऽसमानाधिकरणधर्मवत्त्वमित्यत्र स्वशब्देन सकलवस्तुग्रहणेऽसंभवः, यत्किञ्चिद्ग्रहणेऽननुगमः । स्वत्वस्यैकस्याऽशक्यनिर्वचनत्वेन तत्राऽपि पर्यनुयोगसाम्यापत्तेः । किञ्च–तादृशधर्मवत्त्वञ्च घटे घटत्ववत्त्वम् पटे पटत्ववत्त्वं भविष्यति; तच्च नानेति कथमनुगतं तत् स्यात् ? तथा च शिष्यधंधनमेव केवलं भवतः । किञ्च–स्वनिष्ठधर्माऽत्यन्ताभावाऽसमानाऽ-

बुद्धि होने लग जायेगी, किन्तु होती नहीं । इसमें आप इष्टापत्ति भी नहीं कह सकते; क्योंकि वैसा किसी को अनुभव नहीं होता, उससे तो वस्तु मात्र प्रतीत होती है । और स्वरूपत्व उपलक्षण भी नहीं हो सकता; कारण कि उपलक्ष्यता के अवच्छेदक एक धर्म का अभाव होने से अननुगम की आपत्ति होगी ।

किञ्च—"स्वनिष्ठधर्मात्यन्ताभावाऽसमानाऽधिकरणधर्मवत्त्व" इसमें स्वशब्द से सकल वस्तु का ग्रहण करोगे तो असम्भवरूप दोष होगा, और यत्किञ्चित् वस्तु के ग्रहण में अनुगम नहीं होगा । इसी प्रकार एकरूप स्वत्व का निर्वचन करना असम्भव होने से उसमें भी पूर्ववत् प्रश्न होने की आपत्ति है ।

किञ्च-उस प्रकार का धर्मवत्त्व (स्वनिष्ठधर्मात्यन्ताभावा-समानाधिकरणधर्मवत्त्व) तो घट में घटत्ववत्त्व और पट में पटत्व-वत्त्व ही होंगे; और वे तो नाना हैं इस कारण वह धर्म किस प्रकार अनुगत होगा ? तब तो आप का यह सब शिष्य के प्रति बकवास

धिकरणधर्मवत्त्वे धर्मान्तराऽस्वीकारे तस्यैवाऽसंग्रहः। स्वीकारे चाऽग्रे धावनेऽनवस्था । यत्रैव विश्रान्तिः, तस्यैव स्वरूपत्वान्निवृत्तिः ।

किञ्च-- प्रमेयत्वाऽभिधेयत्वयोः स्वरूपशब्दवाच्यत्वाभावप्रसङ्गः, तत्र सर्वथा धर्मान्तराऽनङ्गीकारात् । अथ-अस्ति प्रमेयत्वमभिधेयत्वेऽभिधेयत्वञ्च प्रमेयत्व इति-चेन्न; तस्याऽत्यन्ताभावस्याऽप्रसिद्धत्वात्, तेन लक्षणगमनस्याऽसंभवात् । ननु- अस्ति तयोरपि नित्यत्वं धर्मः, तस्य चाऽत्यन्ताभावो घटादौ, तेनाऽसमानाधिकरणं, तदेव तत्र स्वरूपत्वमिति-चेन्न; नित्यत्वे तथाविधधर्माभावेनाऽसंग्रहा-

मात्र ही हुई। किञ्च—स्वनिष्ठधर्मात्यन्ताभावासमानाधिकरणधर्मवत्त्व में धर्मान्तिर नहीं मानोगे तो उसी का संग्रह नहीं होगा; (तब तो उसमें लक्षण की अव्याप्ति होगी)। और धर्मान्तिर स्वीकार करने पर आगे भी दौड़ना पड़ेगा, तब तो अनवस्था होगी और जहां उसकी विश्रान्ति होगी, वहां उसको स्वरूपत्व से हाथ धोना पड़ेगा।

किञ्च प्रमेयत्व और अभिधेयत्व में स्वरूपशब्दवाच्यत्व के अभाव का प्रसङ्ग होगा, क्योंकि उनमें सर्वथा धर्मान्तिर नहीं माना जाता। इसमें शंका हो कि अभिधेयत्व में प्रमेयत्व और प्रमेयत्व में अभिधेयत्व है, तो यह कथन भी ठीक नहीं; कारण कि केवलान्वयी होने से उन दोनों का अत्यन्ताभाव अप्रसिद्ध है, इस कारण उनमें लक्षण का समन्वय करना असंभव।

शंका- प्रमेयत्व और अभिधेयत्व में भी नित्यत्व धर्म है, और उस नित्यत्व का अत्यन्ताभाव घटादि में है; उस अत्यन्ताभाव के साथ असमानाधिकरणक वही नित्यत्व धर्म प्रमेयत्वादि में स्वरूपत्व है।

समाधान- ऐसा नहीं; क्योंकि नित्यत्व में स्वनिष्ठधर्मात्यन्ताभावासमानाधिकरणधर्मवत्त्व का अभाव होने से उसमें लक्षण की अव्याप्ति हो जायेगी। इसमें भी शंका हो कि नित्यत्व में भी घटा-

पत्तेः । अथ–अस्ति नित्यत्वेऽपि घटाऽन्यत्वादिकम्, एवं मेयत्वादावपि यथाकथञ्चिद् धर्मान्तरे तदादाय लक्षणनिरूपणं भविष्यतीति– चेन्न; स्वरूपत्वस्य नानात्वेन प्रवृत्तिनिमित्तत्वाऽनुपपत्तेः । तथात्वे व्यक्तीनामेव तथाभावोपपत्तौ वृथा स्वरूपत्वनिर्वचनम् । न चाऽनुमतिरेव निस्ताराय; गोत्वादेरपि तथात्वस्युच्छेदापत्तेः जितं व्यक्तिवादिना । न च–तादृशधर्मवत्त्वं सर्वत्राऽनुगतं तदननुगमेऽपीति–वाच्यम्; तस्याऽपि क्वचित्समवायत्वेन, क्वचित्संयोगत्वेन, क्वचिच्च स्वरूपत्वेनाऽननुगमतादवस्थ्यात्; त्रिषु च च संबन्धत्वस्यं-

न्यत्वादि धर्म है, अत: उसमें अव्याप्ति नहीं होगी; इसी प्रकार से मेयत्वादि धर्मान्तर में भी यथाकथञ्चित् घटान्यत्वादि धर्म लाकर लक्षण का निरूपण हो जावेगा, तो यह शंका भी ठीक नहीं; कारण कि स्वरूपत्व नाना होने से (स्वरूप सब का भिन्न भिन्न है, अत: सब में अनुगत एक स्वरूपत्व धर्म न होने से) उसका प्रवृत्तिनिमित्तत्व नहीं हो सकता। नानात्व होने पर भी यदि प्रवृत्तिनिमित्तत्व हो सकता हो तो व्यक्तियों का ही प्रवृत्तिनिमित्तत्व सम्भव हो जाने से स्वरूपत्व का निर्वचन व्यर्थ है। इसमें अनुमति देना भी अर्थात् व्यक्तियों का प्रवृत्तिनिमित्तत्व मानना भी निस्तार के लिये (छुटकारा पाने के लिये) नहीं हो सकता, कारण कि ऐसा होने पर गोत्वादि के उच्छेद की आपत्ति आयेगी। तब तो आप व्यक्तिवादी के द्वारा जीते गये। इसमें फिर भी तुम्हें शंका हो कि स्वरूपत्व का अननुगम होने पर भी स्वनिष्ठधर्मावच्छिन्नाभावासमानाधिकरणधर्मवत्त्व तो सब में अनुगत है, तो ऐसा भी कहना नहीं चाहिये; क्योंकि वह भी कहीं समवायरूप से, कहीं संयोगरूप से और कहीं तो स्वरूपत्वरूप से रहता है; इस प्रकार एक अनुगत सम्बन्धरूप के अभाव से अननुगम दोष ज्यों का त्यों है; इन तीनों सम्बन्धों में एकसम्बन्धत्व तो नहीं कह सकते। और अनुगत धर्म का परिचय (ज्ञान) न होने पर इस लक्षण से विशि-

कस्य वक्तुमशक्यत्वात्, विशिष्टप्रत्ययाऽसाधारणकारणत्वादेरनुगतरूपाऽपरिचयेऽपरिच्छेद्यत्वात् । तथात्वे चाऽनुगतरूपनिर्वचनमयुक्तमेव ।

किञ्च– तद्घटनिष्ठसंयोगाऽत्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वात्तद्घटत्वस्य तद्घटोऽपितद्घटस्वरूपं न स्यात् । न च– अत्यन्ताऽभावे प्रतियोगिविरोधित्वं विशेषणं देयम्; स च प्रतियोग्यविरोधीति– वाच्यम्; तस्याऽविरोधित्वेऽभावत्वा-

ष्टप्रत्ययासाधारणकरणत्वादि व्यावर्त्य नहीं होगा । यदि अनुगत धर्म के परिचय बिना परिच्छेद्य (व्यावर्त्य) मान लिया जाये तो अनुगत धर्म का निर्वचन करना अयुक्त ही है।

किञ्च–(तुम्हारे लक्षण के अनुसार विचार करें तो) तद्घटत्व (किसी एक घटव्यक्ति विशेष में वृत्ति घटत्व) तद्घटनिष्ठ संयोगात्यन्ताभाव के साथ समानाधिकरणक होने से तद्घट भी तद्घटस्वरूप नहीं होगा । (अभिप्राय यह है कि स्वरूपत्व का लक्षण है- स्वनिष्ठधर्मात्यन्ताभावासमानाधिकरणधर्मवत्त्व; इसमें स्वपद से तद्घट लिया, उसमें वृत्ति धर्म संयोग हुआ, उसका अत्यन्ताभाव उस घट में ही रहा, क्योंकि संयोग अव्याप्यवृत्ति होने से तद्घट के एकदेश में है और दूसरे देशमें नहीं है, उस संयोगात्यन्ताभाव के साथ सामानाधिकरणक तद्घटत्व धर्म हुआ, और वह तद्घटत्व तद्घट में रहा; किन्तु लक्षण के अनुसार संयोगात्यन्ताभाव के साथ तद्घटत्व असमानाधिकरणक होना चाहिये, ऐसा हुआ नही; अतः तद्घटत्वविशिष्ट तद्घट तद्घट का स्वरूप नही होगा; परन्तु होता है; अतः लक्षण में अव्याप्ति दोष है)। इस अव्याप्तिदोष के निवारण के लिए शंका करते है कि- लक्षणघटित अत्यन्ताभाव में प्रतियोगिविरोधित्व विशेषण देना चाहिये, इसी से पूर्वोक्त दोष नहीं आयेगा, क्योंकि संयोगात्यन्ताभाव प्रतियोगी संयोग का विरोधी नहीं, दोनों ही एकाधिकरण में रह सकते है। इसका समाधान यह है कि—ऐसा मानना उचित नहीं; क्योंकि उस अत्यन्ताभाव को अपने प्रतियोगी का अविरोधी

ऽभावापत्तेः । प्रतीतिरैकाधिकरण्येन वर्तत इति चेत्, तर्हि भावाऽभावरूपत्वं त्यज्यताम् ।

किञ्च–भावाऽभावयोर्विरोधित्वं मुख्यम्, तद्वाचकत्वञ्च गोत्वाऽश्वत्वादीनाम्; तयोश्चेदैकाधिकरण्यं त्वया स्वीकृतम्; नूनं गोत्वाऽश्वत्वयोरपि स्वीकरिष्यसि । तत्र सामानाधिकरण्यप्रतीतिर्नास्तीति चेत्, प्रकृतेऽपि यदवच्छेदेन संयोगः, तदवच्छेदेन तदत्यन्ताभावो नास्तीति कुतः सामानाधिकरण्यप्रतीति? अथावयविन्येव संयोगो वर्तते तदभावश्च, अवयवस्तु तद्व्यावर्तक इत्येतावन्मात्रमुच्यते; न, अविरोधेन तयोरैकाधिकरण्ये एकाऽवयवाऽवच्छेदेनाऽपि वृत्तिः स्यात् । अथ–विरो-

मानोगे तो उसका अभावत्व ही नहीं रह जायेगा। यदि कहो कि दोनों की एकाधिकरणत्वरूप से प्रतीति होती है, तो उन दोनों के भावत्व और अभावत्व रूप का त्याग करना होगा।

किञ्च– भाव और अभाव में विरोधित्व मुख्य है, और उस मुख्यविरोधित्व को लेकर गोत्व अश्वत्वादि का भावाभाववाचकत्व गौणरूप से होता है (अर्थात् गोत्व भाव है और अश्वत्व गोत्वाभावरूप है; तथा अश्वत्व भाव है और गोत्व अश्वत्वाभावरूप है—इस प्रकार गौणरूप से प्रयोग होता है)। यदि आपने मुख्य विरोधी भाव और अभाव का एकाधिकरणत्व मान लिया है तो आप अवश्य ही गौण विरोधी गोत्व और अश्वत्व का भी एकाधिकरणत्व मानेंगे। यदि कहो कि गोत्व और अश्वत्व में एकाधिकरणत्व की प्रतीति नहीं होती; तो प्रकृत में भी जिस अवच्छेद से संयोग है, उस अवच्छेद से संयोगात्यन्ताभाव नहीं है, तब कैसे दोनों के समानाधिकरणत्व की प्रतीति होगी? शंका– अवयवी में ही संयोग और उसका अभाव रहते हैं, अवयव तो उनका व्यावर्तक है–इतना ही हम कहते हैं। समाधान– नहीं; विरोध से रहित होकर उन दोनों का एकाधिकरणत्व होने पर तो एकावयवावच्छेद से भी दोनों की वृत्ति होनी

धान्न तयोरेकावच्छेदेन वृत्तिः; तर्हि विरोधाद्भावाऽभावयोरेकस्मिन् वृत्तिर्गीर्वाणैरपि दुर्भणेति सामानाधिकरण्यबुद्धिर्भ्रम एवाऽवतिष्ठते ।

किञ्च– अभावस्य निर्धर्मकत्वादुक्तलक्षणाऽभावात्स्वरूपशब्दवाच्यत्वाऽनुपपत्तिः । न च– तत्राऽप्यभावत्वं प्रतियोगित्वादिकं वा यत्किञ्चिद्धर्मोऽभ्युपेयः, तथा च तस्याऽपि यया कयाचिद् वृत्त्या स्वनिष्ठधर्मात्यन्ताभावासमानाधिकरणधर्मवत्त्वस्य विद्यमानतया स्वरूपशब्दवाच्यत्वं स्यादिति– साम्प्रतम्; अभावत्वप्रतियोगित्वयोर्वक्तुमशक्यत्वात् । न चैवमर्थान्तरम्; प्रकृताऽनुपयोगित्वाभावात्, सिद्धेऽभावत्वादिधर्मे प्रकृतलक्षणस्य तत्र वक्तुं शक्यत्वात्; अन्यथाऽसिद्धे-

चाहिये। यदि कहो कि विरोध होने से दोनों की एकावच्छेद से वृत्ति नहीं है, तो उसी प्रकार विरोध होने से भाव और अभाव दोनों की एकाधिकरण में वृत्ति देवताओं के द्वारा भी कही नहीं जा सकती। अतः एकाधिकरणत्व की बुद्धि भ्रम ही सिद्ध होती है।

किञ्च –अभाव निर्धर्मक होता है, अतः उसमें स्वनिष्ठधर्मात्यन्ताभावादि उक्तलक्षण का अभाव होने से स्वरूपशब्दवाच्यत्व की अनुपपत्ति होगी। शंका– उसमें भी अभावत्व या प्रतियोगित्वादि कोई न कोई धर्म मानना चाहिये; तब तो उसका (अभाव का) भी किसी एक वृत्ति से स्वनिष्ठधर्मात्यन्ताभावासमानाधिकरणधर्मवत्त्व विद्यमान होने से स्वरूपशब्दवाच्यत्व होगा। समाधान–इस प्रकार कहना युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि अभावत्व और प्रतियोगित्व का निर्वचन नहीं किया जा सकता। शंका– इस प्रकार तो प्रकृतानुपयुक्तत्वरूप अर्थान्तर हो जायेगा। समाधान– ऐसा नहीं होगा; क्योंकि प्रकृत मे अनुपयोगित्व का अभाव है (अर्थात् प्रकृतलक्षण के विचार में अभावत्वादि की उपयोगिता है)। क्योंकि अभावत्वादि धर्म सिद्ध होने पर ही उनमें प्रकृत लक्षण कहा जा सकता है; अन्यथा

नाऽसिद्धं साधयतो महानैयायिकत्वापत्तेः ।

अथ– अस्त्वभावत्वं जातिस्वरूपम्, अनुगतप्रत्ययस्य तत्साधकस्य विद्यमानत्वादिति– चेन्न; अभावत्वजातिवृत्त्यन्याऽभावे तद्वृत्तेर्वक्तुमशक्यत्वात् । अभावे च जात्यङ्गीकारे तन्न्यायेन सत्तास्वीकारापत्तौ राद्धान्तविपरीताऽभ्युपगमो भावत्वापत्तिश्च; सत्तायोगित्वस्यैव भावत्वात् । अथ– अस्तु भावविरोधित्वं तल्लक्षणं,विरोधित्वञ्च सहाऽनवस्थाननियम इति चेन्न; अवस्थानस्याऽनवस्थानाभावरूपत्वेनाऽऽत्माश्रयापत्तेः । नाऽपि भावभिन्नत्वम्, भेदस्याऽन्योन्याभावरूपत्वे उक्तदोषत्वापत्तेः, अभावाधिकरणकाऽभावाऽनङ्गी-

असिद्ध से असिद्ध को सिद्ध करने वाले आप में महानैयायिकत्व की आपत्ति होगी ।

शंका–ठीक है, अभावत्व जातिस्वरूप ही है, क्योंकि जाति-साधक अनुगत प्रत्यय (बुद्धि) उसमें विद्यमान है । समाधान–नहीं; क्योंकि अभावत्वजाति में रहने वाले अन्याभाव में अभावत्वजाति की वृत्ति कहीं नहीं आ सकती । और अभाव में जाति मानोगे तो उसी न्याय से उसमें सत्ताजाति की स्वीकारापत्ति होने पर स्वसिद्धान्त के विरुद्ध अङ्गीकार और भावत्व की आपत्ति होगी, क्योंकि तुम्हारे मत में सत्तायोगित्व ही भावत्व है । शंका–ठीक है; भावविरोधित्व अभाव का लक्षण है, विरोधित्व तो सहानवस्थाननियमरूप है । समाधान–ऐसा नहीं; क्योंकि अवस्थान अनवस्थान का अभावरूप है; तब तो सहावस्थान का अभाव–अभाव है–ऐसा लक्षण होने पर आत्माश्रय दोष होगा । और भावभिन्नत्व भी अभावत्व नहीं हो सकता; कारण कि भिन्नत्वशब्द से कथित भेद को अन्योन्याभावरूप मानोगे तो आत्माश्रयरूप उक्तदोष आवेगा; और अभावाधिकरणक अभाव अङ्गीकार नहीं किया जाता । यदि भेद को स्वरूप मानोगे

कारान्तर । स्वरूपरूपत्वे तु तस्य तत्तदभावव्यक्तिरूपत्वेन स्ववृत्त्यनुपपत्तौ स्वरूपलक्षणत्वाऽनुपपत्तिः, अभावपदसमयग्रहाऽसंभवश्च । न च– प्रतियोगिनिरूपणाऽधीननिरूपणत्वं तदिति–वाच्यम्; प्रतियोगित्वं यदि विरोधित्वम्, तदाऽभावघटितं तत् । अथाऽभावविरहात्मकम्, तथापि तथैव । अथ स्वभावविशेषत्वम्, तदाऽतिप्रसक्तम् । नह्यन्यस्य स्वभावः स्वभावो न भवति, न वा विशेषो न भवति । संबन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यत्वं तदिति चेत्; तदप्यनुगतरूपाऽपरिचये कथं स्यात्? अतीतेऽनागते प्रतियोगिनि तदसंभवाच्च । तज्ज्ञानस्य च तथात्वेन तस्यैव प्रतियोगित्वा-

तो वह तत्तदभावव्यक्तिरूप ही होने से स्वमें स्ववृत्ति असम्भव होने के कारण स्वरूपत्व का लक्षण उसमें नहीं आ सकेगा; और अभावपद का शक्तिग्रह भी असम्भव होगा।

शंका- प्रतियोगिनिरूपण के अधीन जिसका निरूपण हो, वही अभाव है। समाधान– ऐसा भी नहीं कहना चाहिये; कारण कि-यदि प्रतियोगित्व का अर्थ विरोधित्व है, तो वह अभावघटित होगा; यदि अभावविरहात्मकत्व हो,तो भी वह अभावघटितत्व दोष होगा ही (अर्थात् आत्माश्रय होना अनिवार्य है)। और यदि स्वभावविशेषत्व प्रतियोगित्व हो, तो अतिप्रसङ्ग होगा; क्योंकि अन्य का स्वभाव स्वभाव न हो, अथवा विशेष न हो, ऐसा नहीं है, (अर्थात् अन्यका भी स्वभावविशेष होता ही है, अतः उसमें अतिप्रसङ्ग होगा)। यदि कहो कि सम्बन्धान्तर (संयोग और समवायसम्बन्ध) के बिना विशिष्टज्ञानजननयोग्यत्व प्रतियोगित्व है, तो वह विशिष्टज्ञानजननयोग्यत्व भी अनुगत किसी एक धर्म (योग्यतावच्छेदकधर्म) के परिचय के बिना कैसे होगा? और अतीत तथा अनागत प्रतियोगी में वह योग्यत्व असम्भव भी है। और प्रतियोगिविषयक ज्ञान में सम्बन्धान्तर के बिना विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यत्व होने से प्रतियोगिज्ञान का

पत्तेः । अन्यच्चाऽभावत्वं प्रतियोगित्वञ्च दुर्भणमेव । अथ- द्रव्यादिषट्काऽत्यन्ताभावत्वमभावत्वमिति- चेन्न; प्रत्येक- मतिव्याप्तेः । अभावकूटो यत्रेति- चेन्न; अभावकूट एवा- ऽव्याप्तेः । तत्र च तद्वृत्तावात्माश्रयापत्तेः; अन्यस्य स्वी- कारेऽनवस्थानात् । किञ्च- अत्यन्ताभावत्वमप्यभावज्ञाना- धीनज्ञानम्; न हि घटत्वेऽज्ञाते नीलघटत्वं शक्यज्ञानम् । तथा चाऽत्माश्रयः । अथ- अखण्ड उपाधिरेवाऽभावत्वमस्तु,

ही प्रतियोगित्व होने लगेगा (अभिप्राय यह है कि अभावज्ञान के लिये प्रतियोगिज्ञान की आवश्यकता है। प्रतियोगिघट का ज्ञान घटप्रति- योगिकाभावज्ञान का जनक है। अतः प्रतियोगिघटज्ञान में सम्बन्धा- न्तर माने विना घटप्रतियोगिकाभावज्ञानरूप विशिष्टप्रत्यय की जननयोग्यता होने से उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति होगी)।

और पूर्वोक्त निर्वचनों के अतिरिक्त अभावत्व और प्रतियोगित्व का निर्वचन असम्भव है। यदि कहो कि द्रव्यादिषट् का अत्यन्ताभा- वत्व ही अभावत्व है, तो ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्येक द्रव्यादि में द्रव्यादि- षट्कात्यन्ताभावत्व होने से अतिव्याप्ति है। पुनः यदि कहो कि द्रव्यादि छः भावपदार्थों का अभावसमुदाय जिसमें हो, वह अभाव है, तो भी अभावकूट में अव्याप्ति है, यदि अभावकूट में अभावकूट की वृत्ति मानोगे तो आत्माश्रय होता है, और अन्य अभावकूट का स्वीकार करने पर अनवस्था होगी। किञ्च - अत्यन्ताभावत्व भी अभावज्ञान के अधीन ज्ञान का विषय है; घटत्व अज्ञात होने पर नीलघटत्व का ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार सामान्याभाव के ज्ञान के विना विशेष अत्यन्ताभाव का ज्ञान नहीं हो सकता, अतः आत्माश्रय होता है। शंका— तत्ता और इदंता के समान अभावत्व भी अखण्डो- पाधि ही हो (नैयायिकों की परिभाषा में— निर्वचनानर्ह असमवेत और अनेकानुगत धर्म को अखण्डोपाधि कहते हैं। अतः यहां पर यह अभिप्राय हुआ कि अभावत्व निर्वचनायोग्य अखण्डोपाधि होने से उसका निर्वचन करने की आवश्यकता नहीं)। समाधान—ऐसा

तत्तेदंतावदिति चेन्न; तस्य पदार्थान्तरत्वापत्तेः। न च सामान्येऽन्तर्भावः, जात्यपलापाऽऽपत्तेः, गोत्वमप्यखण्डोपाधिरित्यस्यापि सुवचत्वात्। किञ्च– यद्यभावे प्रतियोगिरूपो विशेषः स्वीकार्यः, स च विशेषणं स्यादुपलक्षणं वा ? नाऽऽद्यः, अतीताऽनागतादेर्विशेषणत्वाभावापत्तेः; असतोऽपि च विशेषणत्वस्वीकारे लोकविरोधः। तदानीं तत्र विद्यमानस्य च तद्विशेषणत्वे पाकरक्ते घटे श्यामस्य विशेषणत्वापत्तिः; "इदानीं श्यामः" इत्यस्याऽपि प्रत्ययस्य प्रमात्वा-

नहीं हो सकता; कारण कि ऐसा होने पर अखण्डोपाधि के सप्तपदार्थभिन्नपदार्थान्तरत्व की आपत्ति होगी। और उसका सामान्य में अन्तर्भाव भी नहीं हो सकता; क्योंकि जातिमात्र का अपलापप्रसङ्ग होगा (अर्थात् सब जाति अखण्डोपाधि हो जायेगी)। और (समवायादि की असिद्धि होने से) गोत्वादि भी अखण्डोपाधि है- ऐसा भी कह सकते हैं।

किञ्च– यदि अभाव में प्रतियोगिरूप विशेष स्वीकार्य है, तो वह प्रतियोगी अभाव का विशेषण है, या उपलक्षण ? आद्य पक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि अतीत अनागतादि प्रतियोगी में विशेषणत्वाभाव की आपत्ति आती है; और असत् (अविद्यमान) प्रतियोगी का विशेषणत्व मानने पर लोकव्यवहार से विरोध होगा (क्योंकि विशेष्यान्वित विद्यमान पदार्थ को ही लोक में विशेषण कहा जाता है)। और अतीत अथवा अनागत किसी भी समय धर्मी में विद्यमान धर्म उसका विशेषण होता है—ऐसा मानोगे तो पाक से रक्त घट में श्याम की विशेषणता की आपत्ति होगी (क्योंकि अतीतकाल में घट श्याम रहा, विशेषण होने के लिये धर्म धर्मी में किसी भी समय एकबार होना चाहिये। और जिस समय धर्मी में धर्म विद्यमान है, उस समय वह विशेषण है– इस पक्ष में तो अतीतादि प्रतियोगी में विशेषणत्व का अभावप्रसङ्ग पहले ही कह चुके हैं)। और पाकरक्त घट का श्याम विशेषण होने पर "इस समय घट श्याम है" इत्यात्मक ज्ञान

पत्तिः। तथा चाऽसन् प्रतियोगी अभावे विशेष इति वदन् बालैरप्युपहास्यः। एवमुपलक्षणपक्षेऽपि दोषो देयः।

ननु– प्रतीयते तावद्घटाभाव इति, तथा चाऽन्यस्य विशेषस्य वक्तुमशक्यत्वाद् घट एवाऽसन्नपि विशेष स्वीक्रियते; प्रतीतेर्दुर्लंघ्यत्वात्; अन्यथा तवाऽप्यप्रतीकारादिति। न; प्रतीतिमात्रस्य वस्त्वसाधकत्वात्, युक्तिबाधस्य चोक्तत्वात्। ममत्वनिर्वचनीयतैव शरणम्। तदुक्तम्––

के प्रमात्व की आपत्ति होगी। तब तो अविद्यमान प्रतियोगी को अभाव में विशेष कहने वाले आप बालकों से भी उपहास्य ही हैं। उपलक्षण पक्ष में भी इसी प्रकार दोष देना चाहिये (इसको इस प्रकार समझना चाहिये– यदि प्रतियोगी को अभाव का उपलक्षण मानोगे तो प्रतियोग्युपलक्षित अभाव कहना होगा। इसमें पुनः प्रश्न उठता है कि प्रतियोग्युपलक्षितत्व अभाव का विशेषण है, या उपलक्षण ? विशेषण पक्ष में मूलोक्त दोष पूर्ववत् होगा और उपलक्षणपक्ष में आगे दौड़ने पर अनवस्था होगी। इसके अतिरिक्त "काकवद्गृह" इत्यादि उपलक्षणस्थल में काकप्रतीति के विना भी गृहप्रतीति जिस प्रकार होती है, उसी प्रकार प्रतियोगी की प्रतीति के बिना भी अभावप्रतीति होने लगेगी। इसमें इष्टापत्ति भी नहीं हो सकती, कारण कि नैयायिक लोग अभाव को सविकल्पकज्ञानैकगम्य मानते हैं। अतः इष्टापत्ति मानने पर अपसिद्धान्तापत्ति अवश्य आती है)।

शंका –"घटाभाव" ऐसा तो प्रतीत होता है; इस लिए उसमें अन्य विशेष का कथन असम्भव होने से घट ही असत् (अविद्यमान) होता हुआ भी विशेष माना जाता है, कारण कि प्रतीति दुर्लंघ्य होती है, यदि प्रतीति को नहीं मानोगे तो तुम्हारा भी प्रतीकार होना असम्भव है।

समाधान– नहीं; क्योंकि प्रतीति मात्र वस्तुसाधक नहीं हो सकती। युक्ति से प्रतीति का बाध तो पहले ही कह चुके हैं। मेरी तो अनिर्वचनीयता ही शरण है। इसलिए कहा भी है–

समस्तलोकशास्त्रैकमत्यमाश्रित्य नृत्यतोः ।
का तत्रास्तु गतिस्तत्तद्वस्तुधीव्यवहारयोः ॥
(खं०का०१।३९)

इति प्रश्नादुत्तरम्—

उपपादयितुं तैस्तैर्मतैरशकनीययोः ।
अनिर्वक्तव्यतावादपादसेवा गतिस्तयोः ॥
(खं०का०१।४०)

तस्मान्न स्वरूपभेदपक्षे भेदशब्दसंकेतग्रहसम्भव इति सिद्धम् । अतएवेदमप्यपास्तम्— स्वरूपमित्युक्ते सकलस्वरूपोपस्थितौ विशेषप्रतिपादनाय घटस्वरूपं पटस्वरूपमिति तत्तत्समभि-

"इस प्रकार से कोई भी पदार्थ सिद्ध नहीं होगा तो समस्त लोक और शास्त्र के ऐकमत्य का आश्रय लेकर अर्थात् लोक और शास्त्र से समर्थित होकर निर्बाध चलने वाले "यह घट है, यह पट है" इस प्रकार के तत्तद्वस्तुविषयकज्ञान और उन वस्तुओं का व्यवहार इन दोनों की उस परिस्थिति में गति क्या होगी ?" इस प्रश्न का उत्तर यह है—"द्वैतवादियों के उन उन मतों से प्रतिपादन करने में अशक्य तत्तद्वस्तुविषयकज्ञान और उन वस्तुओं का व्यवहार इन दोनों की गति तो अनिर्वचनीयतावाद की चरणसेवा ही है— अर्थात् व्यावहारिक सब पदार्थों को सत् और असत् से विलक्षणरूप अनिर्वचनीय मान कर चलना ही इन दोनों की गति है, इसके अतिरिक्त गति नहीं।" अतः घटादि का स्वरूप भेद ही है— इस पक्ष में भेद-शब्द का शक्तिग्रह सम्भव नहीं है— यह सिद्ध हुआ ।

अतएव—"स्वरूप" इस प्रकार कहने पर सकल स्वरूप की उपस्थिति हो जाने पर विशेषस्वरूप के प्रतिपादन के लिये "घट-स्वरूप", "पटस्वरूप" इस प्रकार तत्तद्वस्तु के सहित स्वरूपशब्द के उच्चारण करने का प्रयत्न है। और "स्वनिष्ठधर्मात्यन्ताभाव" इत्यादि से प्रतिपादित यह धर्म ही घटस्वरूप का भेदत्वहै; इस भेदत्व-

व्याहारप्रयत्नः । अयमेव च धर्मो घटस्वरूपस्य भेदत्वम्; एतत्प्रकाराऽवच्छेदेन ज्ञायमानो घट इतरनिरूपणाधीननिरूपणः, न तु संहतोपाधिः, उपहितप्रत्ययाऽयोगादिति;—स्वरूपत्वस्यैकस्य वक्तुमशक्यत्वात्, सकलोपस्थित्यसंभवात्; उक्तरूपाऽपरिज्ञानेऽपि भेदप्रतीतितच्छब्दप्रयोगदर्शनात् । किञ्च— अयमपि प्रकारो घटत्वादिरेव, तस्य च ज्ञाने प्रतियोगिज्ञानाऽनपेक्षणात् । उक्तश्चात्र पक्षे विस्तरेण दोषः । किञ्च— यदि स्वरूपं तद्भेदः, तदा शुक्तिस्वरूपे दृष्टे रजताद्भेदो गृहीत इत्यभेदाऽऽरोपो न स्यात्, न स्याच्च दूरादनभिव्यक्तकरचरणादिपुरुषस्वरूपे दृष्टे स्थाणुर्वा, पुरुषोवेति संशयः ।

रूप विशेषण से विशिष्ट होकर ज्ञायमान घट प्रतियोगिनिरूपण के अधीन निरूपण वाला होता है, न कि उपाधियुक्त; क्योंकि उपहित (उपाधियुक्त) घट का ज्ञान नहीं हो सकता—इस प्रकार का कथन भी निराकृत हुआ; कारण कि सब में अनुगत एक स्वरूपत्व का कथन नहीं हो सकता; क्योंकि सब की उपस्थिति होना असम्भव है; तथा उक्तलक्षणलक्षित भेदत्व धर्म का ज्ञान न होने पर भी भेद की प्रतीति और भेदशब्द का प्रयोग देखने में आता है। किञ्च—यह जो विशेषणरूप धर्म कहा गया है, वह भी घटत्वादि ही है; क्योंकि उसका ज्ञान होने पर प्रतियोगिज्ञान की अपेक्षा नहीं होती। और इस पक्ष में "तत्किं घटत्वादधिकम्" इत्यादि से विस्तारपूर्वक दोष कह चुके हैं। किञ्च— स्वरूप ही उस वस्तु का भेद है, तो शुक्तिस्वरूप दिखने पर उसका रजत से भेद गृहीत हुआ, तब तो उसमें रजत के अभेद का आरोप नहीं होना चाहिये; तथा दूर से अनभिव्यक्तकरचरणादि वाले पुरुष का स्वरूप दिखने पर—यह स्थाणु है या पुरुष ? इस प्रकार संशय भी नहीं होना चाहिये।

ननु– न भेदमात्रं संशयविपर्ययोर्विरोधि, किं त्वारोप्यारोपविषयगतधर्मयोरन्योन्यस्मिन्नभावदर्शनम्; आरोप्यधर्मस्याऽरोपविषये व्यतिरेकदर्शनम् वा, भेदत्वेन भेददर्शनम् वा, तथैवाऽवधारणादिति चेत्– तर्हि तस्यैव भेदत्वं स्यात्; न तु धर्मिणः; लाघवसत्त्वात्, तज्ज्ञानस्य भ्रमसंशयविरोधित्वेन विशेषदर्शनत्वात् । भेदशब्दवाच्यं च तदेव रूपम्, न धर्मिस्वरूपम् । तथा च वृत्तिविकल्पभिया पलायमानस्य तत्रैव निपातः । तथा च स्वरूपं भेद इति रिक्तं वचः । किञ्च– घटस्वरूपं यदि भेदः स्यात्; तदा कथमन्यदपेक्षि-

शंका– भेदमात्र संशय और भ्रम का विरोधी नहीं है; किन्तु आरोप्यगत (रजतादिगत) धर्म और आरोपविषय अधिष्ठानगत (शुक्त्यादिगत) धर्म, इन दोनों का परस्पर (आरोप्य और अधिष्ठान) में अभावदर्शन, या आरोप्यधर्म (रजतत्वादि) का आरोपविषय अधिष्ठान (शुक्तादि) में अभावदर्शन, या भेदत्वरूप से भेद का दर्शन, या आरोप्य धर्म (रजतत्वादि) के अधिकरण (हट्टस्थ-रजतादि) और आरोपविषय अधिष्ठान (पुरोवर्त्तिशुक्त्यादिपदार्थ) में अन्योन्याभाव (परस्पर भेद) का दर्शन–ये सभी संशय और भ्रम के विरोधी हैं; क्योंकि वैसा ही अवधारण (निश्चय) होता है।

समाधान– तब तो उस धर्म का ही भेदत्व होगा, धर्मी का तो होगा नहीं; क्योंकि उसमें लाघव है (धर्मविशिष्ट धर्मी में कल्पना करने के बदले धर्ममात्र में कल्पना करने पर यदि उद्देश्य सिद्ध होता है तो लाघव कहलाता है; अतः आगे उद्देश्यसिद्धि दिखाते हैं)– कारण कि धर्मज्ञान का ही भ्रम और संशय से विरोधित्व होने से विशेषदर्शनत्व है। इस प्रकार भेदशब्दवाच्य भी वही धर्म है, न कि धर्मिस्वरूप; तब तो वृत्तिविकल्प के भय से पलायमान आपका उसी में निपात हुआ। अतः स्वरूप ही भेद है–यह वचन व्यर्थ है। किञ्च–यदि घटस्वरूप भेद है तो क्यों अन्य (प्रतियोगी) की अपेक्षा

तम् ? नहि नीलमन्याऽपेक्षया नीलं भवति; किं तर्हि ? स्वत एव तत्, तथा घटस्वरूपमपि भेदः स्यात्, नाऽन्यदपेक्षेत । यदि घटः प्रतियोगिना निरूप्यमाणो भेदः स्यात्, नीलमपि केनचिन्निरूप्यमाणं पीतं स्यात् । न चैतदस्ति । न चाऽऽपादकाभावः, अन्यस्याऽन्येन निरूपणेऽन्यात्मताऽभ्युपगमे त्वयैव व्याप्तेरभ्युपगन्तव्यत्वात् । अन्यथा कथं पटेन निरूप्यमाणो घटो भेदः ? अथ– अविरुद्धयोर्घटत्वभेदत्वयोरस्तु समावेशः, अविरुद्धत्वादेव; विरुद्धयोस्तु नीलत्वपीतत्वयोः कथं तथा स्यादिति– चेन्न; घटत्वभेदत्वयोरविरोधाऽसिद्धेः । यथाहि नीलपीतयोर्विलक्षणप्रतीतिवेद्यत्वम्, तथा तयोरपि; सप्रतियोगिको हि भेदः प्रतीयते– "अयमस्माद्भेदः" इति;

है ? नील अन्य की अपेक्षा से नील नहीं होता; किन्तु वह स्वतः ही होता है । उसी प्रकार घटस्वरूप भी भेद हो तो अन्य की अपेक्षा नहीं होनी चाहिये । यदि घट प्रतियोगी से निरूप्यमाण होकर भेद है तो नील भी किसी से निरूप्यमाण होकर पीत होना चाहिये; ऐसा तो होता नहीं । और नील के पीत होने में आपादक नहीं है- ऐसा भी तुम नहीं कह सकते; कारण कि अन्य का अन्य से निरूपण होने पर अन्यस्वरूपत्व मानने के कारण आपको "यदन्येन निरूप्यते, तदन्यस्वरूपं भवति" यह व्याप्ति माननी ही होगी । यदि यह व्याप्ति नहीं है तो पट से निरूप्यमाण घट किस प्रकार भेद होगा ? शंका- अविरुद्ध घटत्व और भेदत्व का एक ही घटस्वरूप में समावेश भले ही हो, क्योंकि दोनों में विरोध नहीं; किन्तु विरुद्ध नीलत्व और पीतत्व का किस प्रकार एक में समावेश होगा ? समाधान— घटत्व और भेदत्व के विरोध की असिद्धि होने से तुम उस प्रकार कह नहीं सकते जिस प्रकार नील और पीत विलक्षण प्रतीति से ज्ञेय हैं, उसी प्रकार घटत्व और भेदत्व भी हैं । क्योंकि "यह इससे भेद है" इस प्रकार सप्रतियोगिक भेद प्रतीत होता है, और "यह घट है" इस प्रकार

निष्प्रतियोगिकस्तु घटः । तथा च प्रतीतिवैलक्षण्येऽपि यद्ये-कत्र समावेशोऽन्यत्राऽपि स्यादेवेति व्यवस्थायां तु रुचिरेव तव प्रमाणं वेदद्वेषो वा ।

किञ्च– स्वरूपं वा भवतु भेदोऽन्योन्याभावो वा, सर्वथा तत्प्रतीतावभेदज्ञानमुपजीव्यम् । घटपटयोर्हि तादात्म्यं निषे-ध्यम् । तथा चोपजीव्यं स्वभेदज्ञानमेव प्रमा, न तु विपरीत-मेतत् । भेदाऽभावो ह्यभेदस्तादात्म्यं वा, तथा च भेदप्रतीतिं विनाऽभेदबुद्धिरेव न भवतीति– चेत्; तर्ह्यन्योन्याश्रयग्रस्त-त्वादेकमपि न स्यादित्यागतम् । ननु–भेदशब्दाद्भेदप्रतीताव-

घट तो निष्प्रतियोगिक प्रतीत होता है। तब तो प्रतीति की विल-क्षणता रहने पर भी यदि एक में घटत्व और भेदत्व का समावेश है तो दूसरे में भी समावेश होना ही चाहिये अर्थात् दृश्यप्रपञ्च का अद्वितीय ब्रह्म के साथ अभेद होना चाहिये। घटत्व और भेदत्व का तो घटस्वरूप में समावेश हो सकता है, किन्तु द्वैतप्रपञ्च का ब्रह्म के साथ अभेद तो नहीं हो सकता— इस प्रकार की व्यवस्था में तो तुम्हारी रुचि ही प्रमाण है, अथवा तुम्हारा वेद से द्वेष है।

किञ्च—भेद चाहे स्वरूप हो, या अन्योन्यभाव; सर्वथा भेद की प्रतीति में अभेदज्ञान ही उपजीव्य है; क्योंकि घट और पट का तादात्म्य निषेध का विषय है। तब तो उपजीव्य अभेदज्ञान ही प्रमा है, उसके विपरीत नहीं हो सकता। शंका – भेद का अभाव ही अभेद या तादात्म्य है, अतः प्रथम भेद की प्रतीति के विना अभेद-बुद्धि हो ही नहीं सकती। समाधान— तब तो अन्योन्याश्रय से ग्रस्त होने के कारण दोनों में से एक भी सिद्ध नहीं होगा— यह बात आ गई (घट और पट के अभेद या तादात्म्य का निषेध होने पर भेद की सिद्धि; और भेद सिद्ध होने पर अभेद या तादात्म्य की सिद्धि— इस प्रकार अन्योन्याश्रय है)।

शंका— भेदशब्द से भेद की प्रतीति होने में अभेदज्ञान की

भेदज्ञानं नाऽपेक्षते– इति चेत्; भ्रान्तोऽसि, प्रत्यक्षेण भेदाऽसिद्धौ शब्दसंकेतग्रहो दूरतः एव; कुतस्ततः प्रतीतिसंभावनाऽपि; मम त्वनिर्वचनीयतैव शरणम् । सर्वधियाञ्च भेदाऽविषयत्वमतद्व्यावृत्तिवैशिष्ट्यनिराकरणेन प्रागेव दर्शितम् । तस्मात्सर्वधियां भेदोल्लेखित्वमिति मनोरथमात्रम् ।

इति भेदस्वरूपत्वनिरासः ॥११॥

अपेक्षा नहीं है (अतः अन्योन्याश्रयदोष नहीं हो सकता)। समाधान- इस विषय में तुम भ्रान्त हो, क्योंकि प्रत्यक्ष से भेद की असिद्धि होने पर उसमें शब्द का शक्तिग्रह तो दूर ही रहा (प्रत्यक्ष से भेद सिद्ध नहीं होता, यह बात पहले प्रतिपादित हो चुकी है)। तब तो भेद-शब्द से भेदप्रतीति की सम्भावना भी कैसे हो सकती है ? मेरे मत में तो अनिर्वचनीयता ही शरण है। सब बुद्धियों का भेदाविषयत्व तो अतद्व्यावृत्ति और वैशिष्ट्य के निराकरण से पहले ही दिखलाया गया है। अतः सब बुद्धियों का भेदविषयत्व कहना तो मनोरथमात्र है।

इति भेदस्वरूपत्वनिरासस्याऽनुवादः ॥११॥

अथ भेदपारमार्थिकतानिरासः ॥१२॥

ननु– "घटपटौ न भिन्नौ" इति किं पारमार्थिको भेदो निषिध्यते, उताऽपारमार्थिकः ? नाऽऽद्यः; तस्य निषेद्धुमशक्यत्वात्; अन्यथाऽऽत्मनोऽपि निषेधापत्तेः । न द्वितीयः, तन्निषेधेऽपि मदभ्युपगतपारमार्थिकभेदाऽनिषेधात् सिद्धं नः समीहितमिति– चेन्न; लोकसिद्धस्य भेदस्य निषिध्यमानत्वात् । अन्यथा किं पारमार्थिकाऽभेदो निषिध्यते, उताऽपारमार्थिकः ? आद्ये तस्य निषेधानुपपत्तिः । द्वितीये मदभ्युपगताऽभेदस्याऽनिषेधात्सिद्धं नः समीहितमित्यस्याऽपि सुवचत्वात् । किञ्च– अपारमार्थिको भेदो निराक्रियत इत्येवो-

अथ भेदपारमार्थिकतानिरासस्यानुवादः ॥१२॥

शंका— "घट पट से भिन्न नहीं" इससे पारमार्थिक भेद का निषेध है ? अथवा अपारमार्थिक भेद का ? आद्य पक्ष सम्भव नहीं; क्योंकि पारमार्थिक भेद का निषेध नहीं हो सकता; अन्यथा आत्मा के भी निषेध की आपत्ति आयेगी । द्वितीय पक्ष भी मान्य नहीं; कारण कि अपारमार्थिक भेद का निषेध होने पर हमारे माने हुए पारमार्थिक भेद का निषेध न होने से हमारा इष्ट सिद्ध होता है ।

समाधान— ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि यहा लोकसिद्ध अर्थात् व्यावहारिक भेद ही निषेध का विषय है । यदि लोकसिद्ध नहीं मानोगे तो (यह भी तो विकल्प हो सकता है कि) तुम्हारे द्वारा निषिध्यमान अभेद क्या पारमार्थिक है, अथवा अपारमार्थिक ? आद्य पक्ष में पारमार्थिक अभेद का निषेध नहीं हो सकता । द्वितीय पक्ष में तो हमारे माने हुए अभेद का निषेध न होने से हमारा इष्ट सिद्ध होता है– इस प्रकार हम भी कह सकते हैं । किञ्च— अपारमार्थिक

तरम् । न चैतावता पारमार्थिकस्याऽवस्थानम् । भेदस्य युक्त्यसहत्वेन पारमार्थिकत्वाऽनुपपत्तेः । तवाऽऽग्रहमात्रेण पारमार्थिकत्वं त्वनादरणीयमेव । किञ्च-- अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानमात्रमपेक्ष्यते, न तु तत्प्रमात्वमपि, व्यतिरेकाऽभावेन तस्याऽप्रयोजकत्वात् । न च- तथासति अप्रमितभेदनिराकरणेनाऽप्युपपत्तौ प्रमितो भेदः स्थास्यतीति- वाच्यम्; युक्त्यसहत्वेन भेदस्य प्रमितत्वाऽभावस्योक्तत्वात् । अन्यथा क्वापि परपक्षनिराकरणं न स्यात् ।

इति भेदपारमार्थिकतानिरासः ॥१२॥

भेद का ही निराकरण है-यह हमारा उत्तर है। इतने से ही पारमार्थिक भेद का अवस्थान नहीं हो सकता; क्योंकि युक्ति के सामने टिक न सकने से भेद का प्रारमार्थिकत्व नहीं हो सकता। तुम्हारे आग्रहमात्र से मान्य पारमार्थिकत्व तो अनादरणीय ही है। किञ्च-अभावज्ञान में प्रतियोगिज्ञानमात्र की अपेक्षा है, प्रतियोगिज्ञान के प्रमात्व की नहीं; क्योंकि प्रतियोगिज्ञान के प्रमात्व का अभाव होने पर अभावज्ञान न होता हो-ऐसा नहीं है; अतः व्यतिरेक के अभाव से प्रमात्व की अभावज्ञान के प्रति प्रयोजकता नहीं।

शंका- तब तो अप्रमित भेद के निराकरण से भेद का निराकरण सम्भव होने पर प्रमित भेद रह जायेगा। समाधान- ऐसा मत कहो; क्योंकि युक्तिसह न होने से भेद के प्रमितत्व का अभाव पहले ही कह चुके हैं। युक्तिसह न होने पर भी यदि वस्तु सिद्ध मानी जाये तो कहीं भी परपक्ष का निराकरण नहीं हो सकेगा।

इति भेदपारमार्थिकतानिरासस्याऽनुवादः ॥१२॥

अथाऽद्वैतस्यब्रह्मनिष्ठत्वोपपादनम् ॥१३॥

ननु– श्रुत्या यदद्वैतं प्रतिपाद्यते, तत्किं घटादिनिष्ठं, किं वा ब्रह्मनिष्ठम्, उतोभयनिष्ठम् उतब्रह्मस्वरूपम् ? आद्ये भेदविरोधि भेदाऽविरोधि वा ? उभयथाऽपि भेदसिद्धिः; एकत्र विरोधनिरूपकतयाऽन्यत्र श्रुतिप्रतिपन्नाऽद्वैताऽविरोधादेव । अथ ब्रह्मनिष्ठमेवाद्वैतं धर्मान्तरम्, तदपि न; भेदविरोधित्वतदविरोधित्वाभ्यां भेदसिद्धिः । अथ– ब्रह्मप्रपञ्चोभयनिष्ठमद्वैतं नाम धर्मः श्रुतिप्रतिपाद्यः; तदाऽत्रापि पूर्ववदेव भेदसिद्धिः । अथ ब्रह्मस्वरूपमेवाऽद्वैतम्, तदा न नो

अथाऽद्वैतस्यब्रह्मनिष्ठत्वोपपादनाऽनुवादः ॥१३॥

शंका—श्रुति से जो अद्वैत प्रतिपादित किया जाता है, क्या वह घटादिनिष्ठ है ? या ब्रह्मनिष्ठ है ? या प्रपञ्च और ब्रह्म उभयनिष्ठ है ? या ब्रह्मस्वरूप ही है ? आद्यपक्ष में तो वह चाहे भेद का विरोधी हो अथवा भेद का अविरोधी हो-दोनों अवस्थाओं में भेद की सिद्धि होगी; क्योंकि घटादिनिष्ठ अद्वैत यदि भेदविरोधी है तो उस विरोध का निरूपक होकर भेद सिद्ध होगा; और यदि वह भेद का अविरोधी है तो श्रुति से ज्ञात अद्वैत से विरोध न होने के कारण भेद की सिद्धि होती हैं। ब्रह्मनिष्ठ अद्वैत धर्मान्तर ही है-यह द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं; क्योंकि भेदविरोधित्व और भेदाऽविरोधित्वरूप पूर्वोक्त विकल्प से ही भेद की सिद्धि होती है। और यदि ब्रह्म और प्रपञ्च उभयनिष्ठ अद्वैत नाम धर्म श्रुति से प्रतिपाद्य है, तो उसमें भी पूर्वोक्त युक्ति से ही भेद की सिद्धि होगी। यदि ब्रह्मस्वरूप ही अद्वैत है, तो उसमें हमारा कोई विवाद नहीं; क्योंकि श्रुति ने भेद

विवादः, श्रुत्या भेदस्याऽप्रतिक्षेपादिति– चेन्न; ब्रह्मणि सर्वद्वैताऽभावस्य श्रुत्या प्रतिपाद्यत्वात्। न च– एवं द्वैत-मध्ये ब्रह्मणोऽपि प्रवेशात्तन्निषेधोऽपि स्यादिति– वाच्यम्; निरधिष्ठानस्य निषेधस्याऽनुपपत्तेः।

"स एष नेति नेत्यात्माऽऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽगृह्यो नहि गृह्यते" (बृ०३।९।२६) इति मूर्ताऽमूर्तनिषेधेन ब्रह्ममात्रस्य परिशेषात्। तथा "तदेतद् ब्रह्माऽपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्" (बृ०२।५।१९), "एतद्वै तदक्षरं गार्गि-अस्थूलम्" (बृ०३।८।८) इत्यादिना स्थूलादिनिषेधेन ब्रह्ममात्रपरिशेषाच्च। तथा चाऽऽह भगवान् वेदव्यासः– "प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषे-

का निराकरण नहीं किया है, किन्तु ब्रह्म के स्वरूपमात्र का प्रतिपादन किया है।

समाधान-ऐसा नहीं; कारण कि ब्रह्म में सर्वद्वैत का अभाव ही श्रुति के द्वारा प्रतिपाद्य है। शंका—इस प्रकार से तो द्वैत के मध्य ब्रह्म का भी प्रवेश होने से उसका भी निषेध हो जायेगा। समाधान– ऐसा न कहो; क्योंकि अधिष्ठान से रहित निषेध सिद्ध नहीं हो सकता। जिसका "नेति नेति" ऐसा कह कर मधुकाण्ड (बृ० २।३।६) में निरूपण किया गया है, और "वह आत्मा अशीर्य है (नाश होने योग्य नहीं है), क्योंकि उसका नाश नहीं किया जा सकता, वह अगृह्य है (ग्रहण करने योग्य नहीं), क्योंकि उसका ग्रहण नहीं किया जाता।" इत्यादि से मूर्त और अमूर्त का निषेध करने के कारण ब्रह्ममात्र परिशेष रहता है। "यह जो ब्रह्म है, वह अपूर्व है (कारणरहित है), अनपर है (कार्यरहित है), अनन्तर है (उसके मध्य कोई विजातीय द्रव्य भी नहीं है), और अबाह्य है (उसके बाहर भी कुछ नहीं है)," "हे गार्गि! यही तो वही अक्षर ब्रह्म है, जो अस्थूल है" इत्यादि से स्थूलत्वादि के निषेध के द्वारा भी ब्रह्ममात्र परिशेष रहता है। वैसे ही भगवान् वेदव्यास जी ने भी

वति ततो ब्रवीति च भूयः" (ब्र०सू०३।२।२२) इति। तथा "नेह नानास्ति किञ्चन" (बृ०।४।४।१६) इति श्रुतिरपि ब्रह्मणि सर्वनिषेधप्रतिपादनेन ब्रह्म परिशिनष्टि, पराचष्टे-चाऽन्यत् सर्वमिति।

इत्यद्वैतस्य ब्रह्मनिष्ठत्वोपपादनम् ॥१३॥

कहा-"द्वेवाव ब्रह्मणोरूपे मूर्तं चैवाऽमूर्तञ्च" (बृ० २।३।१) इस प्रकार ब्रह्म का मूर्तामूर्तरूप प्रकृत है, जो इयत्ता परिमाण से परिच्छिन्न है, उनका ही "नेति नेति" (बृ० २।३।६) से निषेध किया गया है। क्योंकि निषेध करने के बाद पुनः "अन्यत्परमस्ति" (बृ० २।३।६) अर्थात् "इसके अतिरिक्त अन्य है" इस प्रकार श्रुति कहती है; अतः ब्रह्म परिशेष है। तथा "इसमें नाना कुछ भी नहीं है।" यह श्रुति भी ब्रह्म में सर्व द्वैत के निषेधप्रतिपादन के द्वारा ब्रह्ममात्र परिशेष बताती है, और अन्य सब का निषेध करती है। अतः शुद्ध अद्वैत ब्रह्म सिद्ध होता है।

इत्यद्वैतस्य ब्रह्मनिष्ठत्वोपपादनस्याऽनुवादः ॥१३॥

अथाऽद्वैतस्य ब्रह्मतद्भिन्नस्वरूपत्वाद्युपपादनम् ॥१४॥

ननु– अत्र द्वैतनिषेधोऽपि ब्रह्मभिन्नो न वा ? न प्रथमः, तस्यैव द्वितीयत्वात् द्वैतमात्रनिषेधाऽनुपपत्तेः; तस्य च पारमार्थिकत्वे तत्प्रतियोगिनो जगतोऽपि पारमार्थिकत्वापत्तेः । तथा च नेष्टसिद्धिः । न चरमः; तथापि द्वैतमात्रनिषेधाऽसिद्धेः, ब्रह्मण एव द्वितीयस्य सिद्धेरिति– चेन्न; उभयथापि दोषाऽभावात्, भावाऽद्वैतस्वीकारात् प्रथमो न दुष्टः । न च प्रतियोगिनोऽपि पारमार्थिकत्वापत्तिः; निषे-

अथाऽद्वैतस्य ब्रह्मतद्भिन्नस्वरूपत्वाद्युपपादनाऽनुवादः ॥१४॥

शंका– ब्रह्म में द्वैतनिषेध भी ब्रह्म से भिन्न है, या अभिन्न ? प्रथम पक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि द्वैतनिषेध ही द्वितीय पदार्थ होने से द्वैतमात्र का निषेध नहीं हो सकता; और उस द्वैतनिषेध का पारमार्थिकत्व होने पर उसके प्रतियोगी जगत् का भी पारमार्थिकत्व होगा । तब तो इष्टसिद्धि नहीं होगी । अन्तिम पक्ष भी नहीं होगा; क्योंकि द्वैतनिषेध ब्रह्म से अभिन्न मानने पर भी द्वैतमात्र का निषेध नहीं हो सकता; कारण कि निषेधरूप अत्यन्ताभाव की अपेक्षा से ब्रह्म द्वितीय सिद्ध होता है ।

समाधान– ऐसा नहीं होगा; कारणकि दोनों पक्षों में दोष नहीं हो सकता; क्योंकि हम भावरूप अद्वैत मानते हैं । अतः प्रथम पक्ष दुष्ट नहीं (अर्थात् अभाव को लेकर द्वैतापत्ति नहीं हो सकती)। और प्रतियोगी जगत् का पारमार्थिकत्व भी नहीं हो सकता, क्योंकि

धाऽनुपपत्त्यैव तदसिद्धेः । नहि शुक्तिरजतयोस्तादात्म्यं संसर्गं वा निषेधप्रतियोगिनमपि प्रामाणिकं स्वीकुरुषे । न च तयोरप्यन्यत्र विद्यमानयोरेव भानम्; सदुपरागेणाऽसतोऽपि तादात्म्यसंसर्गयोर्भानादिति साम्प्रदायिकाऽभ्युपगमात् । तत्यागेन च मणिकारमतग्रहे क्व साम्प्रदायिकत्वाऽभिमानः? तच्च मणिकारमते च दूषणं वक्ष्यामः ।

इत्यद्वैतस्य ब्रह्मतद्भिन्नस्वरूपत्वाद्युपपादनम् ॥१४॥

निषेध की अन्यथानुपपत्ति से ही उसके पारमार्थिकत्व की असिद्धि होती है । तुम भी शुक्ति और रजत के तादात्म्य या संसर्ग को निषेध का प्रतियोगी होते हुए भी प्रामाणिक नही मानते । और अन्यत्र विद्यमान उन दोनों का भ्रमस्थल में भान भी नहीं माना जाता; क्योंकि सत् के उपराग से ही असत् तादात्म्य और संसर्ग दोनों का भान होता है-ऐसी आप के साम्प्रदायिकों की मान्यता है । उसको त्याग कर मणिकार के मत का ग्रहण करोगे तो आपकी साम्प्रदायिकता का अभिमान कहां रह जायेगा ? और मणिकार के मत में दूषण भी आगे अन्यथाख्याति के खण्डन में कहा जायेगा ।

इत्यद्वैतस्य ब्रह्मतद्भिन्नस्वरूपत्वाद्युपपादनाऽनुवादः ॥१४॥

अथ भेदनिषेधानुपपत्त्यादिकम् ।१५।

किञ्च – प्रामाणिकं निषिध्यत इति क्वाऽऽवयोः सिद्ध-मस्ति ? सर्वं जगन्मिथ्येति मतेऽप्रामाणिकस्यैव निषेधात् । तव मतेऽपि प्रामाणिकस्यैव दुर्निरूपत्वात् । नच–एवं निषेधोऽप्यप्रामाणिकः स्यादिति–वाच्यम्; तत्र बाधकप्रमाणाऽभावात् । प्रपञ्चनिषेधश्च श्रुत्यैव प्रतिपादित इति विशेषः । न च–एवं दृश्यत्वहेतोस्तत्रैवाऽनैकान्तिकतेति–वाच्यम्; तद्भिन्नत्वेन हेतोर्विशेषणात्, प्रपञ्चाऽभावस्य पूर्वं ज्ञातुमशक्यत्वेन व्यभिचाराऽज्ञानाच्च । ब्रह्माऽतिरिक्तस्य निषेधस्याऽङ्गीकारेण

अथ भेदनिषेधानुपपत्त्यादिकस्यानुवादः ॥१५॥

किञ्च-प्रामाणिक पदार्थ का ही निषेध किया जाता है—यह बात हम दोनों के बीच कहां सिद्ध हुई है ? क्योंकि सब जगत् मिथ्या है– इस मत में अप्रामाणिक का ही निषेध होता है। और तुम्हारे मत में भी प्रामाणिक का निरूपण करना ही असम्भव है। शंका– इस प्रकार तो निषिध भी अप्रामाणिक ही हो जायेगा। समाधान-- ऐसा न कहो; क्योंकि निषेध में बाधक प्रमाण नहीं हैं, और प्रपञ्च का निषेध तो श्रुति से ही प्रतिपादित है—यह विशेष है।

शंका– इस प्रकार से निषेध का बाध नहीं होगा तो "प्रपञ्चो-मिथ्या दृश्यत्वात्" इस अनुमान के दृश्यत्व हेतु की उस निषेध में ही अनैकान्तिकता हो जायेगी (अभिप्राय यह है कि प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधक यह दृश्यत्व हेतु निषेध में भी है, किन्तु बाधक प्रमाण के अभाव से अबाधित होने के कारण निषेध में मिथ्यात्व न होने से हेतु और साध्य में व्यभिचार होता है)। समाधान—ऐसा भी न कहो; क्योंकि उस व्यभिचार के निवारण के लिए "निषेधभिन्नत्वे सति दृश्यत्वात्" ऐसा हेतु देंगे; और "दृश्यत्व" मात्र हेतु देने पर भी यह दोष नहीं होगा; कारण कि अनुमान के पहले प्रपञ्च का अभाव (प्रपञ्च का

द्वितीयोऽप्यनवद्यः, ब्रह्मणो द्वैतरूपत्वाऽभावात्, श्रुत्यैव तन्मात्रस्य परिशेषप्रतिपादनात् ।

किञ्च– अन्योन्याभावस्वरूपभेदयोः पूर्वं निरस्तत्वात्प्रपञ्चाऽभाव एव युक्तः, नत्वस्त्यन्योन्याऽभावस्वरूपम् । तल्लक्षणाऽसद्भावात् । तथाहि-ननु तादात्म्याऽवच्छिन्नप्रतियोगिकोऽभावोऽन्योन्याभावः । नच–तादात्म्यस्य प्रमितत्वे निषेधाऽनुपपत्तिः, अप्रमितत्वेच निषेधस्याऽप्रामाणिकतेति–वाच्यम्; घटत्वपटत्वादेरेव तादात्म्यशब्दवाच्यत्वात्, तस्य च प्रमितत्वमेव । न च–घटत्वादेरभावप्रतियोगित्वेऽत्यन्ताऽभाव एव स्यान्नत्वन्योन्याभाव इति साम्प्रतम्; घटत्वावच्छिन्नस्य घट-

निषेध) ज्ञात नहीं हो सकता; अतः उस अज्ञात निषेध में हेतु के व्यभिचार का ज्ञान नहीं हो सकता। और ब्रह्म के अतिरिक्त निषेध का अङ्गीकार होने से द्वितीय पक्ष (अव्यवहित पूर्व प्रकरण में कहा हुआ ब्रह्माऽभिन्नत्व पक्ष) भी दोषरहित है; क्योंकि (ब्रह्म में द्वैतनिषेध रहते पर भी वह भावाद्वैत है), ब्रह्म का द्वैतरूपत्व नहीं है; और श्रुति से ब्रह्ममात्र परिशेष प्रतिपादित है।

किञ्च–अन्योन्याभाव और स्वरूपभेद दोनों का पहले ही निराकरण हो जाने के कारण प्रपञ्च का अभाव (निषेध) होना युक्तिसंगत ही है। और अन्योन्याभाव का कोई स्वरूप नहीं है; क्योंकि उसका लक्षण सम्भव नहीं। शंका–अन्योन्याभाव का लक्षण सम्भव क्यों नहीं? तथाहि– जिसका प्रतियोगी तादात्म्य से अवच्छिन्न हो, ऐसा अभाव अन्योन्याभाव है। इसमें यदि शंका हो कि "घट पट नही है" ऐसा तादात्म्यनिषेध करने के पहले जो प्रतीयमान तादात्म्य है; क्या वह तादात्म्य प्रमित है, या अप्रमित? यदि उसको प्रमित मानोगे तो निषेध नहीं हो सकेगा, यदि अप्रमित मानोगे तो निषेध की अप्रामाणिकता होगी तो ऐसी शंका ठीक नहीं; क्योंकि घटत्व पटत्वादि ही तादात्म्यशब्द का वाच्य है, उसका प्रमितत्व है ही। इसमें पुनः– यदि घटत्वादि का अभावप्रतियोगित्व मानोगे तो निषेध का स्वरूप "घटत्वाभाववान् पटः" ऐसा ही होगा, तब तो अत्यन्ता-

स्यैवाऽभाव इत्यङ्गीकारात्। मैवम्; "घटो भूतले नास्ति" इत्यत्यन्ताभावेऽतिव्याप्तेः। अथ तत्र घटत्वं न प्रतियोगितावच्छेदकम्; किं तर्हि? संसर्गित्वमिति चेत्; तर्हि संसर्गो भूतले नास्तीति प्रतीत्यापत्तिः। संसर्गावच्छिन्नो घट इति चेत्; "अधिकं तु प्रविष्टं नतु तद्धानिः" इति न स्यादेवाऽन्योन्याभावत्वम्। किञ्च—भूतले संसर्गावच्छिन्नो घटो निषिध्यत इति वक्तव्यम्। तथा चाऽप्रसिद्धिरेव। नहि तद्भूतलघटयोः संसर्गः प्रमितः। विस्तरस्तु पूर्वमेवोक्त इत्युपरम्यते ॥

इति भेदनिषेधानुपपत्त्यादिकम् ॥१५॥

भाव ही सिद्ध होगा, अन्योन्याभाव नहीं—ऐसी शंका भी ठीक नहीं; क्योंकि घटत्व से अवच्छिन्न घट का ही अभाव है—ऐसा अङ्गीकार किया जाता है।

समाधान—ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि—जिस रीति से आपने अर्थ किया है, उसके अनुसार "भूतल में घट नहीं है" इस अत्यन्ताभाव में लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। शंका—"भूतल में घट नहीं है" इस निषेध में घटत्व प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं है; किन्तु उस का अवच्छेदक तो संसर्गित्व है (अर्थात् भूतल में संयोग सम्बन्ध से संसर्गी नहीं है—ऐसा निषेध है)।

समाधान—तब तो भूतल में घट संसर्गी नहीं—ऐसी प्रतीति होने की आपत्ति होगी (घटात्यान्ताभाव की नहीं होगी)। इसमें संसर्गावच्छिन्न घट को प्रतियोगी मान भी लिया जाये तो भी "अधिक प्रविष्ट होने पर भी उसके स्वरूप में हानि नहीं होती" इस न्याय से अन्यत्ताभाव ही सिद्ध होगा, उसमे अन्योन्याभाव कदापि सिद्ध न होगा। किञ्च भूतल में संसर्गावच्छिन्न घट का निषेध किया जाता है—ऐसा ही कहना होगा। तब तो अप्रसिद्धि ही होगी; क्योंकि उस भूतल और घट का संसर्ग प्रमित नहीं है, जिससे निषेध सार्थक हो। पहले ही इसका विस्तारपूर्वक वर्णन हो चुका है, अतः समाप्त किया जाता है।

इति भेदनिषेधाऽनुपपत्त्यादिकस्याऽनुवादः ॥१५॥

"अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः" इत्यादिवाक्यानामप्यद्वैत एव पर्यवसानमितिनिरूपणम् ॥१६॥

ननु— भेदाऽस्वीकारे "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम :" (तं. सं. १।५।६) इत्यादौ श्रुतिपक्षपातिना त्वया हेतुफलभावोऽपि कथमुपपादनीयः ? तस्य भेदगर्भत्वात् । तथा समासादितदण्डो घटाय न प्रवर्तेत, दण्डात्मना घटस्याऽपि तेनाऽऽसादितत्वात् । दण्डस्य सत्त्वेऽपि घटाऽसत्त्वं चेत्, तदा तदानीन्तनविरुद्धधर्माऽध्यासादेव भेदसिद्धिः, सिद्धस्य च कारणत्वादसिद्धस्य च कार्यत्वात्, किञ्च—वाजपेयसाध्यस्वर्गार्थं कलञ्ज-

अथ स्वर्गकामादिवाक्यानामद्वैत एव पर्यवसाननिरूपणस्याऽनुवादः ॥१६॥

शंका— यदि भेद को नहीं मानोगे तो "स्वर्गकाम पुरुष अग्निहोत्र करें" इत्यादि में तुम्हारे जैसे श्रुतिपक्षपाती के द्वारा स्वर्ग और अग्निहोत्र में कार्यकारणभाव का उपपादन भी किस प्रकार किया जा सकता है ? क्योंकि कार्यकारणभाव भेदगर्भ है। इसी प्रकार से यदि दण्ड और घट में अभेद मानोगे तो जिस पुरुष ने दण्ड को पा लिया है; उस पुरुष को घट के लिए प्रवृत्ति नहीं होना चाहिये, कारण कि उसने दण्डरूप से घट को पा लिया। यदि कहो कि दण्ड के सत्त्व होने पर भी घट का सत्त्व नहीं है, तो उस समय होने वाले विरुद्ध धर्म (सत्त्व और असत्त्व) के आरोप से ही दोनों में भेद की सिद्धि होगी, क्योंकि सिद्ध दण्डादि कारण होता है और असिद्ध घटादि कार्य होता है। किञ्च "वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत"

"यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥"

इति श्रुत्या दुःखाऽसंभिन्नं सुखं प्रतिपाद्यते । ब्रह्म च तादृशमिति स्वर्गपराणां श्रुतीनां ब्रह्मण्येव तात्पर्यमिति । न च तस्य साध्यत्वानुपपत्तिः; अभिव्यञ्जकाऽन्तःकरणवृत्त्युत्पत्त्या तस्योत्पादोपपत्तेः; मूर्तद्रव्योत्सारणेनाऽऽकाशस्येव; तथा च स्वदुप-

गया है। किन्तु—"जो सुख दुःख से मिश्रित न हो, और बाद में भी दुःख से ग्रस्त न हो तथा अभिलाषा मात्र से उपस्थित हो, वह सुख स्वर्गपदवाच्य है" इस श्रुति से दुःख से अमिश्रित सुख प्रतिपादित होता है। और ब्रह्म ऐसा सुखरूप ही है। अतः स्वर्गपरक श्रुतियों का भी ब्रह्म में ही तात्पर्य है-यह सिद्ध (१) होता है। और ब्रह्मरूप सुख के साध्यत्व की अनुपपत्ति है, क्योंकि वह नित्य है-ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिये; कारण कि अभिव्यञ्जक अन्तःकरणवृत्ति की उत्पत्ति से उसका उत्पादन हो सकता है, जैसे मूर्त द्रव्य के अपसारण से आकाश

(१) इस श्रुतिवाक्य से लक्षित स्वर्गशब्दवाच्य सुख मुक्ति का ही नामान्तर है। मीमांसकों के मत में भी स्वर्ग ही मुक्तिरूप है। मुक्ति में ही भूमानन्द व्यक्त होता है। ब्रह्मलोकस्थित मुक्त अर्थात् हिरण्यगर्भ के साथ मोक्ष्यमाण अधिकारियों का संकल्पानुरूप अभिलषित विषय उपस्थित होता है। यह बात "संकल्पादेवाऽस्य पितरः समुत्तिष्ठन्ते" (छा० ८।२।१) इस श्रुति से, तथा वेदान्तदर्शन के "संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः" (४।४।८) इस सूत्र से कही गई है। बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक में श्रीसुरेश्वराचार्य जी ने भी कहा—"स्वर्गशब्दाभिधश्चायं पुमर्थो यो दर्शोदितः । स्वर्गमित्यादिभिर्वाक्यैस्त्र्यन्तेष्वपि गीयते ॥ (संबन्धवार्तिक-१०६७) अर्थात् यह परमपुरुषार्थभूत मोक्ष स्वर्गशब्दवाच्य है, क्योंकि "अहरहर्वा एवंवित् स्वर्गं लोकमेति" इत्यादि वेदान्तवाक्यों में इसका वर्णन किया गया है। इसीसे सिद्ध है कि स्वर्गशब्दवाच्य सुख ब्रह्मरूप ही है।

न्यस्तं प्रमाणं रुदन्तमपि त्वां द्वैतरागिणमद्वैतमेव बोधयतीति परिभावय। यथा च न भेदस्य परमार्थिकत्वं तथोपपादितमधस्तात्।

इत्यग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः
इत्यादिवाक्यानामद्वैते पर्यवसानम् ॥१६॥

का उत्पादन होता है। तब तो तुम्हारे द्वारा उपन्यस्त प्रमाण ही द्वैतरागी होकर उसके लिए रोते रहने वाले तुम्हें ही अद्वैतका बोध कराता है यह भी तो विचार करके जरा देखो। और जिस प्रकार से भेद का पारमार्थिकत्व नहीं हो सकता; वह प्रकार पहले ही प्रतिपादित हो चुका है।

इत्यग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इत्यादिवाक्यानामद्वैतेपर्यवसानस्यानुवादः ॥ १६ ॥

अथ सर्वैक्येऽपि त्रिविधसत्त्वेन सर्वव्यवहारोपपत्तिः। व्यावहारिकत्वनिर्वचनाऽसंभवशंकातत्परिहारौ च ॥१७॥

किञ्च–त्रिविधसत्त्वोपगमात् सर्वव्यवहारोपपत्तिः। तथाहि–पारमार्थिकं सत्त्वं ब्रह्मणः, प्रातीतिकं शुक्तिरूप्यादेः, व्यावहारिकं तदितरस्य जगत इति। तथा च भेदोऽपि व्यावहारिक इति।

ननु–किमिदं व्यावहारिकत्वम्? न तावज्ज्ञानरूपव्यवहारविषयत्वम्; इष्टत्वात्, ब्रह्मणि विद्यमानत्वेनाऽतिव्यापकत्वाच्च। न च–ब्रह्मणि ज्ञानविषयत्वमेव नास्ति, तस्य स्वप्रकाशत्वादिति – साम्प्रतम्, एतद्वाक्यजन्यज्ञानविषयत्व-

अथ सर्वैक्येऽपि त्रिविधसत्त्वेन सर्वव्यवहारोपपत्त्यादीनामनुवादः ॥१७॥

किञ्च– त्रिविध सत्त्व मानने से सर्व व्यवहार हो सकते हैं। तथाहि–ब्रह्म का पारमार्थिक सत्त्व, शुक्तिरूप्यादि का प्रातिभासिक सत्त्व और उनसे भिन्न जगत् का व्यावहारिक सत्त्व है। इस रीति से भेद भी व्यावहारिक ही है।

शंका– यह व्यावहारिकत्व क्या है? ज्ञानरूप व्यवहार की विषयता तो हो नहीं सकती, क्योंकि वह हमें भी इष्ट है; और वह विषयता ब्रह्म में भी होने से अतिव्याप्ति है। इसमें शंका हो कि ब्रह्म स्वप्रकाशरूप है, इस कारण उसमें ज्ञानविषयता नहीं है; तो यह ठीक नहीं; क्योंकि तुम्हारे द्वारा प्रयुक्त "ब्रह्म स्वप्रकाशरूप है" इस वाक्य से जन्य ज्ञान की विषयता ब्रह्म में होना और न होना इन दोनों

भावाऽभावाभ्यां व्याघातात्, श्रुतेस्तत्र प्रामाण्याङ्गीकाराच्च। नाऽप्यभिलापविषयत्वं तत्, पूर्वोक्तदोषादेव। नाऽपि नयना-ऽनयनादिविषयत्वम्; अन्योन्याभावरूपभेदे तदभावात्, गुणादावसंभवाच्च। नाऽपीच्छाप्रयत्नादिविषयत्वम्; पूर्वोक्त-दोषात्। नाऽपि बाधितत्वम्; पारिभाषिकत्वापत्तेः; बाधस्य विपरीतप्रमात्वेन तद्विषयत्वस्वीकारे प्रमाविषयत्वेन प्रामा-णिकत्वाऽभ्युपगमापत्तेः। नाऽपि भ्रमविषयत्वम्, भेदः पारमा-र्थिक इतिज्ञाने त्वया भ्रमत्वेनाऽङ्गीक्रियमाणे पारमार्थिकत्वां-

पक्षों में व्याघात है (अर्थात् एतद्वाक्यजन्यज्ञान का विषय ब्रह्म नहीं है, तो उसके लिये "ब्रह्म स्वप्रकाशरूप है" ऐसा कहना असम्भव है, तथा एतद्वाक्यजन्यज्ञान का विषय ब्रह्म है, तो ज्ञान का अविषय कहना विरुद्ध है)। और आपने ब्रह्मविषयकश्रुतिप्रामाण्य का अङ्गीकार किया है (अतः श्रुतिजन्यज्ञान का विषय ब्रह्म होता है)। अभिलाप अर्थात् शब्दव्यवहार की विषयता भी व्यावहारिकता नहीं; कारण कि पूर्वोक्तदोष उसमें भी है। नयन आनयन (ले जाना–ले आना) आदि व्यवहार का विषयत्व भी व्यावहारिकत्व नहीं हो सकता, क्योंकि अन्योन्याभावरूप भेद में उसका अभाव होने से अव्याप्ति है; और गुणादि में वह असम्भव है। इच्छा प्रयत्नादि की विषयता भी व्याव-हारिकता नहीं हो सकती; कारण कि पूर्वोक्त दोष है (अर्थात् अन्योन्याभाव और गुणादि में इच्छाविषयता होने पर भी प्रयत्नविषयता नहीं है)। और बाधितत्व भी व्यावहारिकत्व नहीं; कारण कि ऐसा मानने पर पारिभाषिकत्व की आपत्ति होगी (अर्थात्–लोक में अप्र-सिद्धि होगी)। इसके अतिरिक्त बाध तो विपरीत प्रमा है ("इदं रजतम्" ऐसा ज्ञान होने के बाद "इयं शुक्तिः" इत्यात्मक ज्ञान होना ही बाध है, यह ज्ञान पूर्वज्ञान से विपरीत प्रमा है), यदि इस प्रमा का विषयत्व व्यावहारिक पदार्थों में मानोगे तो प्रमाविषयत्व होने से प्रामाणिकत्व स्वीकार करने की आपत्ति आयेगी। भ्रमविषयता भी व्यावहारिकता नहीं; क्योंकि "भेद पारमार्थिक है" यह ज्ञान तुम्हारे द्वारा भ्रम माना जाता है; उसमें पारमार्थिकत्वांश का बाध होने पर

शबाधेऽपि धर्म्यंशेऽबाधात् भेदस्य पारमार्थिकत्वापत्तेः; "धर्मिणि सर्वमभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्ययः" इत्यभ्युपगमात् । अन्यथा ब्रह्माऽपारमार्थिकमित्यपारमार्थिकत्वबाधे ब्रह्मणोऽपि बाध्यत्वं स्यात् । न च–घटो भिन्न इतिज्ञानं भ्रान्तम्; तत्र च प्रकारो भेद एव, अतस्तस्याऽपि तत्त्वमिति-वाच्यम्; घटपटौ भिन्नावितिज्ञाने बाधस्य वक्तुमशक्यत्वात्, क्वचित्काले क्वचिद्देशे क्वचिद्विषये भेदस्य बाध्यत्वेऽपि सर्वत्राऽबाधात् । नहि सार्वत्रिको बाधस्त्वयापि शक्योपदर्शनः। नाऽप्यबाध्यत्वेनाऽशक्यव्यवस्थापनत्व व्यावहारिकत्वम्; बाधस्य निरसनादेवाऽबा-

भी धर्म्यंश भेद का बाध न होने से पारमार्थिकत्व की आपत्ति आयेगी, कारण कि "धर्मी में अर्थात् अधिष्ठानांश में सब ज्ञान अभ्रान्त है; और विशेषणांश में ही भ्रमज्ञान होता है" यह नियम माना जाता है (जैसे "इदं रजतम्" इस भ्रमस्थल में इदंविषयक ज्ञान अभ्रान्त है, और रजतविषयक ज्ञान भ्रम है)। यदि इस नियम को नहीं मानोगे तो "ब्रह्म अपारमार्थिक है", इस भ्रम में अपारमार्थिकत्व का बाध होने पर ब्रह्म भी बाध्य हो जायेगा। इसमें यदि शंका हो कि "घट भिन्न है" यह ज्ञान भ्रान्त है; और उसमें विशेषण तो भेद ही है; तब तो उक्तनियमानुसार भेद बाधित हो जाये तो तुम्हारा भेद कैसे सिद्ध होगा? तो यह शंका ठीक नहीं; क्योंकि "घट और पट में भेद है" इस ज्ञान में भेद का बाध कहना अशक्य है। किसी काल में, किसी देश में तथा किसी विषय में भेद का बाध्यत्व होने पर भी सर्वत्र तो बाध नहीं होता, सब स्थलों में होने वाले बाध सिद्ध करना तो तुम्हारे लिये भी असम्भव है। और जिसका अबाध्यत्वरूप से व्यवस्थापन नहीं हो सकता, वह व्यावहारिक है ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि बाध के निराकरण से ही भेदादि में अबाध्यत्व की सिद्धि होती है, और यह लक्षण तो ब्रह्म में भी विद्यमान है (अर्थात् ब्रह्म का भी अबाध्यत्वरूप से व्यवस्थापन नहीं किया जा सकता)।

ध्यत्वसिद्धेः; तस्य ब्रह्मण्यपि विद्यमानत्वात्। न च–तत्र श्रुतिप्रतिपाद्यत्वादेवाऽबाध्यत्वव्यवस्थितिरिति – वाच्यम्; भेदे स्वर्गापूर्वादावपि तुल्यत्वात्। न च–भेदग्रहे केषामपि कदापि कुत्राऽपि बाधो नास्तीति कथं त्वया ज्ञायते ? येन भेदस्याऽबाध्यत्वं मन्यस इति-वाच्यम्; त्वद्व्यवस्थाप्यमान-बाध्यत्वव्यवस्थाविरहादेवाऽबाध्यत्वसिद्धेः। नाऽपि ब्रह्मभिन्नत्व-मेव तत्,एतादृशव्यावहारिकत्वस्याऽस्मदपेक्षितत्वात्, भेदभिन्न-त्वेन ब्रह्मणोऽपि व्यावहारिकत्वस्य सुवचत्वात्; ब्रह्मभिन्न-त्वस्य त्वयाऽभ्युपगम्यमानस्य पारमार्थिकत्वे भेदपारमार्थि-कत्वस्य सिद्धत्वाच्च। नाऽप्यसत्यत्वं तत्; असत्यत्वं यदि बाध्यत्वम्, तदोक्तमुत्तरम्। अप्रामाणिकत्वञ्च प्रमाणगोच-रत्वोपपादनेनैव निरस्तम्। नाऽप्यलीकत्वम्; विधिनिषेध-

यदि इसमें शंका हो कि ब्रह्म में तो श्रुतिप्रतिपाद्यता होने से ही अबाध्यत्व की व्यवस्थिति है, तो ऐसा नहीं कह सकते; कारण कि भेद, स्वर्ग, अपूर्वादि में भी श्रुतिप्रतिपाद्यत्व तुल्य है। और भेदग्रह में किसी का भी, कभी भी, कहीं भी बाध नहीं है –यह बात तुमने कैसे जान ली; जिससे भेद की अबाध्यता तुम मानते हो—ऐसी शंका भी मत करो; क्योंकि तुम्हारे द्वारा व्यवस्थाप्यमान बाध्यत्व की व्यवस्था न होने से ही अबाध्यत्व की सिद्धि होती है। इसी प्रकार ब्रह्मभिन्नत्व भी व्यावहारिकत्व नहीं; क्योंकि ऐसे व्यावहारिकत्व हमें भी अपेक्षित है; यों तो भेदभिन्नत्वरूप से ब्रह्म का भी व्याव-हारिकत्व का कथन सुगम ही है। और तुम्हारे द्वारा स्वीक्रियमाण ब्रह्मभिन्नत्व यदि पारमार्थिक है तो भेद में भी पारमार्थिकत्व सिद्ध हो जायेगा। असत्यत्व भी व्यावहारिकत्व नहीं; कारण कि यदि असत्यत्व का अर्थ बाध्यत्व है तो उसका उत्तर दे चुके हैं, और यदि अप्रामाणिकत्व है तो वह भेद के प्रमाणविषयत्व के उपपादन से ही निरस्त है। अलीकता भी व्यावहारिकता नहीं हो सकती; क्योंकि विधि और निषेधरूप व्यवहार की विषयता के उपपादन से वह भी

व्यवहारगोचरत्वोपपादनेनैव निरस्तत्वात् । नाऽप्यसत्त्वम्; तद् यदि सत्ताऽयोगित्वम्; तदेष्टापत्तिः, अन्योन्याऽभावस्य सत्तायोगित्वाऽनभ्युपगमात् । अभावत्वमेवाऽसत्त्वमिति चेन्न; इष्टत्वात् । भावप्रतियोगित्वमिति चेन्न; इष्टत्वादेव । नाऽप्यमोक्षात्मकत्वम्; इष्टत्वात् । आत्यन्तिकस्य दुःखाऽभावस्य मोक्षतयाऽन्योन्याभावभिन्नत्वात् । नाऽपि मोक्षोपायज्ञानाऽविषयत्वं व्यावहारिकत्वम्; श्रवणमननिदिध्यासनादीनां मोक्षोपायज्ञानानां शरीरात्मभेदविषयकत्वात्, भेदज्ञानार्थमेव श्रवणाऽदीनामुपयोगः । नाऽपि सप्रतियोगित्वम्; इष्टत्वात् । नाऽप्यद्वैतविरोधित्वम्; इष्टत्वात्; विपरीतस्याऽपि सुवचत्वाच्च । नाऽपि प्रपञ्चाऽन्तर्गतत्वम्; प्रपञ्चबहि-

निरस्त हो जाती है । असत्त्व भी व्यावहारिकत्व नहीं; कारण कि यदि असत्त्व का अर्थ सत्तारहितत्व है तो हमें इष्टापत्ति है; क्योंकि अन्योन्याभाव को हम सत्तायुक्त नहीं मानते । यदि कहो कि अभावत्व ही असत्त्व है तो उसमें भी हमें इष्टापत्ति है, क्योंकि अन्योन्याभाव अभावरूप ही है । और भावविरोधित्व असत्त्व है—ऐसा भी मत कहो; कारण कि पहले के समान वह भी हमें इष्ट ही है । इसी प्रकार अमोक्षात्मकता भी व्यावहारिकता नहीं; कारण कि वह भी इष्ट ही है, क्योंकि आत्यन्तिक दुःखाऽभाव ही मोक्ष है, वह तो अन्योन्याभाव से भिन्न है । मोक्ष के उपायभूत ज्ञान का अविषयत्व भी व्यावहारिकत्व नहीं; क्योंकि श्रवण मनन निदिध्यासनादि मोक्षोपायभूत ज्ञानों का शरीरात्मभेदविषयकत्व है, शरीर और आत्मा के भेदज्ञान के लिए ही तो श्रवणादिकों का उपयोग होता है । और सप्रतियोगिता भी व्यावहारिकता नहीं; क्योंकि वह भी हमें इष्ट है । अद्वैतविरोधित्व भी व्यावहारिकत्व नहीं; कारण कि वह भी हमें इष्ट है, और इसके विपरीत का कथन भी हो सकता है (अर्थात् द्वैतविरोधित्वरूप से ब्रह्म का व्यावहारिकत्व भी कहा जा सकता है) । प्रपञ्चान्तर्गतत्व भी व्यावहारिकत्व नहीं; क्योंकि प्रपञ्चबहिर्भूत-

भूतत्वेन ब्रह्मणोऽपि व्यावहारिकत्वस्य वक्तुं शक्यत्वात्; प्रपञ्चत्वस्याऽपि विकल्पकदर्थनीयत्वाच्च। नाऽप्यविद्यादशावेद्यत्वम्; इष्टापत्तेः। वैपरीत्यञ्च सुवचम्। नाऽप्यविद्याविषयत्वम्; क्वचित्तथात्वेऽपि पारमार्थिकत्वाऽक्षतेः। नाऽपि जडत्वम्; तद् यदि ज्ञानभिन्नत्वम्, तदेष्टापत्तिः। अथाऽऽत्मभिन्नत्वम्, तथापि तथा। अथाऽऽनन्दभिन्नत्वम्; तथापि तथैव। नाऽपि मुक्तेनाऽवेद्यत्वम्; इष्टत्वात्। भेदस्य पारमार्थिकत्वे मुक्तिदशायां कथं न वेद्यत्वमिति चेत्; वेदनविरहादिति गृहाण। ब्रह्मणस्तदा कथं वेदनमिति चेत्;

त्वरूप से ब्रह्म का भी व्यावहारिकत्व कहा जा सकता है, और प्रपञ्च का भी विकल्प निराकरणीय है। (अर्थात् प्रपञ्च किसको कहते हैं—इस प्रश्न के उत्तर में वेदान्ती जो कुछ भी विकल्प करके कहें; वे सब निराकरणीय हैं)। अविद्यादशा में वेद्यत्व भी व्यावहारिकत्व नहीं; कारण कि वह भी इष्ट है; और वैपरीत्य भी सुवच है (अर्थात् विद्यादशा में वेद्यत्वरूप से ब्रह्म का व्यावहारिकत्व कहा जा सकता है)। अविद्याविषयत्व भी व्यावहारकित्व नहीं; क्योंकि कहीं "ब्राह्मणोऽहम्" इत्यादि में अविद्याविषयत्व रहने पर भी पारमार्थिकत्व की क्षति नहीं है। जडत्व भी व्यावहारिकत्व नहीं; कारण कि यदि वह ज्ञानभिन्नत्व है, तो इष्टापत्ति है; यदि आत्मभिन्नत्व है, तो भी इष्टापत्ति है, और यदि आनन्दभिन्नत्व है, तब भी इष्टापत्ति है। मुक्त पुरुष से अवेद्यत्व भी व्यावहारिकत्व नहीं; कारण कि वह भी इष्ट है। यदि इसमें शंका हो कि भेद का पारमार्थिकत्व होने पर मुक्तिदशा में क्यों वेद्यत्व नहीं है ? (अर्थात् मुक्तिदशा में भी भेद रहने के कारण उसका ज्ञान होना चाहिये), इसका समाधान यह है कि उस दशा में ज्ञानाभाव होने से भेद में वेद्यत्व नहीं है—ऐसा समझो (अभिप्राय यह है कि नैयायिकों के मत में आत्मा का मन के साथ संयोग होने पर आत्मा में ज्ञान होता है; मुक्तिदशा में आत्मा और मन का संयोग नहीं रहता, अतः आत्मा में ज्ञान भी नहीं होता।

इयमपि तव भ्रान्तिः। तस्माद्व्यावहारिको भेद इति तवाऽङ्गीकारो न किञ्चिदनिष्टमापादयति, केवलं पारमार्थिकत्वं व्यावहारिकत्वमिति च ब्रह्मप्रपञ्चयोर्धर्मद्वयं वृद्धैर्वेदान्तिभिः शरमुष्टिन्यायेन बोधितम्; तदादायाऽर्वाचीना अपि वेदान्तिनो व्यामूढा वर्तन्ते; वस्तुतः प्रमाणसिद्धतया ब्रह्मप्रपञ्चयोर्विशेषो नास्त्येवेति–पूर्वः पक्षः।

राद्धान्तस्तु– अनादिभावरूपाऽज्ञानतदधीनाऽन्यतरत्वमेव

यदि उस दशा में ज्ञान ही नहीं है, तो भेद का ज्ञानविषयत्व भी नहीं होता)। तब तो उस समय ब्रह्मका ज्ञान क्यों होता है? यह भी तो तुम्हारी भ्रान्ति ही है (यहां पर वेदान्ती ब्रह्म को स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप मानकर प्रश्न करते हैं; किन्तु उत्तरदाता नैयायिक ज्ञान को आत्मा का गुण मानकर भ्रान्ति बताते हैं)। अतः "भेद व्यावहारिक है" ऐसी आपकी मान्यता हमारा कुछ भी अनिष्ट नहीं करती। केवल प्राचीन वेदान्तियों ने ब्रह्म और प्रपञ्च में पारमार्थिकत्व और व्यावहारिकत्व–इस प्रकार से धर्मद्वय शरमुष्टि (१) न्याय से बोधित किया है, उसको लेकर आधुनिक वेदान्ती लोग भी व्यामूढ होकर प्रवृत्त होते हैं (अर्थात् बिना सोचे समझे लकीर के फकीर बनते हैं)। वास्तव में तो प्रमाणसिद्ध होने के कारण ब्रह्म और प्रपञ्च में कोई विशेष है ही नहीं–इस प्रकार यह पूर्व पक्ष है।

इसमें सिद्धान्त तो यह है–अनादि भावरूप अज्ञान और उसके अधीन होने वाले पदार्थ अर्थात् अज्ञान का कार्यादि, इन दोनों का अन्यतरत्व ही व्यावहारिकत्व है। इसमें अननुगतत्वरूप दोष नहीं, क्योंकि

---

(१) जिस प्रकार मुट्ठी भर शर रखें तो एक जैसे ही प्रतीत होते हैं, और फैलाने पर अनेक प्रतीत होते हैं, उनमें कोई विशेष नहीं, उसी प्रकार वस्तुतः अनेक होने पर भी प्रलय की संकुचित अवस्था में ब्रह्म परमार्थरूप से एक प्रतीत होता है, सृष्टि की अवस्था में प्रपञ्च व्यावहारिकरूप से प्रतीत होता है। वस्तुतः दोनों में कोई विशेष नहीं–यह शरमुष्टिन्याय का अभिप्राय है।

व्यावहारिकत्वम् । न चाऽननुगमः; अननुगतस्यैव लक्ष्यत्वात्, मोक्षहेतुज्ञाननिवर्त्यत्वेनाऽनुगमाच्च । नाऽप्यव्याप्त्यतिव्याप्ती; प्रपञ्चे सर्वत्र विद्यमानत्वात्, ब्रह्मण्यविद्यमानत्वाच्च । न चेष्टापत्तिः, उक्तस्वरूपस्य भवन्मतेऽसिद्धेः ।

इति त्रिविधसत्वेन सर्वव्यवहारोपपत्तिः व्यावहारिकत्व-निर्वचनञ्च ॥१७॥

इस लक्षण का अननुगत पदार्थ ही लक्ष्य है (अभिप्राय यह है कि यहां पर अज्ञानतत्कार्याद्यन्यतरत्व लक्षण है। इसमें अन्यतरत्वशब्द आने से अज्ञान और अज्ञानकार्यादि इन दोनों में से किसी एक को लेकर लक्षण का समन्वय करना होगा। उसमें "अज्ञानत्वं व्यावहारिकत्वम्" कहा जाये तो अज्ञान के कार्यादि में यह लक्षण अनुगत नहीं होगा। उसी प्रकार "अज्ञानकार्यादित्वं व्यावहारिकत्वम्" कहा जाये तो यह लक्षण अज्ञान में नहीं घटेगा। अतः लक्षण में अननुगमरूप दोष है। इस दोष का परिहार यहांपर इस प्रकार किया गया है कि अननुगत पदार्थ ही इस लक्षण का लक्ष्य है; इस लिये दोषरहित लक्षण है); और मोक्ष के हेतु ज्ञान से निवर्त्यत्वरूप से लक्षण किया जाये तो अननुगम दोष नहीं, क्योंकि अविद्या और अविद्याकार्यादि दोनों ही मोक्षहेतुज्ञाननिवर्त्य है। इसमें अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोनों भी नहीं है; कारण कि यह लक्षण सर्वप्रपञ्च में घटता है और ब्रह्म में नहीं घटता। और इसमें तुम इष्टापत्ति भी नहीं कह सकते, क्योंकि उक्तलक्षण से लक्षित व्यावहारिकत्व तुम्हारे मत में असिद्ध है।

इति त्रिविधसत्त्वेन सर्वव्यवहारोपपत्तेः व्यावहारिकत्वनिर्वचनस्य चानुवादः ॥१७॥

अथ श्रुतिस्मृतीतिहासादिभिरविद्या-स्वरूपसमर्थनम् ॥१८॥

न च– ज्ञानप्रागभावभ्रमतत्संस्कारव्यतिरिक्तभावरूपाऽविद्या दण्डायमाना नाऽस्त्येव, तत्र प्रमाणाऽभावादिति–वाच्यम्; अर्थान्तरत्वात्। न च तस्य पुरुषदोषत्वम्; तावतैव तव भङ्गोपपत्तेः। तत्त्वनिर्णयस्तु वैदिकैः सह करणीयः। तैरेव च पृष्टे किमुत्तरमिति चेत्, श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणान्येव। तथाहि– "मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनंतु महेश्वरम्" (श्वे. ४।१०), "ते ध्यानयोगाऽनुगता अपश्यन् देवात्मशक्ति स्व-

अथ श्रुतिस्मृतीतिहासादिभिरविद्यास्वरूप-समर्थनस्यानुवादः ॥१८॥

शंका—ज्ञानप्रागभाव, भ्रम और उसके संस्कार के अतिरिक्त दण्डायमाना भावरूपा अविद्या नहीं हो सकती; कारण कि उसमें कोई प्रमाण नहीं है।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि तुम अविद्याविषयक प्रश्न करोगे तो अर्थान्तरत्व (अकृतानुपयुक्तत्व) दोष से ग्रस्त हो जाओगे। इस दोष को तुम पुरुषदोष कह कर टाल नहीं सकते, क्योंकि उतने मात्रसे तुम्हारी पराजय हो जायेगी। और हमारा लक्ष्य है तुमको पराजित करना, तत्त्वनिर्णय तो वैदिकों के साथ ही करने योग्य है। शंका—तो भी उन वैदिको से पूछे जाने पर क्या उत्तर होगा ? समाधान—उत्तर यह होगा कि—भावरूप अविद्या के विषय में श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण ही प्रमाण हैं। तथाहि—"माया को प्रकृति और मायी को परमेश्वर समझना चाहिये," "ध्यान लगाए हुए उन ऋषियों ने देवात्मशक्ति तथा अपने सत्वादिगुणों से

गुणैर्निगूढाम् (श्वे. १।३), "नाऽसदासीन्नो सदासीत्" (ऋ. वे.१०।१२९।१), "तम आसीत्" (ऋ. वे. १०।१२९।३), "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्" (बृ. १।४।६), "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (बृ. २।५।१९), "न तं विदाथ य इमा जजानाऽन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव। नीहारेण प्रावृत्ता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥" (ऋ. वे. १०।८२।७) इत्याद्याः श्रुतयः सहस्रशः।

तथा– "आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्" (मनु० १।५), "मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" (गी०

निगूढ उस परमेश्वरी माया को देखा", "इस जगत् की उत्पत्ति के पहले महाप्रलय की अवस्था में यह जगत् शशविषाण जैसा असत् नहीं था, और त्रिकालावाध्य आत्मा जैसा सत् भी नहीं था, किन्तु सदसद्विलक्षण अनिर्वाच्य अविद्यारूप ही था," "सृष्टि के पहले आत्मतत्त्व का आवरकात्मक तमोरूप अज्ञान था", "उस महाप्रलय की दशा में यह जगत् अव्याकृत मायारूप ही था", "परमेश्वर अपनी त्रिगुणात्मिका मायाशक्तियों से अनेक होकर चेष्टा करते हैं", "तुम लोग उस परमात्मा को नहीं जानते, जो इन सब प्रजाओं का उत्पादन करने वाला है, वह अस्मत्प्रत्ययगम्य से भिन्न और तुम लोगों के अन्दर स्थित साक्षिरूप है। नीहार (तुषार) रूप अज्ञान से आवृत्त होने से तुम उसको नहीं जान रहे हो। इतना ही नहीं, तुम लोग "मैं मनुष्य हूं" इत्यादि अनृत भाषण से भी आवृत्त हो। किञ्च– तुम लोग किसी भी उपाय से अपने प्राणों को तृप्त करने में लगे हुए हो, और परलोक के लिये भी यज्ञों में उक्थ मन्त्रों का उच्चारण करते हुए विचरण करते रहते हो। इस प्रकार लगे रहने के कारण तुम उस परमात्मा को नहीं जान रहे हो" इत्यादि हजारों श्रुतियां, इसी प्रकार "उत्पत्ति से पहले यह जगत् तमोभूत अज्ञान में लीन था, उस समय यह जगत् प्रत्यक्षगोचर नहीं था, और अनुमानगम्य भी नहीं था", "नियन्ता सर्वावभासक मुझ परमात्मा से अवभासिता त्रिगुणा-

९।१०), "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया (गी० ७।१४), "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि" (गी० १३।१९), "विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते। प्रकृतिः पुरुषश्चैव लीयते परमात्मनि॥" (वि०पु०६।७।९६) इत्यादिस्मृतयः। न च–एते शब्दा अदृष्टे समवेतार्थाः; तथा चोक्तम्–

इत्येषा सहकारिशक्तिरसमा माया दुरुन्नीतितो
मूलत्वात्प्रकृतिः प्रबोधभयतोऽविद्येति यस्योदिता।
देवोऽसौ विरतप्रपञ्चरचनाकल्लोलकोलाहलः
साक्षात् साक्षितया मनस्यभिरतिं बध्नातु शान्तो मम॥

(न्या०कु० १।२०)

त्मिका प्रकृतिरूपा माया ही स्थावरजङ्गमात्मक जगत् को उत्पन्न करती है", "स्वयंप्रकाश आत्मा में आश्रिता त्रिगुणात्मिका यह मेरी माया आत्मसाक्षात्कार के बिना दुरत्यया है", "प्रकृति और जीवात्मरूप पुरुष, दोनों को अनादि समझो", "विभेद उत्पन्न करने वाले अज्ञान का सर्वथा नाश हो जाने पर प्रकृति और पुरुष दोनों ही परमात्मा में लीन हो जाते हैं"–इत्यादि स्मृतियां प्रमाण हैं।

शंका–ऊपर कहे गये "प्रकृति माया" आदि जितने शब्द हैं, वे तो "अदृष्ट" को ही बताने वाले हैं। इस सम्बन्ध में उदयनाचार्य ने कहा भी है–"जिस परमात्मा के सृष्टिरूप कार्य के सम्पादन में यह जीवगत अदृष्ट ही सहकारिकारणात्मिका शक्ति है, वही असमा माया है, क्योंकि दोनों ही दुरुन्नेय अर्थात् दुर्ज्ञेय हैं, उस अदृष्ट को ही सब का मूलकारण होने से प्रकृति तथा तत्त्वज्ञान के उदय से भय होने के कारण अविद्या नाम से कहा जाता है, क्योंकि तत्त्वज्ञान होने पर अविद्या और अदृष्ट दोनों ही नहीं रह सकते; वही अदृष्टसहायक परमात्मा प्रपञ्चरचना के लगातार चलने वाले कोलाहल से विरत और शान्त होकर साक्षात् साक्षिरूप से मेरे मन की भावना को देखें और अपने प्रति मेरी अभिरति को दृढ़ करें।"

इति- वाच्यम्; उपादानकारणे प्रकृतिशब्दप्रयोगात्, ज्ञानबाध्ये च मायाशब्दप्रयोगात्। अदृष्टस्य तदुभयरूपत्वाऽभावात्। न च तत्त्वज्ञानेनाऽदृष्टबाधः, किन्तु ध्वंसः। न वा सोऽपि, भोगेनैव क्षयाऽभ्युपगमात्। लोकानुसारेणैव च वैदिकशब्दनिर्णयः, तत्परित्यागेन च स्वयं परिभाषाकरणे नाऽस्मत्प्रतिपक्षी भवान्, लोके चैन्द्रजालिके मायीति शब्दप्रयोगः। तथा च मिथ्यावस्तूपादानभूत एव मायाशब्दप्रयोगः। मृदादावुपादानकारण एव प्रकृतिशब्दप्रयोगः। न च-प्रकृतिशब्दः स्वभावेऽपि प्रयुज्यमानो दृश्यते- "प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति" (गीता० १८।५९) इत्यादाविति-

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिये; क्योंकि इन श्रुति और स्मृतियों में उपादानकारण में प्रकृतिशब्द का प्रयोग किया गया है, और ज्ञान से बाध्य में मायाशब्द का प्रयोग किया गया है। अदृष्ट में तो जगदुपादानत्व और ज्ञानबाध्यत्व दोनों रूप ही नहीं हैं। तत्त्वज्ञान से अदृष्ट का बाध भी नहीं होता, किन्तु ध्वंस होता है। अथवा ध्वंस भी नहीं, क्योंकि भोग से ही अदृष्ट का क्षय माना गया है। लोकानुसार ही वैदिक शब्दों के अर्थ का निर्णय होता है, उस निर्णय को त्यागकर स्वयं ही उसकी परिभाषा बनाओगे तो आप हमारे प्रतिपक्षी ही नहीं हो सकते। लोक में ऐन्द्रजालिक में "मायी" शब्द का प्रयोग होता है; और उस प्रकार मिथ्यावस्तु के उपादान में ही मायाशब्द का प्रयोग है, और मृदादि उपादान कारण में ही प्रकृतिशब्द का प्रयोग है।

शंका—प्रकृतिशब्द स्वभावार्थ में भी प्रयुक्त हुआ देखा जाता है; जैसे—"तेरी प्रकृति (स्वभाव) ही तुझे युद्ध में लगा देगी" इत्यादि।

समाधान—ऐसा न कहो; कारण कि—प्रकरण के अनुसार ही अर्थविशेषका निर्णय किया जाता है। अतः अदृष्ट का माया-

वाच्यम्; प्रकरणवशेनाऽर्थविशेषनिर्णयोपपत्तेः । तस्माद-दृष्टस्य मायाऽविद्याशब्दवाच्यत्वं श्रुतिस्मृत्यादिलोकविरुद्धम् ।

युक्तिश्चाऽत्र भवति— असङ्गोदासीनकूटस्थाऽद्वितीय-स्वप्रकाशचैतन्यमात्रं ब्रह्म जगतः कारणं श्रूयते । नहि तस्माज्जगदुत्पत्तिः संभवति केवलात्; मुक्त्यवस्थायामपि उत्पत्तिप्रसङ्गात् । ततोऽनादिसिद्धभावभूताऽविद्याशक्ति-सिद्धिः, श्रुतार्थापत्त्या क्षणभङ्गियागस्य कालान्तरभाविस्वर्ग-साधनत्वाऽनुपपत्त्याऽस्याऽप्यपूर्वसिद्धिवत् । न च— अदृष्टमेव सहकारि भविष्यतीति— वाच्यम्; अविद्यामन्तरेणाऽदृष्ट-स्यैवाऽनुपपत्तेः । अत एव त्वं ज्ञानिनोऽदृष्टोत्पत्ति नाऽभ्युपैषि । भ्रम एवाऽविद्याशब्दवाच्य इति चेन्न; तस्यापि जन्यधर्म-

विद्याशब्दवाच्यत्व श्रुति, स्मृति और लोक से विरुद्ध है ।

और इसमें युक्ति भी है— श्रुतियों में असङ्ग उदासीन कूटस्थ अद्वितीय और स्वप्रकाशस्वरूप चैतन्यमात्र ब्रह्म जगत् का कारण सुना जाता है । किन्तु इस प्रकार के विशेषणों से युक्त केवल ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा होने पर मुक्ति की अवस्था में भी उत्पत्ति होने का प्रसङ्ग आ जाता है । इस कारण से ही जिस प्रकार मीमांसकों के मत में "स्वर्गकामो यजेत" इसमें श्रुतार्थापत्ति से क्षणभगुर याग में कालान्तरभावी स्वर्ग के साधनत्व की अनुपपत्ति के कारण उससे (याग से) अन्य फलपर्यन्तावस्थायी अपूर्व (संस्कारविशेष) की सिद्धि होती है, उसी प्रकार यहां भी शुद्ध ब्रह्म की उपादानत्वप्रतिपादिका श्रुति की अन्यथाऽनुपपत्ति से अना-दिसिद्ध भावरूप अविद्याशक्ति की सिद्धि होती है । इसमें अदृष्ट ही सहकारिकारण होगा-ऐसी शंका नहीं हो सकती; क्योंकि अविद्या के बिना अदृष्ट की उत्पत्ति नहीं हो सकती । इसी लिये तो तुम ज्ञानी के अदृष्ट की उत्पत्ति नहीं मानते । और भ्रम ही अविद्याशब्दवाच्य है -ऐसा भी तुम नहीं कह सकते; क्योंकि भ्रम का भी जन्यधर्मत्व

त्वेनाऽऽत्माऽऽधारत्वाऽनुपपत्तेः, असदायतनत्वाच्च । तत्संस्कारस्तथेति चेन्न; तस्याऽपि भ्रमवदुपादानसापेक्षत्वात् । स्मृतिमात्रहेतोस्तस्य परोक्षत्वेन तत्त्वज्ञानाऽनिरस्यत्वेन च "त्वदुक्तमर्थं न जानामि" इति साक्षिप्रत्यक्षविषयाऽऽवरणत्वस्य "एतावन्तं कालं ममेहाऽज्ञानमासीत्, त्वदुपदेशजन्येन ज्ञानेनाऽद्य नष्टम्" इति साक्षिप्रत्यक्षत्वस्य ज्ञाननिरस्यत्वस्य चाऽनुपपत्तेः । तथा च सर्वभ्रमतत्संस्कारोपादानत्वेन तत्त्वज्ञाननिवर्त्यत्वेन चाऽविद्यासिद्धिः । न च विद्याप्रागभावरूपाऽऽविद्या; तस्याः विद्यानिवर्त्यत्वात्, तन्निवृत्तिरूपत्वाद् विद्यायाः, प्रागभावे मानाऽभावाच्च । न च–तथासति उत्पन्नोऽपि घट उत्पद्येत, सामग्रीक्षणस्य कार्योत्तरत्वनियमा-

अर्थात् उत्पत्तिविनाश होने से आत्माधारत्व नहीं हो सकता, वह तो असदायतनवाला है (अतः उसका कोई न कोई उपादान चाहिये)। तथा भ्रम का संस्कार भी भ्रम के समान उपादानसापेक्ष है। इसके अतिरिक्त–स्मृतिमात्र का हेतुभूत वह संस्कार परोक्षरूप होने से तत्त्वज्ञान के द्वारा निराकरणीय नहीं है। इसलिये संस्कार में "मैं तुम्हारे द्वारा कहे हुए अर्थ को नहीं जानता" इस प्रकार साक्षिप्रत्यक्ष के विषयभूत आवरणस्वरूप की तथा "इतने समय तक इस विषय में मुझे अज्ञान था, आपके उपदेश से जन्य ज्ञान के द्वारा आज वह नष्ट हो गया" ऐसा साक्षिप्रत्यक्षविषयत्व और ज्ञाननिरस्यत्व की अनुपपत्ति भी होती है। अतः सर्वभ्रम और संस्कारों के उपादानरूप में तथा तत्त्वज्ञाननिवर्त्यरूप से अविद्या की सिद्धि होती है। और अविद्या विद्या का प्रागभावरूप भी नहीं; क्योंकि वह विद्या से निवर्त्य है, विद्या अविद्यानिवृत्तिरूप है, और प्रागभाव में प्रमाण भी नहीं है। शंका-यदि प्रागभाव को नहीं मानोगे तो उत्पन्न घट की पुनः उत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा, क्योंकि सामग्रीक्षण के अव्यवहित उत्तरक्षण में कार्य होने का नियम है। समाधान–ऐसा नहीं कहना चाहिये;

त्तिर्वाच्यम्; "एका सामग्र्येकमेव कार्यमर्जयति" इति नियमोपपत्तेः, तत्क्षणादिरूपसहकारिविरहेण सामग्रीध्वंसाच्च, अदृष्टविशेषाऽभावाच्च, अभावरूपाऽज्ञानस्याऽऽवरकत्वाऽनुपपत्तेश्च। तस्य सत्त्वं चाह सर्वेश्वरः–

"अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः" (गी० ५।१५) इति। "अहमज्ञः" "मामहं न जानामि" इति च साक्षिप्रत्यक्षमज्ञानं ज्ञानसामान्यविरोधि भावरूपं गृह्णाति; तस्य ज्ञानसामान्याऽभावविषयत्वे धर्मिप्रतियोगिज्ञानाऽज्ञानाभ्यामनुपपत्तेः। प्रथमे ज्ञानस्य सत्त्वादेव, ज्ञानस्य विषय-

क्योंकि "एक सामग्री एक ही कार्य को उत्पन्न करती है" यह नियम हो सकता है, और तत्तत्क्षणादिरूप सहकारिकारण के अभाव से सामग्री का ध्वंस तथा अदृष्टविशेषरूप कारण का अभाव होने से कार्य की पुनरुत्पत्ति नहीं होती; (१) और अभावरूप अज्ञान का आवरकत्व भी नहीं हो सकता; सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण अज्ञान के आवरकत्व को कह रहे हैं "स्वस्वरूपभूत ज्ञान अज्ञान से आवृत्त है, और उसी से प्राणी मोहित होते हैं"।

तथा "मैं अज्ञ हूं" और "मैं अपने को नहीं जानता" इत्यात्मक साक्षिप्रत्यक्ष ज्ञानसामान्यविरोधी भावरूप अज्ञान का ग्रहण करता है। इस साक्षिप्रत्यक्ष का ज्ञानसामान्याभावविषयकत्व (२) अनुयोगी और प्रतियोगी का ज्ञान होना या न होना इन दोनों पक्षों में नहीं हो सकता। क्योंकि प्रथम पक्ष में तो अनुयोगी और प्रतियोगी का ज्ञान रहने से ज्ञानसामान्याभाव हो ही नहीं सकता, कारण कि ज्ञान

(१) इसकी टिप्पणी पहले ही "श्रुतिप्रामाण्योपपत्तिप्रकरण" में की जा चुकी है; वहां पर टिप्पणी देखनी चाहिये।

(२) द्वैतियों का कहना है कि "मैं अज्ञ हूं" इत्यादि ज्ञान ज्ञानसामान्याभाव को विषय करने वाला है, इससे भावरूप अज्ञान की सिद्धि नहीं होती। उस का यहां पर खण्डन किया जा रहा है।

विषयित्वनियमात् । द्वितीये च सामग्र्यभावात्, ज्ञानाऽप्रतिसन्धानेऽपि "अहमज्ञः" इत्यनुभवाच्च । न च– तदसिद्धम्; सर्वलोकाऽनुभवसिद्धत्वात् । तदुपेक्षणे वादित्वान्निवर्तसे । "किमपि न जानामि" इति चानुभवो निबिडं भावरूपमज्ञानमावेदयति । प्रतियोगिज्ञाने च किमपीत्यस्याऽनुपपत्तेः । ज्ञानविशेषाऽभावविषयत्वे ज्ञातेऽपि "न जानामि" इति प्रतीतिप्रसङ्गः; ज्ञानविशेषाऽभावानामासंसारमनुवृत्तेः ।

अनुमानञ्च– देवदत्तनिष्ठा प्रमा देवदत्तनिष्ठज्ञाना-

का विषयविषयिभावनियम है। और द्वितीय पक्ष में तो अनुयोगी और प्रतियोगी का ज्ञान न रहने से ज्ञानसामान्याभाव का ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि अभावज्ञान के प्रति अनुयोगी और प्रतियोगी का ज्ञान कारण होता है, सामग्री (कारणसमुदाय) का अभाव होने पर कार्य नहीं हो सकता। किन्तु अनुयोगी और प्रतियोगी के ज्ञान का अनुसंधान न होने पर भी "मैं अज्ञ हूँ" यह अनुभव होता है (अतः अज्ञान ज्ञानसामान्याभाव से भिन्न है)। और वह अज्ञान असिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि वह सब लोगों के अनुभव से सिद्ध है। इस अनुभवसिद्ध की उपेक्षा करोगे तो तुम वादी ही न हो सकोगे। और "मैं कुछ भी नहीं जानता" यह अनुभव अत्यन्त घने भावरूप अज्ञान को विषय करता है। इसमें प्रतियोगी का ज्ञान होने पर तो "कुछ भी" यह कहना असम्भव है। और इसका यदि ज्ञानविशेषाभावविषयकत्व मान लिया जावे तो ज्ञातविषय में भी "नहीं जानता हूँ" ऐसी प्रतीति होने लगेगी; क्योंकि ज्ञानविशेषाभावों की जब तक संसार है तब तक अनुवृत्ति होती है।

और उस भावरूप अज्ञान की सिद्धि में अनुमान भी प्रमाण है– देवदत्त की प्रमा देवदत्तनिष्ठ ज्ञानाभाव (ज्ञानप्रागभाव), भ्रम, संशय और उनके संस्कारों से अतिरिक्त किसी एक विरोधी की निवर्तिका है, क्योंकि उसमें प्रमात्व है, जैसे यज्ञदत्त की प्रमा (यहां पर-यज्ञदत्त की प्रमा में प्रमात्व हेतु है, और उसमें देवदत्तनिष्ठ ज्ञान-

ऽभाव–विपर्यय-संशय–तत्संस्काराऽतिरिक्तविरोधिनिवर्तिका, प्रमात्वात्, यज्ञदत्तप्रमावत् । अर्थान्तरवारणार्थं साध्य-विशेषणानि, देवदत्तनिष्ठपदं साध्याऽप्रसिद्धिवारणार्थम्; विरोधिपदमुदासीननिवृत्त्याऽर्थान्तरवारणार्थम् । न चाऽप्रयो-

प्रागभाव, भ्रम, संशय और उनके संस्कारों से भिन्न यज्ञदत्तनिष्ठ प्रमाविरोधिप्रागभाव का निवर्तकत्व भी है; अतः दृष्टान्त में साध्य-समन्वय होता है। इसी प्रकार व्याप्ति के बल से देवदत्तनिष्ठ प्रमा में भी प्रमात्व होने से देवदत्तनिष्ठ ज्ञानप्रागभाव, भ्रम, संशय और उनके संस्कारों से भिन्न किसी एक प्रमाविरोधी का निर्वतकत्व होना चाहिये; वह प्रमाविरोधी पदार्थ भावरूप अज्ञान के अतिरिक्त दूसरा पदार्थ नहीं हो सकता। इसलिये इस अनुमान से भावरूप अज्ञान की सिद्धि होती है)। यहां पर प्रकृतानुपयुक्त अर्थान्तर के निवारणार्थ विरोधिनिवर्तकत्वसाध्य के देवदत्तनिष्ठज्ञानाभावादि विशेषण दिये गये हैं; देवदत्तनिष्ठपद साध्यकी अप्रसिद्धि का निवारक है, और विरोधिपद किसी उदासीन पदार्थ की निवृत्ति से होने वाला अर्थान्तरत्व के निवारणार्थ (१) है। इस अनुमान में हेतु और साध्यकी व्यभिचारशंका

(१) देवदत्तनिष्ठविरोधिनिवर्तकत्वमात्र साध्य माना जाये तो देवदत्तनिष्ठ ज्ञानप्रागभाव, भ्रम, संशय और उनके संस्कारों में सिद्धसाधनतादोष आ जाता है; अतः उसके निवारण के लिये इन सबसे अतिरिक्त विरोधी-ऐसा विशेषण दिया गया है। और यदि इस साध्य में देवदत्तनिष्ठपद न देकर ज्ञानप्रागभावादि से अतिरिक्त-विरोधिनिवर्तकत्वमात्र साध्य माना जाये तो कहीं भी इस साध्य की प्रसिद्धि नहीं होगी; अन्वयव्यतिरेकी अनुमान का साध्य कहीं न कहीं पक्षेतर में प्रसिद्ध होना चाहिये। अतः साध्यप्रसिद्धि के लिये देवदत्त-निष्ठपद दिया गया है। इसी से यज्ञदत्तनिष्ठप्रमा में साध्य की प्रसिद्धि हो जायेगी। इसी प्रकार से विरोधिपद न देने पर देवदत्त-निष्ठ प्रमा से किसी उदासीन तटस्थ पदार्थ की भी निवृत्ति कदाचित् हो सकती है। अतः उस पदार्थ में सिद्धसाधनता होगी; उसके निवा-रणार्थ विरोधिपद दिया गया है।

जकत्वम्; निरुपाधिसहचारभङ्गस्यैव बाधकत्वात्, स्वप्रकाशचिद्रूपे ब्रह्मणि असङ्गोदासीने भावरूपाज्ञानाऽऽवरणमन्तरेण जगद्विभ्रमाऽधिष्ठानत्वाऽनुपपत्तेः। न चैवंरूपत्वमात्मनोऽसिद्धम्;—

"असङ्गो ह्ययं पुरुषः" (बृ० ४।३।१५) इत्यादिश्रुतिशतेभ्यस्तस्य सिद्धेः; तस्याश्च प्रामाण्याऽनभ्युपगमे बौद्धनिराकरणयुक्तिभिरेव निराकरणीयोऽसि। न च— एतत्स्वप्रक्रियानुसारेणोक्तवतो नाऽङ्गीकार्यमिति— वाच्यम्; सर्वैरेव वादिभिस्तथाभिधानात्। न च— त्वमप्यस्मत्प्रक्रियामाश्रित्य कथयसि। वस्तुतस्त्वस्याः प्रक्रियायाः श्रुतिस्मृती-

होने पर उसके बाधक अनुकूल तर्क का अभावरूप अप्रयोजकत्वदोष भी नहीं है; क्योंकि यहां उपाधिरहित सहचार के भङ्ग की प्रसक्ति ही बाधकतर्क है (अभिप्राय यह है कि-यदि पक्ष में प्रमात्व हेतु रहने पर भी देवदत्तनिष्ठज्ञानाभावादि से अतिरिक्तविरोधिनिवर्तकत्व साध्य नहीं होता तो कहीं न कहीं सोपाधिक होकर साध्य और साधन का सहचारभङ्ग होता; किन्तु ऐसा नहीं, दोनों में निरुपाधिक सहचार ही होता है; अतः पक्ष में हेतु होने से साध्य भी अवश्य होना चाहिये यह अनुकूल बाधक तर्क है)। इसी प्रकार स्वप्रकाशचिद्रूप असङ्ग और उदासीन ब्रह्म में भावरूप अज्ञान का आवरण हुए विना जगद्विभ्रम के अधिष्ठानत्व की अनुपपत्ति भी बाधक तर्क है। और आत्मा का इस प्रकार से असङ्गत्वादिरूप होना भी असिद्ध नहीं; क्योंकि "यह आत्मा असंग है" इत्यादि अनेक श्रुतियों से इस रूप की सिद्धि होती है। यदि इन श्रुतियों के प्रामाण्य को नहीं मानोगे तो तुम्हारा भी बौद्ध के निराकरण की युक्तियों से ही निराकरण हो जायगा। शंका—अपनी प्रक्रिया के अनुसार बोलने वाले तुम्हारी यह बात हमारे लिये अङ्गीकार्य नहीं है। समाधान—ऐसा न कहो; क्योंकि सब वादी लोग अपनी अपनी प्रक्रिया के अनुसार ही बोलते हैं। शंका—तुम तो हमारी प्रक्रिया को भी लेकर बोलते हो। समाधान-

हासपुराणसिद्धत्वेन वैदिकैरङ्गीकर्त्तुमुचितत्वात्त्वमपि चेत्तथा भवसि, तदेमां स्वीकुरु । न चेत्तदेवोक्तमेवोत्तरम् । तस्मात्प्रत्यक्षाऽनुमानाऽर्थापत्तिश्रुतिसिद्धत्वादज्ञानस्य भावरूपस्याऽनादितः, तादृशाऽज्ञानतदधीनाऽन्यतरत्वं व्यावहारिकत्वमिति लक्षणं सिद्धम् ।

न च–पारिभाषिकत्वापत्तिः, एतस्य रूपस्य सकललोकसिद्धत्वात् । नह्यज्ञानतत्कार्ययोः कश्चिद्विप्रतिपद्यते; तथा सति तस्याऽपि व्यवहारस्याऽनिर्वाहापत्तेः । पारिभाषिकत्वेऽपि वादिना दूषणं वक्तव्यम्; न त्वया तद्वक्तुं शक्यते, निराकरणात् । न च– अनादिभावस्य निवृत्त्यनुपपत्तिः,

नहीं, वस्तुतः यह प्रक्रिया श्रुति, स्मृति इतिहास, पुराणादि से सिद्ध है; अतः वैदिकों के स्वीकार करने योग्य है । यदि तुम भी वैदिक हो तो इस प्रक्रिया को मानो । यदि नहीं मानोगे तो तुम्हारे लिये वही उत्तर कहा ही जा चुका है । (अर्थात् बौद्धों के लिये जो उत्तर है, वही तुम्हारे लिये भी है) । इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति और श्रुति प्रमाणों से अनादि भावरूप अज्ञान सिद्ध होने से तादृश अज्ञान और उसके अधीन कार्यादि, इन दोनों का अन्यतरत्व व्यावहारिकत्व है–यह लक्षण सिद्ध हुआ ।

इस प्रकार के व्यावहारिकत्व में पारिभाषिकत्व (अपने शास्त्र में ही सीमित होकर लोक में प्रचलित न होने) की आपत्ति भी नहीं होगी, क्योंकि व्यावहारिकत्व का यह स्वरूप सकललोक में प्रसिद्ध है, अज्ञान और उसके कार्य के विषय मे कोई भी सन्देह नहीं करता; कारण कि ऐसा होने पर उसके भी व्यवहार का निर्वाह असंभव हो जायेगा और पारिभाषिकत्व में भी वादी को दूषण कहना चाहिये; किन्तु तुम दूषण कह नहीं सकते, क्योंकि उसका निराकरण हो जाता है । इसमें यदि शंका हो कि अनादि भाव की निवृत्ति नहीं हो सकती; यदि

ऽन्यथा ब्रह्मणोऽपि तथात्वापत्तिः केन वारणीयेति—वाच्यम्; निवर्त्तकसत्त्वाऽसत्त्वाभ्यां विशेषोपपत्तेः। अज्ञानस्य ज्ञानमेव निवर्तकमिति लोकस्मृत्यादिप्रसिद्धम्। अन्यथाऽनाद्यभाव-स्याऽत्यन्ताभावादेर्निवृत्त्यदर्शनात् प्रागभावस्याऽप्यनादेर्नि-वृत्तिर्न स्यात्। विरोधिसद्भावस्तूभयत्र तुल्यः। ननु— एवं-सति पारमार्थिकत्वव्यावहारिकत्वलक्षणद्विविधसत्त्वस्वीकारे त्रिविधसत्त्वाऽभ्युपगमभङ्गप्रसङ्ग इति चेत्; सोऽयं स्वगोत्र-कलहः, न तु व्यावहारिकत्वविवादः। न वा सोऽपि झटिति, बाधाऽबाधाऽपेक्षया व्यावहारिकप्रातीतिकसत्त्वयोर्भेदोपग-मात्। वस्तुतस्तु— प्रपञ्चस्यैकविधमेव सत्त्वम्।

इतिश्रुतिस्मृतीतिहासादिभिरविद्यास्वरूपसमर्थनम् ॥१८॥

उसकी निवृत्ति मानी जाये तो ब्रह्म की भी निवृत्ति होने की आपत्ति आयेगी और कौन उसको रोक सकेगा? तो ऐसी शंका ठीक नहीं; क्योंकि दोनों में (अज्ञान और ब्रह्म में) निवर्तक के सत्त्व और असत्त्व के द्वारा अन्तर हो सकता है। लोक और स्मृत्यादि में यह प्रसिद्ध है कि ज्ञान अज्ञान का निवर्तक है। यदि तुम ऐसा नहीं मानोगे तो तुम्हारे मत में भी अनादि अभाव अत्यन्ताभावादि की निवृत्ति के अदर्शन से अनादि प्रागभाव की भी निवृत्ति नहीं होगी; और निवृत्ति के निमित्त विरोधी का सद्भाव तो दोनों पक्षों में तुल्य है।

शंका—ऐसा होने पर तो पारमार्थिकत्व और व्यावहारिकत्व-रूप द्विविध सत्त्व ही मानना होगा; तब तो त्रिविधसत्त्व का अभ्युप-गमभङ्ग प्रसङ्ग होगा।।

समाधान—यह तो स्वगोत्र का कलह है (अर्थात् व्यवहारिकत्व के अवान्तर भेद में विवाद है), व्यावहारिकत्व में तो विवाद नहीं; वह विवाद भी झट् ही नहीं उठ सकता, क्योंकि व्यवहारदशा में बाध और अबाध की अपेक्षा से व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्त्व में भेद माना जाता है। वास्तव में तो प्रपञ्च में एक ही प्रकार का सत्त्व है।

इति श्रुतिस्मृतीतिहासादिभिरविद्यास्वरूपसमर्थनस्याऽनुवादः ॥१८॥

अथ भ्रममात्रविषयत्वबाधितत्वादिव्यावहारिकत्वस्वरूपविवेकः ॥१६॥

यद्वा– भ्रममात्रविषयत्वं व्यावहारिकत्वम् । यद्यप्यधिष्ठानाऽध्यस्यमानयोरेकज्ञानविषयत्वमस्तीति सद्रूपेण सर्वाऽधिष्ठानब्रह्मणो भ्रमविषयत्वमप्यस्ति; तथापि न तन्मात्रविषयत्वम्; यतः "तत्त्वमसि" आदिवाक्यजन्याऽन्तःकरणवृत्तिरूपसाक्षात्कारात्मकप्रमाविषयत्वमप्यस्तीति मात्रशब्देन तद्व्यावृत्तिः । ननु–भेदः पारमार्थिक इति ज्ञाने त्वया भ्रमत्वेनाऽङ्गीक्रियमाणेऽस्य पारमार्थिकत्वांशबाधेऽपि धर्मी भेदोऽबाधित एव । तथा च तस्य प्रमाविषयत्वमस्तीति न भ्रम-

अथ भ्रममात्रविषयत्वबाधितत्वादिव्यावहारिकत्वस्वरूपविवेकानुवादः ॥१६॥

अथवा-भ्रममात्र का विषय होना व्यावहारिकत्व का लक्षण है। यद्यपि अधिष्ठान और आरोप्यमाण दोनों में एकज्ञानविषयत्व होने के कारण सद्रूपसे सर्वाधिष्ठान ब्रह्म में भी भ्रमविषयत्व है, तथापि ब्रह्म में भ्रममात्रविषयत्व नहीं; क्योंकि "तत्त्वमसि" आदि वाक्यों से जन्य अन्तःकरणवृत्तिरूप साक्षात्कारात्मक प्रमाज्ञान का विषयत्व भी है; अतः मात्रपद से ब्रह्म की व्यावृत्ति होती है।

शङ्का "भेद पारमार्थिक है" यह ज्ञान, जिसे तुम भ्रमरूप से मानते हो, उसमें पारमार्थिकत्वांश का बाध होने पर भी धर्मी भेद तो अबाधित ही है, तब तो उसका प्रमाविषयत्व है, अतः भेद भ्रममात्रविषयत्व नहीं है।

मात्रविषयत्वमिति– चेन्न; सर्वत्र भ्रमे ब्रह्मण एवाऽधिष्ठानत्वात्। तथा च धर्मिणि सर्वं भानमभ्रान्तमित्यङ्गीकारेऽपि न नः काचित्क्षतिः । न च– चक्षुर्जन्यज्ञाने कथमात्मनो विषयत्वम् ? रूपवत एव द्रव्यस्य तथात्वात् । तथा च चक्षुर्जन्यज्ञानादावन्यदेवाऽधिष्ठानम्; अन्यथा "अहं रजतम्" इति बुद्ध्यापत्तेरिति– वाच्यम्; सच्चिद्रूपानन्दस्वीकारादात्मनः। तथा च यथा सत्तायाश्चाक्षुषादिज्ञानविषयत्वं न विरुद्धम्, तथा ब्रह्मणोऽपि, द्रव्यत्वं त्वत्प्रक्रियासिद्धं तवैव दोषमावहति। शुक्त्यवच्छिन्नस्य रजताधिष्ठानत्वात्, अहंकारावच्छिन्नस्य चाऽनधिष्ठानत्वाद-

समाधान—ऐसा नहीं; क्योंकि सब भ्रमों का अधिष्ठान ब्रह्म ही है। अतः "धर्म्यंश में सब ज्ञान अभ्रान्त है" यह नियम अङ्गीकार करने पर भी हमारी कुछ भी हानि नहीं (अभिप्राय यह है कि भेद अधिष्ठानरूप से धर्मी नहीं, क्योंकि वह आरोपित पदार्थ है और अनारोपित पदार्थ ही अधिष्ठान होता है, यह नियम है)।

शंका—नेत्रजन्यज्ञान में किस प्रकार अधिष्ठानरूप से आत्मा का विषयत्व होगा ? कारण कि रूपवान् द्रव्य ही नेत्रजन्यज्ञान का विषय होता है। अतः नेत्रजन्यज्ञानादि में तो आत्मातिरिक्त अन्य ही अधिष्ठान होना चाहिये; यदि उसमें आत्मा को अधिष्ठान मानोगे तो "मैं रजत हूँ" यह बुद्धि होने लगेगी।

समाधान—ऐसा न कहो; कारण कि हम आत्मा का स्वरूप सत्, चित् और आनन्द मानते हैं। तब तो तुम्हारे मत में जिस प्रकार सत्ताजाति की चाक्षुषादिज्ञानविषयता अविरुद्ध है, उसी प्रकार सत्-रूप से ब्रह्म की विषयता भी अविरुद्ध है; और ब्रह्म का द्रव्यत्व तो तुम्हारी प्रक्रिया से ही सिद्ध है (हमारे मत में नहीं); अतः वह (द्रव्यत्व) तुम्हारे ऊपर ही दोष लगायेगा, हमारे ऊपर नहीं; और शुक्त्यवच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य ही रजतादि का अधिष्ठान है, अहंकारावच्छिन्न चैतन्य नहीं; अतः "अहं रजतम्" ऐसा उल्लेख नहीं हो

हमित्युल्लेखः पराकरणीयः। अन्यथा तवाऽपि घटावच्छिन्न आत्मन्यहमिति बुद्ध्यापत्तिः। शरीरावच्छिन्नस्यैव तथाभावे ममाऽपि तुल्यम्। न च– सर्वप्रत्ययवेद्यत्वे ब्रह्मणः स्वीक्रियमाणे सिद्धान्तविरोधः, "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नाऽन्तरात्मन्" (कठ० ४।१) इति श्रुतिविरोधश्चेति– शंकनीयम्; निरुपाधिकस्याऽत्मनस्तथाऽङ्गीकारात् सिद्धान्तश्रुतिविरोधाऽनुपपत्तेः। तथा चोक्तं ब्रह्मसिद्धौ मण्डनमिश्रैः:–

सर्वप्रत्ययवेद्ये वा ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते।
प्रपञ्चस्य प्रविलयः शब्देन प्रतिपाद्यते॥

इति (का० ४।३)

अन्येऽप्याहुः:–

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।

सकता। यदि ऐसा नहीं मानोगे तो तुम्हारे मत में भी विभु होने के कारण घटावच्छिन्न आत्मा में अहंबुद्धि होने की आपत्ति आयेगी। और यदि तुम शरीरावच्छिन्न आत्मा को अहंबुद्धि का विषय मानो तो हम भी वैसा ही मानते हैं।

शंका—इस प्रकार से ब्रह्म की सर्वज्ञानविषयता मानने पर तो सिद्धान्त में विरोध होगा, और "स्वयम्भू परमात्मा ने इन्द्रियों की परामुखरूप से रचना की है; अतः मनुष्य बाह्य पदार्थों को ही देखता है, अन्तरात्मा को नहीं देखता" इस श्रुति से भी विरोध है। समाधान—ऐसी शंका नहीं करना चाहिये; क्योंकि निरुपाधिक आत्मा को ही इन्द्रियों का अविषय स्वीकार करने से सिद्धान्त और श्रुति में कोई विरोध नहीं। जैसे कि ब्रह्मसिद्धि में मण्डनमिश्र जी ने कहा भी है–"इस प्रकार सर्वज्ञानगम्य ब्रह्मरूप व्यवस्थित होने पर उसमें प्रपञ्च का प्रविलय शब्द से प्रतिपादित होता है।" अन्य आचार्य भी कहते हैं– "जगत् के अस्ति, भाति, प्रिय, नाम और रूप–ये पांच अंश हैं। इनमें आद्य तीन ब्रह्मरूप हैं और नाम तथा रूप जगत् के

आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं द्वितीयकम् ॥
इति (वाक्यसुधा २०)

त्रयमिति सत्ता ज्ञानं सुखमित्युच्यते। द्वितीयं नाम रूप-ञ्चेत्यर्थः।

ननु- "नेति नेति" (बृ० २।३।६) इत्यादिवेदवाक्यै-र्जगन्निषेधः प्रतिपाद्यते, तथा च जगदपि निषेधप्रतियोगित्वेन तस्मिन् ज्ञाने भासते, तच्च ज्ञानं प्रमेति तवाऽभ्युपगमः। तथा च प्रमाविषयत्वं जगतोऽप्यस्तीति भ्रममात्रविषयत्वमसिद्ध-मिति चेन्न; यदर्शनजन्मा यो भ्रमः, तद्दर्शनमेव तददर्शन-निवृत्त्या तं भ्रमं निवर्तयतीति नियमाच्छुक्त्यदर्शनजनिते रजतभ्रमे "शुक्तिरियम्" इतिज्ञानेन निवर्तिते यथा "नेदं रजतम्" इतिवाक्यमर्थप्राप्तं रजतनिषेधमनुवदति, तथा "तत्त्वमसि" आदिवाक्यजनिताऽखण्डाऽद्वितीयसच्चिदानन्दा-

रूप हैं।" इस श्लोक में "त्रयम्" पद से सत्ता, ज्ञान और सुख कहे गये हैं, और "द्वितीयकम्" पद का अर्थ नाम और रूप है।

शंका—"नेति नेति" इत्यादि श्रुतिवाक्यों से जगत् का निषेध प्रतिपादित किया जाता है तो जगत् भी निषेध के प्रतियोगिरूप से उस ज्ञान में भासित होता है, और वह ज्ञान तो प्रमा है-ऐसा आप मानते हैं। इस लिये प्रमा का विषय जगत् भी है। तब तो जगत् में भ्रममात्रविषयत्व असिद्ध है।

समाधान—ऐसा नहीं है; क्योंकि "जिसके अदर्शन से जो भ्रम होता है, उसका दर्शन ही उस अदर्शन की निवृत्ति के द्वारा उस भ्रम को निवृत्त करा देता है"— इस नियम से शुक्ति के अदर्शन से जन्य रजतभ्रम "यह शुक्ति है" इस ज्ञान से निवर्तित हो जाने पर जिस प्रकार "यह रजत नहीं है" यह वाक्य अर्थतः प्राप्त रजत-निषेध का अनुवाद करता है, उसी प्रकार "तत्त्वमसि" आदि वाक्य से उत्पन्न अखण्ड अद्वितीय सच्चिदानन्द आत्मा को विषय करने वाले

त्मविषयाऽन्तःकरणवृत्तिरूपसाक्षात्कारेण विरोधिना सविलासायामविद्यायां निवर्तितायामर्थप्राप्तं जगन्निषेधमनुवदन्ती निषेधश्रुतिरनुवादकत्वलक्षणप्रामाण्यमश्नुवाना न जगदंशे प्रमाणत्वेनोपन्यासमर्हति; "अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्" इतिन्यायादिति वैदिकं प्रति वक्तुं शक्यत्वात्। तार्किकं प्रत्यपि "न सुरां पिबेत्" इत्यत्र सुरापानमिष्टसाधनमिति यत्, तन्नेति निषेधबोधने सुरापानेष्टसाधनतांशे प्रतियोगिनि श्रुतेर्न प्रामाण्यम्; रागप्राप्तत्वात्, निषेधाऽनुपपत्तेर्विकल्पापत्तेश्चेति यथा, तथा प्रपञ्चांशेऽपि श्रुतेर्न प्रामाण्यम्; पूर्वोक्तदोषभयादेवेति वक्तुं शक्यत्वात्। न च– प्रतियोगिनो मानप्राप्तत्वे

अन्तःकरणवृत्तिरूप साक्षात्कार के द्वारा अपनी विरोधी कार्यसहित अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर अर्थतः प्राप्त जगत् के निषेध का अनुवाद करने वाली निषेधश्रुति अनुवादकत्वरूप प्रामाण्य को प्राप्त करती है; तो भी वह जगदंश में प्रमाणरूप से उपन्यास करने योग्य नहीं; कारण कि "अप्राप्त में शास्त्र सार्थक होता है" इस न्याय से यह सिद्ध होता है ऐसा वैदिकों के प्रति हम उत्तर दे सकते हैं। तार्किकों के प्रति भी–जिस प्रकार "सुरापान न करें" इसमें सुरापान इष्ट साधन है– ऐसा जो समझा जाता है, वह ठीक नहीं– इस प्रकार से बोधन करने पर प्रतियोगिरूप सुरापान के इष्टसाधनतांश में श्रुति का प्रामाण्य नहीं होता, क्योंकि सुरापान राग से ही प्राप्त है, निषेध की अनुपपत्ति है, और विकल्प की प्रसक्ति भी है; उसी प्रकार प्रपञ्चांश में निषेधश्रुति का प्रामाण्य नहीं होता, क्योंकि पूर्वोक्तदोष का भय है (अर्थात् प्रत्यक्षादि से जगत् की प्राप्ति, निषेध की अनुपपत्ति और विकल्प की प्रसक्ति हो जाती है) ऐसा हम कह सकते हैं (अभिप्राय यह है कि "न सुरां पिबेत्" इस निषेध वाक्य से "सुरां पिबेत्" इस अंश को लेकर यदि सुरापान के इष्टसाधनतांश में श्रुति का प्रामाण्य मान लिया जाये तो "सुरां पिबेत्" और "न सुरांपिबेत्" इन दोनों में सामान्यविशेषभाव का अभाव होने से निषेध की अनुप-

तद्घटितस्य निषेधस्याऽपि तथात्वम्; निषेधस्याऽप्रामाणिकत्वे प्रतियोगिन एव प्रामाणिकत्वापत्तिरिति– साम्प्रतम्; निषेधांशस्य बाधाऽभावेन प्रमाविषयत्वोपपत्तेः ।

ननु– प्रपञ्चनिषेधस्य प्रामाणिकत्वे तेनैव द्वैतापत्तिः, अप्रामाणिकत्वे च सिद्धं नः समीहितमिति–चेन्न; भावाऽद्वैतस्वीकारात्, अभावमात्रे प्राभाकरवत्, अभावाऽभावे तार्किकवच्चाऽधिकरणाऽतिरिक्ताऽभावाऽनङ्गीकाराद्वा । वस्तुतस्तु

पत्ति होगी; और यदि "अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति", "नाऽतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" के जैसे मान लिया जाये तो विकल्प होकर पान और अपान स्वेच्छाधीन होंगे । अतः जिस प्रकार प्रतियोगी सुरापानांश में श्रुति का प्रामाण्य नहीं; उसी प्रकार "नेति नेति" आदि श्रुतिवाक्य का प्रतियोगी प्रपञ्चांश में प्रामाण्य नहीं है) ।

शंका - प्रतियोगी जब किसी प्रमाण से सिद्ध होगा, तभी उस प्रतियोगी से घटित निषेध की भी प्रामाणिकता सिद्ध होगी (क्योंकि प्रमाण से असिद्ध वन्ध्यापुत्र के निषेध की प्रामाणिकता नहीं), और निषेध की अप्रामाणिकता होने पर तो प्रतियोगी की ही प्रामाणिकता होगी ।

समाधान—ऐसा कथन अयुक्त है; क्योंकि निषेधांश का बाधाभाव होने से प्रमाविषयत्व हो सकता है ।

शंका-प्रपञ्चनिषेध की प्रामाणिकता होने पर उसीसे (प्रमाणसिद्ध निषेध से) द्वैतापत्ति होगी; और अप्रामाणिकता होने पर तो हमारा ही इष्ट सिद्ध हुआ ।

समाधान-ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि हम भावरूप अद्वैत मानते हैं, अथवा जिस प्रकार प्राभाकर मीमांसक अभावमात्र को अधिकरणस्वरूप मानते हैं, और तार्किक लोग अभाव के अभाव में अधिकरण के अतिरिक्त अभाव नहीं मानते; उसी प्रकार हम भी निषेध को अधिकरण के अतिरिक्त नहीं मानते। वास्तव में तो प्रपञ्च का न तो भाव है, और न अभाव है; किन्तु वह अधिष्ठा-

प्रपञ्चस्य न भावो नाऽप्यभावः, किन्त्वधिष्ठानब्रह्मात्मकत्वमेवेति तृतीयः पन्थाः; अधिष्ठानमेवाऽध्यस्तस्य स्वरूपम्, तदभावस्याऽपीति सिद्धान्तरहस्यम् । कथमन्यदन्यस्य स्वरूपं स्यादिति— चेन्न; अन्यत्वस्याऽनङ्गीकारात्तदेव हि तत् । कथं तर्हि तथाप्रतीतिरिति चेत्; भ्रान्तोऽसि, यस्यां दशायामीदृशं तत्त्वं साक्षात्कृतम्, तस्यां तथाप्रतीतेरसिद्धिरेव यतः; तस्माद्भावनिषेधोऽभाव इति ये स्वीकुर्वन्ति, तेषामयं दोषो न त्वस्माकम्; तृतीयस्य स्वीकारात् । तस्माद् भ्रममात्रविषयत्वं व्यावहारिकत्वमिति लक्षणं सुस्थम् ॥

यद्वा— बाधितत्वमेव व्यावहारिकत्वम्, तच्चाऽधिष्ठाने ब्रह्मणि अविद्या तत्कार्यञ्च नाऽऽसीदस्ति भविष्यतीति प्रमा-

ब्रह्मरूप ही है—यह तृतीय मार्ग है। अधिष्ठान ही अध्यस्त का तथा अध्यस्त के अभाव का स्वरूप है-यह सिद्धान्त का रहस्य है (क्योंकि अधिष्ठान की सत्ता के अतिरिक्त अध्यस्त की सत्ता नहीं होती)।

शंका—अन्य का स्वरूप अन्य कैसे हो सकता है ? समाधान-ऐसा न कहो, क्योंकि अध्यस्त में अन्यत्व अङ्गीकार नहीं किया जाता, अधिष्ठान ही अध्यस्त है। शंका-तब तो अध्यस्त की अन्यरूप से प्रतीति क्यों होती है ? समाधान- आप भ्रम में हैं, कारण कि जिस अवस्था में अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है, उस दशा में ब्रह्म से अन्यत्वेन अध्यस्त की प्रतीति ही असिद्ध है। अतः भाव का निषेध अभावस्वरूप है-ऐसा जो लोग मानते हैं, उनका ही यह दोष है, हमारा नहीं; क्योंकि हम तो तृतीय मार्ग मानते हैं। इस लिये भ्रममात्रविषयत्व व्यावहारिकत्व है—यह लक्षण सुस्थिर ही है।

अथवा- बाधितत्व ही व्यावहारिकत्व है; और वह बाधितत्व तो अधिष्ठानभूत ब्रह्म में अविद्या और उसका कार्य न थे, न है, न होंगे इस प्रकार की प्रमा के विषयभूत अभाव का प्रतियोगित्व है। और वह बाधितत्व ब्रह्म में नहीं है, क्योंकि अधिष्ठानरूप से ब्रह्म शंका-

विषयाऽभावप्रतियोगित्वम्, तच्च ब्रह्मणि नास्ति, तस्य तादृग्बोधविषयत्वेऽपि निषेधप्रतियोगित्वाऽभावात्। इदमेव च मिथ्यात्वमनिर्वचनीयत्वञ्च कथ्यते। न च- पारिभाषिकत्वापत्तिः, प्रमाणसिद्धत्वात्। न च-प्रपञ्चस्याऽपि प्रमाविषयत्वेन सत्यत्वापत्तिः; प्रपञ्चांशे तस्य ज्ञानस्य प्रमात्वाऽभावात्।

यद्वा- अबाध्यत्वेनाऽशक्याऽवस्थानत्वमेव व्यावहारिकत्वम्। न च-बाधस्य निरसनादसिद्धमिदमिति-साम्प्रतम्; भेदबाधकयुक्तेरुक्तत्वात्; प्रपञ्चस्याऽपि ज्ञानेन सह संबन्धाऽनिरूपणात् सिद्धयनुपपत्तेः। स्वरूपमेव संबन्ध इति चेन्न; तस्य घटज्ञानपटयोरपि सत्त्वात्। स्वरूपविशेष इति चेन्न;

त्रिकालात्यन्ताभावविषयक ज्ञान का विषय होने पर भी निषेध का प्रतियोगी नहीं है। और इस त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व को ही मिथ्यात्व और अनिर्वचनीयत्व कहा जाता है। इसमें पारिभाषिकता की आपत्ति भी नहीं होगी; कारण कि यह प्रमाणसिद्ध है। तथा प्रपञ्च के भी प्रमाविषयत्वेन सत्यत्व की आपत्ति नहीं होगी; क्योंकि प्रपञ्चांश में उस ज्ञान का प्रमात्व नहीं है (अर्थात् निषेध्यत्वेन प्रपञ्च की उपस्थिति मात्र है)।

अथवा-अबाध्यत्वरूप से अशक्यावस्थानत्व ही व्यावहारिकत्व है (अर्थात् बाधका अयोग्य होकर जिनकी अवस्थिति नहीं हो सकती, उन पदार्थों का व्यावहारिकत्व है)। इसमें यदि शंका हो कि बाध का निराकरण होने से यह लक्षण असिद्ध है, तो यह शंका ठीक नहीं; क्योंकि भेदबाधक युक्ति पहले ही प्रतिपादित हो चुकी है; और ज्ञान के साथ सम्बन्ध का निरूपण न होने से प्रपञ्च की भी सिद्धि नहीं हो सकती। इसमें स्वरूप ही सम्बन्ध है-ऐसा तो कहा नहीं जा सकता; क्योंकि स्वरूप तो घटज्ञान और पट दोनों में भी है। और स्वरूपविशेष भी सम्बन्ध नहीं माना जा सकता; कारण कि उसका निर्वचन करना असम्भव है।

तदनिर्वचनात् । संबन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टप्रत्ययजनन-योग्यत्वमिति– चेन्न; योग्यतावच्छेदकरूपाऽपरिचये योग्य-त्वस्यैव दुर्ज्ञेयत्वात् । तद् यदि घटत्वादिकं ज्ञानत्वम्, तदाऽतिप्रसक्तम्; यतः पटज्ञानस्याऽपि ज्ञानत्वं वर्तते, घटस्य च घटत्वम्, तयोरपि स्वरूपसंबन्धत्वापत्तिः । नाऽपि घटज्ञान-त्वादिकम्; ज्ञानस्य घटीयत्वस्यैव विचार्यमाणत्वात् । तथा चाऽन्योन्याश्रयः । तत्तत्स्वरूपमेव तथेति– चेन्न; विशिष्ट-प्रत्ययस्याऽनियतहेतुकत्वापत्तेः ।

किञ्च– प्रत्ययशब्देन ज्ञानमात्रं वा, प्रमा वा विवक्षि-तम् ? नाद्यः, भ्रमजनकत्वस्य सर्वत्र सम्भवेनाऽतिप्रसङ्गा-

शंका–सम्बन्धान्तर (संयोग या समवाय सम्बन्ध) के बिना विशिष्टप्रत्यय की जननयोग्यता ही स्वरूपसम्बन्ध है ।

समाधान–ऐसा नहीं है; क्योंकि योग्यतावच्छेदक धर्म जाने बिना योग्यता का ज्ञान होना असम्भव है । यदि वह योग्यतावच्छेदक धर्म घटत्वादिक और ज्ञानत्व है, तो वह अतिव्याप्त है; क्योंकि पटज्ञान में भी ज्ञानत्व है और घट में घटत्व; अतः पटज्ञान और घट में स्वरूपसम्बन्ध हो जायेगा । घटज्ञानत्वादि भी योग्यताव-च्छेदक नहीं; कारण कि यहां ज्ञान का ही घटसम्बन्धित्व विचार्य-माण है । और वैसा मानने पर अन्योन्याश्रय होता है (ज्ञान का घटसम्बन्धित्व सिद्ध होने पर घटज्ञानत्व की सिद्धि; और घटज्ञानत्व सिद्ध होने पर ज्ञान के घटसम्बन्धित्व की सिद्धि–इस प्रकार अन्यो-न्याश्रय होता है) । और तत्तत्स्वरूप ही योग्यतावच्छेदक है–ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि विशिष्टप्रत्यय अनियतहेतुक हो जायेगा ।

किञ्च–"विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यत्व" इसमें प्रत्ययशब्द से ज्ञानमात्र विवक्षित है, या प्रमारूप ज्ञान ? आद्य पक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि सब स्वरूपों में भ्रमजनकत्व सम्भव होने से अति-

पत्तेः। न द्वितीयः, अन्योन्याश्रयापत्तेः। तथा हि– यत्र यदस्ति, तत्र तस्याऽनुभव प्रमा, तथा च "अस्ति" इति यदि विद्यमानता, तदा पाकरक्ते श्यामोऽयमिति धी प्रमा न स्यात्, तदानीं तत्र तस्याऽविद्यमानत्वात्; "स एवाऽयम्" इति तत्तांशेऽप्रामाण्यापत्तेश्च; तस्मादस्तीति वृत्तिमात्रं वक्तव्यम्। वृत्तिश्च संबन्धः, स च संयोगः, समवायः, स्वरूपलक्षणो वा; तथा चाऽन्योन्याश्रयः। अथ– संबन्धमात्रं तत्र ज्ञायते, न तु विशेष इति चेत्; तदपि अविशिष्टप्रत्ययव्यावृत्तविशिष्टधीनियामकत्वमेव, तथा च धीपदेन ज्ञानमात्रविवक्षायामप्रतिसक्तिः, प्रमाविवक्षायां चात्माश्रयादिः। विशिष्टशब्दस्य संबन्धघटितत्वेनात्माश्रयादिः। नियाम-

व्याप्ति होती है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं; कारण कि अन्योन्याश्रय का प्रसङ्ग आता है। तथाहि –"जिसमें जो है, उसमें उसका अनुभव प्रमा है" इस प्रमा के लक्षण में "अस्ति" (है) का अर्थ यदि विद्यमानता है तो पाकरक्त घट में "यह श्याम था" यह बुद्धि प्रमा नहीं होगी, कारण कि उस समय उसमें श्याम की विद्यमानता नहीं है; और "वही यह है" इसमें भी तत्तांश में ज्ञान के अप्रामाण्य की आपत्ति होगी। इसलिए "अस्ति" का अर्थ वृत्तिमात्र कहना होगा। वृत्ति तो सम्बन्ध का नाम है; और वह सम्बन्ध-संयोग, समवाय अथवा स्वरूपात्मक है। तब तो अन्योन्याश्रय होता है (उक्त सम्बन्ध सिद्ध होने पर उसके अधीन प्रमा की सिद्धि, और प्रमा सिद्ध होने पर उसके अधीन उक्त सम्बन्ध की सिद्धि – इस प्रकार अन्योन्याश्रय होता है)। शंका– प्रमा के लक्षण में सम्बन्धमात्र ज्ञात होता है, विशेष सम्बन्ध नहीं। समाधान– वह सम्बन्धसामान्य भी तो अविशिष्टप्रत्यय से व्यावृत्त विशिष्टबुद्धि का नियामक होता ही है। तब तो धीपद से ज्ञानमात्र की विवक्षा होने पर भ्रमादि में प्रमालक्षण की अतिव्याप्ति; और प्रमा की विवक्षा होने पर आत्माश्रयादि दोष हैं। और "विशिष्टधीनियामकत्व" में विशिष्टपद सम्बन्ध-

करत्वञ्च यदि जनकत्वम्; तदा संबन्धेष्वननुगतेषु तदशक्यग्रहणम्, अनुगतस्य तु विचार्यमाणत्वमेव ।

किञ्च– अतीताऽनागतविषयस्थले विशिष्टप्रत्ययं प्रत्यजनकत्वात्तद्योग्यत्वस्य तत्र वक्तुमशक्यत्वादव्याप्तिः । असदेव तज्जनकमिति– चेत्, योग्यस्याऽपि तथैव जनकत्वोपपत्तावदृष्टकल्पनाऽनुपपत्तिप्रसङ्गात् । दण्डादेरप्यसत एव जनकत्वापत्तौ जितमसद्वादिना । अथ– तत्र ज्ञानमेव विशिष्टप्रत्ययजनकमिति– चेन्न; तस्य केवलस्याऽसंबन्धत्वात् । द्वयं हि संबन्धः । अगत्या तत्रैकमपि संबन्ध इति चेत्, तर्ह्यगत्या संबन्धाऽभावेऽपि संबन्धबुद्धिरस्तु । तथा-

घटित होने से आत्माश्रयादि है । और यदि नियामकता का अर्थ जनकता है, तो अननुगत सम्बन्धों में उसका ग्रहण करना अशक्य है; और अनुगत संबन्ध तो विचार्यमाण ही है, उसकी सिद्धि अभी नहीं हुई है।

किञ्च- अतीत और अनागत विषयस्थल में विशिष्टबुद्धि के प्रति स्वरूपसम्बन्ध जनक न होने से और उसमें विशिष्टबुद्धिजननयोग्यता का कथन असम्भव होने से अव्याप्ति है। शंका-ऐसे स्थलों में असत् स्वरूप ही विशिष्टबुद्धि का जनक है। समाधान-तब तो योग्य स्वरूप की भी उसी प्रकार जनकता सम्भव होने पर उसके लिए अदृष्टकल्पना की अनुपपत्ति का प्रसङ्ग होगा। और असत् दण्डादि का भी उसी प्रकार जनकत्व सम्भव होगा, तब तो असद्वादी बौद्धों से तुम जीते गये। शंका-अतीतादि स्थल में ज्ञानमात्र ही विशिष्टप्रत्यय का जनक है। समाधान-ऐसा भी नहीं हो सकता; क्योंकि ज्ञानमात्र सम्बन्ध नहीं है; उसमें दो संबन्ध होना चाहिये (अर्थात् ज्ञानस्वरूप और विषयस्वरूप दो संबन्ध होना चाहिये)। शंका-अतीतादि स्थल में अगति से एक ही संबन्ध मानना चाहिये। समाधान- तब तो विषयसंबन्ध का अभाव होने पर भी अगति से विषयसंबन्धबुद्धि मान लो। शंका—ऐसा मानने पर बुद्धि भ्रान्त

न्तति बुद्धिर्भ्रान्ता स्यादिति– चेन्न; इष्टापत्तेः । किञ्च–यद्ये-कमपि संबन्धः, घटस्याऽपि कथं घटः संबन्धो न भवति ? तथाप्रतीत्यभावादिति चेत्, यदि वस्त्वस्ति, प्रतीतिरपि स्यादेव । अथ ज्ञानमतीतविषयेण सह स्वस्य संबन्धः, न तु स्वस्य स्वयं संबन्ध इति चेत्; तर्ह्यतीतस्याऽसत्त्वादेव तेन सहेत्यनुपपत्तिः ।

किञ्च– "घटीयं ज्ञानम्" इति या विशिष्टबुद्धिर्जायते, तां प्रति घटो न जनकः । किं तर्हि ? ज्ञानमात्रम्, अनु-व्यवसायस्य ज्ञानाऽतिरिक्तविषयाऽजन्यत्वात् । तदुक्तं मणि-कृता–"अनुव्यवसायस्याऽनुमितेर्वा विषयाऽजन्यत्वात्" इति ।

किञ्च– स्वरूपद्वयस्य संबन्धत्वे "घटीयं ज्ञानम्" इति न स्यात्; घटीयत्वं हि घटसंबन्धाऽऽधारत्वम्, ज्ञानमपि

हो जायेगी। समाधान-ऐसा होना तो इष्ट ही है। किञ्च-यदि एक ही स्वरूप सम्बन्ध हो सकता है तो घट का भी घट ही सम्बन्ध क्यों नहीं होता ? शंका- क्योंकि उस प्रकार से प्रतीति नहीं होती। समाधान-यदि वस्तु है, तो प्रतीति हो ही जायेगी। शंका- अतीत विषयों के साथ अपना संबन्ध ज्ञान है, न कि स्वका स्वयं संबन्ध। समाधान— तो भी अतीत पदार्थ असत् होने से "उसके साथ" यह कहना ही असम्भव है।

किञ्च– "घट संबन्धी ज्ञान" इस प्रकार जो विशिष्टबुद्धि होती है, उस के प्रति घट कारण नहीं; किन्तु ज्ञानमात्र कारण है; क्योंकि अनुव्यवसायज्ञान (ज्ञान से जन्य ज्ञान) ज्ञान के अतिरिक्त किसी विषय से जन्य नहीं होता। मणिकार गंगेशोपाध्याय ने कहा भी है– "अनुव्यवसाय अथवा अनुमितिज्ञान विषय से जन्य नहीं" इति।

किञ्च-ज्ञान और विषय के स्वरूपद्वय को सम्बन्ध मानोगे तो घटीय (घटसंबन्धी) ज्ञान अर्थात् "घटज्ञानवान्" यह ज्ञान नहीं होगा,

घटसंबन्धमध्ये प्रविष्टम् । तथा च स्वस्मिन् स्ववृत्तिर्न संभवति । किञ्च– परकीयं ज्ञानं ज्ञानत्वेन गृहीतम्, घटोऽपि घटत्वेन, तथापि संशयो विद्यते– "परो घटं जानाति न वा" इति; "परज्ञानस्य घटो विषयो न वा" इति वा । सोऽयं न स्यात्; ज्ञानघटस्वरूपद्वयस्य संबन्धत्वात्, तस्य च निश्चितत्वात् । स्वरूपविशेषो न गृहीत इति चेत्, नूनं शिष्यधन्धकोऽसि, यतोऽतिरिक्तं न स्वीकरोषि, तद्द्वयञ्च गृहीत्वाऽगृहीतं वदसि । विशेषणताविशेषो न गृहीत इति चेत्, सोऽप्यतिरिक्ताऽनतिरिक्तविकल्पेन खण्डनीयः । अथ– विषयविषयिभावो ज्ञानार्थयोः संबन्ध इति चेन्न;

क्योंकि घटीयत्व का अर्थ है घटसम्बन्ध का आधारत्व, और ज्ञान भी घटसम्बन्ध के मध्य प्रविष्ट है। तब तो स्वमें स्वकी वृत्ति (घटसम्बन्धाधार ज्ञान में स्वकी वृत्ति) हो नहीं सकती। किञ्च–दूसरे का ज्ञान ज्ञानत्वरूप से गृहीत है, उसी प्रकार घट भी घटत्वरूप से गृहीत है; तो भी संशय हो जाता है कि–"दूसरा पुरुष घट को जानता है या नहीं," अथवा–"परज्ञान का विषय घट है या नहीं।" यह संशय नहीं होना चाहिये, क्योंकि आपके कथनानुसार ज्ञान और घट का स्वरूपद्वय ही सम्बन्ध है; और सम्बन्ध तो निश्चित है। तब संशय कैसे हो सकता है ? शंका-स्वरूपविशेष गृहीत नहीं, इस कारण संशय होता है।

समाधान - अवश्य ही तुम शिष्यों के सामने धन्धन करने वाले हो (ढोल पीटने वाले हो), क्योंकि तुम अतिरिक्त सम्बन्ध को तो मानते नहीं, और उस स्वरूपद्वय (ज्ञान और विषय के स्वरूप) को गृहीत करके भी अगृहीत कहते हो। शंका– ज्ञान और विषय में रहने वाले विशेषणताविशेष गृहीत नहीं है, (अतः संशय हो सकता है)। समाधान– क्या वह स्वरूप के अतिरिक्त है, या अनतिरिक्त ? यदि अतिरिक्त है तो उसको रखने के लिये सम्बन्धान्तर की कल्पना करनी होगी, तब तो अनवस्था होगी। यदि अनतिरिक्त है तो गृहीत

तस्याऽतिरिक्तत्वे कृतान्तविरोधः, अनतिरिक्तत्वे तूक्त एव दोषः। संयोगसमवायावसंभावितावेव, ज्ञानस्य गुणत्वाऽभ्युपगमात्, आत्मनि समवायाऽभ्युपगमाच्च। नाऽपि ज्ञानघटयोर्ज्ञाततालक्षण एव संबन्धः, तत्सत्त्वे प्रमाणाभावात्, अतीताऽनागतयोस्तदसंभवाच्च। ज्ञाततायाः संबन्धान्तराऽभ्युपगमेऽनवस्थानम्, तदभावे च तयोरेव ज्ञातता न स्यात्, स्वरूपसंबन्धस्य च निराकृतत्वात्। नाऽपि ज्ञानार्थयोस्तादात्म्यसंबन्धः, विरुद्धयोस्तादात्म्यानुपपत्तेः, प्रकाशतमसोरिव। नाऽपि ज्ञाननिष्ठाऽऽकाराऽर्पकत्वं विषयत्वम्, तद्वत्त्वञ्च विष-

हो ही गया; (अतः संशय नहीं होगा)। शंका– ज्ञान और अर्थ (विषय) का विषयविषयिभाव सम्बन्ध है। समाधान—नहीं; क्योंकि उसको अतिरिक्त मानोगे तो तुम्हारे सिद्धान्त से विरोध होगा (अर्थात् अतिरिक्त अष्टम पदार्थ मानना होगा)। यदि वह अतिरिक्त नहीं है तो दोष कह ही चुके हैं (अर्थात् संशय का अभाव होगा)। ज्ञान और विषय का सम्बन्ध संयोग और समवाय तो असम्भव ही है, कारण कि ज्ञान को गुण और आत्मा में समवेत माना जाता है। तथा– ज्ञान और घट में ज्ञाततारूप सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, क्योंकि सम्बन्धरूप से ज्ञातता की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है, और अतीत तथा अनागत विषयों में उसका होना असम्भव भी है। ज्ञातता को रखने के लिए सम्बन्धान्तर मानोगे तो अनवस्था होगी; और सम्बन्धान्तर का अभाव होने पर ज्ञान और विषय में ही ज्ञातता नहीं होगी। और स्वरूपसम्बन्ध तो निराकृत हो ही चुका है। तथा—ज्ञान और विषय में तादात्म्यसम्बन्ध भी नहीं हो सकता; क्योंकि तम और प्रकाश के समान विरुद्ध ज्ञान और विषय में तादात्म्य नहीं हो सकता।

तथा—ज्ञाननिष्ठ आकार का समर्पक विषय है और विषयाकारवान् विषयी ज्ञान है–यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि विषय के

यित्वमिति; अर्थस्याऽऽकाराऽर्पकत्वे प्रमाणाऽभावात्, संबन्धं विना तदसंभवाच्च । तस्मात् ज्ञानार्थयोः संबन्धाऽभावेन ज्ञानस्य तत्सिद्धिरूपत्वाऽनुपपत्तेः; सेयं जगत्कवलनयुक्तिः । तस्मात् सुष्ठूक्तम्– अबाध्यत्वेनाऽशक्यव्यवस्थापनत्वमेव व्यावहारिकत्वमिति ।

यद्वा– अलीकत्वमेव व्यावहारिकत्वम् । न च–तथा-सति विधिनिषेधगोचरत्वाऽनुपपत्तिः; तयोरप्यलीकत्वात् । न चाऽपसिद्धान्तः;

"तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः ।
अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति ॥ (सं०वा० १८३) इति वार्तिककृताऽभिधानात् । येन संबन्धेन यद-वच्छेदेन यस्य यदधिकरणत्वम्, तेन संबन्धेन तदवच्छेदेन

ज्ञानाकारसमर्पक होने में कोई प्रमाण नहीं; और सम्बन्ध हुए बिना विषय में आकारार्पकत्व असम्भव है। इस लिये ज्ञान और विषय के सम्बन्ध के अभाव होने के कारण ज्ञान के द्वारा विषय की सिद्धि-रूपता असम्भव है; यह जगत् को कवलित करने वाली (ग्रसने वाली) युक्ति है। अतः यह ठीक ही कहा है कि अबाध्यरूप से अशक्यव्यवस्थानत्व ही व्यावहारिकत्व है।

अथवा-अलीकत्व ही व्यावहारिकत्व है। इसमें यदि शंका हो कि ऐसा होने पर विधि और निषेध की अनुपपत्ति होगी, तो यह शंका ठीक नहीं; क्योंकि विधि और निषेध भी अलीक ही है। ऐसा मानने से अपसिद्धान्त भी नहीं हो सकती; क्योंकि–"तत्त्वमसि" आदि वाक्यों से होने वाली सम्यग् बुद्धि के जन्ममात्रसे यह ज्ञात होता है कि अविद्या अपने कार्यसहित पहले भी नहीं थी, वर्तमान में भी नहीं, और आगे भी नहीं होगी" ऐसा वार्तिककार सुरेश्वराचार्य जी ने कहा है। अतः जिस सम्बन्ध से, जिस अवच्छेद से जिसका जो अधिकरण होता है, उस सम्बन्ध से उस अवच्छेद से उसके उस

तस्य तन्निष्ठकालत्रयवर्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वमेव चाऽसत्त्वमलीकत्वमित्यादिभिः कथ्यते ।

"तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेति सा त्रिधा ।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः ।।"

(पंचदशी ६।१३०) इति श्रुतिदृष्ट्या तुच्छत्वमेव ।

"प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत कथञ्चन" (गौ० का० १।१७) इति संप्रदायविद्भिरभिधानाच्च ।

यद्वा– अमोक्षात्मकत्वमेव व्यावहारिकत्वम् । न चेष्टापत्तिः; अस्मदभिमतज्ञानाऽऽनन्दस्वरूपमोक्षात्मरूपभिन्नत्वस्य भवताऽनभ्युपगमात् । न च– मोक्षस्य दुःखध्वंसरूप-

अधिकरण में निष्ठ त्रैकालिकात्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व ही असत्त्व अलीकत्व इत्यादि शब्दों से कहा जाता है (१) । "श्रौत, यौक्तिक और लौकिक बोध के अनुसार माया को तुच्छ, अनिर्वचनीय और वास्तविक तीनरूपों से समझना चाहिये" इस वचन के अनुसार श्रुति की दृष्टि से सर्व प्रपञ्च तुच्छ ही हैं । "प्रपञ्च यदि होता तो किसी प्रकार निवृत्त हो जाता" (किन्तु है नहीं तो किसकी निवृत्ति होगी) इस प्रकार सम्प्रदायवित् गौडपादाचार्य जी ने भी कहा है ।

अथवा– अमोक्षस्वरूपत्व ही व्यावहारिकत्व है । इसमें तुम इष्टापत्ति कह नहीं सकते; क्योंकि हमारे अभिमत ज्ञान और आनन्दस्वरूप मोक्षात्मरूप से भिन्नत्व ही व्यावहारिकत्व है– इस बात को तुम नहीं मानते (क्योंकि नैयायिकों के मत में आत्यन्तिक दुःखाभाव मोक्ष है) ।

शंका– मोक्ष का स्वरूप दुःखध्वंसरूप है; वह तो अन्योन्या-

---

(१) जैसे कि–समवायसम्बन्ध से और शाखावच्छेद से कपिसंयोग का अधिकरण वृक्ष है, उसमें ही यदि समवायसंबन्ध से और शाखावच्छेद से कपिसंयोग का त्रैकालिकात्यन्ताभाव हो जाये तो, वह संयोग असत् या अलीक ही कहा जायेगा ।

त्वात्तस्य चाऽन्योन्याभावभिन्नत्वादिष्टापत्तिरस्मन्मते स्यादिति–वाच्यम्, मोक्षस्य दुःखाऽभावरूपत्वे प्रमाणाऽभावात्। न च– "अशरीरं वाव सन्तं प्रियाऽप्रिये न स्पृशतः" (छा० ८।१२।१) इति श्रुतिर्मानम्; यदा शरीरं नास्ति, तदा प्रियाऽप्रियस्पर्शौ नास्तीत्येतावन्मात्रं श्रुतेरर्थः, न तु दुःखाऽभावस्य मोक्षत्वे सा श्रुतिः प्रमाणम्। तत्र तस्या असामर्थ्यात्; प्रलयकालेऽपि तत्सम्भवात्। न च– "बाधनालक्षणं दुःखम्, तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः" (न्या०द० १।१।२१,२२) इति सूत्रं प्रमाणम्; तस्याऽऽप्तविधया प्रामाण्याभावात्, ततोऽत्यन्ताभावप्रतीतेश्च। युक्त्युत्थापकत्वेन प्रामाण्ये तथाविधयुक्तेरभावात्। पुरुषार्थत्वाद् दुःखाभावो मोक्ष इति– चेन्न; सुखस्यापि तथात्वापत्तेः। तस्य तत्कालेऽसंभव इति चेन्न;

भाव से भिन्न है। इस लिये हमारे मत में इष्टापत्ति है। समाधान– ऐसा नहीं कहना चाहिये; कारण कि–मोक्ष के दुःखाभावरूपत्व में कोई प्रमाण नहीं है। शंका–यह आत्मा अशरीर होती हुई प्रिय और अप्रिय (सुख और दुःख) से स्पृष्ट नहीं" यह श्रुति प्रमाण है।

समाधान–ऐसा नहीं; क्योंकि–जिस समय शरीर नहीं है उस समय प्रिय और अप्रिय का स्पर्श (सम्बन्ध) नहीं है–इतनामात्र श्रुति का अर्थ है। अतः दुःखाभाव के मोक्षरूप होने में यह श्रुति प्रमाण नहीं हो सकती; कारण कि–इसमें श्रुति की सामर्थ्य नहीं है, और प्रलयकाल में भी तो वह प्रियाप्रिय का अस्पर्श सम्भव है। शंका–"पीडारूप दुःख है, उसका अत्यन्त विमोक्ष अपवर्गरूप मोक्ष है" यह सूत्र प्रमाण है। समाधान–नहीं; क्योंकि इस सूत्र का आप्तवाक्यरूप से प्रामाण्य नहीं हो सकता, इससे तो अत्यन्ताभाव की ही प्रतीति होती है। युक्ति के उत्थापकरूप से सूत्र के प्रामाण्य में भी मोक्ष को दुःखध्वंसरूप सिद्ध करने वाली युक्ति नहीं है। शंका–पुरुषार्थ होने से दुःखाभाव ही मोक्ष है–यह युक्ति है। समाधान–नहीं, क्योंकि उस युक्ति से सुख की भी मोक्षरूपता की

अनित्यस्याऽसंभवेऽपि नित्यस्य संभवात् । विरक्तस्य मोक्षेऽधिकारः, तस्य च सुखे कामना नास्ति चेत्, दुःखाऽभावेऽपि न स्यात् । नहि– दुःखाऽभावेच्छा न रागः, अपितु सुखेच्छैवेति नियामकमस्ति । तथापि च विषयसुख एवोपेक्षा स्यात्, न तु नित्येऽपि, तत्र क्षयिष्णुत्वादिदोषाऽभावेन वैराग्यानुपपत्तेः ।

किञ्च– दुःखाऽभावस्य काम्यत्वे दुःखविशिष्टस्याऽभावस्य कामनाविषयत्वे दुःखस्याऽपि तदापत्तौ पुरुषार्थत्वापत्तिः । अथ– दुःखेनोपलक्षितं व्यक्तिस्वरूपमेव काम्यम्, कथमन्यथा लौकिकदुःखाभावोऽपि काम्यः स्यादिति– चेन्न; व्यक्तिमात्रस्य काम्यत्वेऽतिप्रसङ्गात् । व्यक्तिविशेषस्य च

आपत्ति होगी। शंका–मोक्षावस्था में सुख होना असम्भव है। समाधान–उस अवस्था में अनित्य सुख होना असम्भव होने पर भी नित्य सुख होना तो सम्भव है। शंका-- विरक्त का मोक्ष में अधिकार है, और विरक्त की सुख में कामना नहीं होती। समाधान--तब तो दुःखाभाव में भी उसकी कामना नहीं होनी चाहिये। क्योंकि दुःखाभाव की कामना तो राग नहीं, किन्तु सुख की कामना ही राग है- इसमें कोई नियामक नहीं है। सुखेच्छा को राग मान भी लें, तो भी विषयसुख में ही उपेक्षा होनी चाहिये, नित्य सुख में तो नहीं, क्योंकि नित्य सुख में विनाशित्वादि दोष का अभाव होने से उससे वैराग्य होना असम्भव है।

किञ्च–दुःखाभाव काम्य होने पर दुःखविशिष्ट अभाव ही कामना का विषय होगा, तब तो दुःख में भी कामनाविषयत्व की आपत्ति आने से उसमें भी पुरुषार्थत्व होगा। शंका-दुःख से उपलक्षित अभावव्यक्तिस्वरूप ही काम्य है; यदि ऐसा नहीं मानोगे तो लौकिक-दुःखाभाव भी किस प्रकार काम्य हो सकता है? समाधान–यह नहीं हो सकता; क्योंकि अभावव्यक्तिमात्र काम्य होने पर तो अतिव्याप्ति

तथात्वे प्रतियोग्यतिरिक्तस्य तस्य वक्तुमशक्यत्वात् । व्यक्तिरेव विशेष इति चेन्न; अननुगमे तत्कामस्याऽधिकारित्वं न स्यात्; श्रुत्या वक्तुमशक्यत्वात्; व्यक्त्यन्तरस्याऽपि व्यक्तिविशेषत्वाच्च । लौकिकदुःखाऽभावोऽप्यस्मन्मते स्वतो न काम्यः, उक्तदोषात् । किं तर्हि ? तदभिव्यक्तो ब्रह्मानन्द एव; तदर्थत्वेनैव यथाकथञ्चित्तत्र कामनोपपत्तेः । अन्यथा भाराऽपनये सुखिनः संवृत्ताः स्म इति प्रत्ययो न स्यात् । तत्रात्मनि सुखित्वारोप इति–चेन्न; बाधकाऽभावात् । नहि "नाऽहं सुखी संवृत्तः" इति विपरीत-

होगी (अर्थात् सब अभावव्यक्तियों में काम्यत्व का प्रसंग होगा) । और अभावव्यक्तिविशेष ही यदि काम्य है तो प्रतियोगी को साथ लिये बिना उसका कथन असम्भव है । शंका--उसमें व्यक्ति ही विशेष है । समाधान-ऐसा भी नहीं है; अनुगम न होने पर तो उस व्यक्ति-विशेष की कामना करने वाला कोई अधिकारी सिद्ध नहीं होगा; क्योंकि उस व्यक्तिविशेष को श्रुति निर्देश करके बता नहीं सकती; और अन्य व्यक्ति में भी व्यक्तिविशेषत्व तो है ही । इसके अतिरिक्त लौकिकदुःखाभाव में भी उक्तदोष (दुःखविशिष्ट अभाव काम्य होने से दुःखांश में भी काम्यत्वदोष) होने से हमारे मत में वह (लौकिकदुःखाभाव) स्वतः काम्य नहीं; किन्तु उसके द्वारा (दुःखाभाव के द्वारा) अभिव्यक्त ब्रह्मानन्द ही काम्य है; क्योंकि उस ब्रह्मानन्द के लिये ही किसी प्रकार उस दुःखाभाव में भी कामना हो सकती है । यदि दुःखाभाव ही काम्य है तो भार हटाने पर "हम सुखी हो गये" यह ज्ञान नहीं होगा । इसमें यदिशंका हो कि भारापनयदशा में या दुःखाभावकाल में आत्मा में सुखित्व का आरोप है, तो यह शंका उचित नहीं; क्योंकि आरोप होने पर उसका बाध भी होना चाहिये; किन्तु उसका बाधक कोई है नहीं और "मैं सुखी नहीं हुआ हूं" ऐसा विपरीतज्ञान भी उसे नहीं होता ।

प्रत्ययस्तस्यास्ति । अथ– विषयजन्यत्वात् सुखस्य, तत्र च विषयाऽभावात् युक्त्या बाध इति चेन्न; मानोरथिकस्वाप्निक-सुखादौ विषयजन्यत्वाऽभावेऽपि सुखस्याऽबाधात् । तत्र तद्वि-षयज्ञानमेव जनकमिति यदि, तर्हि भारापगमेऽपि दुःखाऽभा-वस्य भाराऽपनयज्ञानस्य वा सुखजनकत्वं स्वीकुरु; अनि-यतहेतुकस्याऽवश्यमेष्टव्यत्वात् । एतावांस्तु विशेषः–तत्र जन्यं सुखम्, मम तु सदेव ब्रह्म सुखमभिव्यक्तमिति । अतएव सुषुप्ते सुखाऽनुभव उपपद्यते, अन्यथा "सुखमहमस्वाप्सम्" इति परामर्शो न स्यात् ।

ननु–नित्यस्य सुखस्य स्वप्रकाशस्य काऽभिव्यक्तिर्नाम ? आवरणध्वंस इति वदामः । किं तदावरणम्, यस्य ध्वंसः ?

शंका—सुख विषयजन्य है, और भारापनयदशा में तो विषय का अभाव होने से युक्ति के द्वारा सुख का बाध होगा । समाधान-ऐसा नहीं; क्योंकि मनोरथ से होने वाले और स्वप्न में होने वाले सुखादि में विषयजन्यत्व का अभाव होने पर भी सुख का बाध नहीं होता । यदि तुम कहो कि उसमें तत्तद्विषयज्ञान ही सुख का जनक है, तो भारापगम में भी दुःखाभाव या भारापनयज्ञान को सुख का जनक मानो, क्योंकि उसदशा में अनियतहेतु वाले सुख तुमको अवश्य मानना होगा । इसमें तुम्हारे मत से हमारे मत में इतना तो विशेष है कि तुम्हारे मत में सुख जन्य है, और हमारे मत में सुखरूप सत् ब्रह्म ही अभिव्यक्त होता है । अतएव सुषुप्त पुरुष को सुख का अनुभव होता है, यदि उसकाल में सुख का अनुभव नहीं होता तो "मैं सुखपूर्वक सोया" यह परामर्श (स्मृतिज्ञान) नहीं हो सकता ।

शंका—नित्य स्वप्रकाश सुख की अभिव्यक्ति क्या है ? उत्तर-आवरण का ध्वंस ही अभिव्यक्ति है–ऐसा हम कहते हैं । शंका-वह आवरण क्या है, जिसका ध्वंस होता है ? उत्तर उसको भावरूप

भावरूपमज्ञानमिति गृहाण । किञ्च– अतिरिक्ताऽभावे मानाऽभावाच्च न दुःखाऽभावो मोक्षः; अनतिप्रसक्ताऽधिकरणस्वरूपेणैव अत्यन्ताऽभावाऽन्योन्याभावप्रतीत्युपपत्तेः, अभावप्रतियोगिताऽऽभावाऽधिकरणयोस्तयोस्तथैव भवता स्वीकाराच्च । प्रागभावस्तु कपालादिस्वरूप एव; अतिरिक्तस्य तस्य सत्त्वे मानाऽभावस्य पूर्वमुक्तत्वात्, ध्वंसोऽपि मुद्गरादिपातादिरेव, तदतिरिक्तस्याऽननुभवात् । न च– मुद्गरपाताज्जातो ध्वंस इत्यनुभवः कथं स्यादिति– वाच्यम्; तस्याऽसिद्धेः । मुद्गराज्जातो ध्वंस इत्येवाऽनुभवः । मुद्गरपातस्तु तज्जन्यो भवति । एवं ध्वंसाऽधिकरणयोः संबन्धाऽनुपपत्तेश्च; स्वरूपसंबन्धस्य पूर्वमेव निराकृतत्वात् । यद्वा– कपालावस्थैव घटस्य ध्वंसः, गुणगुण्यादिभेदाऽभावान्न

अज्ञान समझो । किञ्च– भाव के अतिरिक्त अभाव में प्रमाण न होने से दुःखाभाव मोक्षस्वरूप नहीं, क्योंकि अतिप्रसक्ति से रहित अधिकरण का स्वरूप होकर ही अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव की प्रतीति हो सकती है; अभावप्रतियोगिता और अभावाधिकरण इन दोनों को आपने वैसा ही माना है (अर्थात्–अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता को प्रतियोगिस्वरूप और भेद को अनुयोगिस्वरूप माना है)। प्रागभाव तो कपालादिस्वरूप ही है; और अतिरिक्त प्रागभाव के अस्तित्व में प्रमाणाभाव तो पहले ही प्रदर्शित हो चुका है। ध्वंस भी मुद्गरपातादिरूप ही है, क्योंकि उसके अतिरिक्त ध्वंस का अनुभव नहीं होता। शंका–"मुद्गरपात से ध्वंस हुआ" यह अनुभव कैसे होगा? उत्तर–ऐसा न सोचो, क्योंकि वह असिद्ध है; "मुद्गर से ध्वंस हुआ" यह अनुभव होता है। मुद्गरपात तो मुद्गर से जन्य है (अतः पात ही मुद्गरजन्य ध्वंस है)। ध्वंस और उसके अधिकरण में सम्बन्ध भी नहीं हो सकता; स्वरूपसम्बन्ध का तो पहले ही निराकरण हो चुका है। अथवा– पुनः कपालावस्था होना

पृथग् ध्वंसः । तस्मात्सुष्ठूक्तम्– अमोक्षात्मकत्वमेव व्याव-हारिकत्वम् ।

यद्वा– मोक्षोपायज्ञानाऽविषयत्वमेव व्यावहारिकत्वम् । न च– श्रवणादीनां भेदविषयत्वात्कथमेतदिति– साम्प्रतम्; तेषां भेदविषयत्वे प्रमाणाऽभावात् । अभिन्नत्वेन च श्रूयत आत्मा । तथाहि– "ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद, क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद" (बृ० २।४।६) इत्याद्युक्त्वा "सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद... यदयमात्मा" (बृ० २।४।६) इत्यादिवाक्यानामस्थूलादि-वाक्यानाञ्चाऽत्यन्ताभावपरत्वं व्याख्यातमेव । तथा च भेदस्य मोक्षविषयात्मज्ञानविषयत्वं भ्रम एव तार्किक-

हो घट का ध्वंस है; गुणगुणी आदि में भेद न होने से ध्वंस पृथक् नहीं होगा। अतः यह ठीक ही कहा है कि—अमोक्षात्मकत्व ही व्यावहारिकत्व है।

अथवा–मोक्ष के उपायभूत ज्ञान का अविषयत्व ही व्यावहा-रिकत्व है। इसमें यदि शंका हो कि-श्रवणादि मोक्षोपायों में भेदविषय-त्व होने से यह कैसे हो सकता है, तो यह शंका ठीक नहीं; क्योंकि श्रवणादि के भेदविषयकत्व होने में कोई प्रमाण नहीं। श्रुतियों में तो अभिन्नत्वरूप से आत्मा प्रतिपादित है। तथा हि–"ब्राह्मण उसको पुरुषार्थ से भ्रष्ट करता है, जो आत्मा से भिन्न ब्राह्मण को समझता है; क्षत्रिय उसको पुरुषार्थ से भ्रष्ट करता है, जो आत्मा से भिन्न क्षत्रिय को समझता है" इत्यादि कहकर "सब उसको पुरुषार्थ से भ्रष्ट करता है, जो सब को आत्मा से भिन्न समझता है...ब्राह्मण क्षत्रियादि सब यह आत्मा ही है" इत्यादि वाक्यों का तथा "अस्थू-लम्" इत्यादि वाक्यों का आत्मातिरिक्तात्यन्ताभावपरत्व प्रतिपादित हो चुका है। इसलिये भेद को मोक्षविषयक आत्मज्ञान का विषय

मन्यस्य । न च– शरीरात्मभेदज्ञानं विना कथं मोक्षः ? तदभेदज्ञानस्य संसारहेतुत्वादिति– वाच्यम्; ब्रह्मात्माऽज्ञानस्यैव संसारहेतुत्वात् । प्रतिपादितञ्चैतदधस्तात् ।

यद्वा– मुक्तेनाऽवेद्यत्वमेव व्यावहारिकत्वम् । न चेष्टापत्तिः; तदानीं भेदस्य सत्त्वे वेदनापत्तेर्वज्रलेपायितत्वात् । वेदनाऽभावान्न जानातीति– चेन्न; "नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्" (बृ० ४।३।२३) इत्यादिश्रुत्या वेदनसद्भावस्य सर्वदा प्रतिपादितत्वात् । तत्प्रामाण्याऽनभ्युपगमे तु बौद्धवदुपेक्षणीयोऽसि । तस्मात्तदानीं प्रपञ्चस्याऽसत्त्वादेवाऽवेदनीयता । तदयं परोक्तलक्षणदोषोद्धारः ।

मानना अपने को तार्किक मानने वाले का भ्रम ही है। शंका-शरीर और आत्मा का भेदज्ञान हुए बिना किस प्रकार मोक्ष होगा ? क्योंकि दोनों का अभेदज्ञान संसार का हेतु है। उत्तर–ऐसा न कहो; क्योंकि ब्रह्म से अभिन्न आत्मा का अज्ञान ही संसार का हेतु है-यह बात पहले ही प्रतिपादित हो चुकी है।

अथवा–मुक्त पुरुष से अवेद्यत्व ही व्यावहारिकत्व है। इसमें तुम्हारी इष्टापत्ति नहीं हो सकती; कारण कि मोक्षकाल में भेद का सत्त्व होने पर उसके ज्ञान होने की आपत्ति होना वज्रलेप के समान है। शंका-मोक्षकाल में भेद होने पर भी ज्ञान न होने से भेद जाना नहीं जाता। समाधान–तुम ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि "द्रष्टा की स्वरूपभूत दृष्टि (चित्) का विलोप नहीं होता, कारण कि वह अविनाशी है" इत्यादि श्रुति से सदा वेदन का सद्भाव प्रतिपादित है। उसके प्रामाण्य को नहीं मानोगे तो तुम भी बौद्ध के समान उपेक्षणीय ही होगे। अतः मोक्षकाल में प्रपञ्च की असत्त्व से ही अवेदनीयता है। यह जो विचार किया गया है, वह वादी के द्वारा कथित लक्षणों में दिये हुए दूषणों के उद्धार के लिए है (अभिप्राय

स्वमते तु ब्रूमः– सति प्रमातरि बाध्यत्वम्, सविकल्पकज्ञानबाध्यत्वम्, मोक्षसाधनेतरज्ञानबाध्यत्वं वा प्रातीतिकत्वमविद्योपाधिकम् । प्रमात्रा सह बाध्यत्वम्, निर्विकल्पकज्ञानबाध्यत्वम्, मोक्षहेतुज्ञानमात्रबाध्यत्वं वा मायोपाधिकं व्यावहारिकत्वम् । एकस्यैवाज्ञानस्य किञ्चिदवच्छिन्नचैतन्यविषयत्वेनाऽनवच्छिन्नचैतन्यविषयत्वेन चाऽविद्या मायेति व्यपदेशः । तदेतद्भेदप्रपञ्चसाधारणं त्रयम्; पूर्वोक्तं तु त्रयं शुक्तिरजतसाधारणम् । एतद्द्वयविलक्षणत्वं ब्रह्मणः पारमार्थिकत्वं नाम । न च– विलक्षणत्वं वैधर्म्यम्, तथा च

यह है कि श्री शंकरमिश्र ने "भेदरत्न" में अपनी तरफ से व्यावहारिकत्व के सम्भावित लक्षणों को उद्धृत करके दूषण दिया है; किन्तु उन लक्षणों की मान्यता सिद्धान्त में नहीं है, तो भी यहां पर उन दूषणों का उद्धार किया गया है)।

अपने सिद्धान्त के मत में तो हम कहते हैं-प्रमाता की सत्तादशा में बाध्यत्व, सविकल्पकज्ञान से बाध्यत्व अथवा मोक्षसाधनज्ञान से भिन्न ज्ञान के द्वारा बाध्यत्व प्रातिभासिकत्व है, और उसमें अविद्या उपाधि है। तथा प्रमाता के सहित बाध्यत्व, निर्विकल्पकज्ञान से बाध्यत्व, अथवा मोक्षहेतुज्ञानमात्रबाध्यत्व व्यावहारिकत्व है, और इसमें माया उपाधि है। यहां पर अज्ञान का--किञ्चिदवच्छिन्नचैतन्यविषयकरूप से अविद्या और निरवच्छिन्नचैतन्यविषयकरूप से माया-ऐसा शब्दव्यवहार है (स्वरूपतः तो माया, अविद्या और अज्ञान में कोई भेद नहीं)। ये जो व्यावहारिकत्व के तीन लक्षण हैं, वे भेद और प्रपञ्च दोनों में साधारण हैं, और प्रातिभासिकत्व के पूर्वोक्त तीन लक्षण शुक्तिरजतादि में साधारण हैं।

इन दोनों से विलक्षणत्व ही ब्रह्म का पारमार्थिकत्व है। शंका-विलक्षणत्व तो वैधर्म्य है, तब तो वह भेद का नामान्तरत्व है। समाधान--ऐसा न कहो; क्योंकि स्वप्रकाश चित्स्वरूप का ही

भेदस्य नामान्तररूपमिति– वाच्यम्; स्वप्रकाशचित्स्वभावस्यैव तथाभिधानादिति । तस्माद् व्यावहारिकत्वपारमार्थिकत्वविशेषाङ्गीकारे महदिष्टं वेदान्तिनामनिष्टं च तार्किकाणामिति । न च–धर्मद्वयवद्धर्मिद्वयस्वीकारे इष्टापत्तिरिति युक्तिमत्; प्रपञ्चस्य बाधेनाऽत्यन्ताभावस्वीकारात्, ब्रह्मस्वरूपस्यैव च पारमार्थिकशब्देन कथनात् । तस्मात् सत्यो भेदः, प्रपञ्चो वेति बृद्धैस्तार्किकैर्बोधितमाकर्ण्यार्ऽर्वाचीना अपि तार्किका व्यामुग्धा वर्तन्ते । वस्तुतस्तु प्रमाणसिद्धमद्वैतं, प्रपञ्चो वा कालत्रयेऽपि नास्तीति सिद्धम् ॥

इति भ्रममात्रविषयत्वबाधितत्वादिव्यावहारिकत्वनिर्वचनेन सत्तात्रैविध्योपपत्तिः ॥१६॥

विलक्षणत्वशब्द से कथन है। अतः व्यावहारिकत्व और पारमार्थिकत्व की विशेषता अङ्गीकार करना वेदान्तियों को महान् इष्ट है और तार्किकों को अनिष्ट है। शंका–उस धर्मद्वय के समान धर्मिद्वय स्वीकार होने पर तो इष्टापत्ति है। समाधान–ऐसा कथन अयुक्त है, क्योंकि प्रपञ्च के बाध से उसका अत्यन्ताभाव स्वीकार किया जाता है (अतः धर्मी प्रपञ्च नहीं रह जाता)। तथा पारमार्थिकशब्द से ब्रह्मस्वरूप का कथन है (अतः पारमार्थिकत्व धर्म भी नहीं रह जाता)। इस लिये सत्य भेद है, अथवा प्रपञ्च सत्य है–ऐसा बृद्ध तार्किकों से बोधित किये हुए को सुनकर आधुनिक तार्किक भी व्यामुग्ध हो जाते हैं। वास्तव में तो अद्वैत प्रमाणसिद्ध है, अथवा द्वैतप्रपञ्च तीनों कालों में नहीं है–यह सिद्ध हुआ।

इति भ्रममात्रविषयत्व-बाधितत्वादिव्यावहारिकत्वनिर्वचनेन सत्तात्रैविध्योपपत्तेरनुवादः ॥१६॥

अथ प्रपञ्चसत्यत्वाऽनुमानभङ्गः ॥२०॥

ननु—अस्त्वनुमानात्प्रपञ्चस्य सत्यत्वम्। तथाहि— भेदः पारमार्थिकः, व्यावहारिकत्वात्, यन्न पारमार्थिकम्, तन्न व्यावहारिकम्, यथा ब्रह्माऽद्वैतम्, न चाऽयं न व्यावहारिकः, तस्मात्पारमार्थिक इति व्यतिरेकीति— चेत्; पारमार्थिकत्वं यदि स्वप्रकाशचिद्रूपत्वम्, तदा बाधः, तवाऽनङ्गीकारश्च। तथा सत्तायोगित्वम्, तथापि तथा। अथ बाधविधुरत्वम्, तदपि न; पूर्वं बाधस्योक्तत्वात्, ब्रह्माऽद्वैतसाधनभावेनाऽस्मन्मते व्यतिरेकव्याप्तिभूम्यभावाच्च। शुक्तिरजतादौ च

अथ प्रपञ्चसत्यत्वानुमानभङ्गस्याऽनुवादः ॥२०॥

शंका—अच्छा, अनुमान से प्रपञ्च का सत्यत्व हो। तथाहि—भेद पारमार्थिक है, क्योंकि उसमें व्यावहारिकत्व है, जो पारमार्थिक नहीं है, वह व्यावहारिक भी नहीं, जैसे ब्रह्माद्वैत; यह भेद व्यावहारिक नहीं है, ऐसी बात नहीं (अर्थात् व्यावहारिक ही है); इस लिये वह पारमार्थिक है— इस प्रकार व्यतिरेकी अनुमान है।

समाधान—यह अनुमान ठीक नहीं; क्योंकि साध्यरूप पारमार्थिकत्व यदि स्वप्रकाशचित्स्वरूपत्व है, तो पक्ष में उसकी वृत्ति न होने से बाध है, और तुम उसे अङ्गीकार भी नहीं करते। यदि पारमार्थिकत्व सत्तायोगित्व है, तो भी उसका बाध होता है (क्योंकि भेद में सत्ता नहीं, तुम भी उसमें सत्ता नहीं मानते)। और बाधरहितत्व भी पारमार्थिकत्व नहीं हो सकता; क्योंकि भेद का बाध पहले कह चुके हैं। और हमारे मत में ब्रह्माद्वैत में बाधविधुरत्वरूप पारमार्थिकत्व साध्य होने से "यन्न पारमार्थिकम्, तन्न व्यावहारिकम् यथा ब्रह्माद्वैतम्" इस प्रकार व्यतिरेक व्याप्ति के लिए उपसंहार-

हेतुर्व्यभिचारी, पक्षहेत्वोर्भेदाऽसिद्धौ तदनुपपत्तेश्च । साध्याऽप्रसिद्धौ व्यतिरेकव्याप्त्यग्रहः । प्रसिद्धौ चाऽनुचितता । तदीदृशमनुमानं प्रयुञ्जमानो नूनमजैषीस्त्रपां परम्, न तु प्रतिपक्षिणमिति ।

अथाऽस्त्वन्वयी हेतुः । तथाहि– पारमार्थिकत्वाऽपारमार्थिकत्वाभ्यां विवादपदं भेदः पारमार्थिकः, व्यावहारिकत्वात्, यद्यद्व्यावहारिकम्, तत्तत्पारमार्थिकम्, यथा ब्रह्म; पारमार्थिकत्वव्याप्यव्यावहारिकत्ववांश्चाऽयं, तस्मात्पारमार्थिक इति– चेन्न; साध्यसाधनविकलत्वाद् दृष्टान्तस्य । नहि ब्रह्मण्यविद्यातत्कार्याऽन्यतरत्वस्य व्यावहारिकत्वस्य, त्वदभि-

भूमित्व (व्याप्तिसमन्वय के लिये प्रसिद्धस्थलत्व) नहीं हो सकता; शुक्तिरूप्यादि में भी व्यावहारिकत्वहेतु व्यभिचारी है। तथा पक्ष और हेतु के भेद की असिद्धि होने पर व्यावहारिकत्व का हेतु होना भी असम्भव है (क्योंकि परमार्थतः भेद और व्यावहारिकत्व में अभी भेद सिद्ध हुआ नहीं)। और साध्य की अप्रसिद्धि होने पर "यत्र पारमार्थिकम्, तत्र व्याव्यहारिकम्" इस व्यतिरेकव्याप्ति का अग्रह होगा, और प्रसिद्धि होने पर केवलव्यतिरेकी अनुमान करना उचित नहीं। तब तो इस प्रकार के अनुमान का प्रयोग करके आपने अवश्य ही केवल लज्जा को जीता है, प्रतिपक्ष को तो जीता नहीं।

शंका– अच्छा; अन्वयी हेतु ही हो। तथाहि—पारमार्थिक है अथवा अपारमार्थिक—इस प्रकार से विवादविषयीभूत भेद पारमार्थिक है, क्योंकि उसमें व्यावहारिकत्व है; जो जो व्यावहारिक होता है, वह वह पारमार्थिक होता है; जैसे ब्रह्म; और यह भेद पारमार्थिकत्व का व्याप्य व्यावहारिकत्वधर्म वाला है; अतः पारमार्थिक है।

समाधान– यह ठीक नहीं; क्योंकि दृष्टान्त ब्रह्म में साध्य और साधन दोनों ही नहीं हैं, ब्रह्म में अविद्या और अविद्याकार्य का अन्यतरस्वरूप व्यावहारिकत्व तथा तुम्हें अभिमत सत्तायोगित्वा-

मतस्य वा सत्तायोगित्वादेः पारमार्थिकत्वस्य सत्त्वमस्माभिः स्वीक्रियते, उभयसिद्धस्यैव दृष्टान्तत्वात् । तथापि शब्द-प्रयोगरूपं व्यवहारविषयत्वमस्तीति – चेन्न; "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तै० २।४।१) इत्यादिश्रुत्या तन्निषेधात्; स्व-प्रकाशे तस्मिन् तत्प्रतिपाद्यत्वस्याऽप्यसिद्धेः । कथं तर्हि वेदान्ता ब्रह्मणि प्रमाणमिति– चेत्; तदाकाराऽन्तःकरण-वृत्त्युत्पादनद्वारा तन्निष्ठाऽज्ञाननिवर्तकत्वादेव । तदाकार-त्वञ्च वृत्तिनिष्ठ एव कश्चिदनिर्वचनीयो धर्म इत्यद्वैतसिद्धौ विस्तरः । तदुक्तम्– "सिद्धन्तु निवर्तकत्वात्" इति । किञ्च– उपहितस्य ब्रह्मणो व्यवहारविषयत्वेऽपि न तस्य पारमार्थिकत्वम्; तथा च साध्यविकलता । निरुपाधिकस्य

दिरूप पारमार्थिकत्व की वृत्ति हमारे मत में नहीं मानी जाती; और उभयपक्ष से सिद्ध ही दृष्टान्त होता है। शंका – तो भी शब्दप्रयोग-रूप व्यवहार की विषयता ब्रह्म में है। उत्तर–नहीं; क्योंकि "जहां से वाणी निवृत्त होती है" इत्यादि श्रुति से ब्रह्म में शब्द-व्यवहारविषयता का निषेध किया गया है। और स्वप्रकाशरूप ब्रह्म में शब्दप्रतिपाद्यता की भी असिद्धि है। शंका–तब तो वेदान्त किस प्रकार ब्रह्म में प्रमाण होंगे ? उत्तर –ब्रह्माकार अन्तःकरणवृत्ति का उत्पादन करके ब्रह्मनिष्ठ अज्ञान का निवर्तक होने से ही वेदान्त प्रमाण हैं और ब्रह्माकारता तो वृत्तिनिष्ठ कोई अनिर्वचनीय धर्म है–यह बात अद्वैतसिद्धि में विस्तार से कही गई है। कहा भी "अज्ञाननिवर्तकता होने से वेदान्तवाक्यों का प्रामाण्य सिद्ध है" इति। किञ्च– उपहित ब्रह्म की व्यवहारविषयता होने पर भी उस उप-हित की पारमार्थिकता नहीं (क्योंकि उपाधियुक्त होने से वह जग-दन्तःपाती है)। तब तो दृष्टान्तीभूत उपहित ब्रह्म में साध्यविकलता (पारमार्थिकत्वाभाव) है; और निरुपाधिक ब्रह्म तो सर्वव्यवहारा-

तु सर्वव्यवहाराऽतीततैव । न च-- ज्ञानरूपो व्यवहारस्तत्राऽस्तीति– साम्प्रतम्; तस्यैव ज्ञानरूपत्वेन तत्र ज्ञानाऽन्तराऽस्वीकारात् । न च– ब्रह्मणः सर्वाऽभिन्नत्वेन घटाद्यानयनादिव्यवहारोऽपि त्वन्मते तस्यैवेति–साम्प्रतम्; सर्वाधिष्ठानत्वस्यैव सर्वाऽभिन्नशब्दार्थत्वात्, यथा सर्पाद्यभेदेऽपि रज्ज्वाः स्वीक्रियमाणे न सर्पाद्यानयनं तस्या भवति । यदि सर्वस्य ब्रह्माऽभिन्नत्वमेव निरणायि, तदा व्यवहारस्याऽतिरिक्तस्याऽभावात् कस्य ब्रह्मविषयः स्यादिति परिभावय । न च– ब्रह्म न व्यावहारिकमित्यन्ततो निषेधरूपव्यवहारस्याऽपि त्वयाऽभ्युपगमात्, अन्यथा व्यावहारिकत्वाऽनिषेधे व्यावहारिकत्वमयत्नसिद्धमिति– वाच्यम्; निषेधकशब्दाऽविषयत्वेऽपि तदाकारान्तःकरणवृत्त्युत्पादनेन परभ्रमनिरास-

तीत है, अतः उसमें साधनविकलता (व्यावहारिकत्वाभाव) है। शंका– ज्ञानरूप व्यवहार तो शुद्ध ब्रह्म में भी है। उत्तर–ऐसा कहना अयुक्त है; क्योंकि वही स्वयं ज्ञानरूप है, अतः उसमें ज्ञानान्तर का व्यवहार नहीं माना जाता। शंका– ब्रह्म सर्वाभिन्न होने से घटादि का आनयनादि व्यवहार भी आपके मत में ब्रह्म का ही होगा। उत्तर- ऐसा कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि सर्वाधिष्ठान होना ही सर्वाभिन्न-शब्द का अर्थ है, जैसे रज्जु का सर्पादि के साथ अभेद स्वीक्रियमाण होने पर भी सर्पादि का आनयन रज्जु का नहीं होता। इसके अतिरिक्त-यदि सबके साथ ब्रह्म की अभिन्नता का निर्णय ही हो गया तो अतिरिक्त व्यवहार का अभाव होने से किस व्यवहार का विषय ब्रह्म होगा-इसका भी तो कुछ विचार करो। शंका "ब्रह्म व्यावहारिक नहीं है" इस प्रकार अन्ततः निषेधरूप व्यवहार तुमको मानना ही होगा, यदि ऐसा नहीं मानोगे तो व्यावहारिकत्व का निषेध न होने पर विना प्रयत्न से व्यावहारिकता सिद्ध होगी। उत्तर–ऐसा न कहो; क्योंकि ब्रह्म निषेधकशब्द का अविषय होने पर भी ब्रह्माकार

फलत्वाच्छब्दस्य, व्यावहारिकत्वाऽनिषेधेऽपि तत्साधकप्रमाणाऽभावादेव ब्रह्मणि तदसिद्धेश्च । शक्तिनिषेधकाऽभावेऽपि तत्साधकप्रमाणाऽभावादिव तदसिद्धिः ।

किञ्च– "एकमेवाऽद्वितीयम्" (छा० ६।२।१), "नेह नानास्ति किञ्चन" (बृ० ४।४।१९) इति श्रुतिः सर्वनिषेधं ब्रह्मणि बोधयन्ती व्यवहाराऽभावमपि बोधयत्येव । न च– अद्वितीयत्वादिरूपेण ब्रह्म व्यवहरणीयमित्येतत्परैवेयं श्रुतिरिति– वाच्यम्; व्यवहारस्याऽशब्दार्थत्वात्; तथापि तथात्वेऽतिप्रसङ्गात् । बाधकसत्त्वात्प्रकृते तथा कल्प्यत इति– चेन्न; श्रुतेरन्यस्य बलवतः प्रमाणस्याऽभावात् ।

अन्तःकरणवृत्ति के उत्पादन से शब्द परभ्रम का निरासरूप फल वाला है। अतः व्यावहारिकत्व का निषेध न होने पर भी व्यावहारिकत्व का साधक प्रमाण के अभाव से ब्रह्म में व्यावहारिकत्व की सिद्धि नहीं। जैसे कि तुम्हारे मत में शक्तिनिषेधक प्रमाण का अभाव होने पर भी शक्तिसाधक प्रमाण के अभाव से उसकी (शक्तिकी) असिद्धि होती है।

किञ्च– "एक ही अद्वितीय ब्रह्म है," "इसमें नाना कुछ भी नहीं" यह श्रुति ब्रह्म में सर्वनिषेध का बोध कराती हुई व्यवहार का अभाव भी बताती है। शंका—अद्वितीयादिरूप से ब्रह्म का व्यवहार करना चाहिये—इस प्रकार के अर्थ को बताने वाली यह श्रुति है। समाधान–ऐसा भी नहीं कहना चाहिये; क्योंकि व्यवहार श्रुतिगत शब्द का अर्थ नहीं है। तो भी जैसा तुम कहते हो, वैसा मानने पर अतिप्रसङ्ग भी होता है (अर्थात्-अन्यस्थल में भी शब्दशक्ति से अनवगत अर्थ की कल्पना होने लगेगी)। शंका-प्रकृत में बाधकप्रमाण होने से ही वैसी कल्पना की जाती है। समाधान-नहीं, क्योंकि श्रुति से बलवान् अन्य कोई प्रमाण नहीं है। सब स्थलों में श्रुति ही बलवती होती।

सर्वतो बलवती हि श्रुतिः। किञ्च– मायामयव्यवहारविषयत्वेन मायामयत्वमेवाऽऽयाति, न तु पारमार्थिकत्वम्। तथा च ब्रह्मणि परमार्थतो व्यवहारविषयत्वं नास्त्येवेति सिद्धम्। तथा च यथा यथा तव व्यवहारविषयत्वसाधने यत्नः, तथा तथा तदविषयत्वमेवाऽऽयातीति महत्कौतुकमित्यात्मानमुपालभस्व।

अथाऽस्त्विदमनुमानम्– भेदः पारमार्थिकः, वेद्यत्वात्, यदेवम्, तदेवम्, यथा ब्रह्म, तथा चाऽयम्, तस्मात्तथा, वेद्यत्वञ्च वेदनविषयत्वम्, तच्च तव मते ब्रह्मण्यप्यस्त्येव। तथा– भेदः प्रमाविषयः, ज्ञानविषयत्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा ब्रह्म, तथा चाऽयम्, तस्मात्तथेति– चेन्न; वेद्यत्वस्य

किञ्च-भेदादि सब प्रपञ्च मायामयव्यवहार का विषय होने से मायामय ही सिद्ध होता है, पारमार्थिक सिद्ध नहीं होता। तब तो ब्रह्म परमार्थतः व्यवहार का विषय नहीं-यह सिद्ध हुआ। इस लिये जैसे जैसे व्यवहारविषयत्व सिद्ध करने के लिए तुम प्रयत्न करते जाते हो, वैसे वैसे ब्रह्म में व्यवहार की अविषयता ही आती रहती है-यह महान् कौतुक है। अतः तुम अपने आपको ही कोसो।

शंका-अच्छा, यह अनुमान हो-भेद पारमार्थिक है, क्योंकि वह वेद्य है, जो वेद्य होता है, वह पारमार्थिक होता है, जैसे ब्रह्म; वैसे ही भेद भी वेद्य है, अतः वह पारमार्थिक है। और वेद्यत्व का अर्थ है-ज्ञानविषयता, वह तो तुम्हारे मत में ब्रह्म में भी है ही। इसी प्रकार दूसरा अनुमान यह है-भेद प्रमाका विषय है, क्योंकि वह ज्ञान का विषय है, जो ज्ञान का विषय होता है, वह प्रमा का विषय भी होता है, जैसे ब्रह्म; वैसे ही भेद ज्ञान का विषय है, अतः वह प्रमा का विषय भी है।

समाधान-ऐसा नहीं; क्योंकि (प्रथम अनुमान में) वेद्यत्व

ब्रह्मण्यसिद्धेः, "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितात्" (केन० १।३) इति श्रुतेः। "श्रोतव्यः" (बृ० २।४।५) इत्यादिरपि श्रुतिरस्तीति– चेन्न; तदाकाराऽन्तःकरणवृत्त्युत्पत्तिमात्रफलकत्वात्तस्याः, न तु तावता ज्ञानविषयता समायाति। ज्ञानं हि वृत्तिः, तदभिव्यक्तं चैतन्यं वा। तत्राऽन्त्ये भेदघटिता विषयता कथमभेदे स्यात्? आद्येऽपि वृत्तेरेवाऽनिर्वचनीयाया अनिर्वचनीयतदाकारत्वं नाम धर्मः, नत्वतिरिक्ता विषयतास्तीत्युक्तम्। समानसत्ताकयोरेव हि संबन्धः, नतु सत्याऽनृतयोः। किञ्च– त्वन्मते विषयत्वं हि स्वरूपसंबन्धविशेषः। तस्य च ज्ञानस्य मायामयत्वेन ब्रह्मणा समं स्वरूपसंबन्धाऽनङ्गीकारात्। किञ्च– वेद्यत्वमस्तु, पार-

हेतु ब्रह्म में असिद्ध है, कारण कि "वह विदित से अन्य ही है और अविदित से भी अन्य है" यह श्रुति है। शंका-'श्रोतव्यः' इत्यादि आत्मविषयिका श्रुति भी है। समाधान--है; तो भी वह श्रुति ब्रह्म को ज्ञान का विषय नहीं बताती; क्योंकि ब्रह्माकार अन्तःकरणवृत्ति उत्पन्न करना ही उस श्रुतिका फल है; इतने मात्र से ब्रह्म में ज्ञानविषयता नहीं आती। ज्ञान तो वृत्तिरूप है, अथवा वृत्ति से अभिव्यक्त चैतन्यरूप है। इनमें अन्तिम पक्ष में – भेदघटित विषयता अभेद में किस प्रकार होगी? (अर्थात्--वृत्ति से अभिव्यक्त चैतन्य और ब्रह्मचैतन्य में कोई भेद नहीं, इस लिये दोनों में भेदघटित विषयविषयिभाव नहीं हो सकता)। आद्य पक्ष में भी अनिर्वचनीय वृत्ति का अनिर्वचनीय ब्रह्माकारत्व नाम धर्म है, उससे अतिरिक्त उसमें ब्रह्मविषयकता नहीं है--यह बात पहले भी कह चुके हैं; कारण कि समानसत्ता वाले ही दो पदार्थों में सम्बन्ध होता है, सत्य और अनृत में सम्बन्ध नहीं होता। किञ्च-तुम्हारे मत में स्वरूपसम्बन्धविशेष ही विषयता है। और वह वृत्तिरूप ज्ञान मायामय होने से उसका ब्रह्म के साथ स्वरूपसम्बन्ध अङ्गीकार नहीं किया जाता। किञ्च--भेद में वेद्यत्व

माथिकत्वं माऽऽस्तु– इति विक्षेपको दोषः । तथा सति वेद्य-त्वमपि न स्यादिति– चेन्न; कार्यकारणभावादेर्बाधकस्याऽभावात् । पारमार्थिकत्वव्यतिरेकेऽस्य वेद्यत्वव्यतिरेकस्य त्वयाऽनङ्गीकारात् दृष्टान्तभूमेरभावात् हेतुः केवलान्वयी भविष्यतीति– चेन्न; अप्रयोजकत्वात् । किञ्च– शुक्तिरजत-तादात्म्ये शशीये च विषाणादौ हेतुर्व्यभिचारी, न तु तयोः पारमार्थिकत्वप्रमाविषयत्वयोः संभवः । ननु– तादात्म्यं नाम तद्वृत्तिधर्म एव, तथा च रजतत्वं शुक्तौ प्रतीयते, तच्च

हेतु हो, और पारमार्थिकत्व साध्य न हो--ऐसा व्यभिचार का आक्षेपक दोष है (अर्थात् विपक्ष में बाधक तर्क कोई नहीं) । शंका--यदि भेद में पारमार्थिकत्व नहीं है तो वेद्यत्व भी नहीं होगा । समाधान--ऐसा नहीं है, क्योंकि भेद के वेद्य होने में कार्यकारणभावादि कोई बाधक नहीं है (भाव यह है कि वेद्यत्व और पारमार्थिकत्व में अन्वयव्यतिरेक-व्याप्ति का साधक कार्यकारणभावादि नहीं है, जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि भेद में पारमार्थिकत्व के अभाव से वेद्यत्व का अभाव भी होना चाहिये । अतः भेद में पारमार्थिकत्व न होने पर भी वेद्यत्व हो सकता है) । शंका--जहां पारमार्थिकत्व का अभाव है, वहां वेद्यत्व का अभाव तुमने नहीं माना, इस कारण दृष्टान्तभूमि का अभाव होने से यह वेद्यत्व हेतु केवलान्वयी हो जायेगा । समाधान--नहीं, यह हेतु तो अप्रयोजक है (अर्थात्--साध्य और साधन की व्यभिचारशंका के निवारक अनुकूल तर्क से रहित है) । किञ्च--शुक्तिरजततादात्म्य और शशविषाणादि में दोनों अनुमानों के हेतु वेद्यत्व और ज्ञान-विषयत्व व्यभिचारी हैं, क्योंकि शुक्तिरजततादात्म्य और शशविषाणमें दोनों हेतु हैं, किन्तु पारमार्थिकत्व और प्रमाविषयत्व साध्य नहीं हो सकते ।

शंका--शुक्ति और रजत में रहने वाले धर्म का नाम ही तो तादात्म्य है, (अर्थात् रजतत्व ही तादात्म्य है), और उस रजतत्व

पारमार्थिकमेव, प्रमाविषयश्च। तत्संसर्गस्तत्र नास्तीति-चेन्न; तस्याऽप्यन्यत्र विद्यमानत्वात्। नहि तदतिरिक्त-वैशिष्ट्यं शुक्तौ भासते। कथं तर्हि शुक्तौ रजतज्ञानं भ्रम इति चेत्; व्यधिकरणप्रकाराऽवच्छिन्नविषयताप्रतियोगित्वेन, विशेष्याऽवृत्तिधर्मप्रकारत्वेन, विशेष्यनिष्ठाऽत्यन्ताभावप्रति-योगिधर्मप्रकारत्वेन, तत्प्रतियोगिज्ञानत्वेन वा, नत्वसद्विषय-तया, वणिग्वीथ्याद्यनुभूतरजतत्वस्य स्मरणे सति शुक्तावि-

की शुक्ति में प्रतीति होती ही है; तब तो वह रजतत्व पारमार्थिक और प्रमाविषय है (अतः हेतु व्यभिचारी नहीं)। यहां पर शुक्ति में रजतत्व का संसर्ग नहीं है—ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिये; क्योंकि रजतत्व का संसर्ग भी हट्टस्थरजतादि में विद्यमान है; और उस रजतत्व के अतिरिक्त कोई वैशिष्ट्य तो शुक्ति में प्रतीत नहीं होता (अर्थात् भ्रमकाल में रजतत्वविशिष्ट शुक्ति की ही प्रतीति होती है, रजतत्वातिरिक्तधर्मविशिष्ट की नहीं होती)। तब तो शुक्ति में रजतज्ञान का कैसे भ्रम होगा—ऐसी शंका भी नहीं होनी चाहिये; क्योंकि व्यधिकरणप्रकार से अवच्छिन्न विषयता के प्रति-योगिरूप से भ्रम होता है (यहां पर—व्यधिकरण प्रकार—हट्टस्थर-जतादि अन्य अधिकरण में रहने वाला रजतत्वधर्म है, उस रजतत्व धर्म से अवच्छिन्न विषय इदंपदार्थ है, और इदंपदार्थनिष्ठविषयता का प्रतियोगी रजतत्व है; इस प्रकार व्यधिकरणप्रकार से अवच्छि-न्नविषयता के प्रतियोगिरूप से "इदं रजतम्" यह भ्रमज्ञान होता है), अथवा विशेष्यभूत इदंपदार्थ में अवृत्ति रजतत्वधर्मप्रकार वाला होकर "इदं रजतम्" यह भ्रम होता है; अथवा विशेष्यभूत इदंपदार्थ-निष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी रजतत्वधर्मप्रकार वाला होकर "इदं रजतम्" यह भ्रम होता है, अथवा विशेष्य इदंपदार्थ में निष्ठ अत्यन्ताभाव के प्रतिगोगिभूत रजत को विषय करने वाला ज्ञानरूप से भ्रम होता है, असद्विषयक ज्ञानरूप से तो भ्रम नहीं होता; क्योंकि बाजार की गली आदि' में अनुभूत रजतत्व का स्मरण हो

न्द्रियसन्निकृष्टायां शुक्तिरजतयोर्भेदग्रहाऽभावे सामग्रीवशा-तादृशाऽऽरोपसंभवात्। तथा च नैयायिकानां ज्ञेयत्वप्रमेयत्व-योरविनाभाव एवेति न व्यभिचारः। ननु— रजततादात्म्यं शुक्तौ नास्ति, तथा च कथं सदेव वैशिष्ट्यं शुक्तौ भासत इत्यङ्गीकरिष्यसीति-- चेत्, तत्किं रजततादात्म्यस्य क्वचिद-भावोऽस्तीति तस्याऽपारमार्थिकत्वम्, तदा तादृशमपारमा-र्थिकत्वं घटपटादीनां सर्वेषामप्यङ्गीकुर्मः। कोहि घटादीनाम-भावप्रतियोगित्वं नाऽङ्गीकरोति ? एतेन-- स्वप्नदृष्टकामि-न्यादीनामपि, तरङ्गप्रसङ्गाऽनुभूतचन्द्रभेदादीनामपि पारमा-र्थिकत्वमभ्युपगच्छतामस्माकं तद्दृष्टान्ताऽवष्टम्भेन जागरा-द्यवस्थाऽनुभूयमानघटपटतद्भेदानामपारमार्थिकत्वाऽनुमानं न

जाने पर तथा इन्द्रियसन्निकृष्ट शुक्ति में शुक्ति और रजत के भेद का अज्ञान होने पर भ्रमोत्पादनयोग्य सामग्री के वश से "इदं रजतम्" इस प्रकार आरोप हो सकता है। तब तो नैयायिकों के मत में ज्ञेयत्व और प्रमेयत्व में अविनाभाव होने से ही ज्ञानविषयत्व हेतु का प्रमाविषयत्व साध्य से व्यभिचार नहीं होता। इसमें यदि अद्वैतवादी शंका करें कि रजततादात्म्य शुक्ति में नहीं, तब सत् ही रजतवैशिष्ट्य शुक्ति में प्रतीत होता है - ऐसा क्यों अङ्गीकार करते हो ? तो इसका उत्तर यह है—रजततादात्म्य का कहीं (शुक्त्यादि में) अभाव है-इतने मात्र से क्या तुम उसे अपारमार्थिक मानते हो ? तब तो इस प्रकार का अपारमार्थिक तो हम घट पटादि सब को मानते हैं। घटादि के अभावप्रतियोगित्व को कौन नहीं मानता ? (अर्थात् सब मानते हैं। अतः ऐसा अपारमार्थिकत्व तो इष्ट ही है)। इस लिये स्वप्नदृष्ट कामिन्यादि को तथा तरङ्गप्रसङ्ग में अनुभूत चन्द्रभेदादि को भी पारमार्थिक मानने वाले हम लोगों का उनको दृष्टान्त बनाकर जागरादि अवस्थाओं में अनुभूयमान घट पट और उनके भेदों की अपारमार्थिकता का अनुमान कुछ भी अनिष्ट प्रतिपादन

किञ्चिदनिष्टमापादयतीति बोध्यम् ।

अत्रोच्यते– एवं हि तादात्म्यारोपसंसर्गारोपयोर्भेदो न स्यात् । उभयत्रैव धर्मस्यैवाऽऽरोपात् । नहि केवलस्य संसर्गस्याऽऽरोपः, अपि तु कस्यचित् । तथा च सर्वत्र धर्मारोप एव । न चेष्टापत्तिः, तादात्म्यारोपसंसर्गारोपयोस्तत्र तत्र शास्त्रे भेदेनोपादानात् । किञ्च– शुक्तित्वविशेषदर्शनाऽनन्तरं "इदं रजतं न" इत्यन्योन्याभावबुद्धिरस्ति तव मते, वैधर्म्यज्ञानस्य तदेकफलकत्वाऽभ्युपगमात् । तथा च शुक्तिरजतयोरभेदरूपतादात्म्यारोपाऽभावेऽभेदनिषेधरूपाऽन्योन्याभाव-

नहीं कर सकता—ऐसा समझना चाहिये ।

समाधान–इसमें उत्तर देते हैं–जैसे तुम कहते हो, उसके अनुसार तो तादात्म्यारोप (धर्मी का अभेदारोप) संसर्गारोप (संबन्ध का आरोप) में कुछ भी भेद नहीं होगा; क्योंकि दोनों में धर्म का ही आरोप किया जाता है । केवल संसर्ग का आरोप नहीं होता, ऐसी बात नहीं, अपितु किसी का (धर्मी का) आरोप नहीं होगा । तब तो सब स्थलों में धर्म का ही आरोप सिद्ध होता है (अभिप्राय यह है कि-व्यधिकरणप्रकारावच्छिन्नप्रतियोगित्वादि पूर्वोक्त भ्रमनिमित्तों से शुक्त्यादि में रजतत्वादि धर्ममात्र का आरोप सिद्ध होता है, उन निमित्तों से शुक्ति और रजत के तादात्म्य तथा शुक्ति में रजतत्व के संसर्ग अर्थात् समवाय सम्बन्ध का आरोप सिद्ध नहीं होता) । इसमें तुम इष्टापत्ति भी नहीं कह सकते; क्योंकि तुम्हारे शास्त्र में जहां तहां तादात्म्यारोप और संसर्गारोप का भेदपूर्वक प्रतिपादन मिलता है । किञ्च-तुम्हारे मत में शुक्तित्वविशेष का दर्शन होने के बाद "यह रजत नहीं" इस प्रकार अन्योन्याभाव की बुद्धि होती है, क्योंकि शुक्ति और रजत में वैधर्म्यज्ञान का फल केवल अन्योन्याभावबुद्धि है ऐसा तुम्हारे सिद्धान्त में माना जाता है । इस प्रकार यदि शुक्ति और रजत में अभेदरूप तादात्म्य का आरोप नहीं मानोगे तो अभेद-

बुद्धिर्न स्यात्। रजतत्वसंसर्गारोपे "रजतत्वमिह नास्ति" इति बुद्ध्यापत्तिः, न तु "रजतमिदं न भवति" इति, भूतले घट-संसर्गारोपे भूतले घटो नास्तीतिवत्।

न च– रजतत्वारोप एव रजतनिषेध इति–साम्प्रतम्; अन्यारोपेऽन्यनिषेधेऽतिप्रसङ्गात्। तस्माच्छुक्तिरजतयोरभेदाख्यं तादात्म्यं भ्रमे भासते, तन्निषेधे तादात्म्याभावरूपोऽन्योन्याभावो विहतो भवति। ननु– तथापि नाऽनिष्टमस्माकम्; रजताऽभेदस्य रजत एव प्रसिद्धत्वात्। स एव पुरोवर्तिनि आरोप्य निषिध्यत इति चेत्; न पुरोवर्तिना समं रजताऽभेदो भासते– पुरोवर्तिनाऽभिन्नं रजतमिति। तथा च पुरोवर्तिना सह रजताऽभेदोऽसिद्ध एव। अन्यथा पुरोवर्तिनि

निषेधरूप अन्योन्याभाव की बुद्धि नहीं होगी। और रजतत्वसंसर्ग के आरोप में "इसमें रजतत्व नहीं" ऐसी बुद्धि होगी, "यह रजत नहीं" यह बुद्धि नही होगी; जैसे भूतल में घटसंसर्ग का आरोप होने पर "भूतल में घट नहीं" ऐसी बुद्धि होती है।

शंका– रजतत्व का आरोप होने पर ही रजत का निषेध होता है। समाधान-ऐसा कहना अयुक्त है; क्योंकि अन्य के आरोप में अन्य का निषेध करने पर तो अतिप्रसङ्ग होता है। इस लिए शुक्ति और रजत का अभेदाख्य तादात्म्य भ्रम में प्रतीत होता है। यदि उस तादात्म्य को नही मानोगे तो तादात्म्याभावरूप अन्योन्याभाव असिद्ध हो जायेगा। शंका- शुक्ति और रजत का तादात्म्य न मानने पर भी हमारा कोई अनिष्ट नहीं; क्योंकि रजत का अभेदरूप तादात्म्य रजत में ही प्रसिद्ध है। और उस प्रसिद्ध अभेद का पुरोवर्ती पदार्थ में आरोप करके निषेध किया जाता है, (अतः अन्योन्याभाव सिद्ध है)। समाधान –ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि "पुरोवर्ती के साथ अभिन्न रजत है" ऐसा पुरोवर्ती के साथ रजताभेद प्रतीत नहीं होता। इसलिये पुरोवर्ती के साथ रजताभेद असिद्ध ही है। यदि सिद्ध

रजताऽभेद इति बुद्धयापत्तिः, न तु "इदं रजतम्" इति। किञ्च– रजते प्रसिद्धस्याऽभेदस्येहाऽऽरोप्यमाणत्वे "रजताऽभेदः पुरोवर्तिनि नास्ति" इति बाधस्याऽऽकारः स्यात्, न तु "इदं रजतं न भवति" इति; संसर्गारोपे तथैव दर्शनात्। किञ्च– रजताऽन्योन्याभावाऽभावो रजताऽभेदो रजतमेव। तथा च रजतमारोप्यत इत्युक्तं स्यात्। तथा च नोक्तरूपं बाधशरीरं स्यात्, तस्मादकामेनाऽपि पुरोवर्तिरजतयोरभेद एवान्योन्यात्मा भासत इत्यङ्गीकर्तव्यम्। किञ्च– नाऽत्र रजतत्वसंसर्गारोपः संभवति; रजतत्वसंसर्गस्य समवायरूपस्य शुक्तौ विद्यमानत्वात्; समवायस्यैकत्वात्। रजतत्वनिरूपितः समवायस्तत्र नास्तीति– चेन्न; य एव रजतत्वनिरूपितः समवायो रजते, तस्यैव शुक्तावपि भावात्। अन्यथा तन्नि-

है तो "पुरोवर्ती में रजताभेद है" ऐसी बुद्धि होनी चाहिये; "यह रजत है" यह बुद्धि नहीं होनी चाहिये। किञ्च- रजत में प्रसिद्ध अभेद यदि यहाँ आरोप्यमाण है तो "पुरोवर्ती में रजताभेद नहीं" ऐसा बाधका आकार होगा. "यह रजत नहीं" यह आकार नहीं होगा; क्योंकि -संसर्ग के आरोप में वैसा ही देखा जाता है। किञ्च-रजत के अन्योन्याभाव का अभावरूप रजताभेद रजत ही है। तब तो रजत का ही आरोप किया जाता है–ऐसा कहना होगा। और ऐसा मानने पर "पुरोवर्ती में रजताभेद नहीं" इत्यात्मक बाधका आकार भी नहीं होगा। इसलिये न चाहने पर भी आपको पुरोवर्ती पदार्थ और रजत का अभेद ही परस्पर तादात्म्यरूप से प्रतीत होता है-ऐसा ही मानना पड़ेगा। किञ्च -यहां (पुरोवर्ती में) रजतत्वसंसर्ग का आरोप भी नहीं हो सकता, क्योंकि समवायरूप रजतत्वसंसर्ग शुक्ति में विद्यमान है; क्योंकि तुम्हारे मत में समवाय एक ही है। शंका - रजतत्व से निरूपित समवाय तो शुक्ति में नहीं है। समाधान—तुम ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि जो रजतत्व से निरूपित समवाय रजत में है, वही

रूप्यत्वतदनिरूप्यत्वयोर्विरुद्धयोर्धर्मयोरध्यासाद्धर्मभेदाऽऽपत्तेः। तर्हि रजतत्वमपि तत्र स्यादिति चेत्; आत्मानमुपालभस्व, यस्त्वमेकमेव समवायं स्वीकरोषि।

ननु– रजतत्वाऽत्यन्ताभाव एव शुक्तौ, धर्मिस्वाभाव्यात्, वायाविव रूपात्यन्ताभावः। कथमिदमिति च न पर्यनुयोज्यम्; स्वभावस्याऽपर्यनुयोज्यत्वात्, अन्यथा ब्रह्म स्वप्रकाशं कथं, नाऽन्यदित्यस्याऽपि पर्यनुयोगस्य संभवादिति– चेन्न; यत्र यस्य संबन्धः, तत्र तस्याऽत्यन्ताऽभावस्य नियमेनाऽदर्शनात्; अत्यन्ताभावसंबन्धयोर्विरोधाऽवधारणात्, तादृ-

शुक्ति में भी है। यदि ऐसा नहीं मानोगे तो रजतत्व से निरूप्यत्व और उस रजतत्व से अनिरूप्यत्वरूप विरुद्ध दोनों धर्मों का अध्यास (संबंध) होने से धर्म भेद की आपत्ति आयेगी (अर्थात्—रजतत्वनिरूपित रजतनिष्ठसमवाय और रजतत्वानिरूपित शुक्तिनिष्ठसमवाय में भेद अवश्य हो जायेगा)। शंका—यदि रजतत्वनिरूपित समवाय शुक्ति में मानेंगे तो रजतत्व भी शुक्ति में होने लगेगा। समाधान–उस से क्या? इसके लिये तो आप अपने को ही उपालम्भ दो, क्योंकि तुम्हीं समवाय को एक मानते हो।

शंका—शुक्ति में तो रजतत्व का अत्यन्ताभाव ही है; क्योंकि शुक्तिरूप धर्मी का स्वभाव ही वैसा है; जैसे वायु में रूप का अत्यन्ताभाव होता है। इसमें "ऐसा क्यों" यह प्रश्न भी नहीं हो सकता, कारण कि– किसी के स्वभाव के विषय में "क्यों" का प्रश्न होता ही नहीं। अन्यथा– ब्रह्म स्वप्रकाश क्यों है, अन्यरूप क्यों नहीं होता? इस प्रकार का प्रश्न करना भी संभव हो जायेगा। समाधान—ऐसा नहीं; क्योंकि जिसमें जिसका सम्बन्ध है, उसमें उसका अत्यन्ताभाव नियमतः देखने में नहीं आता, कारण कि अत्यन्ताभाव और सम्बन्ध में विरोध का निश्चय हो जाता है। (भाव यह है कि कपाल में घटसमवाय और घटात्यन्ताभाव दोनों साथ नहीं रह सकते, क्योंकि घट-

शस्वभावस्यापि त्यागे तवैव व्याघातापत्तेः । अथ– रजतत्व-तदत्यन्ताभावयोर्विरोधः, नतु संबन्धेन सह तथेति चेत्; तर्हि रजतत्वस्याऽऽरोपः शुक्तौ, न तु रजतत्वसंसर्गस्येत्यागतम् । तथा च संसर्गारोप इति रिक्तं वचः । अथाऽस्तु रजतत्व-स्यैवाऽऽरोपः, तथापि सिद्धाऽन्यथाख्यातिरिति– चेन्न; तथा-सति इदमिति रजतत्वमिति च बुद्धयापत्तेः, न तु "इदं रज-तम्" इति । वैशिष्ट्याऽभाने च "इदंरजतत्वे"– इति समू-हालम्बनान्न विशेषः स्यात् ।

किञ्च–रजतत्वसंसर्गाऽभावोऽपि तत्र प्रतीयत एव बाध-कज्ञानेन, तथा च भ्रमेऽपि रजतत्वसंसर्गो भासत इति वक्त-

समवाय और घटात्यन्ताभाव में विरोध है, इसी प्रकार शुक्ति में रज-तत्वसमवाय तो है, किन्तु रजतत्व का अभाव है-ऐसा कह नहीं सकते; कारण कि रजतत्वसमवाय और रजतत्वात्यन्ताभाव में विरोध है) । इस प्रकार के विरोधरूपस्वभाव का त्याग करोगे तो तुम्हारे मत में ही व्याघात होगा । शंका—रजतत्व और उसके अत्यन्ताभाव में ही विरोध है, सम्बन्ध के साथ विरोध नहीं । उत्तर– तब तो रजतत्व का आरोप शुक्ति में होता है, रजतत्वसंसर्ग का नहीं– यह अर्थ निकला, क्योंकि रजतत्वसमवाय रजतत्वात्यन्ताभाव के साथ शुक्ति में विद्-मान है । इसलिये संसर्ग का आरोप है—यह कहना तो व्यर्थ ही हुआ । शंका—अच्छा, रजतत्व का ही शुक्ति में आरोप है, संसर्ग का नहीं, तो भी अन्यथाख्याति तो सिद्ध हो ही जाती है । समाधान—ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि सम्बन्ध के विना तो "यह है" और "रजतत्व है" ऐसी ही बुद्धि होगी, "यह रजत है" यह बुद्धि तो नहीं होगी । इस प्रकार वैशिष्ट्य की प्रतीति ("इदं रजतम्" की प्रतीति) न होने पर तो "यह और रजतत्व दोनों हैं" इस समूहालम्बन से विशेष नहीं होगा । किञ्च-बाधक ज्ञान से शुक्ति में रजतत्वसंसर्ग का अभाव भी प्रतीत होता ही है; तब तो भ्रम में भी रजतत्व का

व्यम्; अन्यथा निषेधाऽनुपपत्तेः, प्राप्त्यभावात्; तथा च स यदि तत्राऽस्ति, तदा बाधो न स्यात्; तथा चाऽसन्नेव रजतत्वसंसर्गो भासत इति वाच्यम्। अत एव सदुपरागेणाऽसतोरेव तादात्म्यसंसर्गयोर्भानं साम्प्रदायिका मन्वते। न च-तदङ्गीकार एवाऽस्माकमिति–साम्प्रतम्; अपसिद्धान्तापत्तेः। एकदेशिवद्भविष्यतीति– चेन्न; अपसिद्धान्तस्याऽनिग्रहत्वापत्तेः। सर्वत्रैव "मयेदं नाऽभ्युपगम्यते" इत्यस्य वक्तुं शक्यत्वात्। तथाप्यन्यत्र विद्यमानरजतत्वतत्संसर्गभानवादिमते किं दूषणमिति– चेत्; मानाऽभाव इति गृहाण। तथाहि–

संसर्ग प्रतीत होता है–यही कहना होगा; यदि संसर्ग की प्रतीति न हो तो संसर्ग का निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी प्राप्ति ही नहीं। और तुम्हारे कथनानुसार रजतत्वसंसर्ग (रजतत्वसमवाय) यदि शुक्ति में विद्यमान है तो उसका बाध नहीं होगा, इस कारण बाधक ज्ञान से बाध्य असत् ही रजतत्वसंसर्ग प्रतीत होता है– ऐसा ही कहना होगा। अत एव सत् के उपराग से असत् तादात्म्य और संसर्ग का ही भान साम्प्रदायिक लोग मानते हैं। शंका– हम भी उसे अङ्गीकार करते ही हैं। समाधान– इस प्रकार अङ्गीकार करना अयुक्त है, कारण कि– तुम्हारा अपसिद्धान्त हो जायेगा; और एकदेशी के समान उसको मानना भी उचित नहीं; क्योंकि अपसिद्धान्त निग्रहस्थान नहीं रहेगा (भाव यह है कि शास्त्रार्थ में अपसिद्धान्त का ग्रहण निग्रहस्थान माना जाता है। यदि नैयायिक अपसिद्धान्त लेकर भी शास्त्रार्थ करेंगे तो अपसिद्धान्त निग्रहस्थान-रूप से दोष ही नहीं माना जायेगा)। क्योंकि सब स्थलों में "मैं इस को नहीं मानता" ऐसा कहा जा सकता है। शंका– तो भी अन्य-स्थल में विद्यमान रजतत्व और रजतत्वसंसर्ग का भान मानने वाले के मत में क्या दोष है? उत्तर– प्रमाण का अभाव होना ही दूषण समझो। तथाहि– यह जो रजतव्यक्ति पुरोवर्ती पदार्थ से अभिन्न

येयं रजतव्यक्तिः पुरोवर्त्यभिन्नत्वेन भासते, यो वा रजतत्वसंसर्गः पुरोवर्तिनिष्ठत्वेन भासते, सा च स चाऽन्यत्राऽस्तीत्यत्र किं प्रमाणम् ? न तावद्भ्रमस्तत्र तावत्प्रमाणम्; तस्य तत्तद्देशतत्तत्कालवृत्तित्वेन तत्तत्पदार्थविषयीकरणात्, अन्यत्र सत्तायास्तेनाऽनुल्लेखात् । उल्लेखे वा पुरोवर्तिप्रवृत्त्यभावापत्तेः । भ्रमः प्रमाणमिति च वदन् श्लाघनीयप्रज्ञोऽसि देवानांप्रियः । नाऽपि नेदं रजतमिति ज्ञानं तथा, तस्याऽभावमात्रविषयत्वात्, प्रतियोगिनो देशान्तरसत्त्वाविषयत्वात् । यद्यन्यत्र सत्त्वं न स्यात्तर्हि निषेधो न स्यादिति–चेत्; बाढम् ! तर्ह्यस्याऽनुग्राह्य मानम्– विमतमिह निषिध्यमानं देशान्तरे सत्, इह निषिध्यमानत्वात्, यद्यदत्र निषि-

होकर प्रतीत हो रही है, अथवा जो रजतत्वससर्ग पुरोवर्ती में स्थित प्रतीत हो रहा है, वह रजतव्यक्ति और वह रजतत्वसंसर्ग अन्यत्र स्थित है— इसमें क्या प्रमाण है ? उसमें भ्रम तो प्रमाण हो नहीं सकता; क्योंकि भ्रम का उसी देश और उसी काल में होने वाले वही पदार्थमात्र ही विषय है; वह (भ्रम) अन्यत्र स्थित पदार्थ की सत्ता का उल्लेख नहीं करता। यदि उल्लेख मानोगे तो पुरोवर्ती पदार्थ में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होगी। और भ्रम को प्रमाण कहने वाले तुम श्लाघनीयप्रज्ञा वाले मूर्ख ही हो। तथा "यह रजत नहीं है" यह निषेधज्ञान भी प्रमाण नहीं; क्योंकि आरोपित वस्तु का अभावमात्र ही उसका विषय है, न कि प्रतियोगी की देशान्तर में सत्ता। शंका– यदि अन्यत्र आरोपित वस्तु की सत्ता नहीं है तो निषेध भी नहीं होना चाहिये। उत्तर- ठीक है, यह तो तर्कमात्र है, प्रमाण नहीं। शंका— तब तो इस तर्क से अनुग्राह्य प्रमाण भी सुनिये- यहां निषिध्यमान विमत रजत देशान्तर में सत् है, क्योंकि वह यहां निषिध्यमान है, जो जो यहां निषिद्ध होता है, वह वह अन्यत्र सत् होता

ध्यते, तत्तदन्यत्र सत्, यथा भूतले निषिध्यमानं घटादिकम्, तथा चेदम्, तस्मात्तथेति– चेन्न; अप्रयोजकत्वात्, विपक्षे बाधकतर्काभावात्। हेतुभङ्ग एव बाधकस्तर्क इति चेन्न; तस्य प्राप्तिमात्राऽपेक्षत्वेनाऽन्यत्र सत्त्वाऽनपेक्षणात्, इह चोत्पन्नस्य घटस्येहैव नष्टस्याऽत्रैव च निषिध्यमानस्याऽन्यत्र सत्त्वं नास्तीति तेन व्यभिचाराच्च। न च– देशान्तर-इत्यनुक्त्वा क्वचिदिति पदेन साध्यनिर्देशः कार्यः, तथा च तस्याऽपि तद्देशे सत्त्वात् क्वचित् सदिति साध्यमस्तीति– वाच्यम्; तर्हि तत्र सत्त्वेऽपि तत्र निषेधः, न विरुद्धश्च

है, जैसे इस भूतल में निषिध्यमान घटादि, उसी प्रकार वह रजत भी है; अतः देशान्तर में यह रजत सत् होना चाहिये। समाधान– यह अनुमान ठीक नहीं; क्योंकि विपक्ष में बाधक तर्क कोई न होने से हेतु अप्रयोजक है (अर्थात्- पक्ष में हेतु तो हो, किन्तु साध्य न हो– ऐसी व्यभिचारशंका का बाधक अनुकूल तर्क के अभाव से संदिग्ध हेतु होने के कारण वह साध्यसाधन में असमर्थ है)। शंका– हेतुभङ्ग ही बाधक तर्क है (अर्थात्–यदि विमत रजत की अन्यत्र सत्ता नहीं है तो वह यहां निषिध्यमान होना असम्भव होने की आपत्ति ही बाधक तर्क है)। समाधान– ऐसा नहीं; क्योंकि निषेध प्राप्तिमात्र की अपेक्षा करता है, अन्यत्र सत्ता की अपेक्षा नहीं करता। और यहीं उत्पन्न, यहीं नष्ट तथा यहीं निषिध्यमान घट की अन्यत्र सत्ता न होने से उसी में हेतु का व्यभिचार होता है। शंका– "देशान्तर में" यह न कह कर "कहीं" इस पद से साध्य का निर्देश करना चाहिये; तब तो पूर्वोक्त घट के तद्देश में सत्त्व होने से "क्वचित्सत्" (कहीं सत् है) यह साध्य सिद्ध है। समाधान– ऐसा न समझो; क्योंकि तुम्हारे कथनानुसार यह अर्थ हुआ कि तद्देश में निषिध्यमान का सत्त्व होने पर भी तद्देश में ही उसका निषेध है, और कालभेद होने के कारण सत्त्व से निषेध का विरोध भी नहीं है। तब तो भ्रम

कालभेदेनेत्यागतम्; तथा च भ्रमविषयीभूतमपि रजतादि भ्रमदशायां तत्रैव सत् कालान्तरे निषिध्यताम्, को दोष इति न देशान्तरसत्त्वसिद्धिः । तत्राऽसत्त्वे कथं तस्य निषेधो भविष्यतीति–चेत्, तत्रैवोत्पन्नस्य तत्रैव नष्टस्य च कथं निषेध इत्यत्रापि दीयतां दृष्टिः । पूर्वं तस्य सत्त्वमेवोत्तरकाले ध्वंसे जाते मुद्गरादिना, पश्चान्निषेधप्रत्यय इति चेत्; इहाऽपि पूर्वमुत्पन्नस्य रजतस्याऽधिष्ठानसाक्षात्कारेण निवर्तितस्य निषेधः "नेदं रजतम्" इति ज्ञानेन विषयीक्रियत इति तुल्यम् । ज्ञानस्य कथमर्थनिवर्तकत्वमिति चेत्, मुद्गरादेर्वा कथम् ? अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तथाऽवध्रियत इति चेत्, तुल्यमितरत्राप्यन्यत्राऽभिनिवेशात् ।

का विषयीभूत रजतादि भी भ्रमदशा में तद्देश में सत् है और कालान्तर में निषेध का विषय है– ऐसा मानने में क्या दोष है ? इस रीति से देशान्तर में उसके सत्त्व की सिद्धि नहीं हुई । शंका– तद्देश में उसका असत्त्व होने पर किस प्रकार निषेध होगा ? उत्तर– तद्देश में ही उत्पन्न, और तद्देश में ही नष्ट घट का किस प्रकार निषेध होता है– इस विषय में भी तो जरा ध्यान दो । शंका-पूर्वकाल में तो घट का सत्त्व है ही, और उत्तरकाल में मुद्गरादि से उसका ध्वंस होने पर बाद में उसके निषेध का ज्ञान होता है । समाधान– यहां भी पूर्वकाल में रजत उत्पन्न होता है, उत्तरकाल में अधिष्ठान के साक्षात्कार से निवर्तित उस रजत का निषेध "यह रजत नहीं" इस ज्ञान का विषय बन जाता है । अतः दोनों तुल्य हैं । शंका– ज्ञान किस प्रकार रजतादि अर्थ का निवर्तक हो सकता है ? उत्तर–मुद्गरादि घट का निवर्तक कैसे होता है ? शंका– अन्वय और व्यतिरेक से वैसा ही निश्चय होता है । उत्तर– तब तो ज्ञान की निवर्तकता में भी अन्यत्र (द्वैत में) अभिनिवेश रखने वाले नैयायिकों के साथ यह बात तुल्य है ।

ननु– रजतोत्पत्तिसामग्री तत्र नास्ति, तथा च कथं तदुत्पत्तिरिति– चेत्; सामग्र्यभावस्याऽयोग्यत्वेन प्रत्यक्षेण तस्याऽवधारयितुमशक्यत्वात् प्रत्युत रजतलक्षणकार्यसत्त्वात्तदुन्नयनस्यैव युक्तत्वात् । अन्यथा खण्डघटपाकजघटयोरन्यत्र क्लृप्तदण्डचक्रकुलालादिसामग्र्यभावादुत्पत्तिर्न स्यात् । कार्यदर्शनेन सामग्र्यन्तरकल्पनमिहाऽपि तुल्यम् । तथा च का सामग्रीति चेन्न; विशिष्याऽनभिधानेऽपि क्षत्ययोगात् ।

ननु– अपूर्वरजतव्यक्त्युत्पादे तत्स्वरूपं तत्सामग्री चेति द्वयमपि कल्पनीयम्; तथा च कल्पनागौरवम्; प्रसिद्धरजतव्यक्तेर्भाने च न कल्पनागौरवम् । तथा च तदेवाऽत्र भासत

शंका– रजतोत्पत्ति की सामग्री (कारणसमुदाय) भ्रमस्थल में नहीं मिल सकती; तब रजत की उत्पत्ति कैसी होगी ? उत्तर– रजतोत्पत्ति की सामग्री का अभाव प्रत्यक्ष योग्य नहीं; अतः उस (सामग्री के अभाव) का निश्चय करना असम्भव है। इसके विपरीत– रजतरूपकार्य का सत्त्व होने से सामग्री का अनुमान करना ही युक्त है। अन्यथा खण्डघट और पाकजघट की उत्पत्ति नहीं होगी; क्योंकि अन्यस्थल में नियत दण्ड, चक्र, कुललादि सामग्री का वहा अभाव है। यदि वहां कार्यदर्शन से भिन्नसामग्री की कल्पना की जाती है तो यहां भी तुल्य ही है (लौकिक सामग्री से विलक्षण अज्ञानादि ही रजत का कारण है— यह अभिप्राय है) । शंका– तो, वह कौन सी सामग्री है ? उत्तर— "विमतं रजतं ससामग्रीकं कार्यत्वात् पटवत्" इस अनुमान से सामान्यरूप से तुम्हें सामग्री तो बता ही दी; अतः विशेषरूप से न कहने पर भी कोई क्षति नहीं ।

शंका– अपूर्व रजत के उत्पादन में रजत का स्वरूप और उस की सामग्री दोनों की ही कल्पना करनी होगी, तब तो कल्पनागौरव है। और उसके विपरीत– प्रसिद्ध रजतव्यक्ति का भान मान लिया

इति कल्प्यत इति चेन्न; सिद्धाऽसिद्धाभ्यां कल्पनागौरवस्याऽदूषकत्वात्। किञ्च– देशान्तरस्थितव्यक्तिभाने न भ्रमः प्रमाणम्, नाऽपि बाधः, नाऽपि मानान्तरम्। तथा चाऽगत्याऽपूर्वव्यक्त्युत्पादः स्वीकार्यः। लाघवात्तदेव भासत इति– चेन्न; द्वितीयस्य प्रतियोगिनोऽनुपस्थितौ लाघवाऽनिरूपणात्, तद्रजतचाक्षुषज्ञाने तद्रजतचक्षुःसंयोगस्यैव कारणत्वेनाऽन्यथाख्यातेर्हेत्वभावेनाऽसंभवाच्च। रजतरङ्गयोः "इमे

जाये तो कल्पनागौरव नहीं होगा। इसलिये वही प्रसिद्ध रजत ही यहां प्रतीत होता है— ऐसी कल्पना की जाती है।

समाधान— ऐसा नहीं होगा; क्योंकि सिद्ध और असिद्ध के द्वारा अर्थात् असिद्ध की अपेक्षा से सिद्ध के लिये कल्पनागौरव दूषक नहीं होता (अभिप्राय यह है कि सिद्ध वस्तु के लिये कितनी ही कल्पना की जाये, तो भी कल्पनागौरव दोष नहीं माना जाता; किन्तु असिद्ध वस्तु की सिद्धि करने में जो कल्पना की जाती है, उसमें ही लाघव और गौरव देखे जाते हैं और लाघव से सिद्धि संभव होने पर अधिक कल्पना गौरवदोष माना जाता है। यहां भ्रमस्थल में अन्यत्र स्थित रजत का पुरोवर्तित्वेन भान होना असिद्ध है और अनुभव से रजत पुरोवर्तित्वेन सिद्ध है। अतः उस सिद्ध रजत की अनुकूल कल्पना करने में चाहे जितनी भी की जाय, उसमें दोष नहीं होता)। किञ्च – देशान्तरस्थित व्यक्ति के भान में न भ्रम प्रमाण है, न बाध ही प्रमाण है तथा उसमें प्रमाणान्तर भी नहीं है। तब तो अगत्या अपूर्व व्यक्ति की उत्पत्ति ही माननी होगी। शंका– लाघव होने से देशान्तरस्थ रजत ही प्रतीत होता है। उत्तर—नहीं; क्योंकि दूसरी विरोधिनी कल्पना की उपस्थिति न होने पर लाघव का निरूपण नहीं किया जा सकता। और देशान्तरस्थ रजत के चाक्षुष ज्ञान में उस रजत के साथ नेत्र का संयोग कारण है; उस कारण का अभाव होने से अन्यथाख्याति तो हो नहीं सकती। रजत और रङ्ग में "ये दोनों रङ्ग और रजत हैं" इस भ्रम में (अर्थात् सामने स्थित

रङ्गरजते" इति भ्रमे संभवन्नपि तादृशः संयोगो दोषप्रतिबन्धान्न जनकः। अन्यथा गुणजन्यत्वेन प्रमात्वाऽपातादित्यद्वैतसिद्धौ विस्तरः।

विप्रतिपत्तिरपि तत्र–रजतत्वं पारमार्थिकत्वेनाऽभिमतरजतव्यक्तिभिन्नव्यक्तिवृत्ति न वा ? प्रयोगश्च– रजतत्वं पारमार्थिकत्वाऽभिमतरजतव्यक्तिभिन्नव्यक्तिवृत्ति, सकलरजतवृत्तिजातित्वात्, यदेवम्, तदेवम्, यथा सत्तादि, तथा

रजत और रङ्ग में रजत को रङ्ग और रङ्ग को रजत समझ कर भ्रम होने में) उस प्रकार का नेत्रसंयोग सम्भव होने पर भी दोष से प्रतिवन्ध होने के कारण वह भ्रमज्ञान का जनक नहीं होता। यदि नेत्रसयोग को जनक मान लिया जाये तो गुणजन्य होने से भ्रमज्ञान भी प्रमा होने लगेगा (यहां पर प्रमा के असाधारण कारण इन्द्रियसन्निकर्ष, व्याप्तिज्ञान आदि के लिये प्रयुक्त गुणशब्द पारिभाषिक है)। यह विषय अद्वैतसिद्धि में विस्तार से कहा गया है।

इस भ्रम के विषय में यह विप्रतिपत्ति भी है (विरुद्ध कोटिद्वय के उपस्थापक वाक्य का नाम विप्रतिपत्ति है)— रजतत्व पारमार्थिक रूप से अभिमत रजतव्यक्ति से भिन्न व्यक्ति में भी है या नहीं ? (भाव यह है कि अनिर्वचनीयख्यातिवादी वेदान्ती भ्रम में भासमान रजत को प्रातिभासिक मिथ्या मानते हैं। तब सन्देह होता है कि लोकप्रसिद्धरजतनिष्ठरजतत्व उस प्रतिभासिक रजत में है अथवा नहीं ? इसमें अन्यथाख्यातिवादी नैयायिक कहते हैं कि उसमें लोकप्रसिद्धरजतत्व हो ही नहीं सकता। इसके उत्तर में सिद्धान्ती का आगे अनुमान है)। अनुमान का प्रयोग इस प्रकार है– रजतत्व पारमार्थिकरूप से अभिमत रजतव्यक्ति से भिन्न व्यक्ति में भी है, क्योंकि वह सकलरजतवृत्तिजाति है; जो सकलरजतवृत्तिजाति है, वह पारमार्थिकरूप से अभिमत रजतव्यक्ति से भिन्न व्यक्ति में भी रहती है, जैसे सत्ताजाति, उसी प्रकार यह रजतत्व भी है, इसलिये वैसा ही

चेदम्, तस्मात्तथा । न च– रजतमात्राऽवृत्तित्वमुपाधिः; पक्षमात्रव्यावर्तकत्वेन पक्षेतरत्वादनुपाधिवत्त्वात्; नाऽपि रजतभिन्नवृत्तित्वम्, उक्तदोषात् । न चाऽप्रयोजकम्; प्रसिद्ध-

होना चाहिये। शंका– इस अनुमान में "रजतमात्राऽवृत्तित्व" उपाधि है। समाधान– नहीं, क्योंकि वह पक्षमात्र का व्यावर्तक होने के कारण पक्षेतरत्व के समान होने से उपाधि नहीं हो सकता। और "रजतभिन्नवृत्तित्व" भी उपाधि नहीं; कारण कि वह भी पूर्वोक्त दोष से ग्रस्त है (अभिप्राय यह है कि किसी अनुमान में उपाधि लग जाये तो उस अनुमान से साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उपाधि पक्ष में साध्य का अभाव सिद्ध करती है, अथवा हेतु और साध्य में व्यभिचार बताती है। पक्षेतरत्व से भिन्न हो और साध्य का व्यापक होता हुआ साधन का अव्यापक हो, ऐसा पदार्थ का नाम उपाधि है। उपाधिग्रस्त किसी अनुमान में उपाधि घटाने की रीति यह है कि दृष्टान्त में उपाधि का साध्यव्यापकत्व और पक्ष में साधनाव्यापकत्व घटाना चाहिये। जैसे कि प्रकृत अनुमान में रजतमात्राऽवृत्तित्व और रजतभिन्नवृत्तित्व– ये दो उपाधि दी गई हैं। ये दोनों ही उपाधि दृष्टान्त सत्ताजाति में है, क्योंकि सत्ताजाति रजतमात्र में नहीं किन्तु अन्य पदार्थों में भी है, इसी प्रकार रजत-भिन्नवृत्तित्व भी सत्ताजाति में है। अतः दृष्टान्त में पारमार्थिकत्वा-भिमतरजतव्यक्तिभिन्नव्यक्तिवृत्तित्वरूप साध्य का व्यापक दोनों उपाधि सिद्ध हैं, इसी प्रकार पक्षरजतत्व में दोनों ही उपाधि न होने से और सकलरजतवृत्तिजातित्वरूप हेतु होने से साधनाव्यापकत्व भी दोनों में सिद्ध है। इस प्रकार उपाधिसमन्वय होने पर पक्ष में उपाधि के अभाव से साध्य का अभाव भी सिद्ध होता है, क्योंकि उपाधि साध्य का व्यापक है; जहां व्यापक का अभाव होता है, वहां व्याप्य साध्य का अभाव भी स्वतः ही सिद्ध है। और इस से ही हेतु और साध्य में व्यभिचार भी जाना जाता है। अतः उपाधिग्रस्त अनुमान से पक्ष में इष्ट साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। और उपाधि के लक्षण में "पक्षेतरत्वभिन्न" विशेषण इसलिये दिया गया

व्यक्तिभाने प्रमाणाऽभावात्, व्यक्त्यन्तराऽनुत्पादे च निर्विषयज्ञानाऽनुत्पत्तेरेव बाधकतर्कस्य विद्यमानत्वात्। यतः पठन्ति– "अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्" (न्या० कु० ४।४) इति। इत्थंभूतलक्षणे चेयं तृतीया। तथा चाऽर्थरूप एव विशेषः। न च– शुक्तिरेव विषयः; रजतस्याऽनुभवसाक्षित्वात्। अथ--दोषवशाद्देशान्तरस्थितैव व्यक्तिर्भासते; दोषस्य च भ्रमनियामकत्वमुभयवादिसिद्धमिति– चेत्, तर्हि दोषस्य भ्रमोत्पादकत्ववत्तद्विषयोत्पादकत्वमप्यस्त्वविशे-

है कि पक्षेतरत्व सदा ही साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक होता है। अतः प्रत्येक अनुमान में पक्षेतरत्व उपाधि लगा दी जाये तो अनुमानमात्र का उच्छेद हो जायेगा। इसलिये उसको अलग किया गया है। और पक्षेतरत्व का अर्थ ही पक्षमात्र को व्यावृत्त करना है। अतः इस दृष्टि को लेकर यहां पर समाधान किया गया है कि ये दोनों ही कथित उपाधि पक्षेतरत्व के समान हैं, क्योंकि ये दोनों पक्षमात्र को व्यावृत्त करने वाली हैं; अतः उपाधि नहीं हो सकती)। तथा हेतु अप्रयोजक (साध्य और साधन की व्यभिचारशंका होने पर उस के बाधकतर्क से रहित) भी नहीं; क्योंकि भ्रम में प्रसिद्ध रजतपदार्थ के भान होने में कोई प्रमाण नहीं; और रजतव्यक्त्यन्तर की उत्पत्ति न होने पर निर्विषयक ज्ञान की अनुत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा– यह बाधक तर्क विद्यमान है। उदयनाचार्य जी ने कहा भी है– "निराकार होने के कारण ज्ञान में अर्थ ही विशेष है" यहां पर "अर्थेन" इस में इत्थंभूतलक्षण (यह पदार्थ ऐसा ही है– इस प्रकार ज्ञापन करने) में तृतीया है। इसलिये "ज्ञान में अर्थरूप ही विशेष है" यह जाना जाता है। शंका– "इदं रजतम्" इस भ्रम में शुक्ति ही विषय है। उत्तर– नहीं; रजत ही भ्रम के विषय होने में अनुभवरूप साक्षी है। शंका– दोषवश देशान्तरस्थित रजतव्यक्ति ही भ्रम में प्रतीत होती है। और दोष को भ्रम का नियामक दोनों वादी मानते ही हैं। उत्तर–तब तो जिस प्रकार दोष भ्रम का उत्पा-

वात्। न चैवं सति गौरवम्; प्रतीतेरेव वस्तुसाधिकाया विद्यमानत्वात्, गौरवप्रतियोगिनोऽनुपस्थितेः, सिद्ध्यसिद्धि-पराहतत्वाच्च। अथाऽन्यत्र ज्ञानकारणस्य विषयोत्पादकत्व-मदृष्टं चक्षुरादौ, तथा च कथं तत्कल्पनीयमिति चेत्; तर्ह्यन्यत्र भ्रमजनकत्वमपि न दृष्टमिति तदपि न कल्पनीय-मिति जितमख्यातिवादिनेति। अथ– दोषस्य स्वविषयज्ञान-जनकत्वं क्लृप्तम्, भ्रमस्याऽपि च ज्ञानत्वमस्त्येवेति चेत्, तर्हि तस्य स्वनिष्ठगुणजनकत्वमन्ततः स्वध्वंसजनकत्वमपि क्लृप्तमिति तुल्यम्। दृष्टत्वमात्रस्याऽप्रयोजकत्वाच्च। तस्मात्– "वाच्याऽन्यथोपपत्तिर्वा त्याज्यो वा दृष्टताग्रहः।

दक है, उसी प्रकार विषय का उत्पादक भी हो, क्योंकि दोनों में कोई अन्तर नहीं। शंका– ऐसा मानने पर गौरव होता है। उत्तर— ऐसा नहीं; क्योंकि यहां वस्तुसाधिका प्रतीति विद्यमान है; और गौरव के विरोधी प्रमाणादि की उपस्थिति भी नहीं; तथा वस्तु की सिद्धि की अपेक्षा से असिद्धि में लाघवयुक्ति पराहत हो जाती है। शंका— भ्रम से भिन्नस्थल में ज्ञानकारण की विषयोत्पादकता चक्षु-रादि में कहीं देखी नहीं गई, तब तो भ्रमज्ञानकारण दोष विषयो-त्पादक किस प्रकार कल्पनीय हो सकता है? उत्तर– तब तो जैसे तुम कहते हो, वैसे ही अन्यस्थल में ज्ञानकारण चक्षुरादि की भ्रम-जनकता नहीं देखी गई है, अतः भ्रमजनकता भी कल्पनीय नहीं। इस प्रकार से तो तुम सर्वज्ञानयथार्थवादी (अख्यातिवादी) मीमां-सक के द्वारा जीते गये। शंका— दोष का स्वविषयज्ञानजनकत्व सिद्ध है। और भ्रम भी ज्ञान ही है; अतः अख्यातिवाद का प्रसङ्ग नहीं होगा। उत्तर— तब तो दोष की स्वनिष्ठगुणजनकता और अन्ततः स्वध्वंसजनकता भी सिद्ध है– इस प्रकार तुल्य ही हुआ। और दृष्टत्वमात्र भी वस्तुसिद्धि में प्रयोजक नहीं होता। अतः कहा भी है– "या तो आपको भ्रमविषयीभूत रजतादि की अन्यथा उपपत्ति

नह्येकत्र समावेशश्छायाऽऽतपवदेतयोः ॥" (खं.का. १।७)
इति । किञ्च– मिथ्याभूतव्यक्त्यनङ्गीकारे व्यधिकरणप्रकारज्ञानमात्रस्वीकारे "मिथ्या रजतं मया दृष्टम्" इत्याद्यर्थगतं न व्यवह्रियेत । रजतत्वेन शुक्तिर्ज्ञाता– इत्येव तस्यार्थं इति–चेन्न; रजतधर्मिकमेव मिथ्यात्वमनुभूयते, न त्वन्यत् । तथा चाऽनुभवाऽपलापे न किमपि भवतः सिद्ध्येदितिजितमसद्वादिना ।

किञ्च– ज्ञानस्य मिथ्यात्वेनैव, तदस्वीकारे च तस्याऽप्यस्वीकार एवोचितः । न च– व्यधिकरणप्रकारत्वमेव मिथ्यात्वम्, न त्वन्यदिति– साम्प्रतम्; लौकिकमिथ्यापदार्थ-

कहनी होगी, या दृष्टता का आग्रह छोड़ना होगा । एक में ही देशान्तरस्थत्व और प्रत्यक्षविषयत्व दोनों का समावेश छाया और आतप के समान नहीं हो सकता ।" किञ्च– मिथ्याभूत रजतादि पदार्थ अङ्गीकार न करके व्यधिकरणप्रकारविषयक ज्ञान (शुक्ति में रजतत्वप्रकारकज्ञान) मात्र मानोगे तो "मैंने मिथ्या रजत देखा" इत्यादि पदार्थविषयक ज्ञान का व्यवहार नहीं होना चाहिये । शंका– "मैंने रजतरूप से शुक्ति को जाना" यह उस वाक्य का अर्थ है । उत्तर– ऐसा नहीं; क्योंकि इस वाक्य से रजतधर्मिक मिथ्यात्व का ही अनुभव होता है; अन्य नहीं । इस प्रकार से अनुभव का अपलाप करोगे तो तुम्हारा कुछ भी सिद्ध नहीं होगा, तब तो तुम असद्वादी बौद्ध के द्वारा जीते गये हो ।

किञ्च– ज्ञान मिथ्या होने से ही उसका विषय रजत भी मिथ्या है; और यदि रजत को मिथ्या नहीं मानोगे तो ज्ञान का मिथ्यात्व अस्वीकार करना भी उचित ही होगा । शंका– ठीक है, व्यधिकरणप्रकारत्व (शुक्ति में रजतनिष्ठरजतत्व विशेषण होना) ही मिथ्यात्व है, और कोई दूसरा नहीं (अतः ज्ञान मिथ्या होने पर भी रजत मिथ्या नहीं होगा) । समाधान– यह कथन अयुक्त है; क्योंकि

त्यागे पारिभाषिकत्वाऽऽपत्तेः, अनुभवस्य च व्याख्याय प्रदर्शयितुमशक्यत्वात् । किञ्च– व्यधिकरणप्रकारत्वमसिद्धम्; रजतत्वस्य रजताऽधिकरणस्यैव इह भासमानत्वात् । अथ– विशेष्याऽवृत्तिप्रकारत्वं च तत्र विशेषणमिति–चेन्न; रजतस्याऽपि क्वचिद्विशेष्यत्वात् । अथ– यत्र ज्ञाने यद्विशेष्यम्, तत्र तदवृत्तिधर्मप्रकारत्वमिति– चेन्न; अननुगमापत्तेः । न च– इष्टापत्तिः, लक्ष्यस्याऽप्यननुगतत्वादिति–वाच्यम्; तथा सति लक्ष्यतावच्छेदकस्यैकस्य धर्मस्याऽनुक्तौ तास्वननुगतासु व्यक्तिषु लक्षणस्य ज्ञातुमशक्यत्वेनेतरभेदानुमानाऽसंभवात् ।

लोकप्रसिद्ध मिथ्यापदार्थ का त्याग करने पर वह (व्यधिकरणप्रकारत्वरूप मिथ्यात्व) पारिभाषिक मात्र हो जायेगा; और अनुभव का व्याख्यान करके प्रदर्शन करना असम्भव है। किञ्च – व्यधिकरणप्रकारता भी असिद्ध है; क्योंकि रजताधिकरणक रजतत्व ही यहां (भ्रम में) भासमान होता है। शंका– "इदं रजतम्" इस भ्रम में विशेष्य में अवृत्ति प्रकारत्व ही विशेषण है (यहां विशेष्य इदं पदार्थ है, उसमें अवृत्ति प्रकारत्व रजतत्व है, उस रजतत्व विशेषण से विशिष्ट होकर इदं पदार्थ भासमान है। अतः व्यधिकरणप्रकारत्व भ्रम में है)। उत्तर – नहीं; क्योंकि रजत भी तो कहीं विशेष्य होता है (अतः रजताधिकरणक रजतत्व ही भ्रम में भासमान है)। शंका– जिस ज्ञान में जो विशेष्य है, उस ज्ञान में उस विशेष्य में अवृत्तिधर्मप्रकारत्व विवक्षित है। समाधान– नहीं, ऐसा मानने पर अननुगम दोष होगा (क्योंकि तुमने "यत्तत्" का प्रयोग किया है)। शंका – यह अननुगम तो हमें इष्ट है, कारण कि – हमारा लक्ष्यपदार्थ अननुगत है। उत्तर— ऐसा कथन अयुक्त है; क्योंकि ऐसा होने पर एक लक्ष्यतावच्छेदक (लक्ष्य के व्यावर्तक) धर्म का कथन असम्भव होने से उस अननुगत व्यक्तियों में लक्षण का ज्ञान करना भी असम्भव होगा। तब तो अप्रमाज्ञान के इतरभेद का अनुमान भी

अप्रमा इतरेभ्यो भिद्यते, अप्रमात्वात्– इत्यत्र यद्यप्रमात्वं नैकम्, तर्हि हेतोर्भागासिद्धत्वापत्तिः। पक्षतावच्छेदकञ्च यदि तदेव, तदा तन्नानात्वेनाऽवच्छेदकत्वाऽनुपपत्तिः। व्याप्तिग्रहसमय एव पक्षतावच्छेदकधर्मसामानाधिकरण्यं साध्यं सिद्धमिति किमनुमेयं च स्यात्? न च विसंवादिप्रवृत्तिजननयोग्यत्वं पक्षतावच्छेदकम्; अनुगतधर्माऽज्ञाने योग्यताया दुर्ज्ञानत्वात्; उक्तरूपस्य धर्म्यंशेऽपि भावात्, तत्र साध्ये बाधात्। नापि प्रमाभिन्नज्ञानत्वम्, असम्भवात्, धर्म्यंशे प्रमा-

नहीं हो सकेगा। अप्रमा अन्यों से भिन्न है, क्योंकि उसमें अप्रमात्व है इस अनुमान में यदि अप्रमात्व एक (अनुगत धर्म) नहीं है तो हेतु में भागाऽसिद्धि की आपत्ति आवेगी। (सामान्यरूप से गृहीत पक्षान्तर्गत अप्रमाओं में से किसी में अप्रमात्व हेतु रहने पर भी वह अननुगत धर्म होने के कारण किसी अप्रमा में नहीं रहेगा। अतः पक्षैकदेश में अप्रमात्व हेतु स्वरूपासिद्ध है)। और यदि पक्षतावच्छेदक (पक्ष का व्यावर्तक धर्म) भी वही अप्रमात्व है तो वह नाना होने से अवच्छेदक ही नहीं हो सकता। तथा पक्षतावच्छेदक धर्म और हेतु एक होने पर तो व्याप्तिग्रह समय में ही पक्षतावच्छेदकधर्म के साथ समानाधिकरण होकर साध्य सिद्ध हो जाने से अनुमेय क्या रहेगा? (क्योंकि अनुमान करने के पहले ही पक्ष में हेतु और साध्य दोनों सिद्ध हो जाते हैं)। शंका– विसंवादि (निष्फल) प्रवृत्तिजननयोग्यता पक्षतावच्छेदक है, अप्रमात्व नहीं। उत्तर– नहीं; क्योंकि योग्यतावच्छेदक अनुगत धर्म के ज्ञान के विना योग्यता का ज्ञान भी होना असम्भव है (क्यों कि योग्यता को बोधन कराने वाले कोई एक धर्म के विना अमुक पदार्थ योग्य और अमुक तो अयोग्य है– ऐसा निर्धारण नहीं किया जा सकता)। और विसंवादिप्रवृत्तिजननयोग्यता तो धर्म्यंश ("इदं रजतम्" इसमें इदमंश) में भी है; यदि उसमें साध्य सिद्ध करोगे तो बाध होगा। और प्रमाभिन्नज्ञानत्व भी पक्षतावच्छेदक नहीं; क्योंकि धर्म्यंशज्ञान (इदमंशज्ञान) में प्रमात्व होने से असम्भव है।

त्वात्। अथ–हेतुतावच्छेदकमप्रामाण्यम्, तदैक्याच्च धूमवद्धेतुत्वोपपत्तिरिति– चेत्; तदेव किमिति विचारमर्हति। न तावज्जातिः, अनभ्युपगमात्। नाऽप्युपाधिः, अनिर्वचनात्। अप्रमामात्रवृत्तित्वमिति– चेन्न; अप्रामाण्यस्य नानात्वेनैकस्य सकलाऽप्रमावृत्तित्वाऽभावात्। नाऽप्यप्रामाण्यशब्दाभिधेयत्वम्; अनुगतरूपाऽभावे तस्याऽप्यसंभवात्। अथ– तदभाववति तत्प्रकारकज्ञानत्वमप्रामाण्यम्; तथा च ज्ञानत्वस्याऽनुगमात्तदनुगमः। अत एव परम्परासंबन्धा जातिरेवोपाधिरुच्यत इति–चेन्न; ज्ञानत्वस्य प्रमावृत्तित्वेनाऽप्रामाण्यवृत्ति-

शंका– हेतुतावच्छेदक अप्रामाण्य है, उसके साथ ऐक्य होने से धूम के समान अप्रमात्व हेतु हो सकता है (धूमवत्ता और धूम में ऐक्य है; अतः धूम भी हेतु होता है, उसी प्रकार अप्रामाण्य और अप्रमात्व में ऐक्य होने से अप्रमात्व हेतु हो सकता है)। उत्तर– वह अप्रामाण्य ही क्या है– यह विचारणीय है। वह जाति तो है नहीं; क्योंकि तुमने उसका जातित्व नहीं माना है। उपाधि भी नहीं; कारणकि– उसका निर्वचन नहीं हो सकता। शंका– अप्रमामात्रवृत्तित्व अप्रामाण्य है। उत्तर– नहीं; अप्रामाण्य नाना होने से एक अप्रामाण्य की सकल अप्रमा में वृत्ति नहीं हो सकती। और वह अप्रामाण्यशब्दाभिधेयत्व भी नहीं हो सकता; क्योंकि अनुगत धर्म का अभाव होने पर अप्रामाण्यशब्दाभिधेयत्व भी असम्भव है। शंका—तदभाव वाले में तत्प्रकारकज्ञानत्व (उस धर्म के अभाव वाले पदार्थ में उसी धर्म से विशिष्टत्व समझना) अप्रामाण्य है। तब तो अप्रमाज्ञान में ज्ञानत्व का अनुगम होने से अप्रामाण्य का अनुगम भी होगा। अत एव परम्परासंबन्धवाली जाति ही उपाधि कही जाती है। उत्तर– ऐसा नहीं हो सकता; कारण कि ज्ञानत्व की प्रमा और अप्रमा दोनों में वृत्ति होने से अतिप्रसङ्ग होता है (अर्थात् प्रमा में भी ज्ञानत्व होने से अप्रामाण्य होने लगेगा)। लक्ष्यमात्रवृत्ति धर्म

त्वेन च अतिप्रसक्तत्वात् । तन्मात्रवृत्तिर्हि धर्मोऽनुगमको भवति ।

किञ्च—यदि ज्ञानत्वं परम्परासंबद्धमप्रमात्वम्, तद्वृत्तिवाऽनुगमकम्, तदा तथैव बोधापत्तिः स्यात् । न चैवं सम्भवत्यपि अन्यस्याऽनुगमेऽन्यस्याऽनुगम इति । तस्मान्मिथ्यार्थविषयत्वमेवाऽप्रमात्वम् । तथा च मिथ्याभूतार्थमेवेति स्वीकारः । अन्यथाऽप्रामाण्यस्य वक्तुमशक्यत्वात् ।

ननु— मिथ्यार्थविषयत्वमसिद्धम्; सत्यस्याऽधिष्ठानांशस्याऽपि तत्र स्फुरणात्, अन्यथा "रजतम्" इत्येव प्रतीत्यापत्तेः । न च— सत्यांशस्मरणमविरुद्धमिति— वाच्यम्; एकस्य प्रमात्वाऽप्रमात्वरूपविरुद्धधर्माऽध्यासेन भेदापत्तेरुक्तत्वात्;

ही अनुगमक होता है। किञ्च— यदि परम्परासंबद्ध ज्ञानत्व ही अप्रमात्व है, अथवा अप्रमावृत्ति अनुगमक ज्ञानत्व ही अप्रमात्व है, तो ज्ञानत्व से विशिष्ट होकर बोध होना चाहिये, (न कि अप्रमात्व से विशिष्ट होकर)। और यह सम्भव भी नहीं है कि अन्य (ज्ञानत्व) के अनुगम में अन्य (अप्रमात्व) का अनुगम हो। इसलिये मिथ्यार्थविषयकत्व ही अप्रमात्व है। तब तो मिथ्याभूत पदार्थ है—ऐसा स्वीकार करना होगा। अन्यथा अप्रामाण्य का निर्वचन असम्भव होगा।

शंका— अप्रमाज्ञान का मिथ्यार्थविषयकत्व असिद्ध है, क्योंकि सत्य अधिष्ठानांश भी भ्रम में स्फुरित होता है। यदि अधिष्ठान का स्फुरण नहीं माना जायेगा तो "रजत" इतने का ही स्फुरण होने लगेगा। उसमें सत्य अधिष्ठानांश का स्मरण होता है; अतः विरोध नहीं—ऐसा कहना भी उचित नहीं; कारण कि एक ज्ञान में प्रमात्व और अप्रमात्वरूप विरुद्ध धर्मद्वय का अध्यास होने से भेद की आपत्ति होगी। यदि उसमें विरोध नहीं मानोगे तो अन्यथाख्यातिवाद में भी

अन्यथाऽन्यथाख्यातिवादेऽप्यविरोधात्। किञ्च- मिथ्यारजते सत्यरजतवृत्तिरजतत्वमस्ति न वा ? न प्रथमः; तस्य योग्यव्यक्तिवृत्तित्वनियमात्, शृङ्गत्ववत्; अन्यथाख्यातित्वापत्तेश्च। न द्वितीयः; अनुगतबुद्ध्यभावापत्तेः, रजतशब्दप्रयोगाऽनुपपत्तेश्च। रजतत्वं हि तत्र निमित्तम्। तत्र रजतत्वान्तरस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वेऽनेकार्थत्वापत्तिरिति चेत्- उच्यते; इदमिति इदंत्वेन शुक्तिमवगाहमानमन्तःकरणवृत्तिरूपं ज्ञानं जायते, दोषप्रतिबन्धान्न शुक्तित्वमवगाहते; तदनु दोषवशाद्रजततद्गोचरज्ञानाऽऽकारेणाऽज्ञानं शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्याऽऽवरणरूपं विवर्तते- रजतमिति। उभयोश्च ज्ञानयोर्विवे-

अविरोध होगा। किञ्च — मिथ्या रजत में सत्यरजतवृत्ति रजतत्व है, या नहीं ? प्रथम पक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि शृङ्गत्व के समान उस रजतत्व की भी योग्यव्यक्ति में ही वृत्ति होनी चाहिये। और ऐसा मानने पर अन्यथाख्याति का प्रसङ्ग भी आता है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं; कारण कि – मिथ्यारजत में रजतत्व की अनुगतबुद्धि नहीं होगी; और उस में रजतशब्द का प्रयोग भी असम्भव होगा; क्योंकि रजतशब्द की प्रवृत्ति में रजतत्व निमित्त है। यदि उस मिथ्या रजत में रजतशब्द की प्रवृत्ति का निमित्त रजतत्वान्तर मानोगे तो एक ही रजतशब्द की अनेकार्थत्वापत्ति होगी।

समाधान- इसका उत्तर यह है- "इदं रजतम्" इस भ्रम में "इदम्" इस प्रकार से इदंत्वरूप से शुक्ति को विषय करने वाला अन्तःकरणवृत्तिरूप ज्ञान उत्पन्न होता है। वह ज्ञान दोष से प्रतिबन्ध होने के कारण शुक्तित्व का ग्रहण नहीं करता, और उसके बाद ही दोषवश रजत और रजतविषयकज्ञानरूप से शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य का आवरणरूप अज्ञान परिणाम को प्राप्त होता है, और उसी से "रजत" इस प्रकार प्रतीति होती है। इस रीति से- इदमंशविषयक ज्ञान और रजतविषयक ज्ञान दोनों में भेदाग्रह (भेद के अज्ञान) से, अथवा एक-

काऽग्रहादेकत्वाऽभिमानः; एकफलाद्वा। न चैवं प्राभाकरमत-प्रवेशः, तेन मिथ्यारजतस्याऽनङ्गीकारात्; किञ्चित्साम्येन साम्याऽऽपादने सर्वस्य सर्वत्वापत्तिः। न च रजतशब्दप्रयोगाऽनुपपत्तिः, सविकल्परजताऽनुभवसंस्कारजन्यतया रजतभ्रमस्य तद्वाचकशब्दोल्लेखोपपत्तेः। यद्वा--अस्त्येव तत्र रजतत्वम्, न च तस्य योग्यव्यक्तिवृत्तित्वनियमः, असिद्धेः; सत्तादिवदुपपत्तेः। घटादिकमपि तथा स्यादिति चेत्; इष्टापत्तिः, नहि घटो भ्रमविषयः। व्यावहारिकरजतत्वाऽऽश्रयत्वे तदपि व्यावहारिकमेव स्यात्, न तु प्रातीतिकमिति--चेन्न; तत्र

फलत्व होने से एकत्व का अभिमान होता है। और इस प्रकार मानने पर (अर्थात् भेदाग्रह मानने पर) सर्वज्ञानयथार्थवादी प्राभाकर मीमांसकों के मत में प्रवेश होता है— ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिये; क्योंकि प्राभाकरों ने मिथ्यारजत का अङ्गीकार नहीं किया है; कुछ सादृश्यमात्र से सर्वसाम्य का आपादन करोगे तो सब मतों में सर्वसाम्य की आपत्ति आ जायेगी। और रजतशब्द के प्रयोग की अनुपपत्ति भी नहीं होगी; कारण कि—रजतभ्रम सविकल्पकरजतानुभव के संस्कार से जन्य होने से उसमें (रजतभ्रम में) रजतवाचक शब्द का उल्लेख हो सकता है। अथवा—उस मिथ्या रजत में रजतत्व है ही; और उस रजतत्व के योग्यव्यक्तिवृत्तित्व का नियम भी नहीं हो सकता, क्योंकि सत्तादि के समान वृत्तित्व सम्भव होने से उस नियम की असिद्धि होती है (जैसे— नैयायिकों के मत में द्रव्य, गुण, कर्म में ही सत्ता रहती है, तो भी सत्ता के अयोग्य सामान्य विशेषादि में भी उसकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार यहां भी मिथ्यारजत में रजतत्व हो सकता है)। शंका— तब तो घटादि भी रजतत्व का आश्रय होने लग जायेगा। उत्तर - यदि वह भी रजतभ्रम का विषय हो तो इष्टापत्ति है, किन्तु घट रजतभ्रम का विषय नहीं है। शंका—भ्रमविषयीभूत मिथ्यारजत में यदि व्यावहारिकरजतत्व मानोगे तो वह भी व्यावहारिक ही हो जायेगा, प्रातिभासिक तो नहीं होगा।

तत्संसर्गस्य प्रातीतिकत्वात्; व्यावहारिके च तस्य व्यावहारिकत्वादेव। न च--तस्याऽपि समवायरूपत्वेनैकत्वात्कथमेवं व्यवस्था स्यादिति--वाच्यम्; असिद्धेः। नहि य एव गोत्वसंसर्गः, स एव रजतत्वसंसर्गः, तथासत्यतिप्रसङ्गापत्तेः। तथा च संसर्गभेदाद्व्यवस्थोपपत्तिः। न चाऽपसिद्धान्तः; "इदंतासंसर्गवद्रजतस्य शुक्तिकासत्त्वसंसर्गोऽयमवभासते, न रजतस्याऽपरं सत्त्वम्" (ब्र० सूत्रं नवव्याख्योपेतं, पृ०२०४) इति विवरणकृताऽभिधानात्। तथा च यथा सत्त्वमन्यदीयं तत्र भासते, तथा रजतत्वमपीति को विरोधः? सत्त्वमधिष्ठानेऽस्ति, न रजतत्वमिति–चेन्न; तस्याऽपि "सर्वा सर्वगता जातिः" इति न्यायेन सर्वत्र सम्भवेनाऽनिर्वचनीयत्व-

उत्तर– नहीं; क्योंकि मिथ्यारजत में रजतत्व का संसर्ग प्रातीतिक है, और व्यावहारिक रजत में वह संसर्ग व्यावहारिक है। शंका—उस संसर्ग के भी समवायरूप होने के कारण एक ही होने से यह व्यववस्था किस प्रकार हो सकती है? उत्तर– ऐसा न कहो; क्यों कि समवाय का एकत्व असिद्ध है; जो गोत्वसमवाय है, वही रजतत्वसमवाय नहीं हो सकता; कारण कि-ऐसा होने पर अतिप्रसङ्ग होगा (अर्थात्-रजतादि में भी गोत्वसमवाय होने पर उसमें गोत्व की वृत्ति अवश्य होगी); अतः संसर्गभेद से व्यवस्था हो सकती है। इसमें अपसिद्धान्त भी नहीं; कारण कि—"जिस प्रकार मिथ्यारजत में इदंता का संसर्ग अवभासित होता है, उसी प्रकार उसमें शुक्ति के सत्त्व का संसर्ग भी अवभासित होता है, रजत का अन्य सत्त्व नहीं" ऐसा विवरणकृत् आचार्य ने अभिधान किया है। तब तो जिस प्रकार अन्य का सत्त्व शुक्तिरजत में भासित होता है, उसी प्रकार रजतत्व भी भासित होता है— ऐसा मानने पर क्या विरोध है? शंका— सत्त्व तो अधिष्ठान में है, किन्तु रजतत्व अधिष्ठान में नहीं। (अतः उसका अध्यस्त में कैसे भान होगा?) उत्तर— ऐसा नहीं; क्योंकि "सब

त्त्वभिव्यक्तिसंभवात्। तथा चाऽनुगतव्यवहारशब्दप्रयोगाद्युपपत्तिः।

ननु– त्रिविधसत्त्ववादिमते कथमयं दृष्टान्तः ? तथाहि– परमार्थसत्त्वं ब्रह्मणः, निरुपाधिकत्वात्, सर्वथा सर्वदा बाधाऽभावाच्च। अर्थक्रियासामर्थ्यं सत्त्वं मायोपाधिकमाकाशादेः, व्यवहारदशायां विसंवादाऽभावात्, प्रमात्रा सह बाध्यत्वाच्च। अविद्योपाधिकं सत्त्वं रजतादेः; व्यवहारे विसंवादात्, सति प्रमातरि बाध्यत्वाच्चेति– चेन्न; एतस्याऽभ्युपगमवादत्वात्, अधिष्ठानसत्त्वमेवाऽध्यस्ते भासते, नाऽन्यत्सत्त्वान्तरमित्येव मुख्यः सिद्धान्तः। अत एवोक्तं महद्भिः –

"अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।

जाति सर्वगत है" इस न्याय से रजतत्व भी सर्वत्र संभव होने से अनिर्वचनीय रजतव्यक्ति में उसकी अभिव्यक्ति सम्भव है। इसलिये अनुगत व्यवहार और रजतशब्दप्रयोगादि सब हो सकते हैं।

शंका – त्रिविधसत्तावादी के मत में यह दृष्टान्त कैसे संभव होगा ? तथाहि– ब्रह्म का परमार्थसत्त्व है, क्योंकि ब्रह्म निरुपाधिक और सर्वथा सर्वदा बाधरहित है। आकाशादि का मायोपाधिक अर्थक्रियासामर्थ्यरूपसत्त्व है, क्योंकि व्यवहारदशा में उसके विसंवाद (निष्फलत्व) का अभाव है और प्रमाता के सहित उसका बाध होता है। तथा शुक्तिरजतादि का अविद्योपाधिक सत्त्व है, कारण कि व्यवहार में विसंवाद है और प्रमाता के वर्तमानकाल में उस का बाध होता है।

समाधान – ऐसा नहीं; क्योंकि त्रिविधसत्तावाद अभ्युपगमवाद है (अपनी प्रौढवादिता को सिद्ध करने के लिये अन्य के द्वारा कहे हुए वचन को मानकर उत्तर देने का नाम अभ्युपगमवाद कहा जाता है)। अधिष्ठान का सत्त्व ही अध्यस्त में भासमान होता है, अध्यस्त का कोई दूसरा सत्त्व नहीं– यह मुख्य सिद्धान्त है। अत एव महान आचार्यों ने कहा है– "अस्ति, भाति, प्रिय, रूप और नाम– ये पांच

आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ।।" (सरस्वती रहस्योपनिषत् २३ तथा वाक्यसुधा २०) । तथा च सत्ताभानाऽऽनन्देभ्यो निष्कृष्यमाणं जगद् बाधितं तुच्छमनिर्वचनीयमित्यादिशब्दैः कथ्यते । अत एव "इदं सर्वं यदयमात्मा" (बृ०२।४।६) इत्यपि संगच्छते; सदादिरूपेण जगद्ब्रह्मणोऽभेदात्; रूपान्तरं तु नाऽस्त्येवेति तेन सह न भेदः, नाऽप्यभेदः, नाऽपि भेदाऽभेद इति । तदेतद्बाधोत्तरं शक्यज्ञानम्; ततः पूर्वन्तु सदादिरूपेणैव जगत्प्रतीयते । तथा च शुक्तिरजतस्याऽऽकाशादेश्च जगतो न कश्चिद्विशेषः । यत्तु शुक्तिरजतादेर्मायामयत्वप्रतिपादनं शास्त्रे, तत्परं प्रति दृष्टान्तार्थम् । व्यावहारिकप्रातीतिकभाषाऽऽपि च तत्कालिकबाधाऽबाधाभ्याम् ।

अंश जगत् के हैं । उनमें प्रथम तीन अंश ब्रह्मरूप हैं, और उससे भिन्न अन्तिम दो अंश जगत् के हैं ।" इसलिये सत्ता, भान और आनन्द इन तीन अंशों से पृथक् किया हुआ जगत् बाधित, तुच्छ, अनिर्वचनीय इत्यादि शब्दों के द्वारा कहा जाता है । अत एव "यह दृश्यमान सब जगत् यह आत्मा ही है" इत्यादि श्रुति का भी समन्वय हो जाता है; क्योंकि सत् चित् और आनन्दरूप से जगत् और ब्रह्म में अभेद है, और रूपान्तर अर्थात् नाम और रूप तो हैं नहीं; कल्पितमात्र हैं। अत: उन दोनों के साथ ब्रह्म का न भेद है, न अभेद है, न तो भेदाभेद है। यह जो इस प्रकार का ज्ञान है, वह जगद्बाधोत्तर काल में हो सकता है, उसके पहले तो सदादिरूप से जगत् प्रतीत होता है। इसलिये शुक्तिरजतादि और आकाशादि जगत् में कुछ भी अन्तर नहीं और जो शुक्तिरजतादि के मायामयत्व का शास्त्र में प्रतिपादन है, वह तो दूसरों के प्रति दृष्टान्त देने के लिये है। तथा व्यावहारिक और प्रातीतिक की परिभाषा भी तत्कालिक बाध और अबाधरूप निमित्त को लेकर होती है।

ननु- एवं मिथ्यारजतोत्पत्तिस्वीकारेऽधिष्ठानसाक्षात्कारानन्तर-"पूर्वमिदं रजतमत्राऽऽसीदिदानीं न" इति पूर्वाऽपरस्थलाऽवधित्वेन प्रतीतिः स्यात्; नतु "नेदं रजतं, कालत्रयेऽप्यत्र नास्ति" इत्यत्यन्ताभावोल्लेखनी, भूतले ध्वस्तघटपटस्य तथैव प्रतीतेरिति- चेन्न; मायामयस्य कालत्रयेऽप्यत्यन्ताऽभावस्यैव विद्यमानत्वात्, अन्यथा ज्ञानेन तन्निवृत्त्यनुपपत्तेः। अत एव प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वमित्यनिर्वचनीयलक्षणं सगच्छते। घटस्य तु तथा प्रतीतिर्युक्तैव। न च- असदेव तर्हि रजतं स्वीकृतं स्यादिति-वाच्यम्; अपरोक्षप्रतीतिगोचरत्वात्। अत-तन्न सत्, बाध्यत्वात्, नाऽप्य-

शंका— इस प्रकार से मिथ्यारजत की उत्पत्ति स्वीकार करोगे तो अधिष्ठान के साक्षात्कार होने के बाद "पहले यहां पर यह रजत था, अब नहीं है" इस प्रकार पूर्व और अपर स्थल की सीमारूप से प्रतीति होनी चाहिये; "यह रजत नहीं है, यहां तो तीनों कालों में रजत का अभाव है" इस प्रकार अत्यन्ताभाव का उल्लेख करने वाली प्रतीति तो होनी नहीं चाहिये; क्योंकि भूतल में नष्ट घट पट की वैसी ही प्रतीति अर्थात् भूतल में घट था, अब नष्ट हो गया है- ऐसी प्रतीति होती है।

समाधान— ऐसा न कहो; क्योंकि मायामय पदार्थ का अत्यन्ताभाव कालत्रय में विद्यमान ही रहता है। यदि ऐसा नहीं मानोगे तो ज्ञान से उसकी निवृत्ति नहीं होगी। इसलिये— "अनिर्वचनीय पदार्थ स्वाश्रयत्वेन ज्ञात अधिकरण में त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी है" यह लक्षण समन्वित होता है। और बाध न होने के कारण ध्वंसस्थल में घट की उस प्रकार प्रतीति (घट था, अब नष्ट हो गया — ऐसी प्रतीति) तो ठीक ही है। शंका-तब तो रजत असत् ही मानना होगा। उत्तर- ऐसा भी न कहो; क्योंकि शुक्तिरजत अपरोक्ष प्रतीति का विषय है (यदि वह शशविषाण जैसा असत् होगा तो अपरोक्ष प्रतीति का विषय भी नहीं होगा)। इसलिये वह सत् नहीं; क्योंकि वह बाध्य

सत्, अपरोक्षप्रतीतिविषयत्वादित्यनिर्वचनीयमित्याख्यायते । यत्तु- "नेह रजतम्" इति निषेधो नाऽनिर्वचनीयस्य, तस्य तत्र कालत्रयेऽत्यन्ताभावाऽभावात्, किन्तु लौकिकप्रसिद्धरजतस्यैव, तस्य तत्र तथात्वादिति–तन्न; तस्य प्राप्त्यभावात् । न च- रजताभासप्राप्त्यैव तत्प्राप्तिः, अन्यस्य प्राप्त्याऽन्यप्राप्त्यनुपपत्तेः, उपपत्तौ वाऽनिर्वचनीयरजतकल्पनाऽनुपपत्तेः । न ह्यत्र रजतद्वयमनुभवसिद्धम् ।

किञ्च– "नेति नेति" (बृ०२।३।६)वाक्येन यदा सर्वप्रपञ्चनिषेधोऽविशेषेण बोध्यते, तदा कः प्रतीकारः ? नहि

है (सत् पदार्थ तो तीनों कालों में अबाध्य होता है) ; तथा असत् भी नहीं; क्योंकि वह अपरोक्ष प्रतीति का विषय है । इस कारण वह सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय कहा जाता है। इसमें कोई ऐसा कहते हैं – "यहां रजत नहीं" यह निषेध अनिर्वचनीय पदार्थ का नहीं, क्योंकि प्रतीतिकाल में उसका सत्त्व होने से कालत्रय में अत्यन्ताभाव नही हो सकता, किन्तु लोकव्यवहार में प्रसिद्ध रजत का ही "यहां व्यावहारिक रजत नहीं" ऐसा त्रैकालिक निषेध है, कारण कि– उसका भ्रमस्थल में त्रैकालिक अत्यन्ताभाव है। परन्तु ऐसा कथन ठीक नहीं; क्योंकि व्यावहारिक रजत की यहां प्राप्ति ही नहीं (प्राप्त वस्तु का ही निषेध किया जाता है) ; और रजताभास की प्राप्ति से ही उसकी प्राप्ति होगी – ऐसी बात भी नहीं हो सकती; कारण कि –अन्य की प्राप्ति से दूसरे की प्राप्ति नहीं हो सकती । यदि हो सकती है तो अनिर्वचनीय रजत की कल्पना नहीं होगी । यहां रजतद्वय का अनुभव भी तो नहीं होता ।

किञ्च – "नेति नेति" इस श्रुति वाक्य से जिस समय सर्व प्रपञ्च का निषेध अविशेषरूप से जाना जाता है, उस समय इसका क्या प्रतीकार होगा ? उसमें भी तो प्रपञ्चद्वय नहीं है। अथवा –

तत्राऽपि प्रपञ्चद्वयमस्ति । अस्तु वा त्रिविधमेव सत्त्वम्, तथापि नाऽनुपपत्तिः; अत्रापि व्यावहारिकरजतत्वभाने दोषाऽभावात् । अत एव "तदेवेदं रजतम्" इति संगच्छते । अन्यथा व्यक्तिभेदे प्रत्यभिज्ञा किंनिबन्धना स्यात् ? तस्माद् रजतत्वं मिथ्यारजतवृत्ति—इति साधने न कोऽपि दोषः । न च—अस्यैवाऽनुमानस्य मानत्वे कथमनिर्वचनीयत्वं रजतस्य ? मानगम्यत्वात्, अमानत्वे सिद्धं नः समीहितमिति—वाच्यम्; व्यावहारिकमानविषयत्वाऽभ्युपगमात्, तत्त्वावेदकमानविषयत्वन्तु नाऽभ्युपगम्यते, हेत्वाभासोद्धाराच्च पदार्थान्तरव्यवहारवदुपपन्नोऽस्य व्यवहार इति परमुखमुद्रणम् ।

तुम्हारे आग्रह के अनुसार त्रिविध सत्त्व ही हो, तो भी उससे हमारी कोई अनुपपत्ति नहीं; क्योंकि इस में भी भ्रमस्थल में व्यावहारिक रजतत्व का भान मानने पर कोई दोष नहीं । अत एव "यह वही रजत है" यह कथन संगत होता है । यदि भ्रमस्थल में व्यावहारिक रजतत्व का भान न मान कर व्यक्तिभेद मान लिये जायें तो यह प्रत्यभिज्ञा (स्मृत्यनुभवात्मकबुद्धि) किंनिमित्तक होगी ? इसलिये "रजतत्व मिथ्यारजतवृत्ति है, (उक्त प्रत्यभिज्ञा का विषय होने से)" इस प्रकार अनुमान से उस को सिद्ध करने में कोई दोष नहीं । शंका — इस अनुमान को रजत के प्रति प्रमाण मानोगे तो उसकी अनिर्वचनीयता कैसे सिद्ध होगी ? क्योंकि वह मानगम्य हो गया; यदि वह प्रमाण से सिद्ध नहीं है तो हमारा इष्ट सिद्ध ही हुआ (अर्थात् — अनिर्वचनीयख्याति सिद्ध नहीं होगी, किन्तु अन्यथाख्याति ही सिद्ध होगी) । उत्तर — ऐसा न कहो; क्योंकि हम मिथ्यारजत को व्यावहारिक प्रमाण का विषय मानते हैं; तत्त्वावेदक प्रमाण का विषय तो नहीं मानते । और इस अनुमान में हेत्वाभास का उद्धार होने के कारण जिस प्रकार प्रमाण से सिद्ध पदार्थान्तर का व्यवहार होता है, उसी प्रकार रजत का भी व्यवहार उपपन्न है । इस प्रकार यही दूसरों का मुख बन्द करने का उपाय है ।

वस्तुतस्तु— तद्रजतं साक्षिसिद्धम्, तदभावोऽपि साक्षिसिद्ध एव; तस्य च प्रमाणाऽप्रमाणोदासीनत्वान्न कोऽपि दोष। अत एव व्यावहारिकरजताऽभाव एव "नेदं रजतम्" इत्युल्लिख्यते, तस्येन्द्रिययोग्यत्वात्; न त्वनिर्वचनीयरजताभावः, तस्याऽयोग्यत्वात्। न च—पारमार्थिकस्याऽत्राऽप्रसक्तिदोषः; तस्य भ्रमाऽविषयत्वेऽपि अधिष्ठानसाक्षात्कारानन्तरं स्मृत्युपस्थितस्य निषेधोपपत्तेः। प्रतियोगिज्ञानाऽपेक्षत्वादभावबुद्धेः। तत्स्मारकं चाऽधिष्ठानज्ञानमेव; प्रतियोगिज्ञानमेवाऽभावबुद्धौ हेतुः, न तु यत्राऽभावबुद्धिः, तत्राऽधिकरणे प्रतियोग्यारोपोऽपि, प्रमाणाऽभावात्, दोषाऽभावेन प्रतियोग्यारोपाऽसंभवाच्च। न च— एवं सर्वत्रैव निषेधप्रतीतिः स्या-

वास्तव में तो वह रजत साक्षी से सिद्ध है, और उसका अभाव भी साक्षी से ही सिद्ध है। अतः साक्षी के प्रमाण और अप्रमाण से उदासीन होने से कोई दोष नहीं है। इसलिये "नेदं रजतम्" इससे व्यावहारिक रजत के अभाव का ही उल्लेख होता है; क्योंकि वह इन्द्रिय का विषय होने योग्य है, अनिर्वचनीय रजत का अभाव तो उल्लिखित नहीं होता, कारण कि—वह इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होने योग्य नहीं। शंका— यहां पारमार्थिक अर्थात् व्यावहारिक रजत का अभाव मानोगे तो अप्राप्त के प्रतिषेध का दोष होगा। उत्तर— नहीं, क्यों कि वह भ्रम का विषय न होने पर भी अधिष्ठानसाक्षात्कार के अनन्तर स्मृति से उपस्थित होने से निषेध का विषय हो सकता है; कारण कि— अभावज्ञान के लिये प्रतियोगिज्ञान की अपेक्षा है, प्रतियोगिप्राप्ति की नहीं। और प्रतियोगी रजतादि का स्मारक तो अधिष्ठानज्ञान ही है, तथा प्रतियोगिज्ञान ही अभावबुद्धि में हेतु है, जिस अधिकरण में अभावबुद्धि होती है, उस में प्रतियोगी का आरोप तो हेतु नहीं, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं। और उस समय (अधिष्ठानसाक्षात्कारानन्तरकाल में) दोष का अभाव होने से प्रतियोगी का आरोप भी असम्भव है। शंका— प्रतियोगी का आरोप

दिति–वाच्यम्; अधिकरणाऽसन्निकर्षादिना योग्याऽनुपलब्धेर-भावात्; यस्त्वारोप्य निषिध्यत इति मतम्; तन्निष्प्रमाणत्वा-त्तुच्छमेव; प्रतियोगितद्व्याप्येतरयावदुपलम्भसमवधाने प्रति-योगिज्ञानस्यैवाऽभावोपलम्भकत्वात्, प्रतियोग्यारोपव्यतिरेकेण कार्यव्यतिरेकाऽभावाच्च। भ्रमस्थले तु विवाद एव; विवरण-कारमते प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वमनिर्वचनीयत्व-मिति लक्षणम्। तदुक्तेनैव कथं संगच्छतामिति न वाच्यम्; प्रतिपन्नस्य रजतादेरुपाधिरधिष्ठानम्; तत्र यो निषेधः सवि-लासाऽविद्यानिवृत्तिः, तत्प्रतियोगित्वमिति– तदर्थत्वात्। न च– एवंविधकल्पनायां प्रमाणाऽभावः; "कालत्रयेऽपि

किये बिना निषेध हो सकता है तो सर्वत्र निषेध की प्रतीति होने लगेगी। उत्तर– ऐसा नहीं; क्योंकि अधिकरण के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्षादि न होने से प्रत्यक्षयोग्य अनुपलब्धि का अभाव है। (अतः सर्वत्र निषेध की प्रतीति नहीं होगी)। और "प्रतियोगी का आरोप करके निषेध किया जाता है" ऐसा जो मत है, वह प्रमाण-रहित होने से तुच्छ है, क्योंकि प्रतियोगी और उसके व्याप्य पदार्थों से (जिनके रहने पर प्रतियोगी रहता है, ऐसे पदार्थों से) भिन्न सब उपलम्भकारणों का सन्निधान होने पर प्रतियोगिज्ञान ही अभाव का उपलम्भक होता है; और प्रतियोगी के आरोप के अभाव से निषेध-रूप कार्य का अभाव नहीं होता (अर्थात् आरोप किये बिना निषेध हो सकता है)। शंका– भ्रमस्थल में तो विवाद ही है; विवरणकार के मत में– प्रतिपन्न उपाधि में निषेधप्रतियोगित्व ही अनिर्वचनी-यत्व का लक्षण है; वह पूर्वोक्त के साथ कैसे संगत होगा? उत्तर– ऐसा न कहो; क्योंकि– प्रतिपन्न अर्थात् ज्ञात रजतादि की जो उपाधि अर्थात् अधिष्ठान है, उसमें जो निषेध अर्थात् कार्यसहित अविद्या की निवृत्ति, उस निवृत्ति का प्रतियोगित्व अनिर्वचनीयत्व है– यह उस लक्षणवाक्य का अर्थ है (अतः संगति हो जाती है)। शंका– इस

रजतमिह नास्ति, मिथ्यारजतं मया प्रतिपन्नम्" इत्यनुभवस्यैवाऽन्यथानुपपन्नस्य कल्पकस्य विद्यमानत्वात्। न च—"नेति नेति" (बृ०२।३।६) इत्यादिश्रुत्या जगन्निषेधे नायं प्रकारः सम्भवति, जगद्द्वयाऽभावादिति—वाच्यम्; सति प्रमातरि बाधे पूर्वं गतेरुक्तत्वात्। अयन्तु प्रमात्रा सह बाधः; अद्वैतात्ममात्रपरिशेषात्। आकाशादेः प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्माऽज्ञानेनोत्पन्नत्वात्तस्य ब्रह्मप्रदर्शकवाक्येन निरासे तत्कार्यस्याऽपि सर्वात्मना निरास एव। रजतादेस्तु शुक्त्यवच्छिन्नब्रह्माऽज्ञानोत्पन्नत्वम्, तेन तद्बाधेऽप्यन्येषामवस्थानं सम्भवतीति विशेषः।

प्रकार के अर्थ की कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं है। उत्तर—ऐसा न कहो; क्योंकि "कालत्रय में भी यहां रजत नहीं", "मिथ्या रजत मैंने जाना" इस प्रकार का अन्यथा अनुपपन्न अनुभव ही कल्पना के कल्पकरूप से विद्यमान है। शंका—"नेति नेति" इस श्रुति से जगत् के निषेध में यह पूर्वोक्त प्रकार सम्भव नहीं; क्योंकि दो जगत् हैं नहीं; (जिससे एक को आरोपित मान कर उसका निषेध किया जाये, और दूसरा परमार्थरूप से रह जाये)। उत्तर—ऐसा कहना उचित नहीं; क्योंकि प्रमाता के रहते हुए बाध में गति तो पहले ही कह चुके हैं। और यह जगत् का बाध तो प्रमाता के सहित है, कारण कि—इसमें अद्वैत आत्मा मात्र परिशेष रहता है। और आकाशादि प्रपञ्च तो ब्रह्मात्मा के अज्ञान से उत्पन्न है; अतः "तत्त्वमसि" आदि ब्रह्मबोधक वाक्य से उस अज्ञान का निरास हो जाने पर उसके कार्य का भी सर्वथा निरास हो जाता है। शुक्तिरजतादि तो शुक्त्यवच्छिन्न ब्रह्म के अज्ञान से उत्पन्न होते हैं, इसलिये अधिष्ठान के ज्ञान से उन रजतादि का बाध होने पर भी अन्य व्यावहारिक रजतादि का अवस्थान सम्भव है—यह दोनों में (जगद्बाध और शुक्तिरजतादिबाध में) अन्तर है।

ननु–एवं रजतस्य साक्षिमात्रवेद्यत्वे कथं तत्र रजतत्वं व्यावहारिकत्वञ्च भासेते ? तज्ज्ञाने तस्याऽन्तःकरणवृत्त्यपेक्षणादितिचेन्न; सुखत्वादिभानवदुपपत्तेः। अथ–अन्तःकरणवृत्तितद्धर्मादौ नाऽपेक्षा, अन्यत्र तु भविष्यतीति–चेन्न; "रजतमहं जानामि" इत्यनुभवबलेनाऽविद्यावृत्त्युपग्रहेणाऽपि रजतत्वे साक्षिप्रवृत्तौ दोषाऽभावात्; फलबलेन तथा कल्पनात्। तस्मात् सर्वथा मिथ्यारजतभाने न कोऽपि दोष इति सिद्धम्। मिथ्यात्वञ्च सत्त्वेनाऽसत्त्वेन सदसत्त्वेन विचाराऽसहत्वम्; प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वम्, अविद्यातत्कार्याऽन्यतरत्वमित्यादिकमूह्यम्। भ्रमबाधव्यवस्थोपपत्तिरद्वैतसिद्धौ

शंका– इस प्रकार से रजत को साक्षिमात्रवेद्य मानोगे तो उसमें रजतत्व और व्यावहारिकत्व कैसे प्रतीत होंगे ? कारण कि उन दोनों के ज्ञान करने में साक्षी को अन्तःकरणवृत्ति की अपेक्षा रहती है। समाधान– नहीं; अन्तःकरणवृत्ति के बिना जिस प्रकार सुखत्वादि का ज्ञान साक्षी को होता है, उसी प्रकार दोनों का ज्ञान भी हो सकता है। शंका– अन्तःकरणवृत्ति और उस के धर्मादि के ज्ञान में अपेक्षा न होने पर भी अन्य के ज्ञान में तो अन्तःकरणवृत्ति की अपेक्षा होगी। समाधान– नहीं; "मैं रजत को जानता हूँ" इस अनुभव के बल से रजताकार अविद्यावृत्ति माननी होगी, उस अविद्यावृत्ति के सम्बन्ध से रजतत्व में साक्षी की प्रवृत्ति होने में दोष नहीं; क्योंकि फलबल से वैसी ही कल्पना की जाती है (कारण कि– रजतत्व के बिना रजत का भान नहीं हो सकता, किन्तु रजत साक्षिभास्य होता है; अतः रजतत्व भी साक्षिभास्य है)। इसलिये मिथ्या रजत के भान में सर्वथा कुछ भी दोष नहीं–यह सिद्ध हुआ। और मिथ्यात्व तो सत् रूप से, असत् रूप से और सदसद्रूप से विचारासह्य है; तथा प्रतिपन्न उपाधि में निषेधप्रतियोगित्व, एवं अविद्या और उसके कार्य का अन्यतरत्व आदि समझना चाहिये। भ्रमबाधव्यवस्था की उपपत्ति तो अद्वैतसिद्धि में विस्तार से कही गई है; अतः वहां देख

सविस्तरमनुसन्धेयेतीहोपरम्यते। तत्सिद्धमेतद्भेदपारमार्थिकत्वाऽनुमानं शुक्तिरजतादौ व्यभिचारि।

तथा—भेदः प्रमाविषयः, ज्ञानविषयत्वाद्, ब्रह्मवदित्यपि दुष्टम्; अप्रयोजकत्वात्, उक्तप्रकारेण दृष्टान्ताऽसिद्धेश्च, अभेदश्रुतिबाधितत्वाच्च। किञ्च—प्रमात्वं यदि व्यवहारोपयिकार्थविषयत्वम्, तदा सिद्धसाधनम्; अथ— यथार्थविषयाऽनुभवत्वम्; तत्र यदि यथाशब्दस्य सादृश्यमर्थः, तदानीं यथाकथञ्चिदर्थसादृश्यं भ्रमेऽप्यस्ति; तद्विषयत्वेन सिद्धसाधनम्। असाधारण्येन रूपेण सादृश्यस्याऽसम्भव एव। अथ—तत्त्वाऽनुभवत्वम्; तदापि भ्रमस्याऽपि रजतत्वादिस्वविषय-

लेनी चाहिये — इसलिये यहां विचार नहीं किया गया (अद्वैतसिद्धि के ख्यातिबाधान्यथानुपपत्त्यादि प्रकरण में इसका विचार हुआ है)। अतः यह सिद्ध हुआ कि भेदपारमार्थिकत्व का अनुमान शुक्तिरजतादि से व्यभिचारी है।

इसी प्रकार— भेद प्रमा का विषय है, क्योंकि वह ज्ञान का विषय है, जैसे ब्रह्म ज्ञान का विषय होने से प्रमा का विषय होता है — यह अनुमान भी दुष्ट ही है। कारण कि— इसमें भी हेतु अप्रयोजक है और प्रथम अनुमान खण्डन में कथित रीति से दृष्टान्त की असिद्धि भी है, तथा अभेदज्ञापकश्रुति से बाधित है। किञ्च — प्रमात्व का अर्थ व्यवहारयोग्यपदार्थविषयकत्व है, 'तो सिद्धसाधन है; और यदि यथार्थविषय का अनुभवरूप है, और उस में भी यदि यथाशब्द का अर्थ सादृश्य है तो यथाकञ्चित् अर्थसादृश्य भ्रम में भी है; अतः भेद में भ्रमविषयत्व होने से सिद्धसाधन है। और असामान्यरूप से सादृश्य होना तो असम्भव ही है। यदि प्रमात्व का अभिप्राय तत्त्वानुभवत्व है, तो भी भ्रम का भी रजतत्वादि में स्वविषयत्व (भ्रमविषयत्व) होने के कारण उसी से अर्थान्तर (प्रकृत में अनुपयुक्त)

त्वात्तेनैवाऽर्थान्तरम् । अथ–यत्र यदस्ति, तत्र तत्तत्त्वम्, तद-नुभवत्वमेव तत्र प्रमात्वम्, तथा च न शुक्तौ रजतत्वमस्तीति न तदनुभवः प्रमा, तथा च न स्वविषयत्वेनाऽर्थान्तरमिति-चेन्न; विकल्पाऽसहत्वात् । तथाहि–अस्तीति यदि वर्तमानता विवक्षिता, तदा पाकरक्ते घटे "श्यामोऽयम्" इति बुद्धिः प्रमा न स्यात्; तदानीं श्यामत्वस्य वर्तमानत्वाऽभावात् । अथ-यदाकदाचित् सत्त्वमात्रं विवक्षितम्, तदा "इदानीं श्यामः" इत्यस्याऽपि प्रमात्वापत्तिः । पूर्वं घटसत्त्वे इदानीञ्चाऽसत्त्वे "इदानीं घटवत्" इत्यस्याऽपि ज्ञानस्य प्रमात्वापत्तिश्च ।

किञ्च–किमिदमस्तित्वं वृत्तिमात्रं वा, सत्तायोगित्वं वा,

हो जायेगा । शंका— जिस में जो है, उसमें वही तत्त्व है, उस तत्त्व का अनुभव ही उसमें प्रमा है (अर्थात्—शुक्ति में शुक्तित्व है, वही शुक्तित्व शुक्ति में तत्त्व है; और उस शुक्तित्व का शुक्ति में अनुभव होना ही उस अनुभव का प्रमात्व है— यह तत्त्वानुभवत्व की व्याख्या है) । तब तो शुक्ति में रजतत्व न होने के कारण उसमें रजतत्व का अनुभव प्रमा नहीं; इसलिये रजतत्वादि में भ्रम की स्वविषयता के द्वारा अर्थान्तर नहीं होगा । समाधान— यह नहीं हो सकता; क्योंकि तुम इन विकल्पों का उत्तर नहीं दे सकते । तथाहि- "यत्र यदस्ति" इसमें "अस्ति" शब्द से वर्तमान काल में अस्तित्व विवक्षित है, तो पाक से रक्त घट में "यह श्याम था" यह बुद्धि प्रमा नहीं होगी, कारण कि- उस समय (रक्तताकाल में) उसमें श्यामत्व वर्तमान नहीं । यदि "अस्ति" शब्द का अर्थ यदा कदाचित् सत्त्वमात्र विवक्षित है, तो उस रक्त घट में "इस समय श्याम है" इस बुद्धि का भी प्रमात्व होने लगेगा । इसी प्रकार- पूर्वकाल में भूतल में घट का सत्त्व था, और इस समय नहीं है, तो भी "इस समय भूतल घटवत् है" इस ज्ञान का प्रमात्व होने की आपत्ति होगी ।

किञ्च— यह "अस्तित्व" क्या (१) वृत्तिमात्र (संबन्धमात्र)

स्वरूपसत्त्वं वा, प्रामाणिकत्वं वा ? नाऽऽद्यः; संयोगसमवाय-स्वरूपसंबन्धसाधारणस्य संबन्धत्वस्य मात्रशब्दार्थस्य वक्तुमशक्यत्वात् । अविशिष्टधीव्यावृत्तविशिष्टधीनियामकत्वं तदिति–चेन्न; यस्य यत्र यः संबन्धः, स एव वैशिष्ट्यं तत्रेति विशिष्टशब्दनिर्वचने आत्माश्रयापत्तेः, धीशब्देन च ज्ञानमात्रविवक्षायां "लोहितः स्फटिकः" इत्यादौ व्यभिचारः; प्रमाविवक्षायामाऽऽत्माश्रयः । अथ– अखण्डोपाधिः संबन्धत्वमिति– चेन्न, तत्स्वीकारे जात्यपलापापत्तेः, तेनैव व्यवहारस्य चरितार्थयितुं शक्यत्वात् । अथ-- संबन्धशब्दो नैकार्थोऽक्षा-

है ? (२) या सत्तायोगित्व है ? (३) या स्वरूपसत्त्व है ? (४) अथवा प्रामाणिकत्व है ? इनमें (१) आद्यपक्ष नहीं हो सकता; कारण कि– संयोग, समवाय, स्वरूपसंबन्धों में साधारण मात्रशब्दार्थभूत संबन्धत्व कहना असम्भव है । शंका– अविशिष्ट धी (विशेषण-विशेष्यभावाऽविषयक बुद्धि) से व्यावृत्त विशिष्टबुद्धि का नियामकत्व संबन्धत्व है । तब तो यह संबन्धत्व संयोगादि तीनों में अनुगत होगा। समाधान– नहीं; क्योंकि जिसका जिसमें जो संबन्ध है, वही सम्बन्ध उसमें वैशिष्ट्य है— इस प्रकार "विशिष्ट" शब्द के निर्वचन में आत्माश्रय हो जायेगा ("विशिष्टबुद्धिनियामकत्वं संबन्धत्वम्" इस में विशिष्ट शब्द का अर्थ सम्बन्धघटित होने से सम्बन्धप्रतिपादन में सम्बन्ध का सहारा लेना पड़ा, अतः आत्माश्रय होता है) । और धीशब्द से ज्ञानमात्र की विवक्षा है, तो "लोहित स्फटिक है" इत्यादि विशिष्टधी होने के कारण उसमें प्रमालक्षण का व्यभिचार होता है; और प्रमा की विवक्षा होने पर आत्माश्रय है (प्रमा के लक्षण में प्रमासन्निवेश होने से आत्माश्रय है) । शंका– सम्बन्धत्व अखण्डोपाधि है (निर्वचन के अयोग्य सामान्य को अखण्डोपाधि कहते हैं) । समाधान– नहीं; क्योंकि अखण्डोपाधि को मानोगे तो जातिमात्र का अपलाप हो जायेगा, कारण कि– उसी से गोत्वादि का व्यवहार

दिशब्दवत्, तथा च क्वचित्संयोगः, क्वचित्समवायः, क्वचित्स्वरूपसंबन्ध इति यथासम्भवं वृत्तिपदेन ग्राह्यम्; तथा च न कोऽपि दोष इति –चेन्न; तथासति सकृदुच्चारितादेकस्यैवाऽर्थस्य प्रतीत्यापत्तावव्यापकतापत्तेः। सम्भवात् त्रयमपि लक्षणवाक्ये ग्राह्यमिति– चेन्न; तथाव्युत्पत्तिविरहादक्षादौ तथाऽदर्शनात्। तत्र तात्पर्याऽभावः, अत्र तु न तथेति चेन्न; व्युत्पत्त्यनुसारेणैव तात्पर्यकल्पनात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। कथं तर्हि "गङ्गायां घोषमत्स्यौ वसतः", "सैन्धवमानय" इत्यत्र युगपदनेकत्र तात्पर्ये युगपदनेकार्थाऽवबोधः? शब्दाऽवृ-

चरितार्थ किया जा सकता है। शंका– सम्बन्धशब्द अक्षादिशब्द के समान अनेकार्थक है, अतः कहीं संयोग, कहीं समवाय, और कहीं स्वरूपसम्बन्ध- इस प्रकार यथासम्भव वृत्तिशब्द से ग्राह्य है; तब तो कोई दोष नहीं। समाधान-नहीं; ऐसा होने पर एक बार उच्चारित वृत्तिशब्द से एक ही अर्थ की प्रतीति हो जायेगी; तब तो तीनों सम्बन्धों की प्रतीति न होने से लक्षण में अव्याप्तिदोष होगा। शंका— सम्भव होने से तीनों ही लक्षणवाक्य में ग्राह्य हैं। उत्तर नहीं; इस प्रकार अर्थबोधन कराने की शक्ति शब्द में नहीं; और अक्षादि शब्द में भी वैसा देखने में नहीं आता। इस में शंका हो कि अक्षादिशब्द में तात्पर्य का अभाव है, और यहां वृत्तिशब्द में तो तात्पर्य का अभाव नहीं (अर्थात्– तीनों सम्बन्धों के ग्रहण कराने में तात्पर्य है), तो ऐसा कथन ठीक नहीं, क्योंकि शब्दशक्ति के अनुसार ही तात्पर्य की कल्पना की जाती है, अन्यथा अतिप्रसङ्ग होगा। शंका— तब तो "गङ्गा में घोष और मत्स्य हैं", "सैन्धव लाओ" इत्यादि में युगपत् अनेक में तात्पर्य होने पर युगपत् अनेकार्थ का बोध क्यों होता है? (भाव यह है कि प्रथम वाक्य में घोष यानी गोपालक की झोपड़ी के साथ अन्वय करते समय गङ्गापद का अर्थ तीर होता है और मत्स्य के साथ अन्वय में जलप्रवाह अर्थ होता है; और दूसरे वाक्य में सैन्धव का अर्थ नमक और घोड़ा दोनों

त्येति गृहाण । अन्यथा शब्दस्वभावभङ्गप्रसङ्गात् । न च-अत्राऽप्यवृत्त्या लक्षणवाक्येऽनेकार्थप्रतीतिरिति- साम्प्रतम्; वादिवाक्ये आकृतिलक्षणयोरभावात्; अन्यथा कथाया अपर्यवसानप्रसङ्गात् ।

किञ्च-नित्यप्राप्तित्वं हि समवायत्वं भवन्मते; तथा च प्राप्तित्वं संबन्धत्वमेव, तच्च त्रितयसाधारणं दुर्वचमेव, तत्यागे नित्यत्वमात्रमतिप्रसक्तम् । नित्यत्वमपि ध्वंसाऽप्रतियोगित्वं प्रतियोगित्वज्ञानाऽधीनज्ञानम्, तच्च स्वभावविशेषः, स च संबन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यत्वरूपः । योग्यता च बाधकप्रमाविरहः । तत्र संबन्धान्तरशब्देन च

होते हैं । सिद्धान्ती के कथनानुसार तो ऐसा अर्थ होना नहीं चाहिये । अतः एक शब्द के युगपत् अनेकार्थ प्रतीत हो सकते हैं) । उत्तर— ऐसे स्थलों में शब्द की वृत्ति (अभिधावृत्ति और लक्षणावृत्ति) के बिना ही अनेकार्थ की प्रतीति समझो; अन्यथा शब्दस्वभावभङ्ग का प्रसङ्ग होगा । शंका– तब तो इस लक्षणवाक्य में भी वृत्ति के बिना अनेकार्थ की प्रतीति है । उत्तर— ऐसा कहना उचित नहीं; क्योंकि वादी के वाक्य में आकृति (संकेत) और लक्षणा का अभाव होता है, अन्यथा कथा का अपर्यवसानप्रसङ्ग होगा (कारण कि-कहे और कुछ, और उसका अभिप्राय और कुछ निकाले तो कथा का निर्णय असम्भव होता है) ।

किञ्च— आपके मत में नित्यप्राप्ति ही समवाय है, और प्राप्ति तो सम्बन्ध ही है; इस प्रकार प्राप्तित्वरूप उस सम्बन्धत्व का सयोगादि तीनों सम्बन्धों में साधारण होकर निर्वचन करना असम्भव है । उसको त्याग कर नित्यत्वमात्र को समवाय मानोगे तो अतिप्रसक्ति होगी । और नित्यत्व भी ध्वंस का अप्रतियोगित्व है, तथा वह अप्रतियोगित्व भी प्रतियोगित्वज्ञान के अधीन होने वाले ज्ञान का विषय है, इसी प्रकार वह ध्वंसाप्रतियोगित्व भी स्वभाव (स्वरूप) विशेष है, और वह भी सम्बन्धान्तर के बिना विशिष्ट-

संयोगसमवाययोर्विवक्षणेन चाऽऽत्माश्रयादिकं योज्यम् । एवं स्वरूपसंबन्धनिर्वचनेऽपि दोषो देयः; अभावाऽधिकरणादावेकधर्माऽभावेन विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यत्वस्याऽपरिच्छेद्यत्वात् । विशिष्टशब्दस्य संबन्धघटितत्वेन; प्रत्ययशब्दस्य च प्रमापरत्वेनाऽऽत्माश्रयादि; ज्ञानमात्रपरत्वे तु भ्रमरूपतादृशप्रत्ययजनके संबन्धत्वापत्तिः । तस्माद् वृत्तिमात्रमस्तित्वमित्यलक्षणम् । नापि (२)सत्तायोगित्वमिति द्वितीयः; घट-

प्रत्ययजननयोग्यतारूप है, और योग्यता तो बाधकप्रमा का विरह है। उसमें सम्बन्धान्तरशब्द से संयोग और समवाय की विवक्षा होने के कारण समवाय के लक्षण में आत्माश्रयादि दोष समझना चाहिये। इसी प्रकार स्वरूपसम्बन्ध के लक्षण में भी दोष देना चाहिये। (सम्बन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यत्वम्- इस स्वरूपसम्बन्ध के लक्षण में दोष यह है कि)- अभावाधिकरणादि में अनुगत योग्यतावच्छेदक किसी एक धर्मके अभावसे विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यत्व अपरिच्छेद्य हो जाता है (यह नियम है कि जिनमें किसी एक कार्य को करने की योग्यता होती है, उनमें उस योग्यता का व्यावर्तक अनुगत एक धर्म चाहिये; अन्यथा किसी कार्य को करने में सब ही योग्य हो जायेंगे। "घटाभाववद् भूतलम्" इत्यादि में घटाभावादि अपने अधिकरण भूतलादि में स्वरूपसम्बन्ध से रहता है। अतः अभावाधिकरणादि में स्वरूपसम्बन्ध के विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यत्व का व्यावर्तक और सब में अनुगत एक धर्म होना चाहिये, जिससे योग्यत्व अन्यों से व्यावर्त्य अर्थात् परिच्छेद्य जाना जाये। और उस योग्यतावच्छेदक धर्म का अभाव होने पर तो योग्यत्व अपरिच्छेद्य हो जाता है)। और विशिष्टशब्द सम्बन्धघटित तथा प्रत्ययशब्द प्रमार्थक होने से स्वरूपसम्बन्ध और प्रमा के लक्षण में आत्माश्रयादि दोष होंगे। और प्रत्ययशब्द ज्ञानमात्रपरक मानने पर तो भ्रमरूप विशिष्टप्रत्यय के जनक में सम्बन्धत्व की आपत्ति आयेगी। इसलिये वृत्तिमात्र ही अस्तित्व है- यह लक्षण नहीं हो सकता। और (२) सत्तायोगित्व

त्वस्य घटे सत्तायोगित्वाऽभावात्; तज्ज्ञानाऽव्याप्तेः, सर्वथा त्वभावे तदभावादभावविशिष्टप्रमायामव्याप्तिः । नाऽपि (३)तृतीयस्वरूपम्, सत्त्वस्य तत्स्वरूपत्वेन लक्षणाऽनुपपत्तेः । न च- लक्ष्यमप्यननुगतमिति नाऽयं दोष इति- वाच्यम्; तत्तत्स्वरूपस्य स्वशब्देन वक्तुमशक्यत्वात् । नाऽपि (४) चतुर्थः, आत्माश्रयापत्तेः । किञ्च-"लोहितः स्फटिकः" इत्यादौ लौहित्यं स्फटिकेऽस्तीति तदनुभवात्तत्र प्रमा स्यात् । नास्ति तत्त्रेति यदि ब्रूयात्; स प्रतिवक्तव्यः-शौक्ल्यं स्फटिकत्वं वा तत्र कथमस्तीति? प्रतीयमानत्वादिति यदि, तर्कि लौहित्य-

अस्तित्व है— यह द्वितीय पक्ष भी नहीं हो सकता; क्योंकि "घटे घटत्वमस्ति" इसमें घटत्व का घट में सत्तायोगित्वरूप अस्तित्व नहीं है; अतः उसके ज्ञान में प्रमालक्षण की अव्याप्ति होगी । और अभाव में सर्वथा सत्तायोगित्व का अभाव होने से अभावविशिष्टप्रमाज्ञान में भी अव्याप्ति होगी । तृतीय पक्ष (३) स्वरूपसत्त्वरूप अस्तित्व भी नहीं हो सकता; क्योंकि सत्त्व ही स्वरूप होने से लक्षण बन नहीं सकता (अर्थात्- स्वरूप भिन्न भिन्न होने के कारण सब में अनुगत लक्षण नहीं हो सकता) । शंका— लक्ष्य भी अननुगत होने से यह दोष नहीं होगा । समाधान— ऐसा न कहो; क्योंकि पदार्थों के तत्तत्स्वरूप को स्वशब्द से कहना असम्भव है । और (४) प्रामाणिकत्वरूप चतुर्थपक्ष भी नहीं हो सकता; कारण कि— आत्माश्रय हो जायेगा (प्रामाणिकत्व का अर्थ है प्रमाविषयत्व; तब तो प्रमा के लक्षण में ही प्रमाघटित होने से आत्माश्रय है) । किञ्च-"लोहित स्फटिक" इत्यादि में स्फटिक में लौहित्य के अस्तित्व का अनुभव होने से उस में (लौहित्य में) प्रमाज्ञान होना चाहिये । इसमें यदि तुम कहो कि- स्फटिक में लौहित्य नहीं है, तो तुम को इस प्रश्न का उत्तर देना होगा कि शुक्लत्व अथवा स्फटिकत्व क्यों स्फटिक में है ? प्रतीयमान होने से उनका अस्तित्व स्फटिक में है- यह यदि उत्तर

संबन्धस्तत्र न प्रतीयते ? भ्रान्तिः सेति चेन्न; प्रमात्वाऽनिरुक्तौ सा भ्रान्तिः, इयं प्रमेत्यस्यैवाऽसिद्धेः। बाधात्तत्र तस्य संबन्धाऽभावो निश्चीयत इति चेत्; तर्हि यत्र यस्याऽबाधितः संबन्धः, तत्र तस्याऽनुभवः प्रमेति लक्षणार्थः; बाधस्य विपरीतप्रमारूपत्वात्। किञ्च-- स्वस्य बाधाऽभावो वा तत्र, सर्वस्य वा? नाऽऽद्यः; "नीलं तमः" इत्यादौ स्वस्य तत्काले बाधाऽभावेन तत्र नीलादिसंबन्धस्वीकाराऽऽपत्तेः। न द्वितीयः; कालान्तरे देशान्तरे सर्वेषां स्वस्य बाधाऽभावस्याऽसर्वज्ञेन ज्ञातुमशक्यत्वात्।

है तो हम तुमसे पूछते हैं कि— क्या स्फटिक में लौहित्य प्रतीत नहीं होता ? उसकी प्रतीति तो होती है, किन्तु वह भ्रान्ति है— यह उत्तर तो ठीक नहीं; क्योंकि अभी तक प्रमात्व का निर्वचन न हो सकने से "वह भ्रान्ति है", और "यह प्रमा है" ऐसा कहना ही असिद्ध है। शंका— बाध होने से स्फटिक में लौहित्य का सम्बन्धाभाव निश्चित किया जाता है। उत्तर - तब तो जिसमें जिसका अबाधित सम्बन्ध है, उसमें उसका अनुभव प्रमा है— यह लक्षण का अर्थ हुआ, क्योंकि बाध विपरीतप्रमारूप है। किञ्च— उसमें अपना ही बाधाभाव है, अथवा सब लोगों का ? आद्य नहीं होगा; क्योंकि "नीलं तमः" इत्यादि में अपना उस समय बाधाभाव होने से तम में नीलादि का सम्बन्ध स्वीकार करना होगा (नैयायिकों के मत में तम तेज का अभावरूप है, अतः उनके मत में तेजोऽभावरूप तम में नीलगुण असम्भव होने से "नील तमः" यह प्रतीति भ्रान्ति ही है; तो भी जिस समय प्रतीति होती है, उस समय तो कभी भी बाध नहीं होता; अतः उस समय तम में नील का सम्बन्ध अवश्य मानना ही होगा। और सिद्धान्ती के मत में तो तम भावपदार्थ है)। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं; क्योंकि कालान्तर और देशान्तर में सब लोगों का तथा अपना बाधाभाव असर्वज्ञ को ज्ञात नहीं हो सकता।

किञ्च– आनुभविको बाधो यौक्तिको वा ? नाऽऽद्यः; "नीलं तमः" इत्यादौ तदा तदभावात् । न द्वितीयः; प्रकृतेऽपि तत्सम्भवात् । रजतत्वादेस्तद्वति तदभाववति वा वृत्तावात्माश्रयाऽतिप्रसङ्गौ । तदुपलक्षितवृत्तौ च व्यक्तिमात्रं वोपलक्ष्यं, व्यक्तिविशेषो वा ? प्रथमेऽतिव्याप्तिः, द्वितीयेऽननुगमः । सास्नादिमत्त्वादिना तदुपलक्षितं यदि, तत्राऽपि विशेषणोपलक्षणपक्षोक्तदोषः संचारणीयः । एवं सर्वत्र वृत्तिमति पदार्थे दोषो देयः ।

ननु–कुत्राऽस्ति–इति प्रश्ने यत्र प्रतीयत इत्येवोत्तरम्; कुत्र प्रतीयत इति प्रश्ने यत्राऽस्तीत्येवोत्तरमिति– चेन्न;

किञ्च– क्या बाध अनुभव से सिद्ध है, अथवा युक्ति से ? आद्यपक्ष नहीं होगा, क्योंकि "नील तमः" इत्यादि में उस समय आनुभविक बाध नहीं होता। द्वितीयपक्ष भी नहीं हो सकता; कारण कि प्रकृतभेद में भी यौक्तिक बाध सम्भव है। इसी प्रकार रजतत्वादि की वृत्ति रजतत्ववाले अथवा रजतत्वाभाव वाले पदार्थ में मानने पर क्रम से आत्माश्रय और अतिप्रसङ्ग दोष होते हैं। और यदि रजतत्व से उपलक्षित में उस की वृत्ति है, तो क्या व्यक्तिमात्र उपलक्ष्य है, या व्यक्तिविशेष ? प्रथमपक्ष में अतिव्याप्ति और द्वितीय में अननुगम दोष है। यदि सास्नादिमत्त्वादि से वह व्यक्ति उपलक्षित है, तो उसमें भी विशेषण और उपलक्षणपक्ष में दिये गये दोषों का सञ्चार करना चाहिये (भेदस्वरूपत्वनिरासप्रकरण में इस का विवरण दे चुके हैं)। इस प्रकार सब वृत्तिमान् पदार्थों में दोष देना चाहिये (संयोग या समवाय सम्बन्ध से किसी में आश्रित होकर रहने वाले पदार्थ को वृत्तिमान् कहा जाता है) ।

शंका— "कहां है ?" इस प्रश्न का "जहां प्रतीत होता है" यह उत्तर है, और "कहां प्रतीत होता है ?" इस प्रश्न का "जहां है" यही उत्तर है। उत्तर— ऐसा नही होगा; क्योंकि "जहां है" इस उत्तर

यत्राऽस्तीत्यत्रैव तद्वति तदभाववति प्रश्नस्य विद्यमानत्वात्। यत्रेति ह्याधारः कथ्यते। स एव च विचार्यते। प्रतीतिस्तावदस्तीति– चेन्न; दत्तोत्तरत्वात्। नाऽपि यत्र यदस्ति, तत्र तस्याऽनुभवः प्रमा; रजते रजतत्वानुभवोऽस्तीति भ्रमेऽतिव्याप्तेः। नाऽपि यत्र विशेष्ये यदस्ति, तत्र विशेष्ये तत्प्रकारकत्वम्; रजतत्वस्याऽपि क्वचित् ज्ञानविशेष्यत्वात्। यत्र ज्ञाने यद्विशेष्यम्, तत्र वर्तते यो धर्मः, तत्प्रकारकाऽनुभवः, तत्प्रमा– इति चेन्न; विकल्पाऽसहत्वात्। तथाहि– किं वस्तुगत्या यस्मिन् ज्ञाने यद्विशेष्यम्, तत्र यो धर्म इति वा,

में पुनः "तद्वान् में है?" या "तदभाववान् में है?" यह प्रश्न किया जा सकता है (अर्थात्– जहां घटत्व है, वहां घटत्व प्रतीत होता है–इस उत्तर में यह प्रश्न हो सकता है कि – क्या घटत्व घटत्ववान् है ? या घटत्वाभाववान् में है) ? और "जहां" (यत्र) इस शब्द से आधार ही कहा जाता है। इस आधार का ही तो यहां विचार हो रहा है, जो अभी तक सिद्ध हुआ नहीं। यदि तुम कहो कि उसकी प्रतीति होती है, तो इसका उत्तर दे चुके हैं (अर्थात् – किसी वस्तु की प्रतीति मात्र से सिद्धि नहीं होती)। और "जिसमें जो है, उसमें उसका अनुभव प्रमा है" यह भी नहीं हो सकता; क्योंकि "रजत में रजतत्व का अनुभव है" अर्थात् प्रातिभासिक रजत में रजतत्व के भ्रम में अतिव्याप्ति होती है। तथा "जिस विशेष्य में जो है, उस विशेष्य में उसका विशेषणरूप से अनुभव प्रमा है" ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि रजतत्व भी कहीं ज्ञान का विशेष्य हो जाता है (यथा–रजतनिष्ठरजतत्वं जानामि–इत्यादि में)। "जिस ज्ञान में जो विशेष्य होता है, उस विशेष्य में जो धर्म है; तद्धर्मप्रकारक अनुभव तद्धर्मविशिष्टविषयक प्रमा है"– इस प्रकार कहना भी अयुक्त है; क्योंकि वह विकल्प को सहन नहीं कर सकता। तथाहि – जिस ज्ञान में वस्तुगति से जो विशेष्य है, उसमें जो धर्म है– इस प्रकार कहना चाहते हो ? अथवा जिस ज्ञान में जो विशेष्यरूप से प्रतीत होता है,

किं वा यस्मिन् ज्ञाने विशेष्यत्वेन यो भासते, तस्मिन् यो धर्म इति वा ? नाऽऽद्यः; वस्तुगत्येत्यस्य प्रमाणसिद्धत्वमित्यर्थो यदि, तदाऽऽत्माश्रयः । अन्यस्य चाऽनिर्वचनात् । न द्वितीयः; विशेष्यत्वं यदि अन्यव्यावृत्तिवैशिष्ट्यवत्त्वम्; यदि वा अतद्व्यावृत्त्यधिकरणत्वम्, यदि वा विशेषणसंबन्धत्वम्, यदि वा प्रत्यक्षनियामकेन्द्रियसन्निकर्षाश्रयत्वम्, यदि वा प्रधानत्वम्; सर्वथा "घटोऽयम्" इत्यादिज्ञाने तस्य भानाऽभावः । तत्र हि घटघटत्वतत्संबन्धा भासन्ते । संबन्धोऽपि स्वरूपेण भासते । तथा च न तत्र विशेष्यत्वस्य भानम् । पूर्वं तज्ज्ञानाऽभावेन प्रकारीभूय भानाऽसंभवात् । वस्तुगत्येत्यस्य निरस्तत्वात् । किञ्च–यत्तदोर्नित्यसम्बन्धे यत्र विशेष्ये यो धर्मः,

उसमें जो धर्म है— ऐसा कहना चाहते हो ? इन में आद्यपक्ष नहीं होगा; क्योंकि "वस्तुगत्या" इसका अर्थ यदि प्रमाणसिद्ध है, तो प्रमालक्षण में आत्माश्रय होता है । और प्रमाणसिद्ध के अतिरिक्त अर्थ कहना तो असम्भव है । द्वितीयपक्ष भी ठीक नहीं; कारण कि यदि विशेष्यता अन्य की व्यावृत्ति से वैशिष्ट्यवत्ता हो, अथवा अतद्व्यावृत्ति की अधिकरणता हो, या विशेषणसम्बन्धवत्ता हो, या प्रत्यक्ष के नियामक इन्द्रियसन्निकर्ष की आश्रयता हो, या प्रधानता (मुख्यता) हो, तो भी इन सब पक्षों में सर्वथा "यह घट है" इत्यादि ज्ञान में विशेष्यता का भान नहीं होता । क्योंकि इस ज्ञान में घट, घटत्व और दोनों का सम्बन्ध तीनों भासित होते हैं; और सम्बन्ध भी स्वरूप से प्रतीत होता है । इसलिये उस ज्ञान में विशेष्यता का भान नहीं होता, कारण कि—घटज्ञान होने के पहले विशेष्यता का ज्ञानाभाव होने से विशेषणरूप से उसका भान होना असम्भन है । वस्तुगति से उसका भान होना तो पूर्व ही निराकृत हो चुका है । किञ्च— यत् और तत् में नित्यसम्बन्ध होने पर– जिस विशेष्य में जो धर्म है, उसमें उस धर्म का अनुभव प्रमा है— ऐसा कहने पर घट-

तत्र तस्याऽनुभवः प्रमेत्युक्ते घटत्वांश एव तस्य ज्ञानस्य प्रमात्वं स्यात्, न तु विशेष्यसंबन्धांशयोः । तथा च तयोरप्रमितत्वापत्तिः । अथ– तत्राऽपि घटवत्कपालमित्यादितदवयवेष्वेवं संभवात् सर्वत्र प्रमाविषयत्वं स्यादिति– चेन्न; गगनात्माद्यवृत्तिपदार्थे तदसंभवात्; तेषां क्वाप्यवृत्तेः । तेषामपि कालवृत्तित्वमस्तीति– चेन्न; काले तदभावात्; "सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तम्" इति सिद्धान्तव्याकोपश्च धर्म्यंशे प्रामाण्याऽस्वीकारे । किञ्च– धर्मज्ञानप्रमात्वे आत्मज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वं न स्यात् । तथा च तद्बोधकश्रुतिविरोधः ।

ननु– न ब्रूमो यत्र यदस्ति, तत्र तस्याऽनुभव आधेयांशे

त्वांश में ही उस ज्ञान का प्रमात्व होगा, विशेष्य घट और संबन्धांश में तो नहीं होगा । तब तो वे दोनों अप्रमित ही रह जायेंगे । शंका– घट और संबन्धांश में भी "घटवत् कपाल है" इस प्रकार घट के अवयवों में प्रमा हो सकती है, अतः सब में (तीनों में) प्रमाविषयता है । उत्तर– नहीं; गगन, आत्मादि अवृत्ति पदार्थों में यह संभव नहीं, क्यों कि वे संयोग या समवाय सम्बन्ध से कहीं भी नहीं रहते । शंका– गगनादि का भी काल में वृत्तित्व है । उत्तर– नहीं; काल में कालवृत्तित्व असम्भव है । और यदि धर्म्यंश (विशेष्यांश) में प्रामाण्य स्वीकार नहीं करोगे तो "धर्मिविषयक सब ज्ञान अभ्रान्त है" इस सिद्धान्त का अपलाप भी होगा । किञ्च– धर्मज्ञानमात्र में प्रमात्व मान लिया जाये तो आत्मज्ञान मुक्ति का हेतु नहीं होगा (भाव यह है कि पूर्वकथित रीति से जिस प्रकार रजतज्ञान के रजतत्वांश में प्रमात्व है और धर्मिरजतांश में नहीं, उसी प्रकार आत्मज्ञान के भी आत्मत्वरूप धर्मांश में प्रमात्व होगा, धर्म्यंश आत्मा में नहीं होगा, किन्तु आत्मत्व की प्रमा मोक्षहेतु नहीं) । तब तो आत्मज्ञान को मोक्षहेतु बताने वाली श्रुतियों से इसका विरोध होगा ।

शंका– हम यह नहीं कहते कि–जिस में जो है, उस में उसका

प्रमेति; येन गगनादिप्रमायामव्याप्तिः स्यात् । किं नाम ? यत्र यदस्ति, तत्र तस्याऽनुभवः तद्विशेष्ये तत्प्रकारे च प्रमेति । तथा च क्व गगनादिप्रमायामव्याप्तिगन्धोऽपीति–चेन्न; वैशिष्ट्यांशेऽप्रमात्वापत्तेः, तत्र कस्याऽप्यवृत्तेः; नहि घटत्वविशिष्टे किमप्यस्ति । त्रितयमेव विशिष्टमिति– चेत्; अस्तु, तथापि तद्विशिष्टे तद्वृत्त्यभाव एव । किञ्च– यस्य यत्र यः संबन्धः, तदेव वैशिष्ट्यम् । तथा च संबन्धत्वस्वरूपसंबन्धत्वनिर्वचने आत्माश्रयादिरत्राऽपि देयः । किञ्च–"घटत्वमस्ति" इत्यादौ घटप्रकारकं ज्ञानं घटत्वे जायते, तत्राऽव्याप्तिः । नहि– घट-

अनुभव आधेयांश (धर्मांश) में प्रमा है, जिससे गगनादिविषयक प्रमा में अव्याप्ति हो जाये । तब क्या कहते हो ? यही कहते हैं कि–जिसमें जो है, उसमें उसका अनुभव उस विशेष्य और उस विशेषण दोनों में प्रमा है। इसलिये गगनादिविषयक प्रमा में अव्याप्ति की गन्धमात्र भी कहां है ? समाधान— ऐसा नहीं; भले ही विशेष्य और विशेषण इन दोनों में वह अनुभव प्रमा हो, परन्तु इन दोनों के वैशिष्ट्यांश (परस्परसम्बन्धांश) में तो अप्रमात्व की आपत्ति आ जायेगी; क्योंकि उसमें किसी की भी वृत्ति नही है; कारण कि– घटत्व-विशिष्ट में कुछ है ही नहीं। शंका— क्यों नहीं है ? घट, घटत्व और दोनों का सम्बन्ध इन तीनों का नाम ही तो विशिष्ट है। उत्तर— ऐसा ही सही, तो भी घटत्वविशिष्ट में घटत्व का वृत्त्यभाव ही सिद्ध होता है । किञ्च — जिसका जिसमें जो सम्बन्ध है (घटत्व का घट में जो सम्बन्ध है), वही तो वैशिष्ट्य है। तब तो सम्बन्ध और स्वरूपसम्बन्ध के निर्वचन (लक्षण) में आत्माश्रयादि दोष यहां भी देना चाहिये। किञ्च— "घट में घटत्व है" इत्यादि में घट-प्रकारकज्ञान घटत्व में होता है, उस ज्ञान में प्रमालक्षण की अव्याप्ति हो जायेगी (क्योंकि "घटनिष्ठ घटत्व" ऐसा कहने में घटत्व विशेष्य है और घट विशेषण है। प्रमालक्षण के अनुसार विशेष्य घटत्व में

त्वेऽपि घटस्य संबन्धोऽस्तीति—वाच्यम्; तस्याऽसम्भवात्; न तावज्जातौ व्यक्तेः समवायः, अनङ्गीकारात्। नाऽपि संयोगः, पूर्वोक्तदोषादेव। नाऽपि स्वरूपम्, तस्य व्यक्त्यन्तरसाधारण्यात्। नाऽपि संबन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यत्वम्; अनुगतरूपाऽभावेन तस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्, आत्माश्रयाच्च। एवं सर्वत्र तादृशज्ञाने दोषो देयः। नाऽपि तद्वति तत्प्रकारकत्वम्, भ्रमेऽतिव्याप्तेः। तद्वद्विशेष्यकत्वे सति

विशेषण घट रहना चाहिये, किन्तु ऐसा तो नहीं होता; अतः "घटनिष्ठ घटत्व" इस ज्ञान में प्रमालक्षण की अव्याप्ति है)। यहां-घटत्व में भी घट का सम्बन्ध है— ऐसा नहीं कहना चाहिये; क्योंकि इस प्रकार का सम्बन्ध होना असम्भव है; जाति में व्यक्ति का समवाय सम्बन्ध नहीं होता, कारण कि तुमने ऐसा अङ्गीकार नहीं किया; और अङ्गीकार न होने से ही संयोगसम्बन्ध भी नहीं हो सकता। तथा स्वरूपसम्बन्ध भी नहीं; क्योंकि वह सम्बन्ध व्यक्त्यन्तर में भी साधारण है (सर्व प्रथम तो घट घटत्व का स्वरूप नहीं हो सकता, तो भी घटत्व में घट स्वरूपसम्बन्ध से स्थित मान भी लिया जाये, तो सब घटों के लिये एक ही घटत्व होने से उसमें स्वरूपसम्बन्ध से सब घट सम्बन्धित हो जायेंगे। इस प्रकार वह सम्बन्ध अन्य घटव्यक्तियों में भी सामान्य हो जाता है)। सम्बन्धान्तर के बिना विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यतारूप स्वरूपसम्बन्ध भी यहां नहीं हो सकता; क्योंकि योग्यतावच्छेदक एक अनुगत धर्म के अभाव से उसका ज्ञान करना अशक्य है और "विशिष्ट" पद भी सम्बन्धघटित होने से उसमें आत्माश्रय भी है। उसी प्रकार "पट में पटत्व है" इत्यादि उस प्रकार के सब ज्ञानों में दोष देना चाहिये। और तद्वान में तत्प्रकारक ज्ञान (अर्थात्— रजतत्व वाले पदार्थ में रजतत्वविशिष्टज्ञान) भी प्रमा नहीं हो सकता; क्योंकि— भ्रम में भी वैसा ही प्रतीत होने के कारण उसमें अतिव्याप्ति होती है। शंका— रजतत्ववद्विशेष्यक होने पर रजतत्वप्रकारकज्ञान ही प्रमा है (रजतत्व

तत्प्रकारकत्वमिति- चेन्न; भ्रमगतत्वादेव। तत्र रजतं न विशेष्यमिति-चेन्न; विशेषणसंबन्धवत्त्वादेर्विशेष्यत्वस्य तत्र विद्यमानत्वात्। रजतत्वं हि तत्र विशेषणम्, अन्यथा रजतत्वप्रकारकज्ञानं विना पुरोवर्तिनि प्रवृत्त्यभावापत्तेः।

अथ- भासमानवैशिष्ट्याऽऽधारता विशेष्यता, तत्प्रतियोगिता च विशेषणता; रजतभ्रमे रजततादात्म्यं रजतत्वसंसर्गो वा वैशिष्ट्यम्; तदुभयमपि न रजते भासते, दोषस्य प्रतिबन्धकत्वात्। तथा च न तत्र विशेष्यतेति-चेन्न; पुरोवर्तिनोऽपि विशेष्यत्वाऽनापत्तेः, भासमाने वैशिष्ट्याऽधिकर-

वाला पदार्थ तो विशेष्य हो, और उस में रजतत्वविशेषणरूप से प्रतीत हो, ऐसा ज्ञान प्रमा है)। उत्तर— नहीं; वह भी भ्रम में चरितार्थ होने से उसमें अतिव्याप्ति है। शंका— चरितार्थ कैसे? भ्रम में तो रजत विशेष्य नहीं है; किन्तु पुरोवर्तिपदार्थ विशेष्य है। उत्तर— ऐसा नहीं; क्योंकि विशेषणसम्बन्ध वाले आदि का नाम ही तो विशेष्य है, वह तो भ्रम का विषय पुरोवर्तिपदार्थ भी है। और उस में रजतत्व ही विशेषण है; अन्यथा रजतत्वप्रकारक ज्ञान के बिना पुरोवर्ती पदार्थ में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होगी। शंका— भासमान वैशिष्ट्य (विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध) का आधार (अनुयोगी) विशेष्य है, और उस वैशिष्ट्य का प्रतियोगी (आधेय) विशेषण है; और रजतभ्रम में तो रजततादात्म्य (रजत और पुरोवर्ती में अभिन्नता), अथवा रजतत्वसंसर्ग (पुरोवर्ती में रजतत्व का समवाय) ही वैशिष्ट्य है; ये दोनों ही रजत में भासित नहीं होते, क्योंकि भान होने में दोष प्रतिबन्धक है (इस कथन का अभिप्राय यह है कि— वस्तुतः ये दोनों वास्तविक रजत में ही भासित होते हैं, भ्रमस्थल में तो वास्तविक रजत न होने से ये दोनों रजत में प्रतीत नहीं होते, किन्तु पुरोवर्ती इदंपदार्थ में प्रतीत होते हैं)। इसलिये रजत में विशेष्यता नहीं। समाधान— नहीं; ऐसा मानने

ष्टत्वाऽभावात् । तत्राऽपीदंतासंसर्गस्य भासमानस्याऽधिकरणताऽस्तीति–चेत्; रजतमित्येतावन्मात्रं यत्रोल्लिख्यते, नत्विदंत्वमपि, तत्र तस्याऽभावात् । न च–तदसिद्धम्; सामान्याऽऽकारज्ञानस्य भ्रमहेतुत्वादिति-- वाच्यम्; तस्य तद्धेतुत्वेऽपि नियमेन तद्भाने प्रमाणाऽभावात्; "रजतं जानामि" इत्यनुव्यवसायाच्च । किञ्च-- भासमानवैशिष्ट्याऽनुयोगित्वलक्षणं विशेष्यत्वं रजतेऽप्यस्त्येव । नहि रजतत्वसंसर्गो रजततादात्म्यं वा यत् शुक्तौ भासते, तद् रजते नास्ति । तद्वृत्तित्वेन भासते भासमानवैशिष्ट्यम्, तद्विशेष्यमिति--चेन्न; रजतवृ-

पर पुरोवर्ती पदार्थ में भी विशेष्यता न हो पायेगी; क्योंकि भासमान इदंपदार्थ में उक्त वैशिष्ट्य की अधिकरणता नहीं है। शंका—उस में भी भासमान इदंतासंसर्ग की अधिकरणता तो है। समाधान—जिस भ्रम में "रजत है" इतना मात्र उल्लेख होता है, इदंता का नहीं होता; उसमें इदंतासंसर्ग नहीं है। शंका— वह असिद्ध है (अर्थात् "रजत है" इतना भ्रम होना असिद्ध है); क्योंकि लोक में प्रसिद्ध "यह रजत है" ऐसा सामान्याकार ज्ञान ही भ्रम का हेतु है (अतः जैसे हेतु है, वैसे ही भ्रम में भी प्रतीत होना चाहिये)। समाधान— ऐसा न कहो; क्योंकि सामान्याकार ज्ञान भ्रम का हेतु होने पर भी नियम से "यह रजत है" इस प्रकार भ्रम में भान होना ही चाहिये-इस में प्रमाण नहीं है; और भ्रम में "रजत को जानता हूँ" इत्यात्मक अनुव्यवसाय ज्ञान भी होता है। किञ्च – भासमान वैशिष्ट्य का अनुयोगित्वरूप विशेष्यत्व रजत में भी होता है। इसलिये—जो रजतत्वसंसर्ग वा रजततादात्म्य शुक्ति में भासित होता है, वह रजत में नहीं है, ऐसी बात नहीं। शंका— भासमान वैशिष्ट्य जिस में वृत्ति होकर (रहकर) भासित होता है, वह विशेष्य है। समाधान—ऐसा नहीं होगा; क्योंकि रजत में वृत्ति होकरभी दोनों (रजततादात्म्य और रजतत्वसंसर्ग) की भासमानता होती ही है। अन्यथा

त्तित्वेनाऽपि तयोर्भासमानत्वादेव; अन्यथा रजतांशे तज्ज्ञानस्य निर्विकल्पकत्वापत्तेः । न च दोषेण तत्प्रतिबन्धः, दोषोहि पुरोवर्तिरजतयोर्भेदग्रहे पुरोवर्तिनि रजतत्वासंसर्गग्रहे च प्रतिबन्धकः भ्रमोत्पादकश्च, तथैव ग्रन्थकृताऽभिधानात् ।

किञ्च--स्मृतौ रजतत्ववैशिष्ट्यम् भासते, न वा ? नाऽन्त्यः; स्मृतेः सविकल्पकत्वनियमात् । आद्ये तथैव भ्रमेऽपि भानं युक्तम्; विशिष्टवैशिष्ट्यबोधे तथैव कारणत्वाऽभ्युपगमात् । किं रजततादात्म्यम् ? यदि रजतस्वरूपमेव; तदा तद्भासत एव । अथ रजतत्वम्, तदा तादात्म्यसंसर्गाऽऽरोपयोर्न भेदः,

(यदि दोनों की भासमानता न हो तो) रजतांश में रजतज्ञान निर्विकल्पक हो जायेगा । और रजत में दोनों के भान होने में दोष से प्रतिबन्ध भी नहीं हो सकता; क्योंकि दोष तो पुरोवर्ती पदार्थ और रजत दोनों के भेदग्रह में तथा पुरोवर्ती में रजतत्व के असंसर्गग्रह (सम्बन्धाभाव के ग्रह) में प्रतिबन्धक है और भ्रम का उत्पादक है, यह बात स्वयं ग्रन्थकार श्री गंगेशोपाध्याय ने चिन्तामणि ग्रन्थ में कही है ।

किञ्च स्मृतिज्ञान में रजतत्ववैशिष्ट्य प्रतीत होता है, या नहीं ? अन्तिम पक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि स्मृतिज्ञान का सविकल्पक होना नियम है । और आद्य पक्ष में तो जैसे स्मृति में है, वैसे ही भ्रम में भी रजतत्ववैशिष्ट्य का भान युक्त है, कारण कि "रजतत्वविशिष्ट रजत का ज्ञानवान् हूँ" इस विशिष्टवैशिष्ट्यबोध में स्मृति के समान ही रजतत्ववैशिष्ट्य का भान कारण माना जाता है । और यह रजततादात्म्य क्या है ? यदि रजतस्वरूप ही है, तो वह प्रतीत होता ही है; यदि रजतत्व है, तो तादात्म्य और संसर्ग के आरोप में भेद नहीं होगा (कारण कि रजततादात्म्य का नामान्तर रजतत्वसंसर्ग हो जाता है) । और रजतत्वसंसर्ग भी (भ्रम के विषय) रजत में भासित होता है-यह पहले कह चुके हैं । इसलिये "विशेष्य"

तदपि च रजते भासते इत्युक्तमेव । तस्माद्विशेष्यपदे दत्तेऽपि भ्रमाऽव्यावृत्तिरेव ।

किञ्च– जलशरावाऽभ्यन्तरे कश्चित्पदार्थोऽनुभूतः, तदनन्तरं तस्यैव जलशरावस्योपरि भागे जलाऽसंस्पर्शी स एव पदार्थः स्थापितः, अनन्तरं तस्य तत्र प्रतिबिम्बोदयो भवति, तदा तत्पदार्थवत्त्वेन तस्यैव जलशरावस्य ज्ञानं भवति "तत्पदार्थवानयम्" इति; तदपि ज्ञानं प्रमा स्यात् । न चेष्टापत्तिः, दोषजन्यत्वात्, प्रतिबिम्बज्ञानस्य भ्रमत्वेन सर्वैरिष्टत्वाच्च । न च–तत्र काले स तत्र नाऽस्तीति–वाच्यम्; पूर्वं सत्त्वस्य विद्यमानत्वात् । अन्यथा "सोऽयम्" इति प्रत्यभिज्ञाऽपि प्रमा न स्यात्; तदानीं तत्तायास्तत्राऽसत्त्वात् । न च–उदाहृतप्रति-

पद प्रमालक्षण में देने पर भी भ्रम की व्यावृत्ति नहीं होगी ।

किञ्च – जल से भरे हुए पुरुवे के अन्दर किसी पदार्थ का अनुभव हुआ; उसके अनन्तर वही पदार्थ जल से निकाल कर उस पुरुवे के ऊपर जल से स्पर्श न करता हुआ स्थापित किया गया; उसके बाद उस जल में उस का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, और उस समय उस पदार्थ से विशिष्ट उस जल के पुरुवे का "उस पदार्थ से विशिष्ट यह पुरुवा है" इत्यात्मक ज्ञान होता है। और "यत्र यदस्ति, तत्र तदनुभवः" इत्यादि प्रमालक्षण के अनुसार यह ज्ञान भी प्रमा होना चाहिये। इसमें इष्टापत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि यह ज्ञान दोष से जन्य है और सब वादी लोग प्रतिबिम्बविषयक ज्ञान को भ्रम मानते हैं। शंका – उस काल में उस जल के पुरुवे में वह पदार्थ नहीं है, अतः उस का ज्ञान भ्रम है। उत्तर – भले ही उस समय वह न हो, किन्तु पूर्वकाल में उसका सत्त्व विद्यमान है। यदि इसको नहीं मानोगे तो "यह वही है" यह प्रत्यभिज्ञा भी प्रमा नहीं होनी चाहिये, क्योंकि उस समय उस में तत्ता नहीं है। शंका– उदाहृत प्रतिबिम्बभ्रमस्थल में वर्तमानतारूप कालविशेष भासित है। उत्तर–

बिम्बभ्रमस्थले कालविशेषो वर्तमानतारूपो भासत इति-वाच्यम्; नियमतस्तद्भाने मानाऽभावात्। अन्यथा पाकरक्ते श्यामोऽयम्, सोऽयमित्यदावपि कालविशेषस्य भाननैयत्ये तत्प्रमात्वाऽभिधानविरोधात् ।

ननु–उदाहृतस्थले कालविशेषाऽभानेऽदोषजन्यत्वप्रमात्वे एवेति चेन्न; स्वाच्छ्यादि दोषोत्कर्षाद्भ्रमोत्कर्षदर्शनात्, तदनङ्गीकारेच अन्यप्रतिबिम्बादिभ्रमोदाहरणस्याऽपि त्याग-प्रसङ्गात्, तत्राऽपि दोषो न हेतुरित्यस्य सुवचत्वात् । किञ्च– "गन्धप्रागभावाऽवच्छिन्नो घटो गन्धवान्" इत्यत्राऽतिव्याप्तिः । न च– साऽपि प्रमा एव, कदाचिद् गन्धस्य तत्र सत्त्वादिति–वाच्यम्; लोकव्यवहारविरोधात् । मणिकारमते

ऐसा भी न कहो; क्योंकि प्रमाज्ञान के लिये नियमपूर्वक उसके भान मानने में प्रमाण नहीं है। यदि नियमपूर्वक वर्तमानता का भान मान लिया जाये तो पके हुए लाल घट में "वही श्याम यह है" "वही यह है" इत्यादि में भी कालविशेष का भान नियत होने पर उसके प्रमात्व का कथन विरुद्ध हो जायेगा।

शंका– उदाहृत प्रतिबिम्बस्थल में यदि कालविशेष का भान नहीं है, तो अदोषजन्यत्व और प्रमात्व दोनों ही हो जायेंगे। उत्तर– नहीं; वह दोषजन्य ही है, क्योंकि स्वच्छतादि दोष के उत्कर्ष से भ्रम में उत्कर्ष देखने में आता है; यदि उस दोषजन्यत्व को नहीं मानोगे तो अन्य प्रतिबिम्बादिभ्रम के उदाहरण का त्याग होने का प्रसङ्ग आयेगा; कारण कि उसमें भी दोष हेतु नहीं है– ऐसा कहा जा सकता है। किञ्च– "गन्धप्रागभाव से विशिष्ट घट गन्धवान् है" इसमें प्रमालक्षण की अतिव्याप्ति होगी। शंका– वह भी प्रमा ही है; क्योंकि किसी समय उसमें गन्ध का सत्त्व है। उत्तर– ऐसा न कहो, कारण कि लोकव्यवहार से विरोध होता है। और मणिकार के मत में बाध का असंकीर्ण उदाहरण (व्यभिचारादि

न बाधस्याऽसंकीर्णमुदाहरणं तत्र स्यात्; बाधस्याऽभावात्। तथा च गन्धप्रागभावाऽवच्छिन्नो घटो गन्धवान् पृथिवीत्वादित्यत्राऽप्यनुमितिः स्यादेवेति सुष्ठु मणिकारमतसमर्थनम् ? न च– यदवच्छेदेन यत्र यो वर्तते, तदवच्छेदेन तत्र तस्याऽनुभवः प्रमेति–वाच्यम्; एतदप्रतिसंधानेऽपि प्रमाव्यवहारस्य लोकसिद्धत्वात्; पाकरक्ते श्यामोऽयमित्यापाताच्च, घटपटाविति समूहालम्बनेऽव्याप्तिश्च; घटत्वाऽभाववति पटे घटत्वप्रकारकज्ञानत्वात्। न च– तत्रांशभेदेन व्यवस्था; ज्ञानस्य स्वतो निरंशत्वात्। विषयरूपोंऽशोऽस्तीति चेन्न; ज्ञानस्य

दोषों से युक्त अन्य हेत्वाभास से रहित शुद्ध बाध का उदाहरण) वह नहीं हो सकेगा; क्योंकि तुम्हारे कथनानुसार उस में बाध नहीं है। तब तो "गन्धप्रागभावावच्छिन्न घट गन्धवान् है, क्योंकि उस में पृथिवीत्व है" इस अनुमान से भी अनुमिति प्रमा होनी चाहिये। इस प्रकार से तुमने मणिकार के मत का समर्थन खूब किया (अर्थात् उसका विरोध ही किया)। शंका– जिस अवच्छेद से जिस में जो है, उस अवच्छेद से उस में उसका अनुभव प्रमा है (जैसे– शाखावच्छेद से वृक्ष में कपिसंयोग है, उस कपिसंयोग को उस शाखावच्छेद से ही वृक्ष में समझना प्रमा है)। उत्तर– ऐसा भी न कहो; क्योंकि इस लक्षण का प्रतिसंधान न होने पर भी प्रमा का व्यवहार लोक में सिद्ध है। और पाकरक्त घट में "यह श्याम है" ऐसा ज्ञान होने लगेगा (अर्थात्– उसमें अतिव्याप्ति होगी)। तथा "घटपट" इस समूहालम्बनज्ञान में अव्याप्ति भी होगी; क्योंकि समूहालम्बन में घटपट का ज्ञान एक ही होने से घटत्वाभाव वाले पट में घटत्वप्रकारकज्ञान होता है। शंका– उसमें अंशभेद से व्यवस्था हो जायेगी (अर्थात्– "घटपट" इस ज्ञान में अंशभेद मानकर व्यवस्था होगी)। उत्तर– ऐसा नहीं होगा, ज्ञान स्वतः ही निरंश होता है। शंका– उसका विषयरूप अंश है। उत्तर– नहीं; क्योंकि ज्ञान विषयों से

विषयाऽनारभ्यत्वात्, अन्यथा साकारावादापत्तेः ।

अथ– विषयो विशेषणं ज्ञानस्य, स चाऽनेकात्मकः, तथा च तद्भेदेन ज्ञानस्याऽपि तद्व्यवहार इति– चेन्न; ज्ञानस्य हि स्वभावविशेषः संबन्धस्त्वयोच्यते । स चैकरूप एवेति न कश्चिद्विशेषः । किञ्च– इदंताऽनुल्लेखि रजतमिति ज्ञाने धर्मिणि सर्वमभ्रान्तिकमिति कथं स्यात् ? तदंशे तद्वृत्तेर-प्रकारत्वात् । न च– तत्राऽप्रमात्वं नास्तीति तदर्थः प्रमा;. स्ववृत्तावप्रमात्वस्यैव वृत्त्यापत्तेः । किञ्च–"इदं संयोगि"इत्यत्र तद्वति तत्प्रकारकत्वात्, तदभाववति तत्प्रकारत्वाच्च प्रमाऽ-

आरम्भ नहीं होता (अर्थात्– विषयरूप अवयवों से आरब्ध अवयवि-रूप ज्ञान नहीं हो सकता); यदि ऐसा मानोगे तो ज्ञान में साकार-वाद की आपत्ति आ जायेगी ।

शंका— ज्ञान का विशेषण विषय है, और वह विशेषण अने-कात्मक है, इसलिये विषयभेद से ज्ञानके भी विषयरूप अंशका व्यवहार है। उत्तर— नहीं; क्योंकि तुम्हारे द्वारा ही कहा जाता है कि ज्ञान का स्वभावविशेष ही सम्बन्ध है; और वह स्वभावविशेषरूप संबन्ध तो एक रूप ही है; अत: ज्ञान में कोई विशेष नहीं । किञ्च— इदंता का उल्लेख न करके "रजत है" इस ज्ञान में "धर्म्यंश में सब ज्ञान अभ्रान्त है" यह नियम कैसे होगा ? क्योंकि रजतांश में रजतवृत्ति रजतत्व विशेषण (प्रकार) नहीं है (अर्थात्— यदवच्छेदेन यत्र यो वर्तेत, तदवच्छेदेन तत्र तस्याऽनुभव: प्रमा" इस उक्त लक्षण के अनु-सार रजतत्व अवच्छेदक होगा, और इस रजतत्व के अवच्छेदक से रजत में वृत्ति रखने वाले अन्य पदार्थ प्रकार होना चाहिये) । शंका – रजतांश में अप्रमात्व न होने से रजतविषयक ज्ञान प्रमा है। उत्तर— नहीं; रजतत्वावच्छेद से रजत में ही रजत की वृत्ति होने पर उस ज्ञान में अप्रमात्व की वृत्ति हो जायेगी। किञ्च— "यह संयोगी है" इस में शाखावच्छेद से संयोग वाले वृक्ष में संयोग प्रकार

प्रमारूपत्वं स्यात् । न चेष्टापत्तिः, तस्य प्रमात्वेनैव लोकव्यवहारात् । न च–यदवच्छेदेन संयोगो न तदवच्छेदेन तदभावः; भावाऽभावयोरवच्छेदभेदेनैव प्रतीतेरिति– वाच्यम्; अस्त्येवम्; तथाप्युक्तलक्षणे विवक्षिताऽलाभात् । तत्राऽपि सास्नावत्त्वावच्छेदेन गोत्ववृत्तिरस्त्येवेति–चेन्न; सास्नावानिति प्रतीतौ तदभावात् । तत्र गोत्वावच्छेदकमिति –चेन्न; परस्पराश्रयापत्तेः । किञ्च– सुखादिप्रतीतौ सुखत्वविशिष्टं सुखं भासते । न च तत्र सुखत्ववृत्तावच्छेदको धर्मोऽन्यः कश्चिदस्ति; गुणवृत्तिजातौ व्यञ्जकनियमाऽनङ्गीकारात् ।

(विशेषण) है; तथा मूलावच्छेद से संयोगाभाव वाले उस वृक्ष में संयोग प्रकाररूप से स्थित है; इस कारण "यह संयोगी है" यह ज्ञान प्रमा और अप्रमा दोनों होना चाहिये। इसकी इष्टापत्ति नहीं हो सकती; क्यों कि इस का प्रमारूप से ही लोकव्यवहार होता है। शंका– जिस अवच्छेद से संयोग है, उस अवच्छेद से तो संयोग का अभाव नहीं, क्योंकि भाव और अभाव अवच्छेदभेद से ही प्रतीत होते हैं। उत्तर– ऐसा ही सही; तोभी "यदवच्छेदेन यत्र यो वर्तते" इत्यादि उक्त लक्षण से तो आप का यह विवक्षित अर्थ निकलता ही नहीं। शंका–"गौ है" इत्यादि में सास्नावत्त्वावच्छेद से धर्मिरूप गोव्यक्ति में प्रकाररूप से गोत्व की वृत्ति है; अतः "गौ है" यह ज्ञान प्रमा है। उत्तर – ऐसा भी नहीं; क्यों कि गौ में सास्नावत्त्व की प्रतीति में तो सास्नावत्त्व अवच्छेदक नहीं हो सकता। शंका– उसमें गोत्व अवच्छेदक है। उत्तर–नहीं; ऐसा होने पर तो अन्योन्याश्रय होने लगेगा (गौ व्यक्ति में सास्नावत्त्व अवच्छेदक होने पर गोत्व की प्रतीति, और गोत्व अवच्छेदक होने पर सास्नावत्त्व की प्रतीति– इस प्रकार परस्पर आश्रय है)। किञ्च –सुखादि की प्रतीति में सुखत्वविशिष्ट सुख भासित होता है; उस सुख में सुखत्व की वृत्ति में कोई अवच्छेदक धर्म नहीं है; क्यों कि सुखादिगुणनिष्ठ जाति की अभिव्यक्ति के लिये अन्य व्यञ्जक होने का नियम तुमने नहीं माना। तब

तथा च तादृशप्रतीतौ सर्वत्राऽव्याप्तिः ।

किञ्च–प्रकारघटितं लक्षणं निर्विकल्पकेऽव्यापकम्; तस्य निष्प्रकारत्वात् । न च तदलक्ष्यमेव; तथासति तत्राऽप्रमात्वापत्तेः । तदुभयबहिर्भूतमेव तदिति– चेन्न; तस्य जन्यज्ञानत्वाऽभावप्रसङ्गात्, तस्य तयोरन्यतरेण व्याप्तत्वात् । अप्रयोजकमिदमिति– चेन्न; सामान्यसामग्र्या विशेषसामग्रीमादायैव कार्याऽर्जकत्वनियमात् । तथा च दोषतदभावाऽन्यतरघटितज्ञानसामग्रीजन्यत्वे प्रमात्वाऽप्रमात्वयोरन्यतरस्या-

तो इस प्रकार की गुणनिष्ठ जाति की प्रतीति में सर्वत्र इस प्रमालक्षण की अव्याप्ति है।

किञ्च– प्रकारघटित प्रमालक्षण निर्विकल्पक ज्ञान में अव्याप्ति से ग्रस्त होगा; क्योंकि वह निष्प्रकारक ज्ञान होता है। और वह अलक्ष्य भी नहीं हो सकता; कारण कि- वैसा होने पर उसमें अप्रमात्व होगा। शंका– प्रमा और अप्रमा दोनों से बहिर्भूत निर्विकल्पक ज्ञान है। उत्तर– नहीं; ऐसा होने पर उस में जन्यज्ञानत्व के अभाव का प्रसङ्ग होगा; क्योंकि प्रमात्व और अप्रमात्व में से अन्यतर के द्वारा जन्यज्ञानत्व व्याप्त है ("यत्र जन्यज्ञानत्वं तत्र प्रमाऽप्रमाऽन्यतरत्वम्" इस व्याप्ति के अनुसार निर्विकल्पकज्ञान में प्रमाऽप्रमाऽन्यतरत्वरूप व्यापक के अभाव से व्याप्य जन्यज्ञानत्व का अभाव होने का प्रसङ्ग हो जायेगा)। और यह जन्यज्ञानत्व हेतु अप्रयोजक भी नहीं हो सकता (साध्य और साधन में व्यभिचार की शंका के निवारक अनुकूल तर्क का अभाव हो जाये तो उस हेतु को अप्रयोजक कहते हैं। प्रकृत में निर्विकल्पकज्ञान में जन्यज्ञानत्व तो हो, किन्तु प्रमाऽप्रमाऽन्यतरत्व न हो– ऐसी शंका नहीं हो सकती); कारण कि सामान्यसामग्री का विशेषसामग्री के सहित कार्योत्पादकत्व नियम है; इसलिये निर्विकल्पकज्ञान में दोष और दोषाभाव की अन्यतररूप विशेषसामग्री से घटित सामान्यज्ञानसामग्री से जन्यत्व होने पर प्रमात्व और अप्रमात्व इन दोनों में से अन्यतर अवश्य होना चाहिये; अन्यथा

ऽवश्यम्भावः स्यात् । अन्यथा ज्ञानसामग्रीजन्यत्वमेव न स्यात् । तथा च ज्ञानमपि न स्यात्; अन्यथा सविकल्पकमपि प्रमाऽप्रमाबहिर्भूतं किमप्युत्पद्येत तदुभयरहितज्ञानसामग्र्या जनकत्वे । तस्माल्लक्षणकरणाऽसामर्थ्याल्लक्ष्यत्याग इति स्थितम् ।

न च–एतदनुरोधेनाऽनुभवत्वमात्रं लक्षणमेवेति वाच्यम्; ज्ञानत्वस्याऽपि तथा वक्तुं शक्यत्वात् । तस्याऽलक्ष्यवृत्तित्वं यदि, प्रकृतेऽपि समम् । किञ्च– यत्तद्भ्यां लक्षणकरणेऽननुगमो दोषः । न च– लक्ष्यस्याऽप्यननुगतत्वादयमेव दोषः, नहि प्रमा सर्वत्र प्रमा, किन्तु क्वचित्, तथा च किं ज्ञानं कुत्र प्रमेति प्रश्नोत्तरं च यत्तद्भ्यामिति– वाच्यम्; एवं

वह ज्ञानसामग्रीजन्य ही नहीं होगा। तब तो वह ज्ञान भी न कहलावेगा। यदि दोष और दोषाभाव दोनों से रहित ज्ञानसामग्री को जनक मान लिया जावे तो प्रमा और अप्रमा से बहिर्भूत कोई एक सविकल्पकज्ञान भी उत्पन्न हो जावे (किन्तु ऐसा नहीं होता)। इस लिये लक्षण करना असम्भव होने से लक्ष्य का त्याग कर देना चाहिये– यह निश्चित हो जाता है।

शंका– इस प्रकार सब लक्षणों में दोष होने के कारण हम प्रमा के लक्षण को अनुभवत्वमात्र मानते हैं। उत्तर–ऐसा भी न कहो; क्यों कि वैसे ही ज्ञानत्व भी प्रमा का लक्षण कहा जा सकता है। यदि वह अलक्ष्यवृत्ति है, तो प्रकृत अनुभवत्व भी समान ही है। किञ्च- यत् और तद् इन दो शब्दों से लक्षण करने पर अननुगम दोष होता है। शंका-लक्ष्य का भी अननुगतत्व होने से यह दोष है,प्रमा भी सर्वत्र प्रमा नहीं होती, किन्तु कहीं ही प्रमा होती है (नैयायिकों के मत में निर्विकल्पक और ईश्वरज्ञान यथार्थानुभव होते हुए भी प्रमा नहीं माने जाते। अतः इस अभिप्राय से यह कथन है)। इस लिये ज्ञान क्या है और कहां प्रमा है– इस प्रकार का प्रश्नोत्तर यत् और तत् से ही होता

हि सति कुत्राऽप्यननुगमस्य दोषत्वमेव न स्यात् । सर्वत्र तथा वक्तुं शक्यत्वात् । तथा च शास्त्रे तद्दोषत्वव्युत्पादनविरोधः । अथ– यत्र लक्ष्यतावच्छेदक एको धर्मोऽस्ति, तत्राऽसौ दोषः, यथा गन्धवती पृथ्वीत्यत्र पृथ्वीत्वं लक्ष्यतावच्छेदकम्, गन्धवत्त्वं लक्षणम्, वैपरीत्यं वा, न चाऽत्र तथाऽस्तीति– चेन्नः, समर्थप्रवृत्तिजनकत्वभ्रमज्ञानत्वादेरत्राऽपि त्वया वक्तुं शक्यत्वात् । लक्ष्यतावच्छेदकस्याऽनुगतधर्मं बिना तदपि दुर्ग्रहमिति– चेत्; भ्रान्तोऽसि, यतस्तथा सति तेन प्रामाण्याऽनुमानमपि कथं ते स्यात् ? किञ्च– घटत्वा-

है। उत्तर— ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर कहीं भी अननुगम दोष नहीं होगा; कारण कि– जैसे तुम कहते हो, वैसे ही सर्वत्र कहा जा सकता है। तब तो शास्त्र में अननुगम दोष के प्रतिपादन से विरोध होगा। शंका— जहां लक्ष्यतावच्छेदक धर्म एक ही होता है, वहां यह अननुगम दोष होता है, जैसे– "गन्धवती पृथिवी" इस लक्षण में पृथिवीत्व लक्ष्यतावच्छेदक धर्म है और गन्धवत्त्व लक्षण है, अथवा इसके विपरीत मानो (अर्थात्– गन्धवत्त्व लक्ष्यतावच्छेदक है और पृथिवीत्व लक्षण है)। किन्तु प्रमा के लक्षण में ऐसा नहीं है (अर्थात् यहां लक्ष्यतावच्छेदक प्रत्यक्षत्व, अनुमितित्वादिरूप से नाना हैं)। उत्तर– नहीं; क्योंकि– यहां भी समर्थप्रवृत्तिजनकत्व प्रमात्व है और भ्रमज्ञानत्व अप्रमात्व है– इत्यादि को लक्षणरूप से आप कह सकते हैं। शंका— लक्ष्यतावच्छेदक प्रमात्व के अनुगत धर्म के बिना समर्थप्रवृत्तिजनकत्व का भी ग्रहण करना असम्भव है। समाधान— तुम भ्रम में पड़े हुए हो, क्योंकि वैसा होने पर (समर्थप्रवृत्तिजनकत्व और प्रमात्व में कोई एक अनुगत धर्म न होने पर) तो समर्थप्रवृत्तिजनकत्व हेतु से प्रामाण्य (प्रमात्व) का तुम्हारा अनुमान कैसे होगा? (भाव यह है कि नैयायिक लोग ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य नहीं मानते, परतः प्रामाण्य मानते हैं, अतः "इदं रजतम्" यह ज्ञान होने के बाद "रजतज्ञानं प्रमा समर्थ-

दिकमेव पृथिव्या लक्षणमस्तु, न चाऽननुगमः, लक्ष्यस्याऽप्यननुगतत्वात्। तथा सति पृथिवीशब्दसंकेतग्रहो न स्यात्, आनन्त्यव्यभिचाराभ्यामिति--चेत्; प्रमाशब्देऽपि तुल्यमेतत्। पृथिवीत्यनुगतप्रतीतिवशादनुगतधर्मसिद्धिरिति– चेत्; तुल्यं प्रमायामपि। प्रमाशब्दोऽनेकार्थ एवाक्षादिशब्दवदिति– चेन्न; अक्षशब्दे हि विभीतकत्वादिप्रवृत्तिनिमित्तत्रयमासाद्य प्रवृत्तिः शब्दस्य शक्यग्रहा, प्रमात्वानि त्वनन्तानि, घटवति घटवत्त्वप्रकारकत्वादीनि हि तानि, तथा च तेषां सर्वेषां गृहीतुमशक्यत्वेन कथं तदादाय शब्दप्रवृत्तिः ? न च–अनुभव-

प्रवृत्तिजनकत्वात्'' इस अनुमान से रजतज्ञान का प्रमात्व सिद्ध करते हैं। यदि समर्थप्रवृत्तिजनकत्व प्रमात्व का अनुगत धर्म नहीं है तो यह अनुमान नहीं होगा)। किञ्च– घटत्वादिक ही पृथिवी का लक्षण हो; इसमें अननुगम दोष नहीं होगा, क्यों कि लक्ष्य भी अननुगत ही है। शंका– उस प्रकार का लक्षण हो जाये तो पृथिवीशब्द का किसी अर्थ में शक्तिग्रह नहीं होगा; क्योंकि उसमें आनन्त्य और व्यभिचार दोष आ जाते हैं। उत्तर– यह तो प्रमाशब्द में भी तुल्य है। शंका– पृथिवी में ''पृथिवी'' इस प्रकार अनुगत प्रतीतिवश अनुगत धर्म की सिद्धि होती है। उत्तर– यह भी प्रमा में तुल्य है। शंका— अक्षादिशब्द के समान प्रमाशब्द अनेकार्थक है (अतः अक्ष-शब्द के समान प्रमाशब्द की भी प्रवृत्ति होगी)। उत्तर— नहीं; क्योंकि अक्षशब्द में विभीतकत्वादि प्रवृत्तिनिमित्तत्रय (विभीतकत्व, इन्द्रियत्व और द्युतक्रीड़ा का अङ्गभूत पाशत्व) को लेकर शब्द की प्रवृत्ति गृहीत हो सकती है (यहां त्रिफला में प्रसिद्ध बहेड़ा का नाम विभीतक है)। और प्रमात्व अनन्त है, वे तो घटवद्भूतलादि में घटवत्त्वप्रकारकत्वादि होते हैं (अर्थात्—रजतत्वविशिष्ट में रजतत्व-प्रकारकज्ञान, पटत्वविशिष्ट में पटत्वप्रकारकज्ञान, घटवत्त्वविशिष्ट में घटवत्त्वप्रकारकज्ञान इत्यादि अनन्त प्रमारूपज्ञान होते हैं); तब तो उन सब का ग्रहण अशक्य होने से किस प्रकार प्रमात्व को लेकर

त्वाऽनुगमात्तदनुगमः; तच्च जातिरूपमिति– वाच्यम्; नहि तावन्मात्रं प्रमात्वं; तज्ज्ञानेऽपि प्रमाशब्दाऽप्रयोगात्। किं तर्हि ? विशिष्टम्, तच्चाऽननुगतमेव। का चेयं वाचोयुक्ति-रन्यस्याऽनुगमादन्यदनुगतमिति? विशिष्टश्च केवलादन्यदेव। किञ्च– प्रमा इतरेभ्यो भिद्यते प्रमात्वादित्यत्र सकलपक्ष-व्यापकं प्रमात्वमेकं नास्तीति भागासिद्धो हेतुः। न च– प्रमात्वत्वेनैकेन धर्मेण प्रमावृत्तिनाऽवच्छिन्नस्य हेतुत्वं धूम-त्वावच्छिन्नस्येव धूमस्येति– वाच्यम्; असिद्धेः। प्रमेतरा-ऽवृत्तित्वे सति सकलप्रमावृत्तित्वं हि तत्; गोत्वत्ववदिति

प्रमाशब्द की प्रवृत्ति होगी ? शंका— सब प्रमाओं में अनुभवत्व का अनुगम होने से प्रमात्व का भी अनुगम होगा, और वह अनुभवत्व जातिरूप है। उत्तर— ऐसा न कहो; क्योंकि अनुभवत्वमात्र प्रमात्व नहीं, और अनुभवज्ञान में भी प्रमाशब्द का प्रयोग नहीं होता। शंका– तब तो प्रमाज्ञान क्या है ? उत्तर– वह विशिष्टअनुभवज्ञान है (घटत्वप्रकारक अनुभवादि विशेष ज्ञान ही प्रमा है, सामान्य अनु-भवमात्र प्रमा नहीं); और वह विशिष्ट अनुभवत्व तो अननुगत ही है। यह कौनसी युक्ति है कि अन्य के अनुगम से अन्य अनुगत होता है? और केवल (सामान्य) से विशिष्ट भिन्न ही होता है। किञ्च- "प्रमा इतरेभ्यो भिद्यते प्रमात्वात्" इस अनुमान में सकलपक्ष में (प्रमामात्र में) व्यापक एक प्रमात्व के न होने से (क्योंकि हेतुभूत प्रमात्व नाना है) पक्षके एक देशमें हेतु स्वरूपासिद्ध है। शंका–जिस प्रकार धूम नाना होने पर भी धूमत्वधर्म से अवच्छिन्न होकर धूम अनुमान का हेतु होता है, उसी प्रकार प्रमात्वत्वरूप प्रमावृत्ति एक ही धर्म से अवच्छिन्न होकर प्रमात्व हेतु होगा। उत्तर – ऐसा न कहो; क्योंकि प्रमात्वत्व की असिद्धि है। शंका-- जैसे गोत्वत्व का गवेतर में अवृत्तित्व होने पर सकल गोव्यक्तियों में वृत्तित्व है, वैसे—प्रमेतर में अवृत्तित्व होने पर सकलप्रमा में वृत्तित्व ही प्रमात्वत्व है (अतः

चेन्न; एकस्य प्रमात्वस्य सकलप्रमावृत्तित्वाऽभावाच्च। "किञ्चिद्धि वस्तु स्वतो व्यावृत्तम्" इति न्यायेन गोत्वे धर्मान्तराऽभावाच्च। अन्यथा जात्या व्यावृत्ता व्यक्तिर्जातिं व्यावर्तयिष्यति, व्यक्त्या च व्यावृत्ता जातिर्व्यक्तिमिति परस्पराश्रयापत्तेः। न च-- प्रत्येकप्रमां पक्षीकृत्य प्रत्येकप्रमात्वादितरभेदानुमानं स्यादिति-- साम्प्रतम्; पृथिव्यादावपि तथैवोपपत्तौ पृथिवीत्वादावपि प्रमाणाऽभावापत्तेः। तत्र बाधकं नास्तीति-- चेत्; अन्यथैवोपपत्तेः। साधकमपि

उसकी प्रसिद्धि नहीं)। उत्तर— नहीं; क्योंकि एक प्रमात्व का सकलप्रमावृत्तित्व नहीं है (भाव यह कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में भेद है। दृष्टान्त में तो गोत्व की सकलगोव्यक्तियों में वृत्ति है, अतः गोत्व का धर्म गोत्वत्व सकलगोव्यक्तियों में हो सकता है। किन्तु दार्ष्टान्त में प्रमात्व की सकलप्रमाव्यक्तियों में वृत्ति नहीं है, क्योंकि वह नाना है; इसलिये प्रमात्व के धर्म प्रमात्वत्व की सकलप्रमाव्यक्तियों में वृत्ति नहीं होगी)। इसके अतिरिक्त— 'कुछ वस्तु तो ऐसी है, जो स्वतः ही व्यावृत्त है" इस न्याय से गोत्व में धर्मान्तर का अभाव है। यदि गोत्व का व्यावर्तक धर्मान्तर मानोगे तो गोत्वजाति से व्यावृत्त गोव्यक्ति गोत्वजाति को व्यावृत्त करेगी, और गोव्यक्ति से व्यावृत्त गोत्वजाति गोव्यक्ति को व्यावृत्त करेगी— इस प्रकार अन्योन्याश्रय होगा (यहां पर गोत्वत्व और गोव्यक्ति एक ही है, गोत्व में अन्य धर्म नहीं रह सकता, इसलिये गोत्वत्व गोव्यक्ति में ही रह कर गोत्व का व्यावर्तक है और वह गोव्यक्ति का स्वरूप ही; अतः गोव्यक्ति को गोत्व का व्यावर्तक कहा गया है। अन्यथा गोत्वत्व का भी अन्य व्यावर्तक धर्म मानने पर अनवस्था होगी)। शंका— प्रत्येक प्रमा को पक्ष बनाकर प्रत्येक प्रमात्व हेतु से इतरभेद का अनुमान होगा। उत्तर— यह ठीक नहीं; क्योंकि पृथिव्यादि में भी वैसा ही सम्भव होने पर पृथिवीत्वादि जाति में भी प्रमाणाभाव होने लगेगा। शंका— पृथिवीत्वादि में बाधक नहीं; (और यहां तो

नास्तीति पश्य। सर्वज्ञस्य सर्वप्रमाभेदज्ञानाऽनुपपत्तिश्च; तथा चैतत्प्रमात्वरूपणं नेतरभेदज्ञानाय, नाऽपि शब्दरूपव्यवहाराय; नाऽपि प्रवृत्त्यर्थम्, तस्या अप्रामाण्यशंकाशून्यज्ञानादेव स्वीकारात्तथैवोपपत्तेश्चेति व्यवहाराऽनङ्गत्वाद् व्यर्थमेव। नाऽपि विशेष्यवृत्तिप्रकारकाऽनुभवत्वम्; समूहालम्बनाऽव्याप्तेः। घटपटावित्यत्र हि घटत्वं पटे नास्ति, पटत्वञ्च घटे नास्ति, तदेव तत्र प्रकारः। न च– अंशभेदमादाय व्यवस्था; ज्ञानस्य निरंशत्वात्; प्रमात्वस्य च ज्ञानवृत्तित्वात्, विषयस्य च सांशत्वे किमायातं ज्ञानस्य ?

किञ्च–घटोऽयमिति ज्ञाने घटत्वं विशेष्याऽवृत्ति न भव-

बाधक है, अतः विशेषता है)। उत्तर– नहीं; पृथिवीत्वादि की भी अन्यथा ही उपपत्ति हो सकती है, और उसका साधक प्रमाण भी नहीं है– इस ओर भी जरा देखो। और सर्वज्ञ के सर्वप्रमाभेदज्ञान की अनुपपत्ति भी होगी (क्योंकि सब को ब्रह्मरूप से जानने वाले सर्वज्ञ पुरुष को सर्वप्रमाओं का इतरभेदज्ञान नहीं हो सकता)। तब तो यह प्रमात्व का निरूपण न तो इतरभेदज्ञान के लिये हुआ, और न शब्दरूप व्यवहार के लिये, तथा प्रवृत्ति के लिये भी नहीं हुआ; क्यों कि प्रवृत्ति अप्रामाण्यशंकाशून्य ज्ञान से ही होती है– ऐसा तुमने स्वीकार किया है, और वैसे ही उसकी उपपत्ति भी होती है। अतः व्यवहार का अङ्ग न होने से इस प्रकार प्रमा का लक्षण करना व्यर्थ ही है। और– विशेष्यनिष्ठप्रकारविषयक अनुभव प्रमा है– ऐसा भी लक्षण नहीं हो सकता; क्यों कि समूहालम्बनप्रमाज्ञान में अव्याप्ति होती है। "घटपट" इसमें घटत्व पट में नहीं, और पटत्व घट में नहीं; तो भी घटत्व पट का और पटत्व घट का प्रकार हो रहा है। उस में अंशभेद लेकर व्यवस्था भी नहीं हो सकती; कारण कि– ज्ञान निरंश है, और प्रमात्व तो ज्ञान में है; अतः विषय में सांशत्व होने पर भी ज्ञान में क्या आयेगा ?

किञ्च– "घट यह है" इस ज्ञान में घटत्व की विशेष्य घट में

तीति कथं ज्ञेयम्? नियमतोऽन्यवृत्तितयाऽज्ञानात्, तद्वृत्तितयैव ज्ञानादिति–चेन्न; "नीलं तमः" इत्यादौ व्यभिचारात्। तत्र बाधोऽस्तीति– चेत्; अत्राऽपि भविष्यतीति सम्भावनाया विद्यमानत्वात्। किञ्च–"इदं रजतम्" इत्यत्र भ्रमेऽपि विशेष्यवृत्तिप्रकारकत्वं विद्यत एव, नहि रजतं न विशेष्यं क्वचित्। यत्र ज्ञाने यद्विशेष्यम्, तद्विवक्षितमिति– चेन्न; हेत्वन्तरतापत्तेरननुगमापत्तेश्च, भ्रमेऽपि यथा रजतं विशेष्यं तथा प्रतिपादितमधस्तात्।

अवृत्ति नहीं है अर्थात् वृत्ति है– यह कैसे जाना जायेगा ? शंका – नियमतः अन्य में वृत्तिता के अज्ञान से तथा घट में ही घटत्व की वृत्तिता के ज्ञान से जाना जायेगा। उत्तर— नहीं, क्यों कि "नील तम है" इत्यादि में व्यभिचार होता है। शंका – उसमें तो बाध होता है। उत्तर— तब तो यहाँ भी (घट में भी) घटत्व का बाध आगे हो जाने की सम्भावना विद्यमान है। किञ्च –"यह रजत है" इस भ्रम में भी विशेष्यवृत्ति रजतत्वप्रकारकत्व है ही, रजत कहीं भी विशेष्य नहीं होता, ऐसा तो नहीं है (भाव यह है कि– लक्षण के अनुसार विशेष्यवृत्ति प्रकार का अनुभव प्रमा है। किन्तु "इदं रजतं" इस में रजतत्व का अनुभव होता है, यह रजतत्व यद्यपि पुरोवर्ती इदं-पदार्थ में नहीं है, तो भी हट्टस्थरजतरूप विशेष्य में उस की वृत्ति है, अतः विशेष्यवृत्तिप्रकारकज्ञानत्व भ्रम में होने से अतिव्याप्ति है)। शंका – जिस ज्ञान में जो विशेष्य होता है, वह विशेष्य यहाँ विवक्षित है (तब तो अतिव्याप्ति नहीं होगी; क्योंकि "इदं रजतम्" इस ज्ञान में पुरोवर्ती इदंपदार्थ विशेष्य है, परन्तु उसमें रजतत्व नहीं है)। उत्तर-नहीं; इसमें तो हेत्वन्तर(लक्षणान्तर) की आपत्ति आयेगी, तथा यत् और तत् के प्रयोग होने से अननुगम दोष भी होगा; और भ्रम में भी जिस प्रकार रजत विशेष्य हो सकता है, वैसे ही अनिर्वचनीय रजत का पहले प्रतिपादन हो चुका है।

नाऽपि विशेष्यनिष्ठात्यन्ताऽभावाऽप्रतियोगिधर्मप्रकाराऽनुभवत्वम्; पूर्वोक्तदोषात्; "अयं संयोगी" इत्यत्र संयोगप्रकारकप्रमायामव्याप्तेश्च; संयोगस्य विशेष्यनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्। न चाऽभावे व्याप्यवृत्तित्वं विशेषणं देयम्; "गुणः संयोगी" इत्यप्रमायामतिव्याप्तेः; तदत्यन्ताऽभावस्यैकत्वात्। न चाऽधिकरणभेदेनाऽभावभेदः; प्रमाणाऽभावादपसिद्धान्तापत्तेश्च। नाऽपि विशेष्यवृत्त्यन्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकधर्माऽप्रकारकाऽनुभवत्वम्; अस्याऽर्थः—

और विशेष्यनिष्ठ अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी जो धर्म है, वही जिस ज्ञान में विशेषणरूप से भासित हो, ऐसा अनुभव प्रमा है– यह लक्षण भी ठीक नहीं; क्योंकि भ्रम में अतिव्याप्तिरूप पूर्वोक्त दोष इस में भी है। और "यह वृक्ष कपिसंयोगी है" इस संयोगप्रकारक प्रमा में अव्याप्ति भी होगी; क्योंकि संयोग विशेष्यनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, अप्रतियोगी नहीं (क्योंकि मूलावच्छेद से विशेष्यभूत वृक्ष में संयोगात्यन्ताभाव है)। शंका – लक्षणगत अत्यन्ताभाव में व्याप्यवृत्तित्व विशेषण देने पर यह दोष नहीं होगा (क्योंकि विशेष्यव्याप्यवृत्ति अर्थात् विशेष्यभूतवृक्ष में व्याप्त होकर स्थित अत्यन्ताभाव का संयोग प्रतियोगी नहीं; अप्रतियोगी ही है; अतः अव्याप्ति नहीं होगी)। उत्तर – तब तो "गुण संयोगी है" इस भ्रम में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि वह अत्यन्ताभाव एक ही है (भाव यह है कि "गुण संयोगी है" इसमें गुणव्याप्यवृत्ति अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी होकर संयोग प्रतीत है; और वह अत्यन्ताभाव नाना नहीं; एक ही है, अतः संयोग को गुण में अन्य अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी भी नहीं बना सकते; इसलिये इस भ्रम में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति है)। और इस में तुम अधिकरण के भेद से अभाव में भेद नहीं कह सकते; कारण कि उस में प्रमाण नहीं है और तुम्हारा अपसिद्धान्त भी होगा। इसी प्रकार—विशेष्यवृत्ति अन्योन्याभाव का जो प्रतियोगितावच्छेदक धर्म है, वही जिस अनुभव का प्रकार न हो, वह अनु-

"घटोऽयम्" इति ज्ञाने विशेष्यं घटस्वरूपम्, तत्र वर्तते योऽन्योन्याभावः पटादीनाम्, तस्य प्रतियोगितावच्छेदको धर्मः पटत्वादिः, सोऽप्रकारको यस्याऽनुभवस्येति । "मूले वृक्षः कपिसंयोगवान्न" इत्यबाधिताऽनुभवबलात्, संयोगस्याऽप्यव्याप्यवृत्तित्वात्, अव्याप्तेस्तदवस्थत्वात् ।

न च–"स एवाऽयं वृक्षः" इत्यबाधिताऽनुभवबलान्नाऽन्योन्याभावोऽव्याप्यवृत्तिरिति– वाच्यम्; पूर्वप्रत्ययस्यैव बाधकस्य विद्यमानत्वात्; बाधकस्य विपरीतप्रमात्वेनाऽऽत्माश्रयापत्तेश्च; भेदाऽभेदस्य प्रतीतिसिद्धत्वेनाऽदोषत्वात्; समू-

भव प्रमा है। इसका यह अर्थ है– "यह घट है" इस ज्ञान में विशेष्य घटस्वरूप है, उसमें पटादि का जो अन्योन्याभाव है, उस अन्योन्याभाव का प्रतियोगितावच्छेदक धर्म पटत्वादि है, वह पटत्वादि अप्रकारक है जिस अनुभव का, वह अनुभव प्रमा है (अर्थात् घट में घटत्वप्रकारक ज्ञान प्रमा है)— यह लक्षण भी ठीक नहीं; कारण कि– "मूल में वृक्ष कपिसंयोगवान् नहीं" इस अबाधित अनुभव के बल से और संयोग के भी अव्याप्यवृत्तित्व होने के कारण "वृक्ष कपिसंयोगी है" इस प्रमा में अव्याप्तिदोष ज्यों का त्यों है (कारण कि– मूल में शाखा का अन्योन्याभाव है, इस अन्योन्याभाव का प्रतियोगितावच्छेदक धर्म शाखात्व है; और उक्त लक्षण के अनुसार शाखात्वावच्छेदेन संयोग का ज्ञान प्रमा नहीं होना चाहिये; किन्तु वह प्रमा है; इसलिये उसमें लक्षण की अव्याप्ति है)।

शंका— "वही कपिसंयोगी वृक्ष यह है" इस अबाधित अनुभव के बल से अन्योन्याभाव की वृक्ष में अव्याप्यवृत्ति नहीं है (किन्तु व्याप्यवृत्ति है; अतः मूलावच्छेदेन शाखा का अन्योन्याभाव नहीं)। उत्तर— ऐसा न कहो; क्योंकि "मूल में वृक्ष कपिसंयोग वाला नहीं" इस प्रकार का पूर्वोक्त बाधक ज्ञान विद्यमान है। और बाधक तो विपरीत प्रमा होने से उसका लक्षण में समावेश करोगे तो आत्माश्रय

हालम्बनेऽव्याप्तेश्च। नाऽपि संवाद्यनुभवत्वम्; ज्ञानान्तरेण तत्तोल्लिख्यमानाऽर्थत्वस्य तस्य भ्रमेऽपि सत्त्वात्। न च-अर्थप्राप्तिः संवाद इति वाच्यम्; स्वप्नकामिनीदर्शनादावर्थ-प्राप्तेरपि विद्यमानत्वात्, उपेक्षाप्रमायामव्याप्तेश्च। तत्र योग्यतास्तीति चेन्न; तस्या बाधकप्रमाऽभावात्, विषयस्य च दोषगुणाऽजन्यत्वात्। तथा च तज्ज्ञानं यदि दोषजन्यम्,

होगा; तथा शाखा और मूल में भेद और वृक्षत्वेन दोनों में अभेद-इस प्रकार भेदाऽभेद की प्रतीति से सिद्धि होने के कारण उसमें कोई दोष नहीं है; और "घटपट" इत्यादि समूहालम्बन प्रमा में अव्याप्ति तो पूर्वोक्तानुसार स्पष्ट है। और संवाद्यनुभवत्व (सफलप्रवृत्तिजन-कत्वरूप अनुभवत्व) भी प्रमा का लक्षण नहीं; क्योंकि ज्ञानान्तर के द्वारा तत्ता से निर्दिश्यमानार्थविषयकत्वरूप संवाद्यनुभवत्व भ्रम में भी है (अर्थात् यह लक्षण संवादिभ्रम में भी है, अतः अतिव्याप्ति-ग्रस्त है। सफलप्रवृत्तिजनक भ्रम का नाम संवादिभ्रम है। शुक्त्यादि में रजतभ्रम के अनन्तर भ्रमविषयीभूत , उस रजत को "तत्" शब्द से निर्दिष्ट करके वास्तविक रजत में "तदेवेदम्" अर्थात् "वही तो यह रजत है" ऐसा भ्रम संवादी है। अतः इस संवादिभ्रम में संवा-द्यनुभवत्व होने से अतिव्याप्ति है)। शंका— अर्थप्राप्ति का नाम संवाद है। उत्तर— ऐसा न कहो; क्योंकि स्वप्नकामिनी के दर्शनादि में भी अर्थप्राप्ति विद्यमान है (कारण कि- "यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धि तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने॥" (छा० ५।२।९) अर्थात्- काम्य कर्म करते समय यदि स्वप्न में स्त्री देखने में आती है तो ऐसे स्वप्न दर्शन होने पर उस कर्म में समृद्धि जानो" इस श्रुति से यह बात सिद्ध है)। और उपेक्षाप्रमा में अव्याप्ति है (क्योंकि किसी वस्तु की प्रमा होने पर भी उसमें उपेक्षा होने से अर्थप्राप्ति नहीं होती)। शंका— उपेक्षाप्रमा में अर्थप्राप्ति की योग्यता तो है। उत्तर— नहीं; क्योंकि उस उपेक्षाप्रमानिष्ठ योग्यता की बाधक प्रमा नहीं है (अतः उसमें योग्यता हो तो अर्थप्राप्ति भी

अप्रमैव स्यात्; अथ गुणजन्यं, प्रमैव स्यादिति व्यवस्था त्वदभिमता न सिद्ध्येत् ।

नाऽपि प्रमात्वं जातिः; ज्ञानव्यक्तिग्रहे योग्यव्यक्तिवृत्तित्वेन प्रमात्वस्याऽपि ग्रहापत्तौ क्वचिदपि संशयो न स्यात्; प्रमात्वस्याऽनुमेयत्वाऽङ्गीकाराच्च । साक्षात्त्वादिना संकरापत्तिश्च; साक्षात्त्वं हि प्रमात्वं विहाय तिष्ठति प्रकारांशाऽप्रमायाम्, प्रमात्वमपि तद्विहायाऽनुमित्यादाविति । न च– गुणवृत्तिजातौ न संकरो दोषः, बीजसाम्येन तत्राऽदोषत्वाऽङ्गीकारे द्रव्येऽपि तदापत्तेः, भ्रमे धर्म्यंशप्रमायामव्या-

होनी चाहिये) । और ज्ञान का विषय दोष और गुण से जन्य नहीं होता । इसलिये "यदि विषयज्ञान दोषजन्य है तो अप्रमा है, और गुणजन्य (सन्निकर्षादिजन्य) है तो प्रमा है" यह तुम्हारी अभिमत व्यवस्था सिद्ध नहीं होगी ।

और प्रमात्व भी जाति नहीं; क्योंकि प्रत्यक्षयोग्यज्ञानव्यक्ति में उस की वृत्ति होने के कारण ज्ञानव्यक्ति के ग्रह में प्रमात्व की भी ग्रहापत्ति होने पर कहीं भी संशय नहीं होगा; और प्रमात्व का अनुमेयत्व तुम ने अङ्गीकार किया है । इसके अतिरिक्त– साक्षात्त्वादि के साथ उसकी संकरापत्ति भी है । क्योंकि प्रमात्व को छोड़कर साक्षात्त्व भ्रमविषयीभूतरजतत्वांश की अप्रमा में रहता है; और प्रमात्व भी साक्षात्त्व को छोड़ कर अनुमित्यादि ज्ञान में रहता है, तथा प्रमात्व और साक्षात्त्व दोनों का समावेश "यह घट है" इत्यादि ज्ञान में होता है (अतः– "परस्पराऽत्यन्ताभावसमानाधिकरणयोर्धर्मयोरेकत्र समावेशः संकरः" यह संकर का लक्षण प्रमात्व में घटता है; और वह संकरदोष जाति का बाधक है) । शंका– गुणनिष्ठ जाति में संकर को दोष नहीं माना जाता । उत्तर– ऐसा नहीं है; बीज (मूलकारण) के साम्य होने से गुणनिष्ठ जाति में संकर को दोष नहीं मानोगे तो द्रव्य में भी वह अदोष ही हो जायेगा । तथा भ्रम में धर्म्यंशविषयक प्रमा में प्रमात्व की अव्याप्ति

त्तेश्च । जातेर्व्याप्यवृत्तित्वनियमात् । न च– अवच्छेदभेदेन तद्वृत्तिः स्यात्, संयोगतदभावयोरिवेति– वाच्यम्; अवच्छेदस्य वक्तुमशक्यत्वात् । न च– विशेष्यावृत्त्यप्रकारकत्वतदवृत्तिप्रकाराऽवच्छेदेनोभयोः प्रमात्वाऽप्रमात्वयोर्वृत्तिरास्तामिति–वाच्यम्; अवच्छेदकधर्मस्य विशेषणत्वे तत्राऽपि प्रमात्ववृत्त्यापत्तेः, उपलक्षणत्वे तु ज्ञानमात्रमुपलक्ष्यम् । तथा च न कश्चिद्विशेषः, अवश्यकल्प्योपाधिद्वयेनैव प्रमाऽप्रमाव्यवहारोपपत्तौ जातेर्वैयर्थ्याऽऽपत्तेश्च । न च–व्यञ्जकमादाय जातेर्निराकरणे गोत्वाद्युच्छेदापत्तिरिति– वाच्यम्; इष्टापत्तेः;

है, क्योंकि जाति का व्याप्यवृत्तित्व नियम है । शंका – जिस प्रकार अवच्छेदभेद से संयोग और संयोगाभाव की वृत्ति एक ही अधिकरण में होती है उसी प्रकार भ्रम में भी धर्म्यंशप्रमा मे अवच्छेदभेद से प्रमात्व की वृत्ति होगी । उत्तर – ऐसा न कहो, क्योंकि तुम उसका अवच्छेदक नहीं बता सकते । शंका – विशेष्यावृत्त्यप्रकारकत्व अर्थात् विशेष्यवृत्ति प्रकारकत्व और विशेष्यावृत्तिप्रकारकत्व अवच्छेद से प्रमात्व और अप्रमात्व दोनों की वृत्ति भ्रम में होगी (भाव यह है कि "इद रजतम्" इस भ्रम में इदमंश विशेष्य है, और उसमें इदंता की वृत्ति है, इस इदंता के अवच्छेद से धर्म्यंशेदंविषयक ज्ञान में प्रमात्व की वृत्ति होगी; और विशेष्य इदमंश में अवृत्ति रजतत्व के अवच्छेद से रजतज्ञान में अप्रमात्व की वृत्ति होगी) । उत्तर – ऐसा भी न कहो; क्योंकि अवच्छेदकीभूतविशेष्यवृत्तिप्रकारकत्व धर्म (इदंता) को धर्म्यंश प्रमा का विशेषण मानोगे तो उसमें भी प्रमात्व की वृत्ति हो जायेगी, और उपलक्षण मानोगे तो ज्ञानमात्र उपलक्ष्य होगा; तब तो उसमें कुछ भी विशेष नहीं रहा । और अवश्यकल्प्य दोषाजन्यत्व और दोषजन्यत्वरूप उपाधिद्वय से ही प्रमा और अप्रमा का व्यवहार सम्भव होने पर जाति की कल्पना व्यर्थ ही है । शंका– व्यञ्जक उपाधि को लेकर जाति का निराकरण होने पर तो गोत्वादि की उच्छेदापत्ति होगी । उत्तर – ठीक है, इसमें तो इष्टा-

विशेष्यावृत्त्यप्रकारकत्वस्य व्यञ्जकत्वाऽसिद्धेश्च, तदग्रहेऽपि प्रमात्वव्यवहारात् । नाप्यज्ञातार्थविषयकत्वे सति यथार्थत्वम्; यथाशब्दार्थखण्डनादेव । अज्ञानस्य विशेषणत्वेऽज्ञानस्याऽप्यर्थज्ञानविषयतापत्तिः; उपलक्षणत्वे त्वर्थमात्रमुपलक्ष्यम् । तथा च विशेषणं व्यर्थम्; व्यावर्त्याऽभावात्; ब्रह्माऽतिरिक्त-

प्ति है। और विशेष्यावृत्त्यप्रकारकत्व (विशेष्यवृत्ति इदंतादि) धर्म तो व्यञ्जक भी नहीं हो सकता; क्योंकि उसका ग्रहण न होने पर भी प्रमात्व का व्यवहार होता है। तथा— "अज्ञातार्थविषयक होने पर यथार्थज्ञान" भी प्रमा का लक्षण नहीं; क्योंकि यथाशब्दार्थ का खण्डन पहले कर चुके हैं। और "अज्ञातार्थ" इस में अज्ञान को अर्थ का विशेषण मानोगे तो अज्ञान भी अर्थज्ञान का विषय हो जायेगा, और उपलक्षण मानोगे तो अर्थमात्र ही उपलक्ष्य होगा, तब तो "अज्ञातार्थविषयकत्व" विशेषण व्यर्थ होगा, क्योंकि उससे व्यावर्त्य कुछ भी नहीं है। और ब्रह्म से भिन्न सब ही अज्ञान का कार्य होने से अज्ञान के विषय जड़ पदार्थ नहीं हो सकते (१)। शंका— तब तो

---

(१) प्रमालक्षणगत "अज्ञातार्थ" को लेकर यह विचार हुआ है। उसमें अज्ञातार्थ का अर्थ है— 'अज्ञान का विषय अर्थ है' अर्थात् घटादि जड़ पदार्थ अज्ञान से आवृत्त है। किन्तु वेदान्तसिद्धान्त में जड़पदार्थों के ऊपर अज्ञान का आवरण नहीं माना जाता; क्यों कि जड़पदार्थ स्वतः ही अज्ञान के परिणाम होने के कारण अज्ञानस्वरूप हैं। अपने को अपने से आवृत्त नहीं किया जा सकता। जैसे— भ्रमविषयीभूत अनिर्वचनीय रजत शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठ अज्ञान का परिणाम होने से अज्ञान से आवृत्त नहीं होता, यदि आवृत्त हो जाये तो उसकी प्रतीति ही नहीं होगी। इसी प्रकार शुक्त्यादि व्यावहारिक पदार्थ भी मायारूप अज्ञान के परिणाम होने के कारण अज्ञान से आवृत्त नहीं होते अर्थात् अज्ञान के विषय नहीं होते। अज्ञान का आश्रय और विषय चैतन्य ही होता है। शुक्त्याद्यवच्छिन्न चैतन्य आवृत्त होने से गौणरूप से शुक्त्यादि अज्ञात है— ऐसा व्यवहार मात्र होता है।

स्याज्ञानकार्यत्वेनाज्ञातविषयत्वाऽनुपपत्तेश्च । कथं तर्हि घटोऽज्ञात इति ? घटावच्छिन्नं चैतन्यमज्ञातमिति गृहाण। तस्मात् प्रमात्वस्य निर्वक्तुमशक्यत्वाद्भेदः प्रमाविषयः, ज्ञानविषयत्वादिति दुःस्थमेव ।

ननु– अस्ति तावत् प्रमाव्यवहारः सकललोकसिद्धः; कथं त्वयाऽपि समर्थनीयः ? तदसमर्थने च कथं तान्त्रिकता ? तथा च–

यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः ।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥

इतिन्यायापात इति–चेन्न; वितण्डावादिनं प्रत्येवं पर्यनु-

"घट अज्ञात है" ऐसा व्यवहार कैसे होगा ? उत्तर— उसका अभिप्राय "घटावच्छिन्न चैतन्य अज्ञात है" ऐसा समझो । इसलिये प्रमात्व का निर्वचन(१) करना असम्भव होने से "भेद प्रमा का विषय है, क्योंकि उसमें ज्ञानविषयता है" यह अनुमान असम्भव है।

शंका— सकललोकसिद्ध प्रमाव्यवहार तो है ही। तब तो तुम्हारे द्वारा वह किस प्रकार समर्थनीय होगा ? और उस का समर्थन नहीं करोगे तो तुम्हारी शास्त्रज्ञता कैसी होगी ? इस लिये– "जिस अर्थ के विचार में दोनों पक्षों में दोष और समाधान समान होते हैं, उस अर्थ के विचार में एक पक्ष के ऊपर ही प्रश्न के ऊपर प्रश्न नहीं करना चाहिये" इस न्याय का प्रसङ्ग होगा। उत्तर—

(१) प्रकरणवश यहां प्रमादि के लक्षणों का खण्डन किया गया है; ये सब लक्षण "भेदरत्न" में नहीं दिये हैं; किन्तु श्री गंगेशोपाध्यायकृत चिन्तामणिग्रन्थ के प्रामाण्यवादादि स्थलों से उद्धृत करके उन सब लक्षण और अन्यथाख्यातिवाद आदि के सम्बन्ध में विचार किया गया है।

योगाऽनवकाशात्। "त्वया स्थाप्यं मया दुष्यम्" इत्येवहि समय बद्ध्वा कथारम्भोऽकारि। तथा च विस्मरणशीलो भवान्। तथापि शिष्यभावेन पृच्छतः किमुत्तरमिति–चेत्; शृणु–समस्तलोकशास्त्रैकमत्यमाश्रित्य नृत्यतोः।

का तदा तु गतिस्तत्तद्वस्तुधीव्यवहारयोः ॥
उपपादयितुं तैस्तैर्मतैरशकनीययोः।
अनिर्वचनतावादपादसेवा गतिस्तयोः ॥ (खं०का०१।३२।४०) इति। तथा च प्रमात्वमनिर्वचनीयं लोकसिद्धम्। तदादाय सर्वोऽपि व्यवहारो यावदविद्यं प्रतीयते। तच्च प्रमात्व मायोपाधिकसत्यार्थविषयकज्ञाननिष्ठं सद् व्यावहा-

नहीं; वितण्डावादी के प्रति इस प्रकार का न्याय लाकर पर्यनुयोग नहीं हो सकता; क्योंकि "तुम्हारे द्वारा विषय स्थाप्य है और हमारे द्वारा वह दुष्य है" इस प्रकार नियम बांधकर ही कथा का आरम्भ किया था। तुम तो बहुत विस्मरणशील हो। तो भी शिष्यभाव से पूछने वाले के लिये क्या उत्तर होना चाहिये– यह तुम्हारा अभिप्राय है तो सुनो– तुम्हारे जैसे कोई प्रश्न करते है– "समस्त लोक और शास्त्रों के ऐकमत्य का आश्रय लेकर अर्थात् लोक और शास्त्रों से समर्थित होकर निर्बाध चलने वाले– यह घट है, यह पट है,– इत्यादि तत्तद्वस्तुविषयक ज्ञान तथा उन वस्तुओं का व्यवहार, इन दोनों की यदि प्रमाज्ञान नहीं मानेंगे तो क्या गति होगी ?" इस का उत्तर यह है– "द्वैतवादियों के उन उन मतों द्वारा प्रतिपादन करने में अशक्य तत्तद्वस्तुज्ञान और उन का व्यवहार, उन दोनों की गति तो अनिर्वच-नीयतावाद की चरणसेवा ही है– अर्थात् व्यावहारिक सब पदार्थों को अनिर्वचनीय मानकर चलना ही उन दोनों की गति है, इसके अतिरिक्त गति नहीं है।" इस लिये अनिर्वचनीय प्रमात्व लोकसिद्ध है। इसको लेकर सभी व्यवहार– जब तक अविद्या है, तब तक प्रतीत होते है। और वह प्रमात्व मायोपाधिकसत्यपदार्थविषयक-ज्ञाननिष्ठ होता हुआ "व्यावहारिक" ऐसा कहा जाता है (मायिक

रिकमिति कथ्यते । तदेतत्प्रत्यक्षादीनां व्यावहारिकं प्रामाण्यमिति गीयते । तादृशप्रमाकरणत्वं च तत् । तत्त्वमस्यादिवाक्यात् शोधिततत्त्वंपदार्थस्य त्वंकारोपहितस्य प्रमातुः समुत्पन्नं विज्ञानं साक्षात्काराऽपरनामकमन्तःकरणवृत्तिभेदरूपं निरुपाध्यखण्डाऽनन्ताऽऽनन्दज्ञानात्मविषयकं जीवपरयोरैक्याऽवगाहि पारमार्थिकप्रमारूपम्; निरुपाधिकसत्त्वार्थविषयकत्वात् । तदेतत्तात्त्विकं प्रामाण्यम् । नित्याऽविनाशिनिरुपाधिकविषयत्वं हि तत् । वेदान्तानां च तात्त्विकं प्रामाण्यं तादृशप्रमाकरणत्वमेव । अप्रमात्वमप्यविद्योपाधिकसत्त्वार्थविषयकत्वं बाधकज्ञानोत्तरगम्यम् । "मिथ्याभूतोऽर्थो मया ज्ञातः" इति हि लोकाः प्रतियन्ति ।

सब पदार्थों में "इदं सत्- इदं सत्" इस प्रकार अनुगतब्रह्मरूपसत्पदार्थविषयकज्ञाननिष्ठ होने से प्रमात्व को व्यावहारिक कहा जाता है)। यही प्रत्यक्षादि प्रमाणों का व्यावहारिक प्रामाण्य है- ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार की व्यावहारिक प्रमा के करण प्रत्यक्षादि प्रमाण होते हैं । त्वकार से उपहित प्रामाता का शोधित-तत्त्वंपदार्थविषयक विज्ञान "तत्त्वमसि" आदि वाक्यों से समुत्पन्न होता है; उस का दूसरा नाम साक्षात्कार है, वह अन्तःकरणवृत्ति-विशेषरूप है और निरुपाधिकाखण्डानन्तानन्दज्ञानरूप आत्मा को विषय करने वाला तथा जीव और ब्रह्म के ऐक्य को ग्रहण करने वाला पारमार्थिक प्रमारूप ज्ञान है; क्योंकि वह निरुपाधिकसत्पदार्थ-विषयक है । इस ज्ञान में तात्त्विक प्रामाण्य है; क्योंकि नित्याविनाशि-निरुपाधिकविषयकत्व ही तात्त्विक प्रामाण्य है । और वेदान्तों का तात्त्विक प्रामाण्य इस प्रकार की प्रमा का करणत्व (साधनत्व) ही है । और अप्रमात्व भी अविद्योपाधिकसदर्थविषयकत्व है, वह बाधक-ज्ञान के उत्तरकाल में जाना जाता है, क्योंकि "मैंने मिथ्याभूत अर्थ को जाना" इस प्रकार लोग बाध के बाद जानते हैं ।

ननु– निष्कम्पप्रवृत्त्यौपयिकं किमपि प्रामाण्यं त्वयापि निर्वक्तव्यम्; कथमन्यथा स्वतः प्रामाण्यमिति तव सिद्धान्तः संगच्छेत ? न च– मायोपाधिकसत्त्वार्थविषयकत्वं तत्, तस्य स्वतो गृहीतुमशक्यत्वात्; विशेषणाऽभाने विशिष्टप्रत्ययाऽयोगात्; पारिभाषिकत्वापातात्, ब्रह्मसाक्षात्कारे तदभावाच्च । अन्यच्च तव मते दुर्वचमिति– चेन्न; अनिर्वचनीयमेव प्रमात्वं प्रमानिष्ठमित्युक्तत्वात् । किञ्च– अज्ञातार्थनिश्चयात्मकत्वमेव प्रामाण्यमस्मत्पक्षे, तच्च सर्वत्राऽनुगतम्; ब्रह्मज्ञानस्याऽपि तथारूपत्वात् । न च– भ्रमेऽतिव्याप्तिः, तद्विषयस्य भ्रममात्रकालीनत्वेनाऽज्ञातत्वाऽभावात् । यद्यपि

शंका– निस्सन्देह प्रवृत्ति का उपयोगी कोई न कोई प्रामाण्य आपको भी कहना चाहिये; अन्यथा तुम्हारे माने हुए स्वतः प्रामाण्य का सिद्धान्त कैसे सिद्ध होगा ? वह मायोपाधिकसदर्थविषयकत्व तो नहीं हो सकता; क्योंकि वह स्वतः ग्रहण करने में असमर्थ है, मायारूप विशेषण का भान न होने पर विशिष्ट (मायोपाधिकसदर्थ) का ज्ञान होना अयुक्त है, अतः वह पारिभाषिकमात्र होने का प्रसङ्ग आवेगा और ब्रह्मसाक्षात्काररूपज्ञान में मायोपाधिकसदर्थविषयकत्व भी नहीं है। और तुम्हारे मत में इससे अतिरिक्त अन्य तो कुछ कहा भी नहीं जा सकता। समाधान– ऐसा नहीं है, अनिर्वचनीय प्रमात्व ही प्रमानिष्ठ होता है इस प्रकार हम पहले कह चुके हैं। किञ्च– हमारे मत में अज्ञातार्थनिश्चयरूपत्व ही प्रामाण्य है। और वह सब प्रमाज्ञान में अनुगत है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान भी अज्ञातार्थनिश्चयरूप ही है। उसकी भ्रम में अतिव्याप्ति भी नहीं; कारण कि भ्रम का विषय भ्रममात्रकालीन होने से अज्ञातार्थ नहीं है (जिस पदार्थ का स्वविषयकज्ञानकाल से पूर्व अस्तित्व रहता है, वह अज्ञात कहा जाता है, किन्तु भ्रम का विषय स्वविषयकज्ञानकाल से पूर्व नहीं रहता, केवल प्रतीतिकालमात्रस्थायी है; अतः अज्ञातार्थ नहीं)। यद्यपि

घटादावप्यज्ञातत्वं नाऽस्ति, चैतन्यमात्राश्रयविषयकस्यैव तस्य स्वीकारात्; तथा चोक्तम्–

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला ।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नाऽपि गोचरः ॥

(सं० शा० १।३१९) इति; तथापि घटाद्यवच्छिन्नस्य ब्रह्मचैतन्यस्याऽज्ञातत्वाद् घटादेरज्ञातत्वम् । अज्ञातत्वस्य च साक्षिमात्रसिद्धत्वेनाऽज्ञातत्वाऽनधिकरणत्वेऽप्यदोषः । यद्वा– "यावन्ति ज्ञानानि, तावन्त्यज्ञानानि" इतीष्टसिद्धिकारवचनात् घटादेरपि पृथग्ज्ञानेन निवर्त्यमज्ञातत्वं स्वीक्रियते । स्मृतिव्यावृत्त्यर्थं निश्चयात्मकमिति । न च– धारावाहिक-

घटादि में भी अज्ञातत्व (अज्ञानविषयत्व) नहीं रहता; क्योंकि अज्ञान का आश्रय और विषय चैतन्यमात्र माना जाता है। इस विषय में कहा भी है—"केवल निरुपाधिक चैतन्य ही अज्ञान के आश्रयत्व और विषयत्व का भागी है, क्योंकि घटपटादि सारे प्रपञ्च की उत्पत्ति के पहले ही अनादिरूप से सिद्ध अज्ञान का बाद में होने वाले घटादि न आश्रय हो सकते हैं, न विषय बन सकते हैं।" इति; तथापि घटाद्यवच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य अज्ञात होने से उस के अवच्छेदक घटादि का भी गौणरूप से अज्ञातत्व है। और अज्ञातत्व साक्षिमात्र (अन्तःकरणोपहितचैतन्यमात्र) से सिद्ध होता है (अन्तःकरणविशिष्टचैतन्यरूप प्रमाता से नहीं); इस कारण प्रमाता से ग्राह्य घटादि में अज्ञातत्व का अनधिकरणत्व होने पर भी कोई दोष नहीं। अथवा – "जितने ज्ञान है, उतने अज्ञान हैं" इस इष्टसिद्धिकार के वचनानुसार घटादि का भी भिन्न-भिन्न ज्ञान से निवर्त्य अज्ञातत्व (गौणरूप से) है– ऐसा स्वीकार किया जाता है (अतःघटादि में अज्ञातत्व का व्यवहार करने में दोष नहीं) । और प्रामाण्य के लक्षण में "निश्चयात्मक" पद स्मृतिव्यावृत्ति के लिये है (क्योंकि निश्चयपद के स्थान में ज्ञानपद दिया जाये तो स्मृति में अतिव्याप्ति होती

बुद्ध्यव्याप्तिः, ज्ञातार्थविषयकत्वादिति– वाच्यम्; अनुवादकत्वलक्षणस्याऽप्रामाण्यस्येष्टत्वात्, स्वार्थनिश्चयत्वेन तत्र प्रामाण्योपचारः, स्मृतिवत्। किञ्च– प्रत्यक्षस्य वर्तमानार्थग्राहित्वेन स्वाश्रयक्षणविशिष्टस्तम्भादिग्राहकत्वात् अगृहीतग्राहित्वमस्त्येव। अन्यथाऽपेक्षणीयान्तराऽभावेनैकस्मिन् समयेऽनेकज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गः। न च–क्षणानामतीन्द्रियत्वम्। स्थूलोपाधिरपि तव मतेऽतीन्द्रिय एव। तथा च सोऽपि कथं भासत इति पश्य। यदि ज्ञानान्तरोपनीतः स्थूलोपाधिर्भा-

है)। शंका– इस लक्षण की धारावाहिक बुद्धि में अव्याप्ति होती है, कारणकि– उसका ज्ञातार्थविषयकत्व होता है, अज्ञातार्थविषयकत्व नहीं। उत्तर– ऐसा न कहो; क्योंकि धारावाहिकबुद्धि में अनुवादकत्वरूप अप्रामाण्य हमें इष्ट है, और स्वविषय में निश्चयत्व होने से उसमें स्मृति के समान प्रामाण्य का उपचार (गौणत्व) है। किञ्च– (धारावाहिकबुद्धि में प्रामाण्य मानने पर भी अव्याप्ति नहीं होगी; क्योंकि)– प्रत्यक्षज्ञान वर्तमानार्थ का ग्राही होने से अपने (प्रत्यक्षज्ञान के) आश्रयभूत क्षण से विशिष्ट स्तम्भादि का ग्राहक है; इसलिये द्वितीय-तृतीयादि तत्तत्क्षण से विशिष्ट विषय अज्ञात होने से तद्विषयक धारावाहिकबुद्धि में अज्ञातग्राहित्व है ही। यदि तत्तत्क्षण को विशेषणरूप से न मान कर धारावाहिक बुद्धि में ज्ञातग्राहित्व मानोगे तो अपेक्षणीय कारणान्तर का अभाव होने से एक ही समय में "सोऽयं घटः" तथा "अयं घटः" इस प्रकार अनेकज्ञानोत्पत्ति का प्रसङ्ग आयेगा। शंका– क्षण तो अतीन्द्रिय है, अतः विशेषणरूप से उसका भान कैसे हो सकता है? उत्तर– ऐसा नहीं कहना चाहिये; क्योंकि स्थूलोपाधिभूतकाल भी तुम्हारे मत में अतीन्द्रिय है, तब वह भी किस प्रकार प्रतीत होगा– यह भी देखो ("एतावत्कालपर्यन्तमहं सुख्यस्मि" इत्यादि स्थलों में सुख के स्थूलोपाधिभूतकाल का भान नैयायिक भी मानते हैं)। यदि ज्ञानान्तर से उपनीत (ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति से उपनीत) स्थूलोपाधिभूत काल

सत इति स्वीकुरुषे, तदा क्षणोऽपि तथैव भासत इति त्यज वृथाऽऽग्रहम्। न च–वेदात् क्रमोत्पन्नवेदार्थगोचरधारावाहिक-बुद्धयव्याप्तिः, तत्र क्षणस्याऽपि भानाऽभावादिति– साम्प्रतम्; शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराऽभावेन वेदात्क्रमिकधारावाहिकबुद्धयसिद्धेः; सिद्धौ वा द्वितीयादिविज्ञानस्याऽनुवादकत्वलक्षणमप्रामाण्यमेव। न च-- अनादौ संसारे वेदार्थस्य पूर्वं ज्ञातत्वादस्मिन् जन्मन्यनुवादकत्वापत्तिरिति– वाच्यम्; तस्मिन् जन्मन्यज्ञातत्वस्य विद्यमानत्वात्; ब्रह्मप्रतिपादकवाक्ये सर्वथा तदसम्भवाच्च। न च– तस्मिन्

का भान है– ऐसा तुम मानते हो, तो क्षण का भी उसी प्रकार भान होगा। इसलिये इस वृथा आग्रह का त्याग करो। शंका – तब भी वेद से क्रमपूर्वक उत्पन्न वेदार्थ को विषय करने वाले धारावाहिक ज्ञान में अव्याप्ति होगी; क्योंकि उस में क्षण का भी भान नहीं होता। उत्तर– यह कहना ठीक नहीं; कारणकि– शब्द, बुद्धि और कर्म में रुक कर व्यापार न होने से वेद से क्रमिक धारावाहिक बुद्धि नहीं हो सकती, यदि हो सकती है तो द्वितीयादि ज्ञान का अनुवादकत्वरूप अप्रामाण्य ही है। शंका– इस अनादि संसार में किसी को पूर्वजन्म में वेदार्थ ज्ञात होने से इस जन्म में उसके लिये वेद में अनुवादकत्व की आपत्ति आयेगी। उत्तर— ऐसा नहीं; क्योंकि उस जन्म में भी वेद में अज्ञातत्व विद्यमान है, और खास तौर पर ब्रह्म-प्रतिपादक वाक्य में तो सर्वथा ज्ञातत्व सम्भव नहीं (कारण कि पूर्व जन्म में ब्रह्मज्ञान हो गया हो तो यह जन्म नहीं होता, किन्तु जन्म हुआ है, अतः पूर्व जन्म में ब्रह्मबोधकवेदवाक्य अज्ञात ही था। और अन्यवेदभाग पूर्वजन्म में ज्ञात मान भी लिया जाये, तो भी जिस प्रकार पूर्व जन्मकृत कर्मों की इसी जन्म में स्मृति न होने के कारण वे सब कर्म अज्ञात ही रहते हैं, उसी प्रकार इस जन्म में वेदार्थ की स्मृति न होने से वेद अज्ञात ही रहता है)। शंका— उस जन्म में

जन्मनि पूर्वाऽवस्थायां ज्ञातस्योत्तरावस्थायां ज्ञाने तदापत्तिः; इष्टत्वात्, तदानीं तत्राऽज्ञातत्वस्य विद्यमानत्वाच्च। न च– श्रुत्या ज्ञाते आत्मनि मननादीनामनुवादकत्वापत्तिरिति– वाच्यम्; तत्र अज्ञातत्वस्य विद्यमानत्वादेव। नहि श्रवण-मात्रेणाऽज्ञानं गच्छति; तथा सत्यन्येषां वैयर्थ्यापत्तेः। साक्षात्कारे जाते पुनः प्रमाणप्रवृत्त्यभाव इष्ट एव; "भूयश्चाऽन्ते विश्वमायानिवृत्तिः" (श्वेत० १।१०) इति श्रुतेः अज्ञानभेदनिवृत्तिफलकत्वेन सार्थकत्वाच्च।

तच्चेदं प्रमात्वं स्वत एव गृह्यते। स्वतस्त्वं च ज्ञान-विषयकत्वग्रहविषयकत्वनियमः। न च– अप्रमाविषयकज्ञान-स्य प्रमात्वाऽग्राहकत्वान्न नियम इति– वाच्यम्; अप्रमाया

पूर्वावस्था में वेद से ज्ञात आत्मा का उत्तरावस्था में ज्ञान होने पर अनुवादकत्व हो जायेगा। उत्तर— ठीक है, उस स्थिति में इष्टापत्ति है, और वस्तुतः उस समय (पूर्वावस्था में) भी ब्रह्म में अज्ञातत्व विद्यमान है। शंका— श्रुति (श्रवण) से ज्ञात आत्मा में मननादि के अनुवादकत्व की आपत्ति होगी। उत्तर— ऐसा न कहो; क्योंकि श्रवण के विषयीभूत आत्मा में अज्ञातत्व विद्यमान है। श्रवणमात्र से अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती, ऐसा होने पर तो मननादि अन्य साधन सब व्यर्थ हो जायेंगे। साक्षात्कार होने के बाद पुनः वेदान्तादि प्रमाणों की प्रवृत्ति का अभाव इष्ट ही है; क्योंकि— "उस परब्रह्म के ध्यान से, मनन से और ब्रह्मभाव को प्राप्त होने से अन्त में विश्वमाया की निवृत्ति होती है" यह श्रुति है; और श्रवणादि में अज्ञानविशेष का निवृत्तिरूप फल होने से सार्थकता भी है।

यह प्रमात्व स्वतः ही गृहीत होता है, और स्वतस्त्व तो ज्ञान-ग्राहक ज्ञान का विषयत्वरूप नियम है (अर्थात्– ज्ञानग्राहकसामग्री-मात्रग्राह्यत्व स्वतस्त्व है, और यहां ज्ञानग्राहक सामग्री साक्षिरूप-ज्ञान है)। शंका— अप्रमाविषयक ज्ञान में (अप्रमाग्राहक साक्षिरूप-

अज्ञानविरोधित्वरूपज्ञानत्वाऽभावेन तज्ज्ञानस्य ज्ञानाऽग्राहकत्वात्, अज्ञानवृत्तिर्हि सा, नाऽज्ञानविरोधिनी; प्रमा चाऽन्तःकरणवृत्तिस्तथा। न च– एवंसति ततो व्यवहारो न स्यादिति– वाच्यम्; इदमाकाराऽन्तःकरणवृत्त्यविविक्ताऽविद्यावृत्त्यभिव्यक्तसाक्षिचैतन्यात्तदुपपत्तेः। न च– "भ्रमज्ञानं मे वृत्तम्" इति भ्रमेऽपि ज्ञानत्वमनुव्यवसीयत एवेति तद्विरोध इति– वाच्यम्; इदमाकाराऽन्तःकरणवृत्तिनिष्ठमेव ज्ञानत्वं तदविविक्ताऽविद्यावृत्तिरूपे भ्रमे प्रतीयते, न तु तन्निष्ठं तत्; तस्य ज्ञानाऽऽभासत्वात्। नहि हेत्वाभासो हेतुर्भवति, तद्वन्न ज्ञानाऽऽभासस्य ज्ञानत्वम्। यदा पुनः "इदं रजतम्"

ज्ञान में) प्रमात्व के अग्राहकत्व होने से यह नियम नहीं हो सकता। उत्तर–ऐसा न कहो; क्योंकि "अज्ञानविरोधित्वं ज्ञानत्वम्" अर्थात् "अज्ञानविरोधी ज्ञान है" यह ज्ञान का लक्षण है; और अप्रमा में तो अज्ञानविरोधित्वरूप इस ज्ञानत्व का अभाव होने से अप्रमाविषयक ज्ञान (साक्षी) का ज्ञानग्राहकत्व नहीं है। यह अप्रमा तो अज्ञानवृत्ति है, अतः अज्ञानविरोधिनी नहीं है; और प्रमा तो अन्तःकरण की वृत्ति है, इसलिये वह अज्ञान की विरोधिनी है। शंका– ऐसा होने पर तो अप्रमाविषयकज्ञान से अप्रमा का व्यवहार नहीं होना चाहिये। उत्तर–इस प्रकार कहना उचित नहीं; क्योंकि– इदमाकार अन्तःकरणवृत्ति से अभिन्न हुई अविद्यावृत्ति से अभिव्यक्त साक्षिचैतन्य से उसका व्यवहार हो सकता है। शंका– "मुझे भ्रमज्ञान हुआ" अर्थात् "मैं भ्रमज्ञानवान् हूँ" इस भ्रम में ज्ञानत्व का अनुव्यवसाय होने से अप्रमा में ज्ञानत्व का वृत्तित्वाभाव कहना विरुद्ध है। उत्तर– ऐसा भी न कहो; क्योंकि इदमाकार अन्तःकरणवृत्ति में निष्ठ ज्ञानत्व ही उस वृत्ति से अविविक्त अविद्यावृत्तिरूप भ्रम में प्रतीत होता है; अतः ज्ञानत्व भ्रमनिष्ठ नहीं है; कारण कि– भ्रम ज्ञानाभास है। हेत्वाभास हेतु नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानाभास भी ज्ञान नहीं होता; इसलिये

इत्येकैवाऽविद्यावृत्तिरिदमंशमपि कल्पितं रजतगतमेव गृह्णाति, न शुक्तिगतम्, तस्य व्यावहारिकत्वेन दोषाऽजन्यज्ञानग्राह्यत्वात्; तदा तत्र स्वप्नवदेव स्मृतिहेतुत्वादिसाधर्म्येण कल्पित एव ज्ञानत्वप्रमात्वादिव्यवहारः।

ननु- एवमविद्यावृत्त्यवच्छिन्नस्येश्वरज्ञानस्याऽपि न ज्ञानत्वम् स्यात्। तथा च तस्य सर्वज्ञत्वव्याहतिः। न च- ईश्वरज्ञानं नाविद्यावृत्त्यवच्छिन्नमिति- वाच्यम्; तथासति स्वरूपचैतन्यस्याऽसङ्गस्य निर्विषयस्य विषयभानत्वाऽनुपपत्तेः;

"चितिगतजडशक्तेराद्य इष्टो विवर्तः
चितिनिकटनिवेशाल्लब्धदीप्तिर्जडोऽपि।

उसमें ज्ञानत्व नहीं है। यदि पुनः कहो कि "यह रजत है" इस भ्रम में इदमाकार अन्तःकरणवृत्ति को न मान कर एक ही अविद्यावृत्ति रजतगत कल्पित इदमंश का भी ग्रहण करती है; शुक्तिगत इदमंश का नहीं; क्योंकि शुक्तिगत इदमंश व्यावहारिक होने से दोष से अजन्य ज्ञान से ही ग्राह्य है-तो जिस प्रकार स्वाप्निक ज्ञान में स्मृतिहेतुत्वादि साधर्म्य होने से ज्ञानत्व प्रमात्वादि का कल्पित व्यवहार होता है, उसी प्रकार भ्रम में भी स्मृतिहेतुत्वसाधर्म्य से कल्पित ही ज्ञानत्व प्रमात्वादि का व्यवहार होता है। शंका— इसी प्रकार अविद्यावृत्ति से अवच्छिन्न ईश्वरज्ञान का भी ज्ञानत्व नहीं होगा, तब तो ईश्वर के सर्वज्ञत्व का व्याघात होगा। और ईश्वर का ज्ञान अविद्यावृत्ति से अवच्छिन्न नहीं- ऐसा भी तुम नहीं कह सकते; कारण कि—ऐसा होने पर असङ्ग और निर्विषयस्वरूप चैतन्य का विषयभान होना असम्भव है। इसके अतिरिक्त— "चैतन्य में आश्रित मायारूप जड-शक्ति का वृत्तिरूप आद्य परिणाम होता है, जो जड होता हुआ भी चित् के साथ तादात्म्याध्यास होने के कारण चेतन जैसा होता है;

श्रुतिशिरसि निषण्णैरीक्षणं कथ्यते तद्
न तु परमपदस्याऽपीक्षणं बुद्धिवृत्तिः ॥
(सं० शा० ३।२५२)

इत्यादिना जन्येक्षणस्यैव जगत्सर्जनहेतुत्वाऽभिधानाच्चेति-चेन्न; सत्त्वप्रधानमायावृत्त्यवच्छिन्नत्वादीश्वरज्ञानस्य ज्ञानत्वोपपत्तेः। रजतादिवृत्तिस्तु तमःप्रधानाऽविद्याया दोषजन्येत्यस्ति विशेषः। यद्वा– सत्त्वप्रधानमायाप्रतिबिम्बः, बिम्बो वेश्वरः। स च स्वरूपज्ञानेनैव नित्येन सर्वं जगत्पश्यति। न चाऽसंगत्वक्षतिः, अविद्यादशायां तथोच्यमानत्वात्, सर्वोपाधिविनिर्मुक्तचैतन्यस्यैवाऽसंगत्वेनाऽवस्थानाच्च। वस्तुतस्तु– ईश्वरज्ञानं न प्रमा, अज्ञानविरोधित्वाऽभावात्, नाऽपि भ्रमः; मिथ्यावस्तुनो मिथ्यात्वेनैव ग्रहणात्; तार्किकैरपि तस्य भ्रम-

उस को वेदान्त में निस्नात आचार्यलोग परमात्मा का ईक्षण कहते हैं; और वह परमात्मा का ईक्षण तो बुद्धिवृत्ति नहीं होता।" इत्यादि से जन्य ईक्षण ही जगत्सृष्टि का हेतु कहा गया है। समाधान– नहीं; सत्त्वप्रधानमाया की वृत्ति से अवच्छिन्न होने के कारण ईश्वर के ज्ञान में ज्ञानत्व हो सकता है। और रजताद्याकारवृत्ति तो तमोगुणप्रधान अविद्या की है, तथा दोष से जन्य है; इसलिये दोनों में अन्तर है। अथवा–सत्त्वप्रधान माया में प्रतिबिम्ब या बिम्ब ईश्वर है। और वह अपने नित्य स्वरूपज्ञान से ही सब जगत् को देखता है; इसमें असङ्गत्व की क्षति भी नहीं होगी; कारण कि अविद्यादशा में ही वह जगत् का द्रष्टा कहा जाता है; और सर्वोपाधि से रहित चैतन्य का ही असङ्गत्वरूप से अवस्थान होता है। वस्तुतस्तु– अज्ञानविरोधित्व का अभाव होने से ईश्वरज्ञान प्रमा नहीं, तथा भ्रम भी नहीं, क्योंकि मिथ्यावस्तु का मिथ्यारूप से ही ग्रहण होता है। और तार्किक लोग भी ईश्वरज्ञान का भ्रम और प्रमा से बहिर्भाव

प्रमात्वहिर्भावाऽभ्युपगमात्, ज्ञानत्वं तु तस्याऽज्ञानाऽनिवर्तकत्वेऽपि स्मृत्यादिवदिच्छादिजनकत्वाद् गौणमेवेति। न च– तथाऽप्यज्ञातत्वस्य पूर्वं भानाऽभावे कथं तदुपहितं प्रामाण्यं तद्ग्रहम्? विशेषणज्ञानं विना तद्भानाऽसंभवादिति– वाच्यम्; विशिष्टभानस्य विशेषणभानजन्यत्वाऽनङ्गीकारात्। न च– अन्यत्र तथाऽङ्गीकारेऽपि अज्ञातत्वस्य सप्रतियोगित्वात् प्रतियोगिज्ञानाऽपेक्षाऽस्तीति– वाच्यम्; अज्ञातत्वस्य भावरूपत्वाऽङ्गीकारात्। न च– उत्पन्ने ज्ञानेऽज्ञातत्वं नष्टमिति कथं ज्ञानग्राहकेण ग्राह्यमिति– वाच्यम्; अज्ञातत्व-

मानते ही हैं। इसलिये ईश्वरज्ञान का ज्ञानत्व तो अज्ञाननिवर्तकत्व न होने पर भी स्मृत्यादि के समान इच्छादिजनकत्व होने के कारण गौण ही है। शंका— तो भी अज्ञातत्व का पूर्व में भान न होने पर अज्ञातत्व से उपहित प्रामाण्य (प्रमात्व) का ग्रहण कैसे हो सकेगा? क्योंकि विशेषणीभूत अज्ञातत्व के ज्ञान के बिना प्रामाण्य का भान असम्भव है। उत्तर— ऐसा कथन उचित नहीं; क्योंकि – विशिष्टभान को विशेषणभानजन्य हम नहीं मानते (भाव यह है कि विशिष्टज्ञान के प्रति विशेषणज्ञान की जनकता में कोई प्रमाण नहीं, कारण कि घटाभावाद्यभावविषयक विशिष्टबुद्धि में नैयायिकलोग भी प्रतियोगित्व और अभावत्व का विशेषणरूप से भान तो मानते हैं, किन्तु विशिष्टबुद्धि की उत्पत्ति से पहले इन दोनों का ज्ञान नहीं मानते)। शंका— अन्यत्र वैसा अङ्गीकार होने पर भी यहाँ तो ऐसा नहीं मान सकते; क्योंकि अज्ञातत्व सप्रतियोगिक होने से प्रतियोगिज्ञान की अपेक्षा होनी चाहिये। उत्तर— ऐसा कथन ठीक नहीं; कारण कि अज्ञातत्व को हम भावरूप मानते हैं (क्योंकि अज्ञान ज्ञानाभावरूप नहीं, किन्तु अनिर्वचनीय भावरूप है)। शंका— ज्ञान उत्पन्न होने पर अज्ञातत्व नष्ट होने कारण किस प्रकार ज्ञानग्राहक से वह ग्राह्य होगा? उत्तर— ऐसा कहना भी उचित नहीं; क्योंकि

विशिष्टस्याऽर्थस्य पूर्वं साक्षिणा गृहीतस्यैवाऽज्ञातत्वेनाऽपि ग्रहणात् साक्षिज्ञानमेव, तच्च विषयेण सह प्रत्यासत्त्यन्तरमन्तरेणैव ज्ञानाऽज्ञानयोर्ग्राहकम्। तथा चोपपादितमाचार्यैः पञ्चपादिकाविवरणे– "ज्ञातत्वेनाऽज्ञातत्वेन च सर्वं साक्षिचैतन्यवेद्यम्" (१) इति। तथा च प्रामाण्यमपि साक्षिवेद्यमेव; तस्यैव ज्ञानग्राहकत्वात्।

ननु– तथापि "घटज्ञानं ममाऽस्ति" इति शब्दात्परस्य तावद्घटज्ञानविषयकं ज्ञानमुत्पद्यते। न च तस्मिन् ज्ञाने उक्तरूपं प्रामाण्यं भासते, अज्ञातत्वस्य पदादनुपस्थितौ शाब्दबोधे भानायोगात्, तथा च कथं नियमः? इति चेन्न; वस्तुतो यदज्ञातम्, तन्निश्चयात्मकत्वं प्रामाण्यमित्यर्थात्।

अज्ञातत्वविशिष्ट अर्थ, जो पूर्व में साक्षी के द्वारा गृहीत है, उस का अज्ञातत्वरूप से भी ग्रहण होने के कारण वह ज्ञानग्राहक साक्षिरूप ज्ञान ही है। और वह साक्षिरूप ज्ञान तो विषय के साथ अन्यसन्निकर्ष के बिना ही ज्ञान और अज्ञान का ग्राहक है। वैसा ही आचार्य ने पञ्चपादिकाविवरण में प्रतिपादन किया है– "ज्ञात और अज्ञातरूप से सभी पदार्थ साक्षिचैतन्य से ज्ञेय हैं।" तब तो प्रामाण्य भी साक्षिवेद्य ही है, क्योंकि साक्षी ही ज्ञान का ग्राहक है।

शंका— तो भी "मुझे घटज्ञान है" इस शब्द से दूसरे (श्रोता) का घटज्ञानविषयक ज्ञान (अयं घटज्ञानवान्— इत्यात्मक ज्ञान) उत्पन्न होता है; उस ज्ञान में उक्तरूप (अज्ञातार्थविषयकज्ञानविषयत्वरूप) प्रामाण्य अवभासित नहीं होता, क्योंकि अज्ञातत्व की वाक्यगतपद से उपस्थिति न होने पर शाब्दबोध में उसका भान नहीं हो सकता; तब तो नियम कैसे होगा? उत्तर— ऐसा नहीं है; क्योंकि वस्तुतः जो अज्ञात है, उसका निश्चयात्मकत्व प्रामाण्य है—

(१) विवरण में इसका पाठ इस प्रकार है— "सर्वं वस्तु ज्ञाततया वाऽज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एव।"

तच्च तस्मिन् ज्ञाने भासत एव। अथवा– ज्ञानत्वमज्ञान-विरोधित्वघटितमिति ज्ञानत्वभाने भानमेवाऽज्ञानमिति न प्रामाण्यभानाऽनुपपत्तिः।

ननु– एवमपि न स्वतः प्रामाण्यग्रहः, तथा सति अन-भ्यासदशोत्पन्नज्ञानप्रामाण्यसंशयो न स्यात्; अस्ति च सः– जलज्ञानाऽनन्तरं हि "इदं जलं न वा" इति। नासौ ज्ञान-प्रामाण्यसंशयं विनोपपद्यते; निश्चिते संशयाऽनवकाशात्। न च– अर्थसंशय एवाऽन्यथाऽनुपपद्यमानो ज्ञानप्रामाण्यसंशयं कल्पयति। निश्चिते ज्ञानविषयत्वादेवाऽर्थे सन्देहः, न तु ज्ञानप्रामाण्यसन्देहात्; दृश्यते हि ज्ञानविषयः क्वचिदस्ति,

यह अर्थतः प्राप्त है। वह तो उस ज्ञान में अवभासित होता ही है। अथवा– ज्ञानत्व अज्ञानविरोधित्व से घटित है, इस कारण ज्ञानत्व के भान में अज्ञान का भान होता ही है। अतः प्रामाण्यभान की अनुपपत्ति नहीं।

शंका— ऐसा होने पर भी प्रमा के स्वतः प्रामाण्य का ग्रह नहीं हो सकता; यदि स्वतः प्रामाण्य का ग्रह हो जाये तो अनभ्यास-दशा में (अभ्यास न करने से दृढ़ता अभाव की स्थिति में) उत्पन्न ज्ञान के प्रामाण्य में संशय नहीं होना चाहिये; किन्तु संशय होता ही है, क्योंकि जलज्ञान होने के बाद "यह जल है, या नहीं" इस प्रकार अर्थविषयक संशय होता है। यह अर्थसंशय ज्ञानप्रामाण्य में संशय हुए विना नहीं हो सकता, कारण कि— निश्चित हो जाने पर संशय को अवकाश नहीं मिलता। इसमें यदि शंका हो कि— अर्थसंशय ही उपपादक के विना अन्यथा अनुपपद्यमान होकर ज्ञानप्रामाण्य-संशय की कल्पना करा देता है। ज्ञानविषयत्व रहने से निश्चित अर्थ में भी सन्देह होता है, न कि ज्ञानप्रामाण्य में सन्देह से अर्थसन्देह; क्योंकि यह देखने में आता है कि कहीं तो (अयं घटः– इत्यादि स्थल में) ज्ञान का विषय रहता है; और कहीं तो (इदं रजतम्–इत्यादि

क्वचिन्नास्तीति– वाच्यम्; विशेषदर्शने सति प्रामाण्यसंशयं विनाऽर्थसंशयाऽनुपपत्तेः। अन्यथा संशयोच्छेदः क्वापि न स्यात्, जलज्ञानं प्रमा नवेति संशयाऽनुभवसिद्धत्वाच्च। न च– यथा "श्वेतः शंखः" इत्यानुमानिके ज्ञाने स्थितेऽपि पीतारोपो भवति, तथाऽत्राऽपि विपरीतं ज्ञानं स्यादिति– वाच्यम्; तत्र हि परोक्षं विशेषदर्शनम्; भ्रमस्त्वपरोक्ष इति न विरोधः, अत्र तु तदुभयमपरोक्षमिति स्यादेव विरोधः। न च–तत्राऽपि शंखत्वरूपविशेषदर्शनमपरोक्षमिति–वाच्यम्; आरोप्यकोटिविरुद्धकोटेर्विशेषस्य यद्दर्शनमपरोक्षम्, तदेव प्रतिबन्धकं यतः। तच्च पीताऽभावज्ञानमेव, तच्च तत्र

स्थल में) ज्ञान का विषय नहीं रहता है– तो यह शंका ठीक नहीं; क्योंकि अर्थनिष्ठ विशेष (जलत्वादि) का दर्शन होने पर प्रामाण्य में संशय के बिना अर्थसंशय नहीं हो सकता; यदि ज्ञानविषयत्व होने मात्र से संशय मान लिया जाये तो कहीं भी संशय का उच्छेद नहीं होगा; और "जलज्ञान प्रमा है, या नहीं" इस प्रकार प्रामाण्य में संशय अनुभव से सिद्ध भी होता है। पुनः इसमें शंका हो कि जिस प्रकार "शङ्ख श्वेत होता है" यह आनुमानिक ज्ञान रहने पर भी "पीत शङ्ख" ऐसा पीत का आरोप होता है, उसी प्रकार यहां भी (जलज्ञान में भी) विपरीत ज्ञान हो– ऐसी शंका भी ठीक नहीं; क्योंकि "श्वेत शङ्ख" इसमें आनुमानिक होने से विशेषदर्शन परोक्ष है; और "पीत शङ्ख" इस भ्रम में तो पीत अपरोक्ष है; अतः दोनों में विरोध नहीं है, किन्तु यहां तो विशेषदर्शन और संशय दोनों ही अपरोक्ष हैं; अतः दोनों में विरोध होना ही चाहिये। फिर भी इस में –"शङ्ख श्वेत है" इस आनुमानिक ज्ञान में भी शङ्खत्वरूपविशेष-दर्शन अपरोक्ष है– ऐसा कहना उचित नहीं; क्योंकि आरोप्यकोटि पीत के विरुद्धकोटि श्वेतरूप विशेष का जो अपरोक्ष दर्शन है, वही पीतभ्रम का प्रतिबन्धक है, और वही पीताभावज्ञान है, और वह

नास्ति, दोषात्; अत्राऽस्ति।

अत्रोच्यते– दोषप्राबल्यान्निश्चितेऽप्यर्थे निश्चितेऽपि प्रामाण्ये संशयः। द्विविधो हि निश्चयः, दोषसहितो दोषाऽभावसहितश्च। तत्र प्रथमो न विपरीतज्ञानविरोधी। द्वितीयस्तु विरोधी। प्रकृते च अनभ्यास एव दोषः। स च भूयो भूयः प्रवृत्त्यभावः। क्वचित् कश्चिद् दोष इत्यभ्युपगमात्। न च– तस्मिन् सति कथं प्रामाण्यभानमिति– वाच्यम्; फलबलेन तत्र तस्याऽदोषत्वात्। विपरीतज्ञानोत्पत्तावेव स दोषः। अत एव शास्त्रयुक्तिसंस्कारपाटववतां स्थूलादिपदार्थापनयनाऽनन्तरं स्थूलादिभिन्न इति मानसे साक्षात्कारे स्थितेऽपि "स्थूलोऽहम्" "अन्धोऽहम्" इत्यादिसाक्षात्कारो

"पीत शङ्ख" भ्रम में दोषवशात् नहीं है, किन्तु प्रकृत जलसन्देह में तो वह विशेषदर्शन वर्तमान है; अतः प्रामाण्य में संशय असम्भव है।

इसमें यह उत्तर है– दोष के प्राबल्य से निश्चित अर्थ में भी तथा निश्चित प्रामाण्य में भी संशय होता है; क्योंकि दोषसहित और दोषाभावसहित भेद से दो प्रकार के निश्चय होते हैं। उनमें प्रथम निश्चय विपरीतज्ञान का विरोधी नहीं; और द्वितीय निश्चय तो विरोधी है। प्रकृत जलज्ञान में अनभ्यास ही दोष है, और वह बार-बार प्रवृत्त्यभावरूप है; कहीं कोई भी दोष हो सकता है (अर्थात् दोष और गुण का कोई नियत रूप नहीं; परिस्थिति के अनुसार दोष भी गुण हो सकता है और गुण भी दोष हो सकता है)। शंका– उस दोष के होते हुए किस प्रकार प्रामाण्य का भान होगा? उत्तर– ऐसा न कहो; क्योंकि फलबल से उस स्थल में वह अदोष ही होता है; विपरीत ज्ञान की उत्पत्ति में ही वह दोष है। अतएव शास्त्र, युक्ति और संस्कारपाटव वाले लोगों के स्वस्वरूप के विषय में शरीरादि स्थूलपदार्थों का निवारण करने के बाद "मैं स्थूल शरीरादि से भिन्न हूँ" ऐसा मानस साक्षात्कार होने पर भी "मैं स्थूल

भ्रमरूपो जायमानः सर्ववादिसम्मतः संगच्छते; भ्रमसंस्कार-रूपस्य दोषस्य विद्यमानत्वात् ।

न च– उक्तसाक्षात्कारो न विरोधीति– वाच्यम्; कथं न विरोधीत्युक्ते दोषसहितत्वादित्येवोत्तरम् । तथा च सिद्धं नः समीहितम् । अथ– योगजधर्मजन्यसाक्षात्कारस्यैव तद्विरोधित्वमिति– चेत्, तर्हि स एव दोषाऽभावसहित इति परिभावय । अन्यथा स्थिते दोषे पुनर्विपरीतज्ञानं स्यादेव । तथाऽभावत्वेन भासमानेऽपि तमसि नीलाऽऽरोपो दृष्टः । न च– तत्रेदंत्वेनोपस्थिते तमसि नीलारोप इति– साम्प्रतम्; तथासति "इदं नीलम्" इति बुद्ध्यापत्तेः; प्रतीयते तु "तमो

हूँ" "मैं अन्ध हूँ" इत्यादि जायमान भ्रमरूप साक्षात्कार सर्ववादि-सम्मत मानना संगत है; क्योंकि उसमें भ्रमसंस्काररूप दोष विद्य-मान है।

शंका– आत्मस्वरूप का मानस प्रत्यक्ष "स्थूलोऽहम्" आदि भ्रमसाक्षात्कार का विरोधी नहीं। उत्तर– ऐसा न कहो, क्यों कि– "क्यों विरोधी नहीं है?" ऐसा प्रश्न करने पर– दोषसहितत्व होने से विरोधी नहीं है– ऐसा ही आप को उत्तर देना होगा। तब तो हमारा इष्ट ही सिद्ध होता है। शंका– योगजधर्म (समाधि) से जन्य आत्मसाक्षात्कार ही "स्थूलोऽहम्" इत्यादि का विरोधी है। उत्तर– तब तो वही साक्षात्कार दोषाभावसहित है–ऐसा समझो। अन्यथा दोष वर्तमान होने पर पुनः विपरीत ज्ञान हो ही जायेगा; जैसे (तुम्हारे मत में) अभावरूप से भासमान होते हुए तम (अन्ध-कार) में भी नील का आरोप देखा जाता है। शंका– उसमें तो इदंत्वेन उपस्थित तम में नील का आरोप है। उत्तर– ऐसा कहना ठीक नहीं; कारण कि– ऐसा होने पर "यह नील है" ऐसी बुद्धि ही होनी चाहिये; प्रतीति तो "तम नील है" ऐसी होती है।

नीलम्" इति। न च– तमस्त्वदर्शनं न विशेषदर्शनम्, अपितु नीलात्यन्ताभाववत्त्वेन साक्षात्कारः; स च तत्र नास्ति, दोषादिति– वाच्यम्; अभावे प्रतियोग्यतिरिक्तस्य विशेषस्याऽभावात्, आरोपस्य दोषप्राबल्यादेवोपपत्तेः; अन्यथा आहार्यारोपे का गतिः ? नहि तत्रापि विशेषाऽदर्शनमस्ति, तथा च आवश्यकदोषादेव विपरीतज्ञानोत्पत्तौ सम्भवन्त्यां कुत्राऽपि न विशेषादर्शनं हेतुः। तथा च न कार्यवैजात्यकल्पनमपि। तत्कल्पने वा आहार्यभ्रम इवाऽनाहार्यविशेषदर्शनकालीनभ्रमेऽपि तदस्तु; का नो हानिरिति।

किञ्च– विशेषाणामननुगमात् तद्दर्शनाऽभावानामप्यननुगमेन कथं भ्रमविशेषं प्रति कारणत्वमिति विवेचनीयम्।

शंका– तमस्त्व का दर्शन विशेषदर्शन नहीं है, किन्तु नीलात्यन्ताभावरूप से साक्षात्कार ही विशेषदर्शन है; वह तो दोषवश नीलभ्रम में नहीं है। उत्तर– ऐसा कहना भी उचित नहीं; क्योंकि– तम को तुमने अभाव माना है, और अभाव में प्रतियोगी के अतिरिक्त कुछ विशेष नहीं होता; और आरोप तो दोष की प्रबलता से ही हो सकता है; यदि विशेष के अदर्शन से ही आरोप मानोगे तो आहार्य आरोप (बाधकालीन इच्छा से जन्य आरोप) की क्या गति होगी ? उसमें भी विशेष का अदर्शन नहीं है। इसलिये आवश्यक दोष से ही विपरीत ज्ञान की उत्पत्ति सम्भव होने पर कहीं भी विशेष का अदर्शन भ्रम का हेतु नहीं हो सकता। तब तो विशेष के अदर्शन से होने वाले विजातीय कार्य की कल्पना भी नहीं होगी। यदि उसकी कल्पना भी करें, तो आहार्य भ्रम के समान अनाहार्यविशेषदर्शनकालीन भ्रम में भी विजातीय कार्य हो (उसमें विशेषादर्शन की आवश्यकता नहीं); इसमें हमें क्या हानि है ?

किन्च– विशेष अनेक होने से उन का अनुगम न होने के कारण विशेषदर्शनाभावों का भी अनुगम नहीं होता; तब भ्रम-

तस्माद्दोषाद् भ्रम इत्येव मन्तव्यम्। तथा च गृहीतेऽपि प्रामाण्ये दोषात्संशयोऽस्तु; दोषोच्छेदादेव तदुच्छेद इति कः दोषः? अथवा– योग्यव्यक्तिग्राहकेण जातिरिव दोषाऽसहकृतेनैव ज्ञानग्राहकेण प्रामाण्यं गृह्यते, न दोषसहकृतेनापि; अन्यथा दोषसहकृतेन "इदम्" इति शुक्तिव्यक्तिग्राहकेण शुक्तित्वस्याऽपि ग्रहणे भ्रमोच्छेदप्रसङ्गात्, दोषाऽसहकृतेन तु गृह्यत एवेति न काप्यनुपपत्तिः। परतः प्रामाण्यज्ञाने चाऽनवस्था। न च– न सर्वस्य ज्ञानस्य प्रामाण्यं ज्ञातव्यमिति नाऽनवस्थेति–वाच्यम्; तथासति तत्सत्त्वे कदापि प्रामाणा-ऽनुदयेऽसत्त्वापत्तौ तद्विषयपर्यन्ताऽसत्त्वापत्तेः। तस्मात्सर्वं ज्ञानं

विशेष के प्रति वह किस प्रकार कारण हो सकता है? इस विषय में भी विचार करके देखो। इसलिये दोष से ही भ्रम होता है—ऐसा ही मानना चाहिये। तब तो प्रामाण्य गृहीत होने पर भी दोष से उसमें संशय हो, और दोषोच्छेद से प्रामाण्यसंशय का भी उच्छेद हो, इसमें क्या दोष है? अथवा– जिस प्रकार प्रत्यक्षयोग्यव्यक्ति (पदार्थ) के ग्राहक से तद्गत जाति गृहीत हो जाती है, उसी प्रकार दोष से रहित ज्ञानग्राहक से प्रामाण्य गृहीत होता है, दोषसहकृत से भी नहीं; यदि दोषयुक्त से भी प्रामाण्य गृहीत हो जाये तो दोष-सहकृत और इदमंशमात्रविषयक शुक्तिव्यक्तिग्राहक से शुक्तित्व का भी ग्रहण हो जाने पर भ्रमोच्छेद का प्रसङ्ग हो जायेगा, और दोषासहकृत से तो शुक्तित्व गृहीत होता ही है। अतः कुछ भी अनु-पपत्ति नहीं। और परतः प्रामाण्य के ज्ञान में तो अनवस्था होती है। शंका– सब ज्ञान का प्रामाण्य ज्ञातव्य नहीं होता, अतः अन-वस्था नहीं होगी। उत्तर– ऐसा न कहो; कारणकि– ऐसा मानने पर जिस किसी भी कक्षा में जाकर जिस ज्ञान का प्रामाण्य गृहीत नहीं हुआ, उस ज्ञान के सत्त्व में कदापि प्रमाण का उदय न होने पर उसकी असत्त्वापत्ति होने के कारण उस ज्ञान के विषय पर्यन्त की

ज्ञायते एव, तत्प्रामाण्यमपि गृह्यत एवेति नियमः ।

एवमुत्पद्यतेऽपि प्रामाण्यं स्वतः ज्ञानसामग्रीमात्रात्, न तु गुणात् । न च- ज्ञानसामग्रीमात्रजन्यत्वेऽप्रमाऽपि प्रमा स्यादिति- वाच्यम्; तस्या ज्ञानसामग्रीजन्यत्वाभावात् । न च-एवं सति सा ज्ञानमपि न स्यादिति-वाच्यम्; इष्टापत्तेः, अविद्यावृत्तिर्हि सा दोषजन्या ज्ञानाऽऽभास इत्यभ्युपगमात्; ज्ञानस्य चाऽन्तःकरणवृत्तित्वाऽभ्युपगमात् । न च- तस्या जडत्वेन ज्ञानत्वाऽनुपपत्तिः, तदवच्छिन्नस्य, तत्प्रतिबिम्बितस्य, तदाभासस्य वा चैतन्यस्य तथोच्यमानत्वात्; गुणाऽधीनत्वे च प्रमाया ईश्वरज्ञाने प्रामाण्यं न स्यात्, तत्र गुणाऽभावात् । अथ-जन्यप्रमायां तदपेक्षा, तदपि न; दोषअसत्त्वापत्ति होगी । इसलिये सब ज्ञान स्वतः ही ज्ञात होते हैं और उनका प्रामाण्य भी स्वतः ही गृहीत होता है- यह नियम है ।

इसी प्रकार ज्ञानसामग्रीमात्र से प्रामाण्य स्वतः ही उत्पन्न होता है; वह विषयेन्द्रियसन्निकर्षादि गुणों से उत्पन्न नहीं होता (यहां पर ज्ञानसामग्री अन्तःकरणवृत्ति है) । शंका— यदि प्रामाण्य ज्ञानसामग्रीमात्र से जन्य मान लिया जाये तो अप्रमा भी प्रमा हो जायेगी । उत्तर— ऐसा न कहो; क्योंकि अप्रमा ज्ञानसामग्री से जन्य नहीं होती । शंका— तब तो वह (अप्रमा) ज्ञान भी नहीं होनी चाहिये । उत्तर – ठीक है; उसमें हमें इष्टापत्ति है, क्योंकि वह अविद्यावृत्ति है, और दोष से जन्य है; अतः उसको हम ज्ञानाभास मानते हैं; और ज्ञान को तो अन्तःकरणवृत्तिरूप मानते हैं । शंका— अन्तःकरणवृत्ति तो जड़ है, अतः उस में ज्ञानत्व नहीं रह सकता । उत्तर – ऐसा नहीं; क्योंकि अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न, या उसमें प्रतिबिम्बित, या उसमें आभासरूप चैतन्य का ही ज्ञानत्व अङ्गीकृत है । यदि प्रमा को गुणाधीन मान लिया जाये तो ईश्वरज्ञान में प्रामाण्य नहीं होगा (ईश्वरज्ञान की सामग्री मायावृत्ति है); क्योंकि उसमें गुण (इन्द्रियसन्निकर्षादि) का अभाव है । इसमें—जन्य प्रमा

सहितज्ञानसामग्र्यजन्यत्वेनाऽप्रमात्वशून्यस्याऽपि ज्ञानस्योत्पत्तिप्रसङ्गात्। ज्ञानमात्रे ज्ञानत्ववत् प्रमात्वस्याऽप्यनुगमात्सामान्यसामग्रीमात्रप्रयोज्यता। अप्रमात्वस्य तु क्वाचित्कत्वाद्दोषसहितसामग्रीविशेषप्रयोज्यतेति नाऽऽगन्तुकहेतुसापेक्षता प्रमायाः; गुणत्वस्यैकस्याऽभावाच्च। न चाऽवच्छेदकरूपमेकमन्तरेण कारणताग्रहः संभवति। अथ— प्रत्यक्षप्रमायां यथार्थेन्द्रियसन्निकर्षो गुणः, अनुमितौ यथार्थलिङ्गज्ञानम्, शाब्दे यथार्थवाक्यार्थज्ञानम्, उपमितौ यथार्थसादृश्यज्ञानं गुणोऽनुगत एव, प्रमामात्रे तु नास्त्येवाऽनुगतो गुण इति चेन्न; जन्यप्रमात्वस्याऽऽकस्मिकत्वापत्तेः। न चेष्टापत्तिः, अन्यत्रापि तथा-

में ही गुण की अपेक्षा है– ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि दोषसहित ज्ञानसामग्री से अजन्यत्व होने के कारण अप्रमात्व से रहित ईश्वरज्ञान की भी उत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा। और जिस प्रकार ज्ञानमात्र में ज्ञानत्व अनुगत होता है, उसी प्रकार प्रमामात्र में प्रमात्व का अनुगम होने से उसकी ज्ञानसामान्यसामग्रीमात्र से प्रयोज्यता है, तथा अप्रमात्व तो किसी-किसी में ही होने से उसकी दोषसहित सामग्रीविशेष से प्रयोज्यता है। इस कारण प्रमा आगन्तुक हेतु की अपेक्षा नहीं करती। और इन्द्रियसन्निकर्षादि सब हेतुओं में अनुगत एक गुणत्व का अभाव भी है; एक अवच्छेदक धर्म के बिना कारणता का ग्रह सम्भव नहीं होता। शंका— प्रत्यक्षप्रमा में यथार्थेन्द्रियसन्निकर्ष गुण है, अनुमिति प्रमा में यथार्थलिङ्गज्ञान गुण है, शाब्द प्रमा में यथार्थवाक्यार्थज्ञान गुण है और उपमिति प्रमा में यथार्थसादृश्यज्ञान गुण है; इस प्रकार गुण अनुगत होता ही है, प्रमामात्र में तो अनुगत गुण है ही नहीं। उत्तर – ऐसा नहीं; क्योंकि सब प्रमाओं में अनुगत जन्यप्रमात्व का कारण न होने से आकस्मिकत्व की आपत्ति आयेगी। इसमें इष्टापत्ति भी नहीं हो सकती; कारण कि – जैसे कारण के बिना जन्यप्रमात्व की उत्पत्ति होती है, वैसे ही अन्यों में भी आकस्मिकत्व की आपत्ति होगी। किञ्च – इन्द्रिय-

त्वापत्तेः । किञ्च– इन्द्रियसन्निकर्षोऽपि नैकः, तस्य षड्विध-त्वाऽङ्गीकारात् । न च– इन्द्रियसन्निकर्षत्वमेकमनुगतमस्ति कारणतावच्छेदकमिति– वाच्यम्; इन्द्रियविषयरूपसंबन्धि-भेदेन तस्याऽपि नानात्वात् । नाऽपि भूयोऽवयवेन्द्रियसन्नि-कर्षो गुणः, भूयस्त्वस्य त्रिचतुरादित्वेनाऽननुगमात् । तस्मान्न गुणजन्या प्रमा, किन्तु ज्ञानसामग्रीमात्रजन्येति सिद्धमित्यलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या ।

प्रकृतमनुसरामः– तदित्थमियता प्रबन्धेन सिद्धमेतत्– न ज्ञेयत्वप्रमेयत्वयोरविनाभावः, किन्तु सहचारमात्रम्, शुक्तिरजतादौ व्यभिचारात् । सहचारमात्रमित्यप्यभ्युपगम-

सन्निकर्ष भी एक नहीं; क्योंकि तुमने छः प्रकार के सन्निकर्ष स्वीकृत किये हैं। शंका— कारणतावच्छेदकरूप एक ही इन्द्रियसन्निकर्षत्व सबमें अनुगत है। उत्तर – ऐसा कहना उचित नहीं; क्योंकि इन्द्रिय और विषयरूप सम्बन्धियों के भेद से इन्द्रियसन्निकर्ष भी नाना है और भूयः (अधिक) अवयवों के साथ सन्निकर्ष भी गुण नहीं; कारण कि भूयस्त्व (अधिकता) त्रिचतुरादित्व (तीन-चार आदि करके अनियत) होने से अनुगत नहीं होता। अतः प्रमा गुण से जन्य नहीं; किन्तु ज्ञानसामग्रीमात्र से जन्य है – यह सिद्ध है। अब प्रसक्त को अनुप्रसक्ति से विचार समाप्त किया जाता है।

हम अभी प्रकृत विषय का अनुसरण करते हैं— इस प्रकार यहां तक के ग्रन्थ से यह सिद्ध हुआ कि ज्ञेयत्व और प्रमेयत्व इन दोनों में अविनाभाव नहीं; किन्तु सहचार मात्र है; क्योंकि शुक्ति-रजतादि में व्यभिचार होता है (जैसे निर्विषयक ज्ञान न होने से नीलादि विषय और ज्ञान में सहचार होता है, किन्तु दोनों में अवि-नाभावरूप व्याप्ति नहीं; वैसे ही ज्ञेयत्व और प्रमेयत्व में सहचार मात्र है; अविनाभावरूप व्याप्ति नहीं; क्योंकि शुक्तिरजत में ज्ञेयत्व है और प्रमेयत्व नहीं)। और यह सहचार मात्र भी अभ्युपगमवाद

वादः। वस्तुतस्तु--ज्ञेयत्वमिथ्यात्वयोरेव व्याप्तिः। तथा च--प्रपञ्चो मिथ्या, दृश्यत्वात्, यदित्थं तत्तथा, यथा शुक्तिरजतादि, तथा चेदम्; तस्मान्मिथ्या। न चाऽप्रयोजकता, दृग्दृश्ययोः संबन्धाऽनुपपत्तेरेव बाधकस्य विद्यमानत्वात्। स हि न संयोगः, अनभ्युपगमात्, नाऽपि समवायः, अनभ्युपगमादेव; नाऽपि स्वरूपम्; अतिप्रसंगात्। नहि घटज्ञानं घटश्चेति स्वरूपम्; अथ स्वरूपविशेषः, स च न; संबन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टप्रत्ययस्याऽननुगतहेतुत्वापत्तेः। विस्त-

से कहा है। (प्रौढ़वादिता को द्योतन करने के लिये परपक्ष की बात को मानकर उत्तर देना अभ्युपगमवाद है)। वस्तुतस्तु— ज्ञेयत्व और मिथ्यात्व दोनों की ही व्याप्ति है। तब तो यह अनुमान होगा— प्रपञ्च मिथ्या है, क्योंकि उसमें दृश्यत्व (ज्ञेयत्व) है; जिसमें दृश्यत्व रहता है, वह मिथ्या होता है, जैसे शुक्तिरजतादि, इसी प्रकार प्रपञ्च में भी दृश्यत्व है; अतः मिथ्या है। इस अनुमान में दृश्यत्व हेतु की अप्रयोजकता भी नहीं (अर्थात् पक्ष में हेतु रहने पर भी साध्य न हो- इस शंका के बाधक तर्क का अभाव भी नहीं); क्योंकि दृग् (ज्ञान) और दृश्य (ज्ञान का विषय) इन दोनों में सम्बन्ध का असम्भवरूप बाधकतर्क है (अर्थात् ज्ञान और उसका विषय प्रपञ्च-इन दोनों में कोई सम्बन्ध सिद्ध होता तो प्रपञ्च सत्य सिद्ध होता, क्योंकि सम्बन्ध दो सत्य पदार्थों में ही होता है, सत्य और असत्य में कदापि सम्बन्ध नहीं हो सकता)। तथाहि— वह सम्बन्ध संयोग नहीं हो सकता, क्योंकि तुमने ज्ञान और ज्ञेय का संयोगसम्बन्ध नहीं माना; और न मानने के कारण से ही समवायसम्बन्ध भी नहीं। तथा स्वरूपसम्बन्ध भी नहीं हो सकता, क्योंकि अतिप्रसङ्ग होता है; घटज्ञान और घट ये दोनों स्वरूप नहीं हैं (अर्थात् घटज्ञान घट का स्वरूप नहीं, और घट घटज्ञान का स्वरूप नहीं, जिससे दोनों में स्वरूपसम्बन्ध माना जाये)। और दोनों का सम्बन्ध स्वरूप-विशेष भी नहीं हो सकता, क्योंकि सम्बन्धान्तर (संयोग और सम-

रस्तु जगत्कबलनयुक्तिप्रस्तावेऽनुसंधेयः। एतेन स्वप्नकामिन्यादीनामपि मिथ्यात्वं सुप्रसिद्धम्; तथा च तदपि दृष्टान्तीकर्त्तुं शक्यत एव। न च-- पूर्वाऽनुभूतमेव कामिन्यादिकं तत्र भासत इति-- वाच्यम्; तथा सति तदित्युल्लेखाऽपत्तेः। दोषात् तत्ताप्रमोष इति-- चेन्न; संस्कारस्य स्वभावपरावृत्त्यापत्तेः। ननु-- स्मृत्युपनीतं पित्रादिकं मनोजन्येऽपरोक्षज्ञाने भासतामिति नोक्तदोष इति चेत्; तर्हि विशेष्यत्वेन पित्रादीनां भानं न स्यात्। अस्ति च "अयं पित्रादिः" इति

वाय) के बिना विशिष्टप्रत्यय को उत्पन्न करने में उसका हेतु अननुगत होने की आपत्ति होगी (भाव यह है कि "सम्बन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टप्रत्ययजनकत्वम्" यह स्वरूपसम्बन्ध का लक्षण है; यदि इसमें स्वरूपविशेष को सम्बन्ध मान लिया जाये तो सामान्यरूप से विशिष्टप्रत्यय का हेतु नहीं होगा, तब तो लक्षण में अव्याप्तिदोष होगा)। इसका विस्तार तो जगत्कबलनयुक्ति के प्रस्ताव में देखना चाहिये। (यह जगत्कबलनयुक्तिप्रस्ताव भ्रममात्रविषयत्वादिव्यावहारिकत्वस्वरूपविवेकप्रकरण में "अबाध्यत्वेनाऽशक्याऽवस्थानत्वमेव व्यावहारिकत्वम्" इस लक्षण के विचार में प्रतिपादित हो चुका है)। इन हेतुओं से स्वप्नदृष्ट कामिन्यादि का भी मिथ्यात्व सुप्रसिद्ध है, अतः प्रपञ्चमिथ्यात्व के अनुमान में वह भी दृष्टान्तरूप से दिया जा सकता है। शंका-- पहले अनुभूत कामिन्यादि की ही स्वप्न में प्रतीति होती है, अतः वे मिथ्या नहीं। उत्तर-- ऐसा कथन अयुक्त है, क्योंकि वैसा होने पर स्मृति का विषय होने के करण "वह कामिनी" इस प्रकार "तत्" पद से उल्लेख होने लगेगा। शंका-- निद्रादि दोष से तत्ता का प्रमोचन हो गया है। उत्तर-- नहीं; संस्कार की अपने स्वभाव से परांमुखता होने लगेगी। शंका-- स्मृति से उपनीत पितादि स्वाप्निक मनोजन्य अपरोक्षज्ञान में प्रतिभासित हों, अतः उक्त दोष नहीं। उत्तर-- तब तो विशेष्यरूप से पितादि का भान नहीं होना चाहिये, किन्तु "ये पितादि हैं" इस प्रकार पितादि की विशेष्यरूप से स्वप्न में प्रतीति होती है (अभि-

प्रतीतिः, तस्मादनिर्वचनीय एव पित्रादिः स्वप्ने भासत इत्यङ्गीकर्त्तव्यम्। तथा च तद्दृष्टान्तेन विश्वस्याऽपि मिथ्यात्वं साधयितुं शक्यत एव।

ननु-- यदेतन्मिथ्यात्वज्ञानमुत्पन्नम्, तेन सह तस्य संबन्धोऽस्ति, न वा? न चेत्, मिथ्यात्वाऽसिद्धिः; अस्ति चेत्, पूर्वोक्तसंबन्धखण्डनं तत्राऽपि योजनीयमिति स्वव्याघातकत्वाज्जात्युत्तरं तदिति-- चेन्न; अनिर्वचनीयस्य संबन्धस्य स्वीकारात्; घटतज्ज्ञानयोरपि तथाऽङ्गीकारेऽस्मन्मतप्रवेशः। तथा--प्रपञ्चो मिथ्या, व्यवहारविषयत्वात्, स्वप्नप्रप-

प्राय यह है कि— ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति से उपनीत पदार्थ सदा ही विशेषणरूप से प्रतीत होता है, जैसे "सुरभिचन्दन" इत्यादि में सौरभांश ज्ञानोपनीत होने से विशेषण है, वैसे ही यहां भी पितादि विशेषण होना चाहिये, न कि विशेष्य, किन्तु विशेष्य होता है, अतः पितादि स्मृत्युपनीत नहीं है)। इसलिये अनिर्वचनीय पितादि स्वप्न में प्रतीत होते हैं- ऐसा ही मानना चाहिये। तब तो स्वाप्नकामिन्यादि दृष्टान्त से विश्व का भी मिथ्यात्व सिद्ध किया ही जा सकता है।

शंका— यह जो मिथ्यात्व का ज्ञान उत्पन्न हुआ है, उसके साथ मिथ्यात्व का सम्बन्ध है, या नहीं? यदि सम्बन्ध नहीं है, तो मिथ्यात्व की असिद्धि होगी; और यदि सम्बन्ध है तो तुम्हारे द्वारा पूर्वोक्त सम्बन्धखण्डन उसमें भी लगना चाहिये। तब तो उसमें स्वव्याघातकता होने से जात्युत्तर है (स्वपक्षप्रतिबन्धक उत्तर है)।
समाधान— नहीं; क्योंकि हम उसमें अनिर्वचनीय सम्बन्ध मानते हैं (तुम्हारे जैसे वास्तविक सम्बन्ध नहीं मानते)। यदि आप भी घट और घटज्ञान में अनिर्वचनीय सम्बन्ध मानेंगे तो हमारे मत में प्रवेश हो जायेगा। इसी प्रकार दूसरा अनुमान यह है—प्रपञ्च मिथ्या है, क्योंकि उसमें व्यवहारविषयता है, जैसे स्वप्नप्रपञ्च। ब्रह्म में इस

वत् । न च ब्रह्मण्यनैकान्तिकता, तस्य व्यवहारविषयत्वानङ्गीकारात् । आह चेदं श्रुतिः— "यतोवाचोनिवर्तन्ते" (तै० २।४।१) इत्यादिः । "सकलवाङ्मनसाऽतिगता चितिः" (सं०शा० १।३३१) इति च विद्वद्वचनम् । विस्तरस्तु पूर्वोक्त एवाऽत्राऽनुसंधेयः ।

ननु— भेदग्राहकेणाऽनुमानेन बाधितमेतत् । तथाहि— घटः पटप्रतियोगिकाऽन्योन्याऽभावाऽत्यन्ताऽभावरहितः, पटत्वप्रतियोगिकाऽत्यन्ताभाववत्त्वात्, यन्न पटप्रतियोगिकाऽन्योन्याभावात्यन्ताभावरहितम्, न तत्पटत्वप्रतियोगिकाऽत्यन्ताभाववत्, यथा पटः, न च नाऽयं पटत्वप्रतियोगिकात्यन्ताभाववान्, तस्मात् पटप्रतियोगिकान्योन्याभावाऽत्यन्ताऽभावरहित इति व्यतिरेकी । घटः पटप्रतियोगिकान्योन्या-

अनुमान के हेतु की अनैकान्तिकता भी नहीं; कारण कि ब्रह्म की व्यवहारविषयता अङ्गीकार नहीं की जाती। इस बात को श्रुति कहती है— "जिससे वाणी निवृत्त हो जाती है" इत्यादि। और "सब वाणी और मन से अतीत चित् है" यह विद्वद्वचन है। पहले विस्तार पूर्वक कहे गये का यहां भी अनुसन्धान करना चाहिये।

शंका— यह अनुमान तो भेदग्राहक अनुमान से बाधित है। तथाहि— घट पटप्रतियोगिकान्योन्याभाव के अत्यन्ताभाव से रहित है (अर्थात् पटप्रतियोगिकान्योन्याभाव वाला घट है; यानी पट से भिन्न है); क्योंकि पटत्वप्रतियोगिकात्यन्ताभाव घट में है, जो पटप्रतियोगिक अन्योन्याभाव के अत्यन्ताभाव से रहित नहीं होता, वह पटत्वप्रतियोगिक अत्यन्ताभाव वाला भी नहीं होता, जैसे पट; यह घट तो पटत्वप्रतियोगिक अत्यन्ताभाव वाला न हो, ऐसी बात नहीं; इसलिये पटप्रतियोगिक अन्योन्याभाव के अत्यन्ताभाव से रहित है— यह व्यतिरेकी अनुमान है। तथा— घट पटप्रतियोगिक अन्योन्याभाव वाला है, क्योंकि उसमें पटत्वप्रतियोगिकात्यन्ताभाव-

भाववान्(१), पटत्वप्रतियोगिकात्यन्ताभाववत्त्वात्, यदेवं, तदेवं, यथा लोष्टम्, तथा चायं, तस्मात्तथेत्यन्वयी चेति– चेन्न; प्रथमानुमाने साध्ये व्यर्थविशेषणत्वात्, पटप्रतियोगिकान्योन्याभाववानित्येतावति कृत एव साध्यसिद्धेः। अस्तु तथेति– चेन्न; अविद्यादशायां विद्यमानेन भेदेनाऽर्थान्तरत्वात्, सिद्धसाधनाद्वा। पारमार्थिके च तत्र दृष्टान्ताऽसिद्धेः, "सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति" (बृ०४।३।३२) इति श्रुत्याऽपहृतविषयत्वाच्च। पक्ष-हेतु–दृष्टान्तानां च भेदादिसिद्धौ तत्त्वाऽनुपपत्तिः। सर्वत्र चाऽनुमानेन भेदसाधनेऽन-

वला है, जो पटत्वप्रतियोगिक अत्यन्ताभाव वाला होता है, वह पटप्रतियोगिक अन्योन्याभाव वाला होता है, जैसे लोष्ट (मिट्टी का ढेला); इसी प्रकार घट भी है, इसलिये वैसा ही है— अर्थात् पटप्रतियोगिक अन्योन्याभाव वाला है— वह अन्वयी अनुमान है। समाधान— ऐसा नहीं; क्योंकि प्रथम अनुमान में साध्य में व्यर्थविशेषणता है (अर्थात् अत्यन्ताभावरहितत्व विशेषण व्यर्थ है) क्योंकि "पटप्रतियोगिकान्योन्याभाववान्" इतने मात्र से ही साध्य की सिद्धि हो सकती है। शंका— उतना मात्र ही साध्य हो, क्योंकि उस से भी हमारी इष्टसिद्धि होती है। उत्तर— (यहां से सामान्यरूप से दोनों अनुमानों का खण्डन किया जा रहा है)- ऐसा भी नहीं; क्योंकि अविद्यादशा में विद्यमान भेद से अर्थान्तरत्व (प्रकृत में अनुपयुक्तत्व), अथवा सिद्धसाधन होता है। और पारमार्थिक भेद को साध्य मानोगे तो उस में पट या लोष्ट दृष्टान्त की असिद्धि होगी (क्योंकि दृष्टान्त उभयवादिमान्य होना चाहिये)। और "शुद्ध एक द्रष्टा अद्वैत होता है" इस श्रुति से साध्य बाधित होता है। पक्ष, हेतु और दृष्टान्त के वास्तविक भेद की सिद्धि होने पर अद्वितीय आत्मतत्त्व की अनुपपत्ति

(१) "पटनिष्ठान्योन्याभावप्रतियोगी" ऐसा भेदरत्न का पाठ है; तो भी अभिप्राय एक ही है।

वस्था, अन्योन्याभावश्च न शक्यनिर्वचन इत्युक्तमधस्तात्।

एतेन– घटपटौ अन्योन्यभेदवन्तौ, अन्योन्यधर्मात्यन्ताऽभाववत्त्वात्, यदित्थम्, तत्तथा, यथा विद्याऽविद्ये। तथा– घटत्वं पटतादात्म्याऽवच्छिन्नप्रतियोगिकाऽभावसमानाधिकरणम्; पटत्वाऽसमानाधिकरणधर्मत्वात्, यदेवं न भवति, तदेवं न भवति, यथा पटत्वम्; न चैतन्न तथा, तस्मादुक्तसाध्यसमानाधिकरणमिति व्यतिरेकी। तथा– घटवद्भूतलं घटप्रतियोगिकाभावाधिकरणम्, घटत्वप्रतियोगिकाभावाधि-

होगी। और सब स्थलों में अनुमान से भेद का साधन करोगे तो अनवस्था होगी, तथा अन्योन्याभाव का निर्वचन अशक्य है- यह तो पहले ही कहचुके हैं।

इसी प्रकार— घट और पट परस्परभेद से युक्त हैं (अर्थात् घट में पटभेद है और पट में घटभेद है), क्योंकि दोनों में अन्योन्यधर्म का अत्यन्ताभाव है (घट में पटत्व का अत्यन्ताभाव है और पट में घटत्व का अत्यन्ताभाव है), जो अन्योन्यधर्म के अत्यन्ताभाव वाले होते हैं, वे अन्योन्यभेद वाले होते हैं, जैसे विद्या और अविद्या। तथा- घटत्व पटतादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगिक अभाव के साथ एकाधिकरण में रहता है (जिस का प्रतियोगी पटतादात्म्य से अवच्छिन्न है, ऐसा अभाव पटान्योन्याभाव ही होगा, क्योंकि तादात्म्याभाव का नाम अन्योन्याभाव है और पटतादात्म्यावच्छिन्न प्रतियोगी पट है, पट स्व में तादात्म्यसंबन्ध से रहता है। अतः पटान्योन्याभाव के साथ घटत्व घटरूप एकाधिकरण में रहता है-यह प्रतिज्ञावाक्य है), क्योंकि घटत्व पटत्व का असमानाधिकरणक धर्म है, जो धर्म पटभेद के साथ समानाधिकरणक नहीं होता, वह पटत्व का असमानाधिकरणक धर्म भी नहीं होता, जैसे पटत्व; घटत्व तो पटत्व का असमानाधिकरणक धर्म न हो, ऐसी बात नहीं; इस लिये घटत्व पटतादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगिकाभावसमानाधिकरणक है– यह व्यतिरेकी है। तथा– घटवद्भूतल घटप्रतियोगिक अभाव का अधिकरण है, क्योंकि वह घटत्व-

करणत्वात्, पटवत्; अत्र च पक्षविशेषणमहिम्ना संसर्गाभाव-बाधेऽन्योन्याभावसिद्धिरिति- अपास्तम्; उक्तदोषेणैवेति ।

अथास्तु- प्रपञ्चः सत्यो दृश्यत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा ब्रह्माद्वैतमिति- चेन्न; ब्रह्माद्वैतस्य दृश्यत्वे व्यतिरेकव्याप्तिभूमित्वाऽनुपपत्तेः । तव मतेऽदृश्यत्वमस्तीति चेत्; तर्हि मम मते सत्यत्वमप्यस्तीति न व्यतिरेकदृष्टान्तः । अन्वयित्व-मस्त्विति- चेन्न; दृष्टान्तस्य साधनविकलत्वात्, शुक्तिरज-

प्रतियोगिक अभाव का अधिकरण है, जैसे- पट; इस अनुमान में
भूतलरूप पक्ष का विशेषण "घटवत्" है । इस विशेषण की महिमा
से भूतल में घटप्रतियोगिक अत्यन्ताभाव का बाध होता है । अतः
इस अनुमान से भूतल में घटप्रतियोगिक अन्योन्याभाव की सिद्धि
होती है- इत्यादि सब अनुमान अव्यवहित पूर्वोक्त दोषों से ही निरा-
कृत हो जाते हैं ।

शंका— ठीक है, तो भी प्रपञ्च का सत्यत्व अनुमान से सिद्ध
हो सकता है । तथाहि— प्रपञ्च सत्य है, क्योंकि उसमें दृश्यत्व है,
जो सत्य नहीं, वह दृश्य नहीं, जैसे ब्रह्माद्वैत । उत्तर - ऐसा नहीं;
(तुम्हारे मत में) ब्रह्माद्वैत में दृश्यत्व होने से वह व्यतिरेकव्याप्ति का
उपसंहार भूमि (दृष्टान्त) नहीं हो सकता । (इस अनुमान की व्यति-
रेकव्याप्ति इस प्रकार है-"यत्राऽसत्यत्वम्, तत्राऽदृश्यत्वम्" । नैयायिक
इस व्याप्ति को ब्रह्माद्वैत में घटाना चाहते हैं, किन्तु घटाना असम्भव
है; क्योंकि उनके मत में दृश्यत्व अर्थात् ज्ञेयत्व केवलान्वयी है, अतः
ब्रह्माद्वैत में भी दृश्यत्व है, अदृश्यत्व नहीं है । इस कारण इस व्याप्ति
का उपसंहार स्थल ब्रह्माद्वैत न होने से अनुमान नहीं हो सकता- यह
अभिप्राय है) । शंका- तुम्हारे (वेदान्ती के) मत में तो ब्रह्माद्वैत में
अदृश्यत्व है, (अतः वह उपसंहारस्थल बन सकता है) । उत्तर- तब
तो हमारे मत में उस में सत्यत्व भी है; अतः उसमें असत्यत्व न होने
से वह व्यतिरेकदृष्टान्त नहीं हो सकता । शंका — तब तो "प्रपञ्चः
सत्यः, दृश्यत्वात्, ब्रह्माद्वैतवत्" यह अन्वयी अनुमान ही हो । उत्तर-

तादौ व्यभिचाराच्च। एतेनेदमपास्तम्–प्रपञ्चः पारमार्थिकः, अभिधेयत्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा ब्रह्म। तथा– भेदज्ञानं सद्विषयकम्, ज्ञानत्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा ब्रह्मज्ञानमिति; स्वप्नादिप्रपञ्चेन तज्ज्ञानेन च व्यभिचारात्। साधितञ्च स्वप्नादिप्रपञ्चस्याऽसत्त्वम्।

किञ्च– स्वशिरश्छेद- क्षित्यादिगिलनाऽऽकाशपात- स्ववेश्यासंभोग- समुद्रतरण- महेन्द्रादिविजय- सुमेरुशिखरसमारोहणैरावतादियानगमनादिकमपि निद्राविद्रावितेन्द्रियगणः पुरुषः पश्यति, न च तदपि पारमार्थिकम्, तज्ज्ञानं वा सद्विषयकमुररीकर्त्तुं शक्यं ब्रह्मणाऽपि; सर्वजनीनाऽनुभवविरोधात्। तथा च सर्वजनीनाऽनुभवविरोधिनस्तव किमपि वस्तु

नहीं; दृष्टान्त में साधनविकलता है (दृष्टान्तीभूत ब्रह्माद्वैत में दृश्यत्व हेतु का अभाव है); और शुक्तिरूप्यादि में व्यभिचार भी है। और इसी से – प्रपञ्च सत्य है, क्योंकि उसमें अभिधेयत्व है, जिसमें अभिधेयत्व रहता है, वह पारमार्थिक होता है, जैसे ब्रह्म। तथा– भेदज्ञान सद्विषयक है, क्योंकि उसमें ज्ञानत्व है; जिसमें ज्ञानत्व रहता है, वह सद्विषयक होता है, जैसे ब्रह्मज्ञान— ये अनुमान भी खण्डित हुए; कारण कि– इन दोनों अनुमानों में क्रम से स्वप्नादिप्रपञ्च और स्वप्नादिप्रपञ्चज्ञान में व्यभिचार होता है। स्वप्नादिप्रपञ्च का असत्त्व पहले ही सिद्ध कर चुके है।

किञ्च — अपने सिर का छेदन, पृथिव्यादि को निगल जाना, आकाश का पतन, स्वर्गवेश्यासम्भोग, समुद्रतरण, महेन्द्रादि विजय, सुमेरुशिखरमें समारोह, ऐरावतादि यान में गमनादि को निद्रा से तिरस्कृत इन्द्रियसमुदाय वाला पुरुष स्वप्न में देखता है। और उस पुरुष से देखा हुआ वह स्वप्नप्रपञ्च पारमार्थिक है, तथा उसका ज्ञान सद्विषयक है— इस प्रकार ब्रह्मा तक भी उसका समर्थन नहीं कर सकते; क्योंकि सब जनों के अनुभव से विरोध पड़ता है। इस

न सिद्ध्येत् । न च– तेऽपि पदार्थाः पूर्वमनुभूता एव भासन्त इति युक्तिमत्; तेषां तज्जन्मन्यनुभवाऽभावेऽपि भ्रमस्याऽनुभवसिद्धत्वात् । न च जन्मान्तरीयस्तदनुभवः कल्पनीयः; कल्पनागौरवादेव । न च पुराणादितः तेषामाकलनम्; तदश्राविणोऽपि तादृशस्वप्नाऽनुभवस्य विद्यमानत्वात् । यत्तु बालस्य स्तनपाने प्रवृत्त्यनुपपत्तेः जन्मान्तरीयज्ञानकल्पनम्, तदपि न; जीवनयोनिप्रवृत्तौ व्यभिचारात्, तत्रैव जीवनाऽन्यथानुपपत्तेः स्तनपानप्रवृत्तावपि सत्त्वात् । चिकीर्षाधीनप्रवृत्तौ ज्ञानं हेतुरिति– चेत्, जीवनाऽदृष्टाऽसाधारणकारक-

प्रकार सर्वजनानुभव से विरुद्ध चलने वाले तुम लोगों की कोई भी वस्तु सिद्ध नहीं होगी। शंका— पहले अनुभूत वे सब पदार्थ ही स्वप्न में प्रतीत होते हैं। उत्तर— ऐसा कथन युक्तियुक्त नहीं; क्यों कि उन सब पदार्थों के इस जन्म में अनुभव का अभाव होने पर भी भ्रम तो अनुभव सिद्ध है। उनका अनुभव जन्मान्तरीय है– ऐसी भी कल्पना करनी नहीं चाहिये; कारण कि– उसमें कल्पनागौरव होता है। शंका— पुराणादि ग्रन्थों से उन सब पदार्थों का ज्ञान होता है। उत्तर– नहीं; पुराणादि न सुनने वाले लोगों को भी उस प्रकार का स्वप्नानुभव होता है। और जो बालक की स्तनपान में प्रवृत्ति की अन्यथानुपपत्ति से उस में जन्मान्तरीय ज्ञान की कल्पना की जाती है; वह भी ठीक नहीं; कारण कि– "या प्रवृत्तिः, सा ज्ञानपूर्विका" इस व्याप्ति का जीवन के कारणभूत श्वासप्रश्वास लेने की प्रवृत्ति में व्यभिचार होता है (इसमें प्रवृत्ति तो है, किन्तु वह ज्ञानपूर्विका नही है; अतः प्रवृत्ति के प्रति ज्ञान का हेतुत्व होने में व्यभिचार है)। श्वासप्रश्वास लेने में जिस प्रकार ज्ञान के बिना जीवनाऽन्यथानुपपत्ति से प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार स्तनपान में भी ज्ञान के बिना जीवनान्यथानुपपत्ति से प्रवृत्ति है। शंका– चिकीर्षा के अधीन होने वाली प्रवृत्ति में ज्ञान हेतु है। उत्तर— जीवन के लिये अदृष्टरूप असाधारणकारक से होने वाली प्रवृत्ति से भिन्न प्रवृत्ति

प्रवृत्तिभिन्नप्रवृत्तेरेव चिकीर्षाऽधीनत्वेनेष्टापत्तेः । मीमांसकैश्च जन्मान्तराऽनुभूतस्मरणाऽनभ्युपगमात् संस्काराऽदृष्टाभ्यामेवाऽऽद्यप्रवृत्तिरित्यङ्गीकृतम् । आद्यप्रवृत्तौ ज्ञानाऽपेक्षायामपि अविद्यादोषादेव व्याप्यज्ञानस्याऽनिर्वचनीयस्योत्पत्तेर्न पूर्वाऽनुभूतव्याप्तिस्मृतिकल्पनमिति । तस्माद् ब्रह्म आत्मैकत्वाऽविद्यानिद्रादिदोषवशाद्गजतुरगकामिन्याद्याकारेण विवर्तते । स एव च विवर्तः स्वप्नाऽनुभवस्य गोचरः । तथा च विलक्षणकामिन्याद्यनुभवः संगच्छत इति । तथा चाह भगवान् वेदव्यासः—"मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनाऽनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्" (वे०द०३।२।३) इति ।

ही चिकीर्षाधीन होती है; अतः उसमें ज्ञान को हेतु मानने में इष्टापत्ति है (क्योंकि स्तनपान में प्रवृत्ति अदृष्टाधीन है, ज्ञानपूर्वक नहीं)। और मीमांसक लोग जन्मान्तर में अनुभूत पदार्थों का स्मरण नहीं मानते, किन्तु संस्कार और अदृष्ट से ही आद्य प्रवृत्ति होती है- ऐसा अङ्गीकार करते हैं। और आद्य प्रवृत्ति में ज्ञान की अपेक्षा हो भी जाये, तो भी अविद्यारूप दोष से उसी समय प्रवृत्ति के व्याप्य अनिर्वचनीय इष्टसाधनताज्ञान की उत्पत्ति होने से "स्तन्यपान इष्टसाधन है" इस प्रकार पूर्वजन्म में अनुभूतव्याप्तिस्मृति की कल्पना नहीं हो सकती। इसलिये ब्रह्म ही आत्मैकत्व का अज्ञानवश और निद्रादिदोषवश गज, अश्व, कामिन्यादिरूप से विवर्त होता है; और वही विवर्त स्वप्नानुभव का विषय है (अतात्त्विकरूप से अन्यथाभाव का नाम विवर्त है)। इस प्रकार माना जाये तो स्वप्न में विलक्षण कामिन्यादि का अनुभव युक्तिसंगत होता है। वैसे ही भगवान् वेदव्यास ने भी कहा है— "स्वाप्निक पदार्थ मायामात्र है, क्योंकि पूर्णरूप से अभिव्यक्तस्वरूप नहीं होते" (अर्थात् उनका देशकालादि सब निमित्त पूर्ण नहीं, सकुचित शरीरदेश में ही विशाल नगरादि प्रतीत होते है, और अल्प समय में अनेक वर्ष मालूम होते है; अतः स्वप्नसृष्टि मायामात्र है)।

किञ्च–यदि सत्त्वप्रमेयत्वाऽभिधेयत्वादिना प्रपञ्चसाम्यं, रासभसाम्यञ्च ब्रह्मणस्त्वयोच्यते, तदा नास्तिकेभ्यो नाऽस्ति कोऽपि तव विशेषः, शास्त्रोक्तब्रह्माऽनङ्गीकाराऽविशेषात् । ननु– त्वयापि रासभादिना ब्रह्माऽभेदः स्वीक्रियते, तथा च सादृश्यस्वीकाराऽपेक्षयाऽभेदस्वीकारस्याऽधिकदोषाऽऽवहत्व-मिति–चेन्न; अध्यस्तस्याऽधिष्ठानात्मकत्वस्वीकारात् । तथा चाऽध्यस्तबाधेनाऽधिष्ठानमात्रब्रह्मपरिशेषे क्व दोषावकाशः ? यथा चाऽध्यस्तसर्पादिदोषगुणै रज्जुर्न लिप्यते, तथा अध्यस्त-प्रपञ्चदोषगुणाभ्यामपि न ब्रह्म लिप्यते; तस्याऽसङ्गत्वस्व-भावत्वात् । आह च– "न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" (कठ०२।२।११) इति । तथा च श्रुत्यर्थाऽनभिज्ञो भवान् ब्रह्मद्वेष्टैव केवलम् । किञ्च– ब्रह्मप्रपञ्चयोर्यदि सत्त्वं

किञ्च– यदि सत्त्व, प्रमेयत्व, अभिधेयत्वादि से ब्रह्म का प्रपञ्चसाम्य और रासभसाम्य तुम्हारे द्वारा कहा जाता है, तो तुम्हारे मे नास्तिकों से कुछ भी विशेष नहीं रहा, क्योंकि शास्त्रोक्त ब्रह्म के अनङ्गीकार में तुम और नास्तिक में समानता है। शंका–तुमने भी तो रासभादि के साथ ब्रह्म का अभेद माना है; तब तो सादृश्य स्वीकार की अपेक्षा से अभेद स्वीकार करने में अधिकदोषभागित्व है। उत्तर– नहीं; क्योंकि हम ब्रह्म को अध्यस्त का अधिष्ठानस्वरूप मानते हैं। तब तो अध्यस्त के बाध से अधिष्ठान ब्रह्ममात्र अवशिष्ट होने के कारण दोष का अवकाश कहाँ रहेगा ? जिस प्रकार अध्यस्त सर्पादि के दोष और गुणों से रज्जु लिप्त नहीं होती, उसी प्रकार अध्यस्त प्रपञ्च के दोष और गुणों से ब्रह्म लिप्त नहीं; क्योंकि वह केवल असगस्वभाव वाला है। कहा भी है–"वह लोकदुःख से लिप्त नहीं, बाह्य है।" इसलिये श्रुत्यर्थ के अनभिज्ञ होकर आप केवल ब्रह्मद्वेषी ही हो। किञ्च– ब्रह्म और प्रपञ्च में तुल्यसत्ता यदि अभिमत होती,

तुल्यमभिमतं स्यात्, तदा प्रपञ्चतिरस्कारेण ब्रह्मणो भूयो भूयः प्रतिपादनमुपनिषत्सु न स्यात्; अस्ति तु तत्– "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्" (छा० ६।२।१), "मन-सैवाऽनुद्रष्टव्यं नेह नानाऽस्ति किञ्चन" (बृ० ४।४।१६), "सत्यस्य सत्यम्" (बृ० २।१।२०), "अतोऽन्यदार्तम्" (बृ० ३।४।२), "द्वितीयाद्वै भयं भवति" (बृ० १।४।२), इत्यादौ श्रुतौ। स्मृतिरपि– "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" (गीता० १८।६६)इत्यादिका।

अथ– ब्रह्मसाक्षात्कारः साक्षादेव दुःखोच्छित्तिरूपपरम-पुरुषार्थोपयोगी, न तु प्रपञ्चसाक्षात्कार इति बोधयितुं तथा प्रतिपादनमिति– चेत्; हन्त तर्हि तवैव रीत्या ब्रह्म-साक्षात्कारस्यैव पुरुषार्थहेतुत्वेन ब्रह्मैवोपादेयमित्यागतम्।

तो प्रपञ्च का तिरस्कार करके ब्रह्म का बार-बार प्रतिपादन उप-निषदों में नहीं होता, किन्तु बार-बार "हे प्रियदर्शन! सृष्टि के पहले यह दृश्यमान प्रपञ्च एक ही अद्वितीय सत् था", "मन से ही ब्रह्म का साक्षाकार करना चाहिये, उस में कुछ भी नाना नहीं", "मूर्त्त और अमूर्तरूप सत्य का भी वह सत्य है", "उस आत्मा से भिन्न सब विनाशी हैं", "द्वितीय पदार्थ से भय होता है", इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म का प्रतिपादन होता है। इसी प्रकार– "सब धर्मों का परित्याग करके मुझ एक ही परमात्मा के शरणागत हो जाओ" इत्यादि स्मृति भी है।

शंका– ब्रह्मसाक्षात्कार साक्षात् ही अत्यन्त दुःखविनाशरूप परमपुरुषार्थ में उपयोगी है, और प्रपञ्च का साक्षात्कार तो वैसा नहीं है– इस बात का बोधन करने के लिये उपनिषदों में ब्रह्म का बार-बार प्रतिपादन है। उत्तर– हां, तब तो तुम्हारी ही रीति से यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्मसाक्षात्कार ही परमपुरुषार्थ का हेतु होने से ब्रह्म ही उपादेय है। इसलिये ब्रह्मभिन्न प्रपञ्च स्वीकार करना व्यर्थ

तथाचेतरस्य प्रपञ्चस्य स्वीकारो वृथैव। सत्यत्वात् स्वीकार इति-चेत्; भ्रान्तोऽसि नितराम्; यतो निष्प्रयोजनमपि सत्यं स्वीकरोषि। यथार्थदर्शी तु वैदिको निष्प्रयोजनं दुःखैकहेतुं प्रपञ्चं मिथ्या मन्यते। तस्माद्ब्रह्मैव सत्, प्रपञ्चस्तु नाऽऽसीदस्ति भविष्यतीति युक्तमुत्पश्यामः।

किञ्च- सकलमुनिवरमूर्धन्यभगवद्वेदव्यासप्रणीतसूत्रकलापपौर्वापर्याऽऽलोचनया ब्रह्माऽद्वैतमेव प्रतीयते, नाऽन्यत्, तथा च यदि श्रुतेर्नाऽभेदे तात्पर्यं स्यात्, कथं तथा वर्णयेत्? अथ- यदि भेदे श्रुतेस्तात्पर्यं न स्यात्, कथमक्षपादकणभुक्प्रभृतिभिस्तथाऽभिवर्णितम्? कथं वा सुरगुरुणा चार्वाकशास्त्रमभाणि? नहि वेदव्यासात् ते निष्कृष्टप्रज्ञा इति शक्यं सम्भावयितुम्। यदि च ते पाषण्डान् व्यामो-

ही है। शंका- सत्य होने के कारण स्वीकार है। उत्तर- तुम अत्यन्त भ्रान्त हो; क्योंकि निष्प्रयोजन को भी सत्य मानते हो। यथार्थदर्शी वैदिक तो निष्प्रयोजन और दुःख के एक मात्र हेतु प्रपञ्च को मिथ्या मानते हैं। अतः ब्रह्म सत्य है और प्रपञ्च तो न था, न वर्तमान में है तथा न आगे भी होगा- ऐसा समझना ही युक्तियुक्त मालूम होता है।

किञ्च— सकलमुनिवरमूर्धन्य भगवान् वेदव्यास जी के द्वारा प्रणीत सूत्रसमुदाय की पौर्वापर्यालोचना से (आद्योपान्त विचार से) ब्रह्म अद्वैत ही प्रतीत होता है, उससे भिन्न प्रतीत नहीं होता। अतः यदि श्रुति का अभेद में तात्पर्य नहीं होता, तो किस प्रकार वैसा वर्णन हो सकता है? शंका- यदि भेद में श्रुति का तात्पर्य नहीं होता तो अक्षपाद गौतम, कणादादि ऋषियों के द्वारा भेद का वर्णन कैसे किया जाता? और सुरगुरु बृहस्पति से चार्वाकशास्त्र क्यों कहा जाता? वे लोग वेदव्यास से कम बुद्धि वाले तो कहे नहीं जा सकते। और उन्होंने पाखण्डी लोगों को व्यामोहित करने के लिये

हयितुं तथा कृतवन्त इति मन्यसे, तथा प्रकृतेऽपि तद्वक्तुं शक्यत एवेति– चेन्न; शिष्टपरिग्रहाऽपरिग्रहाभ्यां विशेषात्; वेदस्याऽपि प्रामाण्ये शिष्टपरिग्रह एव हेतुः। तथा च बृहस्पति-प्रणीतस्याऽप्रामाण्यमेव, शिष्टाऽपरिग्रहात्, गौतमादिप्रणीतस्य यद्यप्यधुनातनशिष्टाऽऽभासपरिग्रहोऽस्ति; तथापि न पूर्वेषामस्ति; विगीतत्वश्रवणात्। तथा च श्रूयते मोक्षधर्मे–

आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम्।
तस्येयं फलनिर्वृत्तिः श्रृगालत्वं वने मम ।।

(महाभा०शां०१८०।४७)।

मनुरप्याह– "हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नाऽर्चयेत्" (मनु०४।३०) इति। व्यासोऽप्याह– "एतेन शिष्टाऽ-

वैसा ही किया था— ऐसी यदि तुम्हारी भावना हो तो, उसी प्रकार प्रकृत (अद्वैतवाद) में भी हम वैसा ही कह सकते हैं (अर्थात् वेद-व्यास ने भी पाखण्डी को व्यामोहित करने के लिये अद्वैत का प्रति-पादन किया था)। उत्तर— ऐसा नहीं; क्योंकि शिष्ट पुरुषों से परिग्रह और अपरिग्रह के द्वारा दोनों पक्षों में अन्तर है। और वेद के प्रामाण्य में भी शिष्टपरिग्रह ही हेतु है। अतः शिष्टों से परिग्रह न होने के कारण बृहस्पति के द्वारा प्रणीत चार्वाकशास्त्र में अप्रा-माण्य है; गौतमादि से प्रणीत शास्त्र का यद्यपि आधुनिक शिष्टाभास लोगों से परिग्रह होता है, तथापि प्राचीन शिष्टों से परिग्रह नहीं होता, क्योंकि उसकी निन्दा का प्रतिपादन किया गया है; जैसे कि मोक्षधर्म में सुना गया है– "निरर्थक आन्वीक्षिकी (अनुमान-प्रधान) तर्कविद्या में अनुरक्त हुआ था; उसकी यह फलप्राप्ति है, जो मैं जंगल में शृङ्गाल बना हुआ हूँ।" मनु भी कहते हैं— वेद-विरोधितर्क करने वाले, तथा बकवृत्ति (स्वार्थसाधनतत्पर होकर मिथ्या विनय करने) वाले लोगों की वचनमात्र से भी अर्चना न करें।" इसी प्रकार व्यास जी भी कहते है— "सांख्यों के अभिमत

परिग्रहा अपि व्याख्याताः" (वे०द०२।१।१२) इति ।
शिष्टाश्च मनुप्रोक्ताः–

धर्मेणाऽधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।

ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ (मनु१२।१०९) इति । यत्तु–"यस्तर्केणाऽनुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः" (मनु१२।१०६) इति; तत् मीमांसारूपजैमिनितर्कपरम्; तस्यैव "अथातो धर्मजिज्ञासा" (पू०मी०१।१।१) इति धर्ममधिकृत्य प्रवृत्तेः ।

यत्तु– पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।

वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥ (याज्ञ०स्मृ०१।३) इति याज्ञवल्क्यवचनम्, तदपि पदार्थव्युत्पादनद्वारा विद्यान्तरोपकारत्वेनोपयुज्यते । न्यायशास्त्रमप्येतत्परमेव, न तु तज्ज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वपरम्; "नैषा तर्केन

प्रधानकारणवाद के निराकरण में कहे गये हेतुओं से ही मन्वादि शिष्ट पुरुषों से अपरिगृहीत परमाण्वादिकारणवाद भी खण्डित हुआ समझना चाहिये ।" और शिष्ट कौन होते हैं – इस विषय में मनु कहते हैं – "जिन लोगों ने ब्रह्मचर्यादि धर्म का पालन करके षडङ्ग, मीमांसा, धर्मशास्त्रादि से उपबृंहित वेद ज्ञात कर लिये हैं, उन श्रुतिप्रत्यक्ष के हेतुभूत ब्राह्मणों को शिष्ट समझना चाहिये ।" और जो- "जिसने तर्क से धर्म का अनुसन्धान किया है, वह धर्म को जानता है, अन्य नहीं" ऐसा कहा गया है, वह मीमांसाख्यजैमिनीयतर्कपरक है, क्योंकि उस तर्क के लिये "अथातो धर्मजिज्ञासा" इस प्रकार धर्मजिज्ञासा को लेकर उसकी प्रवृत्ति है। और जो- "पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, छः वेदाङ्ग और चार वेद ये चतुर्दश विद्या और धर्म का स्थान हैं" इस प्रकार के याज्ञवल्क्य का वचन है, वह पदार्थव्युत्पादन के द्वारा विद्यान्तर के उपकारकरूप से विनियुक्त है, न्यायशास्त्र भी पदार्थप्रतिपादनपरक है, उसका ज्ञान मुक्ति-

मतिरापनेया" (कठ० १।२।९) इति श्रुतिविरोधात्। भेद-प्रतिपादकानाञ्च तर्काणां श्रुतिविरोधेनाऽऽभासत्वात्। तस्मान्न्यायशास्त्राऽध्ययनं न निषिध्यते। किं तर्हि? तत्पर-त्वम्, "अनुरक्तो निरर्थिकाम्" (महाभा० शा० १८०।४७) इति वचनात्। बादरायणीयन्तु तन्त्रं सर्वैर्मुनिभिस्तात्पर्यतः संगृहीतमेव, तदेव मोक्षार्थिभिरध्येतव्यमिति। न च ते भ्रान्ताः, श्रुतिसंवादात्परमशिष्टत्वेन सर्वैः परिगृहीत-त्वाच्च।

किञ्च– कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम्।
को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेत्॥
(वि० पु० ३।४।५)
"द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपी जनार्दनः" (वि० पु० ३।३।५)

हेतुत्वपरक तो नहीं; क्योंकि "यह आत्मविषयकबुद्धि तर्क से प्राप्त करने योग्य नहीं" इस श्रुति से विरोध है, और भेदप्रतिपादक तर्क श्रुति से विरोध होने से तर्काभास है। इसलिये (विद्यान्तर के उप-कारक होने से) न्यायशास्त्र का अध्ययन निषिद्ध नहीं; किन्तु उसमें आसक्ति होना निषिद्ध है; क्योंकि "अनुरक्तो निरर्थिकाम्" यह महाभारत का वचन है। और वेदव्यास जी का शास्त्र तो सब मुनियों से तात्पर्यतः सम्यग् गृहीत ही है कि मोक्षार्थियों को उसी का अध्ययन करना चाहिये। और वे लोग भ्रान्त भी नहीं, क्योंकि श्रुति के अनुकूल चलने वाले हैं और सब के द्वारा परमशिष्टरूप से परिगृहीत हैं।

किञ्च– "कृष्णद्वैपायन व्यास को साक्षात् नारायण प्रभु समझो, कमलनेत्र भगवान् को छोड़कर कौन अन्य महाभारत की रचना कर सकता है?" "प्रत्येक द्वापर में विष्णु ही व्यासरूपी जना-र्दन हैं" इत्यादि सैकड़ों वचनों से ईश्वर ही व्यास है– ऐसा जाना

इत्यादिवचनशतैरीश्वर एव व्यास इत्यवगम्यते। तथा च न तस्य भ्रमप्रमादविप्रलिप्सादयः संभाव्यन्ते। "तद्वचनादाम्नाय-प्रामाण्यम्", "तन्मे प्रमाणं शिवः" इति च तवैवाऽङ्गीकारात्तदुक्तौ विश्वासः, अन्येषां च भ्रमादयः संभाविता इति न तदुक्तौ समाश्वासः। तदुक्तम्- "भ्रान्तेः पुरुषधर्मत्वात्" इति।

ननु- द्वैतरागिणो मम हृदि शतशस्त्वयोच्यमानमपि ब्रह्माद्वैतं नाऽऽदरमादधाति; पूर्वोक्तैरनुमानैर्भेदस्य सिद्धत्वादिति- चेन्न; श्रुत्यादिभिर्भेदस्य बाधितत्वात्। अथ- आगमबाधो ह्यागमजन्या साध्यविपरीतप्रतीतिः, सा च सत्या न न वा? आद्ये कथं बाधः? तयैव सत्यया द्वैतसिद्धेरद्वैतप्रमाऽभावात्; अन्त्ये सुतरां न बाधः; असत्येन ज्ञानेन बाधा-

जाता है। इसलिये उसके भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सादि सम्भव नहीं। "व्यास के वचन से वेद का प्रामाण्य है" और "उनका वचन ही हमारे लिये कल्याणकारक प्रमाण है" इस प्रकार तुमने भी अङ्गीकार किया है; इसलिये उनकी उक्ति में विश्वास है; अन्यों को तो भ्रमादि हो सकते हैं; अतः उनके वचनों में विश्वास नहीं होता। कहा भी है – "भ्रम पुरुष का धर्म है" इति।

शंका— द्वैतरागी मेरे हृदय में सैकड़ों बार तुम्हारे द्वारा समझाने पर भी ब्रह्माद्वैत का आदर नहीं आ रहा है; क्योंकि पूर्वोक्त अनुमानों से भेद सिद्ध होता है। उत्तर— नहीं, श्रुत्यादि से भेद का बाध हो जाता है। शंका— आगमबाध का अर्थ है– आगम-जन्य साध्याभावप्रतीति। क्या वह प्रतीति सत्य है, या नहीं? प्रथम पक्ष में उससे कैसे बाध होगा? क्योंकि उस सत्य प्रतीति से ही द्वैत की सिद्धि होने से अद्वैतप्रमा का अभाव होता है। अन्तिम पक्ष में तो सुतरां बाध नहीं होगा, क्योंकि असत्य ज्ञान से बाध नहीं हो सकता। उत्तर— ऐसा नहीं; अद्वैतबुद्धि का असत्त्व

ऽयोगादिति– चेन्न; अद्वैतबुद्धेरसत्त्वेऽपि तद्विषयसत्यत्वेन बाधकत्वोपपत्तेः। नहि ज्ञानस्य स्वरूपसत्त्वं बाधकत्वे प्रयोजकम्, भ्रमस्याऽपि बाधकत्वप्रसङ्गात्। किं तर्हि? विषयसत्यत्वम्, तच्च प्रकृते विद्यत इति। तथापि पूर्वानुमानेऽन्यो दोषः क इति– चेत्; साध्याऽविशिष्टतैव, भेदस्य क्वाप्यसिद्धेश्च। न च– व्यावहारिको भेदः सिद्ध इति– वाच्यम्; तथा सति तेनैव सिद्धसाधनतापत्तेः। न च– आभासव्युदासेन स एव पारमार्थिकः सेत्स्यतीति– वाच्यम्; अनुमितेर्व्यावहारिकभेदविषयत्वेनाऽप्युपपत्तौ कालत्रयाऽबाध्यत्वलक्षणस्य पारमार्थिकत्वस्याऽविषयीकरणात्। न च– भेदं पक्षीकृत्य पारमार्थिकत्वं साध्यम्, तथा च न सिद्धसाधनतेति– वाच्यम्; "नेह नानास्ति किञ्चन" (बृ०४।४।१९) इति

होने पर भी उसके विषय में सत्यत्व होने के कारण उसकी बाधकता हो सकती है। ज्ञान का स्वरूपसत्त्व बाधकता में प्रयोजक नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर भ्रम की भी बाधकता होने लगेगी (क्योंकि उस का भी स्वरूपसत्त्व है)। किन्तु विषयसत्यत्व ही बाधकता में प्रयोजक है। वह तो प्रकृत में है ही। शंका— तो भी पूर्व अनुमान में अन्य कौनसा दोष है? उत्तर— पक्षहेत्वादि से साध्य की अविशिष्टता ही है, क्योंकि भेद की सिद्धि कहीं भी नहीं होती। शंका– व्यावहारिक भेद की सिद्धि होती है। उत्तर— ऐसा न कहो, क्योंकि उसी से सिद्धसाधनता हो जायेगी। शंका— आभास का निराकरण करके वह व्यावहारिक भेद ही पारमार्थिक सिद्ध होगा। उत्तर-ऐसा भी न कहो; कारण कि अनुमिति का व्यावहारिक भेद ही विषय सम्भव होने पर कालत्रयाबाध्यत्वरूप पारमार्थिकता विषय नहीं हो सकती। शंका— भेद को पक्ष बनाकर उसमें पारमार्थिकता साध्य सिद्ध की जायेगी; तब तो सिद्धसाधनता नहीं होगी। उत्तर— ऐसा न कहो; क्योंकि— "इस ब्रह्म में नाना कुछ भी नहीं" इस श्रुति

श्रुत्या बाधितत्वात् । पारमार्थिकत्वञ्च यदि प्रमाविषयकत्वम्, तन्न; अप्रयोजकत्वात्, प्रातीतिकभेदेनैव व्यवहारोपपत्तेः । अन्यच्च पूर्वं दूषितमेव ।

किञ्च– वेद्यत्वादीनां हेतूनां पारमार्थिकत्वाभावव्याप्यत्वेन विरुद्धश्च । न च–ब्रह्मण्यपि वेद्यत्वमस्तीति–वाच्यम्; तस्य वेद्यत्वाऽनङ्गीकारात् । ननु–"ब्रह्मणि वेद्यत्वं नास्ति"

से भेदपारमार्थिकत्वानुमान बाधित हो जाता है। और पारमार्थिकत्व का अर्थ यदि प्रमाविषयकत्व है तो, वह ठीक नहीं; क्योंकि— वह (प्रमाविषयकत्व) पारमार्थिकत्व साध्य में अप्रयोजक हेतु है; कारण कि— प्रातीतिक भेद से ही व्यवहार हो सकता है। और बाकी तो पहले ही दूषित कर चुके हैं।

किञ्च— वेद्यत्वादि हेतु पारमार्थिकत्वाभाव का व्याप्य होने से विरुद्ध हैं ("यत्र वेद्यत्वादि तत्र पारमार्थिकत्वाभावः" इस प्रकार से पारमार्थिकत्वरूपसाध्याभाव से व्याप्त होने के कारण वेद्यत्वादि विरुद्ध नामक हेत्वाभास है)। शंका– ब्रह्म में भी वेद्यत्व है। उत्तर— ऐसा कथन उचित नहीं; क्योंकि ब्रह्म का वेद्यत्व हमारे मत में नहीं माना जाता(१)। शंका— "ब्रह्म में वेद्यत्व नहीं" इस

---

(१) वेद्यत्व का अर्थ है— ज्ञानविषयत्व। वेदान्तियों के मत में "वृत्तिव्याप्यत्वे सति फलव्याप्यत्वं वेद्यत्वम्" अर्थात्— अन्तःकरणवृत्ति का विषय होने पर उस अन्तःकरणवृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य का भी विषय हो जाये तो वह पदार्थ वेद्य यानी ज्ञान का विषय है। अन्तःकरणवृत्ति जडप्रकाशरूप है, और उसका कार्य तो अपने से सम्बन्धित जड पदार्थ से उपहित चैतन्य में आश्रित आवरण का भङ्ग करना मात्र है। इस प्रकार आवरण भङ्ग होने पर भी चैतन्य का उपाधिभूत वह पदार्थ स्वरूप से जड होने के कारण स्वयं प्रकाशित नहीं होता। अतः वह उस अन्तःकरणवृत्ति में प्रतिबिम्बरूप से अभिव्यक्त चैतन्य का विषय होकर प्रकाशित होता है; वही अभिव्यक्त चैतन्य विषयज्ञान है; और उस के विषय सब जड पदार्थ

इत्यत्र ब्रह्मपदेन ब्रह्मोपस्थाप्यते न वा ? आद्ये त्वद्वाक्येनैव वेद्यत्वम्; अन्त्ये न ब्रह्मणि वेद्यत्वनिषेधस्त्वया कर्तुं शक्यः, वेद्यत्वनिषेधकेन वाक्येन ब्रह्मानुपस्थापनादिति ।– ब्रह्मशब्देन यद्यस्मदभिमतं त्रिविधपरिच्छेदशून्यं वस्तु स्वीकृत्य वेद्यत्वमापाद्यते; तदा तवैव व्याघातः; अथ ज्ञानाद्यधिकरणं जडमात्मानमङ्गीकृत्य, तथासति तत्र मिथ्यात्वमप्यस्तीति

वाक्य में ब्रह्मपद से ब्रह्म उपस्थापित होता है, या नहीं ? प्रथम पक्ष में तो तुम्हारे वाक्य से ही ब्रह्म का वेद्यत्व सिद्ध होता है, और अन्तिम पक्ष में ब्रह्म के वेद्यत्व का निषेध तुम से नहीं हो सकता; क्योंकि वेद्यत्व के निषेधक वाक्य से ब्रह्म का उपस्थापन नहीं हुआ है । उत्तर— ऐसा कहना ठीक नहीं; कारण कि— ब्रह्म-शब्द से यदि तुम हमारे अभिमत त्रिविधपरिच्छेद (देशतः कालतः वस्तुतः परिच्छेद) से रहित वस्तु को मानकर उसमें वेद्यत्व का आपादन करते हो, तो तुम्हारा ही व्याघात होगा; यदि तुम्हारे अभिमत ज्ञानाद्यधिकरण जड़रूप आत्मा को मानकर कहते हो, तो

वेद्य कहे जाते हैं। किन्तु चैतन्य की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में तो ऐसी बात नहीं होती; वह स्वयं ही प्रकाशरूप है; उस को प्रकाश करने के लिये अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं पड़ती, केवल उसमें आश्रित आवरण भङ्ग मात्र से वह स्वयं प्रकाशित होता है। वह आवरण भङ्ग तो तदाकार अन्तःकरणवृत्ति से होता है, और आवरण भङ्ग होने के बाद उसको प्रकाशित करने के लिये तदाकारान्तः-करणवृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार वह उस प्रतिबिम्बित चैतन्य का विषय न होने से वेद्य या ज्ञान का विषय नहीं कहलाता, वृत्ति का विषय तो कहलाता है। लोक में यह देखने में आता है कि जड़ होता हुआ भी एक दीपक को प्रकाश करने के लिये अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं पड़ती; तब तो सब का सामान्यरूप से प्रकाशक नित्य स्वप्रकाशरूप चैतन्यात्मक ब्रह्म के संबन्ध में तो क्या कहना है।

न दोषः । किञ्च– ब्रह्मणि वेद्यत्वस्वीकारे श्रुतिविरोधश्च । तथाहि श्रूयते– "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि" (केन० १।३) इत्यादि । तदाकारान्तःकरणवृत्त्युत्पादमात्रेण च वेदान्तानां तद्बोधकत्वोपचारः । ब्रह्मणि वेद्यत्वं नास्तीव वेदान्तानां... ब्रह्मणि वेद्यत्वं नास्ती-त्यस्याऽब्रह्मण्येव वेद्यत्वमित्यर्थः । मुख्याया असंभवे जघन्याया एव वृत्तेर्न्याय्यत्वात् । उपपादितञ्चैतदद्वैतसिद्धौ दृश्यत्वहेतूपपादने ।–

"अतो ब्रह्मणि वेद्यत्वं गीर्वाणैरपि दुर्भणम् ।
श्रुतिबाधभयात्तस्मान्मिथ्या दृश्यं नियोगतः ।।"

तथा च प्रयोगः– प्रपञ्चो मिथ्या, वेद्यत्वात्, शुक्तिरजततादात्म्यवत्; भेदो न पारमार्थिकः, व्यावहारिकत्वात्,

उसमें मिथ्यात्व भी होने से कोई दोष नहीं। किञ्च– ब्रह्म में वेद्यत्व मानने पर श्रुति से विरोध होता है। श्रुति तो– "वह ब्रह्म विदित से अन्य ही है और अविदित से भी अन्य ही है" ऐसा कहती है। और ब्रह्माकार अन्तःकरणवृत्ति के उत्पादन मात्र से वेदान्तवाक्यों का ब्रह्मबोधकत्व गौण रूप से है। तथा "ब्रह्म में वेद्यत्व नहीं" इसका "ब्रह्मभिन्न में वेद्यत्व है" यह अर्थ है। मुख्य वृत्ति असम्भव होने पर गौण वृत्ति का अवलम्बन युक्तियुक्त है। अद्वैतसिद्धि में दृश्यत्वहेतु का प्रतिपादन करते समय इसका प्रतिपादन किया गया है (भाव यह है कि "ब्रह्म में वेद्यत्व नहीं" इस प्रकार शुद्धब्रह्म में वेद्यत्वाभाव कहना हो तो अधिकरण शुद्धब्रह्म ज्ञान का विषय हुए बिना उसमें वेद्यत्वा-भाव का विधान नहीं हो सकता; अतः उसका अर्थ "ब्रह्मभिन्न में वेद्यत्व है' इस प्रकार गौणरूप से है)। "श्रुतिबाध के भय से देवता भी ब्रह्म में वेद्यत्व कह नहीं सकते; अतः दृश्यप्रपञ्च बलात् मिथ्या सिद्ध है।"

इस में अनुमान का प्रयोग इस प्रकार है– प्रपञ्च मिथ्या है, क्योंकि वह वेद्य है; जैसे शुक्तिरजत का तादात्म्य। भेद पारमार्थिक

तरङ्गप्रसङ्गाऽनुभूतचन्द्रभेदवत् । न च ब्रह्मणि व्यभिचारः; तत्र हेतोरप्यभावात्, सिद्धान्तस्य च प्रसाधितत्वान्न तदसिद्धिः । साध्यञ्च मिथ्यात्वं निरुक्तमद्वैतसिद्धौ भ्रममात्रविषयत्वं प्रमित्यविषयत्वं वा । न चाऽसिद्धिः,भ्रमविषयस्यैव तादृशस्य च सिद्धत्वात् । सदसद्भ्यामनिर्वचनीयत्वं वा । न चाऽयं पुरुषदोषः, वस्तुदोषत्वात् । तथा हि—यदि सत्स्यात्, न व्यभिचरेत्, यथा चिदात्मा । यदि चाऽसत्स्यात्, नाऽपरोक्षप्रतीतिपथमवतरेत्; तस्मादेतद्द्वयविलक्षणत्वसिद्धिः प्रपञ्चस्य । किञ्च– सत्त्वाऽसत्त्वसदसत्त्वपक्षेषु दूषणदर्शनाद-

नहीं, क्यों कि वह व्यावहारिक है, जैसे तरङ्गप्रसङ्ग में अनुभूत चन्द्रभेद। और ब्रह्म में हेतु का व्यभिचार भी नहीं होता, क्योंकि ब्रह्म में हेतु की वृत्ति नहीं है; तथा वेद्यत्व और व्यावहारिकत्व का निर्वचन करके पहले ही सिद्धान्त प्रसाधित होने के कारण हेतु की असिद्धि भी नहीं। और अद्वैतसिद्धि में "भ्रम मात्र का विषयत्व, अथवा प्रमा का अविषयत्व मिथ्यात्व है", इस प्रकार साध्यरूप मिथ्यात्व का निर्वचन कर चुके हैं। इस लक्षण की असिद्धि भी नहीं; क्योंकि भ्रमविषयत्व ही मिथ्यात्व सिद्ध होता है। अथवा सत् और असत् रूप से अनिर्वचनीयत्व ही मिथ्यात्व है। यह अनिर्वचनीयता पुरुष का दोष नहीं (भाव यह है कि– मन्दबुद्धि होने से पुरुष निर्वचन करने में असमर्थ है, यदि तीक्ष्ण बुद्धि वाला हो तो वह निर्वचन कर सकता है; अतः वस्तुगत अनिर्वचनीयत्व पुरुष के दोष से है, इसके उत्तर में कहते हैं कि— अनिर्वचनीयत्व पुरुषदोष से नहीं), किन्तु वस्तु का ही दोष है अर्थात् अनिर्वचनीयता वस्तु का स्वभाव है। तथा हि— यदि सत होता तो व्यभिचरित नहीं होता (अर्थात् सदा अबाधित होकर रहता), जैसे चिदात्मा; और यदि असत् होता तो अपरोक्ष प्रतीति का विषय नहीं होता, (जैसे- बन्ध्यापुत्र)। इस लिये इन दोनों से विलक्षणता प्रपञ्च की सिद्ध होती है। किञ्च— सत्त्व, असत्त्व और

निर्वचनीयत्वमेवाऽवधारयामः ।

ननु– अनिर्वचनीयत्वेऽपि दोषं पश्यसि न वा ? आद्ये तदपि कथमवधारितवानसि ? द्वितीये त्वनिर्वचनीयत्वेनैव वास्तवेन धर्मेण व्यवस्थितः प्रपञ्चो ब्रह्मभिन्नतया व्यवस्थास्यत इत्यद्वैतपक्षाय वितीर्णो जलाञ्जलिः । न च– अनिर्वचनीयत्वमप्यपारमार्थिकत्वमेवेति–वाच्यम्; तथासति मदभिमतं निर्वचनीयत्वमेवाऽङ्गीकृतं स्यात्; तथा च न विवादः । न च– न निर्वचनीयत्वम्, नाऽप्यनिर्वचनीयत्वम्; किं तर्हि ? उभयाऽभाववत्त्वमिति– वाच्यम्; तथासति तेनैव रूपेण प्रपञ्चो व्यवस्थित इत्युक्तं स्यात् । तथा च दोषस्तदवस्थः । न च– विरोधात्तदपि नाङ्गीकुर्म इति–

सदसत्त्व पक्षों में दोष देखने में आने से अनिर्वचनीयता का ही निश्चय होता है ।

शंका— अनिर्वचनीयता में भी तुम दोष देखते हो, या नहीं ? प्रथम पक्ष में दोष देखने के कारण तुमने अनिर्वचनीयता का कैसे अवधारण किया ? (अर्थात् अनिर्वचनीयता में दोष है तो निर्वचनीयता को मानना चाहिये) । द्वितीय पक्ष में तो दोष न होने से वास्तव अनिर्वचनीयतारूप धर्म से विशिष्ट प्रपञ्च ब्रह्मभिन्नरूप से व्यवस्थित रहेगा; अतः अद्वैतपक्ष के लिये तो दत्तजलाञ्जलि हो जायेगा । और अनिर्वचनीयता भी अपारमार्थिकता ही है– ऐसा भी तुम नहीं कह सकते; क्योंकि ऐसा होने पर हमारी अभिमत निर्वचनीयता ही अङ्गीकृत होगी; तब तो विवाद ही नहीं रहा । इसमें न तो निर्वचनीयता है, और न ही अनिर्वचनीयता है; किन्तु उभयाभाववत्ता है– ऐसा भी कहना उचित नहीं; कारण कि ऐसा होने पर उसी रूप से प्रपञ्च व्यवस्थित है– ऐसा ही कहना होगा । तब तो दोष पूर्ववत् ही रहेगा अर्थात् द्वैतापत्ति होगी । इसी प्रकार— अद्वैत से विरोध होने के कारण उभयाभाववत्ता को प्रपञ्च में नहीं

वाच्यम्; तथा सति प्रकारान्तरेण व्यवस्थित इति सर्वथा ब्रह्मप्रपञ्चयोः सिद्धो भेद इति।

अत्रोच्यते– न सत्त्वम्, नाऽप्यसत्त्वम्, नाऽप्यनिर्वचनीयत्वम्, नोभयाऽभाववत्त्वम्, नाऽन्यतरत्वम्; सर्वेषां पक्षाणां दुष्टत्वात्। दुष्टत्वमेव तर्हि पारमार्थिकमिति–चेन्न; "नेह नानास्ति किञ्चन" इति दुष्टत्वस्यापि निषेधात्। अदुष्टत्वमेव तर्हि पारमार्थिकमिति– चेन्न; तस्याऽपि निषेधादेव। निषेधस्तर्हि पारमार्थिक इति– चेत्; ततः किम्? तेनैव द्वैतापत्तिरिति–चेन्न; भावाऽद्वैतस्वीकारात्। एतेन– मिथ्यात्वं धर्मो यदि प्रपञ्चनिष्ठोऽभिमतस्तदा प्रपञ्चस्वीकारापत्तिरिति–अपास्तम्; धर्मधर्मिभावाऽनभ्युपगमादेव।

मानते— ऐसा भी नहीं कह सकते; क्यों कि ऐसा होने पर भी प्रकारान्तर से प्रपञ्च व्यवस्थित रह ही जायेगा; इस लिये ब्रह्म और प्रपञ्च का भेद सर्वथा सिद्ध होता है।

समाधान– यहां हम उत्तर देते हैं— न तो सत्त्व है, न असत्त्व है, न अनिर्वचनीयत्व है, न उभयाभाववत्त्व है, और न दोनों का अन्यतरत्व है; क्यों कि सभी पक्षों में दोष है। शंका— तब तो दुष्टत्व ही पारमार्थिक हो जायेगा। उत्तर– नहीं, "नेह नानास्ति किञ्चन" इस श्रुति से दुष्टत्व का भी निषेध किया जाता है। शंका तब भी अदुष्टत्व ही पारमार्थिक हो जायेगा। उत्तर नहीं; उसका भी निषेध होता है। शंका– फिर भी निषेध रह गया, वह पारमार्थिक हो जायेगा। उत्तर— उससे क्या? शंका— उसी से द्वैतापत्ति होगी। उत्तर– नहीं; हम भावरूप अद्वैत मानते हैं (अतः निषेधरूप अभाव को लेकर द्वैतापत्ति नहीं हो सकती)। और इसी से— यदि मिथ्यात्व धर्म प्रपञ्चनिष्ठ अभिमत है, तो प्रपञ्च स्वीकार करना होगा— ऐसा कथन भी निराकृत हुआ; क्योंकि दोनों में धर्मधर्मिभाव को हम नहीं मानते (कारण कि जो वस्तुतः नहीं है,

किञ्च– प्रपञ्चसत्यत्वसाधकानुमाने विपक्षबाधकतर्काऽभावश्च। न च–लौकिकवैदिकव्यवहारविप्लवरूपो बाधकस्तर्कोऽस्तीति– वाच्यम्; तस्य मिथ्यारूपस्य मिथ्यावस्तुभिरेवोपपत्तेः। नहि जगन्मिथ्येति वादिमते सत्यं साध्यं किमप्यस्ति। आत्मसाध्यं जगदिति तव सिद्धान्त इति– चेन्न; अविद्यामूलत्वाऽभ्युपगमात्। ब्रह्मकारणत्ववादस्तु तदधिष्ठानत्वमूलः।

ननु– ब्रह्माद्वैते किमपि प्रमाणमस्ति, न वा ? न चेत्, शशविषाणकल्पता; अस्ति चेत्, श्रुतिरन्यद्वा ? नाऽन्यः, अनभ्युपगमात्। न प्रथमः, तस्य पारमार्थिकत्वापत्तौ अद्वैत-

उसमें धर्मधर्मिभाव हो ही नहीं सकता)। किञ्च– प्रपञ्चसत्यत्व के साधक अनुमान में विपक्षबाधक तर्क का अभाव है (पक्ष में हेतु और साध्य की व्यभिचारशंका करने पर उसके बाधक तर्क को विपक्षबाधक तर्क कहते हैं)। शंका– लौकिक और वैदिक व्यवहार का विप्लवरूप बाधक तर्क है (यदि प्रपञ्च सत्य नहीं होता, तो लौकिक और वैदिक सब व्यवहार लुप्त हो जाते, किन्तु ऐसा नहीं; अतः प्रपञ्च सत्य है—यह बाधक तर्क है)। उत्तर– ऐसा न कहो; क्योंकि वह मिथ्यारूप व्यवहार मिथ्या वस्तुओं से ही हो सकता है। जगत् को मिथ्या मानने वाले वादी के मत में सत्य साध्य कुछ भी नहीं है। शंका– आत्मा से साध्य (आत्मा का कार्य) जगत् है-ऐसा तो तुम्हारा सिद्धान्त है। उत्तर- नहीं; हम जगत् को अविद्यामूलक मानते हैं; और ब्रह्मकारणतावाद तो जगदधिष्ठानत्वमूलक है।

शंका– ब्रह्माद्वैत में कोई प्रमाण है, या नहीं ? यदि नहीं है, तो शशविषाण के समान होगा; यदि है तो वह श्रुति है, अथवा अन्य ? अन्तिम पक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि तुम ब्रह्माद्वैत में श्रुति से अतिरिक्त प्रमाण नहीं मानते। प्रथम पक्ष भी नहीं; कारण कि श्रुतिरूप प्रमाण में पारमार्थिकत्व आयेगा और उस से अद्वैत की

हानेः, अपारमार्थिकत्वे च कथं ततः पारमार्थिकं ज्ञानं स्यादिति– चेन्न; अपारमार्थिकादपि स्वप्नाऽनुभूतकामिनीसंसर्गाच्चरमधातुविसर्गदर्शनात् । नहि स्वप्नाऽनुभूतकामिनीसंसर्गस्य पारमार्थिकत्वमनुभवाऽनुसारिणा वक्तुं शक्यम् । ननु– तदानीं कामिनीतत्संसर्गयोरभावेऽपि तज्ज्ञानाददृष्टसंस्कारादिसहकृतादुत्पाद्यमानश्चरमधातुविसर्गः पारमार्थिकहेतुत एवेति– चेन्न; वैषयिकसुखे तज्ज्ञानवत् तस्याऽपि हेतुत्वात्, अन्यथा जागरावस्थायामपि विषयज्ञानमेव हेतुरिति विषयाङ्गीकारो व्यर्थ एवेति जितं विज्ञानवादिभिः ।

किञ्च– अदृष्टस्य दृष्टोपकारकत्वेनैव जनकता, तथा च जागरे विषयमुपहृत्यैव सुखोत्पादकता, तथा स्वप्नेऽपीति

हानि होगी । और यदि श्रुतिप्रमाण अपारमार्थिक होने पर तो उस से किस प्रकार पारमार्थिक ज्ञान होगा ? उत्तर– ऐसा न कहो; क्योंकि— अपारमार्थिक स्वप्नानुभूत कामिनी के संसर्ग से भी चरमधातु (वीर्य) का पतन देखा जाता है । और अनुभव का अनुसरण करके चलने वाले लोग स्वप्नानुभूत कामिनी के संसर्ग को पारमार्थिक नहीं कह सकते । शंका– उस समय कामिनी और उसके संबन्ध का अभाव होने पर भी अदृष्ट संस्कारादि सहकारियों से युक्त कामिनीज्ञान से होने वाला वीर्यपात पारमार्थिक हेतु से ही है । उत्तर— नहीं; विषयजन्य सुख में जैसे विषयज्ञान हेतु है, वैसे ही विषय भी हेतु है । यदि विषय हेतु नहीं है, तो जागरावस्था में भी विषयज्ञान मात्र हेतु होगा; तब तो विषय का अङ्गीकार करना व्यर्थ होने के कारण आप विज्ञानवादी बौद्धों के द्वारा जीते गये ।

किञ्च– अदृष्ट की दृष्ट कारण का उपकारक होकर ही कारणता है, साक्षात् नहीं; तब तो जागृतावस्था में विषय को संगृहीत करके ही अदृष्ट की सुखजनकता है, उसी प्रकार स्वप्न में भी विषयसहित अदृष्ट सुखोत्पादक होने से मायामय विषय सिद्ध होता

सिद्धो मायामयो विषयः। किञ्च- न ज्ञानमात्रं सुख-जनकम्; किं तर्हि ? कामिनीज्ञानम्। तथा च विशिष्टस्य जनकत्वे विशेषणमपि जनकमेव। तदसत्कथं जनकमिति-चेत्; भ्रान्तोऽसि, मायामयं स्वीकृत्य यतः कृती न भवसि। किञ्च- कामिनीज्ञानमपि मिथ्या; मिथ्यार्थविषयत्वात्; नह्यन्यन्मिथ्यात्वं ज्ञानस्य वक्तुं शक्यत इत्युक्तमधस्तात्। तस्मात् स्वयमसत्याऽऽपि श्रुतिरद्वैतज्ञानं सत्यविषयकं सत्य-मुत्पादयतीति सिद्धम्।

ननु- एवं सत्यं चेत् ज्ञानम्, तेनैव द्वैतापत्तिरिति-चेन्न; तस्य स्वयमसत्यत्वात्। तथा सति कथं प्रमेति-चेत्; भ्रान्तोऽसि नितराम्। ननु- विद्याऽविद्ययोः पार-मार्थिकत्वाऽपारमार्थिकत्वयोर्भेदे सिद्धेऽसिद्धोऽभेदः; अभेदे

है। किञ्च- ज्ञानमात्र सुखजनक नहीं; किन्तु कामिनीज्ञान सुखजनक है। इस प्रकार विशिष्टज्ञान जनक होने पर विशेषण (कामिनी) भी जनक ही होती है। शंका— वह असत् (स्वप्नदृष्ट कामिनी) जनक कैसे होगी ? उत्तर— तुम भ्रान्त हो; क्योंकि मायामय को मानकर तुम कृतार्थ नहीं हुए हो। किञ्च— कामिनीज्ञान भी मिथ्या ही है, कारण कि— वह मिथ्यार्थविषयक है, मिथ्यार्थविषयक होने के अतिरिक्त मिथ्याज्ञान कहा नहीं जा सकता— यह बात पहले ही कह चुके हैं। इसलिये स्वयं असत्य होती हुई भी श्रुति सत्यविषयक सत्य अद्वैतज्ञान को उत्पन्न करती है— यह सिद्ध है।

शंका-- इस प्रकार से वह उत्पन्न ज्ञान सत्य है, तो उसी से द्वैत की आपत्ति होगी। उत्तर — नहीं, वह स्वयं तो असत्यस्वरूप है। शंका— तब वह कैसे प्रमा होगा ? उत्तर- तुम सर्वथा भ्रान्त हो (अर्थात् उसका प्रमात्व स्वरूपसत्यत्व से नहीं; किन्तु अबाधितविषय-कत्व से है)। शंका- विद्या और अविद्या के पारमार्थिकत्व और अपारमार्थिकत्व का भेद सिद्ध होने से अभेद असिद्ध है, और अभेद

च बाध्यबाधकत्वाऽनुपपत्तिः, प्रपञ्चब्रह्मविभागाऽनुपपत्तिश्चेति– चेन्न; अविद्यादशायां विद्यमानभेदाङ्गीकारात् । पारमार्थ्यस्तु ब्रह्माद्वैतमेव । ननु– प्रपञ्चांशे यथातथास्तु, जीवेश्वरयोस्तु यदि न भेदः, तर्हि चिदानन्दघनस्य परमात्मनोऽदुःखमयत्वाऽशरीरत्वसर्वज्ञत्वादिविरोध इति– चेन्न; उपाधिभेदाऽङ्गीकारात् । उपाधिभेदश्चाऽपारमार्थिक इति न द्वैताऽऽपत्तिः । ननु– एवं क्षेत्रज्ञेश्वरयोरत्यन्ताऽभेदे उपाधिभेदस्य च मिथ्यात्वे तत्कृतदुःखादिसंबन्धस्याऽपि मिथ्यात्वात् किं निरासार्थं श्रवणमननादिकं स्यात् ? नहि शशविषाणनिरासार्थं किमपि मृग्यते । तथा च तदनुष्ठानलक्षणक्रियाव्याघात इति– चेन्न; अविद्यानिवृत्तेः प्रयोजनत्वात् । तदुक्तं कात्यायनेन व्याकरणव्याख्यकारेण" सिद्धन्तु

में बाध्यबाधकभाव भी नहीं हो सकता; तथा– प्रपञ्च और ब्रह्म का विभाग भी नहीं हो सकता। उत्तर– नहीं; अविद्यादशा में विद्यमान भेद अङ्गीकार किया जाता है; और परमार्थतः तो ब्रह्म अद्वैत ही है। शंका–– प्रपञ्चांश में जैसे तैसे अभेद हो, किन्तु जीव और ईश्वर में यदि भेद नहीं है तो चिदानन्दघनरूप परमात्मा के अदुःखमयत्व, अशरीरत्व, सर्वज्ञत्वादि होने में विरोध है। उत्तर— नहीं; उनमें उपाधि का भेद माना जाता है, और उपाधिभेद अपारमार्थिक होने से द्वैतापत्ति नहीं होती। शंका— क्षेत्रज्ञ जीव और ईश्वर में अत्यन्त अभेद और उपाधिभेद का मिथ्यात्व होने पर उपाधिकृत दुःखादिसम्बन्ध के भी मिथ्यात्व होने से किसके निराकरणार्थ श्रवण मननादि होंगे ? शशविषाणादि का निराकरण करने के लिये उपाय कुछ भी नहीं खोजा जाता। इसलिये श्रवण मननादि की अनुष्ठानरूप क्रिया का व्याघात होगा। समाधान –नहीं; श्रवण मननादि का अविद्यानिवृत्तिरूप प्रयोजन है। अतः व्याकरण के वार्तिककार कात्यायन ने कहा है– "अज्ञाननिवर्तक होने से श्रवणादि

निवर्तकत्वात्" इति ।

ननु– अविद्या यदि सती, तदा तस्या निवृत्त्यनुपपत्तिः; अथाऽसती, तदा नित्यनिवृत्तैवेति यत्नाऽऽनर्थक्यमिति–चेन्न; सदसद्विलक्षणत्वाऽभ्युपगमात् । तथाप्यनादिभावस्य निवृत्त्यनुपपत्तिरिति– चेन्न; भ्रमसंस्कारेण व्यभिचारात् । व्यक्त्यनादित्वं तत्र नास्तीति– चेन्न; प्रागभावेन व्यभिचारात् । तत्र भावत्वं नास्तीति–चेन्न; स्वरूपसद्भावत्वस्य तत्राऽपि विद्यमानत्वात् । सत्तायोगित्वं भावत्वं तत्र नास्तीति–चेत्; अविद्यायामपि तन्नास्त्येव; तस्माद्यत्किंचिदेतत् । किञ्च– अनादेर्भावस्येवाऽनादेरभावस्याऽप्यत्यन्ताभावादेविनाशाऽदर्शनेऽपि विरोधिसामग्रीसन्निपातादनादेः प्रागभावस्य यथा

का प्रयोजन सिद्ध है।"

शंका— यदि अविद्या सत् है तो उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती, यदि वह असत् है तो उसकी नित्य निवृत्ति होने से उसके लिये यत्न व्यर्थ है। उत्तर– नहीं; क्योंकि अविद्या को हम सत् और असत् से विलक्षण मानते हैं। शंका— तो भी अनादि भावपदार्थ की निवृत्ति नहीं हो सकती। उत्तर— ऐसा नहीं; क्योंकि "यत्र अनादिभावत्वम्, तत्र निवृत्तिरहितत्वम्" इस व्याप्ति का भ्रमसंस्कार में व्यभिचार है। शंका- उसमें व्यक्तिगत अनादित्व तो नहीं है। उत्तर- नहीं; प्रागभाव में व्यक्तिगत अनादित्व होने से व्यभिचार है। शंका- प्रागभाव में भावत्व नहीं है। उत्तर– ऐसा न कहो; क्योंकि उसमें भी स्वरूपसद्भाव तो वर्तमान है (अर्थात् वह वन्ध्यापुत्र जैसा असत् नहीं; अभाव होने पर भी उसका स्वरूपसद्भाव है)। शंका—सत्तायोगित्वरूप भावत्व प्रागभाव में नहीं है। उत्तर— तब तो अविद्या में भी वह नहीं है; इसलिये वह जो कुछ है, वही है (अर्थात् अविद्या सत् और असत् से विलक्षण है)। किञ्च – अनादि भाव के समान अनादि अभाव अत्यन्ताभावादि के विनाश का अदर्शन होने पर भी

विनाशोऽङ्गीकृतः; अन्यथा कारणव्यापारवैयर्थ्यापत्तेः; एवमज्ञानेऽपि दीयतां दृष्टिः; अन्यथा प्रमाणव्यापारवैफल्यापत्तेः। तस्मादनाद्यभावत्ववदनादिभावत्वमपि न प्रयोजकम्। किन्तु विरोधिसामग्रीसमवहितत्वमेव। तथाप्यविद्यानिवृत्त्यैव द्वैतापत्तिरिति– चेन्न; अधिष्ठानब्रह्माऽभ्युपगमात्; ज्ञात एवाऽऽत्माऽऽविद्यानिवृत्तिरित्युच्यते; अतोऽज्ञानदशायां न तथा व्यवहारः।

ननु– ब्रह्मसाक्षात्कारस्याऽविद्यानिवर्तकस्य ब्रह्माऽभिन्नत्वे सर्वदाऽविद्यानिवृत्त्यापत्तिः, यागादिसाध्यत्वाऽनुपपत्तिश्च, ब्रह्मभिन्नत्वे च सिद्धो भेद इति– चेन्न; अभिन्न-

विरोधिसामग्री के सन्निपात से अनादि प्रागभाव का जिस प्रकार विनाश अङ्गीकृत होता है; क्योंकि प्रागभाव का विनाश नहीं मानोगे तो कारणव्यापार की वैयर्थ्यापत्ति होगी; उसी प्रकार अज्ञान में भी दृष्टि दीजिये; क्योंकि वहां भी अनादि अभावविलक्षण अज्ञान की निवृत्ति नहीं मानी जाये तो प्रमाणव्यापार की वैयर्थ्यापत्ति होगी। इसलिये अनाद्यभावत्व के समान अनादिभावत्व भी अविनाशित्व में प्रयोजक नहीं; किन्तु चाहे वह अनाद्यभाव हो, या अनादिभाव हो; उसके विनाश में विरोधिसामग्रीसमवहितत्व ही प्रयोजक है। शंका— तो भी अविद्यानिवृत्तिरूप अन्य पदार्थ से ही द्वैतापत्ति होगी। उत्तर–नहीं; क्योंकि उसको हम अधिष्ठान ब्रह्मस्वरूप ही मानते हैं; क्योंकि ज्ञात आत्मा ही अविद्यानिवृत्ति कही जाती है; अतः अज्ञानावस्था में अविद्यानिवृत्तिरूप से उसका व्यवहार नहीं होता।

शंका— अविद्यानिवर्तक ब्रह्मसाक्षात्काररूप ज्ञान की ब्रह्म से अभिन्नता मानने पर ब्रह्म की सदा स्वप्रकाशरूप से स्थिति के कारण सर्वदा अविद्यानिवृत्ति की आपत्ति होगी; तथा ब्रह्मसाक्षात्कार की यागादिसाध्यता नहीं होगी; और उसकी ब्रह्म से भिन्नता होने पर उसी से भेद सिद्ध होगा। उत्तर– ऐसा नहीं; क्योंकि ब्रह्मसाक्षात्कार

त्वेऽपि वेदान्तवाक्योत्थाऽन्तःकरणवृत्त्यभिव्यक्तस्यैवाऽविद्यानिवर्तकत्वात् । तस्याश्च वृत्तेः साध्यत्वेन साक्षात्कारस्याऽपि साध्यत्वोपचारः । वृत्तेश्च ब्रह्मणः वस्तुतोऽभेद एव, भेदस्त्वविद्याविजृम्भित इति ।

एतेनेदमपास्तम्— वेदान्तिनां मते मुमुक्षाप्यसती, प्रवृत्तिरप्यसती, मोक्षज्ञानमसत्, विद्याऽप्यसती, योगाऽभ्यासोप्यसन्, वेदोप्यसन्नेव, स्वर्गाऽपूर्वादिकन्तु नास्त्येवेति साधु तीर्थंकरत्वाऽभिमान इति; सर्वेषामसद्विलक्षणत्वाऽङ्गीकारात्; यावदविद्यं सत्त्वाऽभ्युपगमाच्च ।

ननु— सर्वं ब्रह्माऽभिन्नमिति ते मतम्; तथा च जानीहि मम हृदि किमस्ति ? तव मम चाऽभेदादिति—चेन्न; जानीयां

की ब्रह्म से अभिन्नता होने पर भी वेदान्तवाक्य से जन्य अन्तःकरणवृत्ति में अभिव्यक्त चैतन्य ही अविद्यानिवर्त्तक है। और वह वृत्ति साध्य होने से उसमें अविव्यक्त साक्षात्काररूप ज्ञान में साध्यता का उपचार है; और वृत्ति का ब्रह्म से वस्तुतः अभेद ही है (क्योंकि अध्यस्त अधिष्ठान से भिन्न नहीं होता); भेद तो अविद्या से उत्थापित है।

इसीसे— "वेदान्तियों के मत में मुमुक्षा (मोक्ष की इच्छा) भी असत् है, प्रवृत्ति भी असत् है, मोक्षज्ञान असत् है, विद्या भी असत् है, योगाभ्यास भी असत् है, वेद भी असत् ही है, और स्वर्ग अपूर्वादि तो है ही नहीं- इस प्रकार मानकर लोककल्याणकारक शास्त्रों के कर्त्तृत्व का अभिमान करना तो खूब रहा"— ऐसा कहना भी निराकृत हुआ; क्योंकि हम सत् ब्रह्म को छोड़कर सब को असद्विलक्षण मानते हैं (असत् नहीं मानते); और जब तक अविद्या है, तब तक उनकी सत्ता को भी मानते हैं।

शंका— सब ब्रह्म से अभिन्न है— यह तो तुम्हारा मत है; तब तो बताओ— मेरे मन में क्या है? क्योंकि हम दोनों में कोई

यद्यवच्छेदभेदो न स्यात् । तत्किमवच्छेदभेदमङ्गीकरोषि ? तथा सत्यवच्छेद्यभेदे कः प्रद्वेष इति– चेन्न; उभयोरपि मिथ्याभूतयोरेवाऽङ्गीकारात् । कथं तर्हि मम हृदयं न जानासीति चेत्; अविद्याकवलनान्न जानामि । अविद्यां ब्रह्मभिन्नां मन्यमानः कथं न लज्जस इति– चेन्न; पारमार्थिकभेदाऽनभ्युपगमात् । तस्मात्—

एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नाऽन्यं गणयतः क्वचित् ।
आस्ते न धीरवीरस्य भङ्गः संगरकेलिषु ॥

(खं०का०१।१५) इति ।

ननु– तथापि शरीरादीनां वस्तुतो ब्रह्माऽभिन्नत्वात्तज्ज्ञानमेव ब्रह्मज्ञानमित्यनायाससिद्धं ब्रह्मज्ञानम्; न च

भेद तो है नहीं । उत्तर— यदि अविद्याकृत अवच्छेद (व्यावर्त्तक) का भेद न होता तो मैं अवश्य जानता कि तेरे मन में क्या है। शंका – क्या तुम अवच्छेद के भेद को मानते हो ? तब तो अवच्छेद्य आत्मा के भेद में क्यों तुम्हारा प्रद्वेष है ? उत्तर— ऐसा न कहो; क्योंकि अवच्छेदक और अवच्छेद्य दोनों को ही हम मिथ्याभूत मानते हैं (अवच्छेद्य इस लिये मिथ्या है कि वह अपने को अवच्छिन्न मानकर सुखी-दुःखी कर्त्ताभोक्तादिरूप से समझता है) । शंका—तब मेरे हृदय को तुम क्यों नही जानते हो ? उत्तर— अविद्या से ग्रस्त होने के कारण मैं नहीं जानता । शंका— ब्रह्मभिन्न अविद्या को मानते हुए तुम क्यों लज्जित नहीं होते हो ? उत्तर – इसलिये लज्जित नही हैं कि हम पारमार्थिक भेद को नहीं मानते । अतः- "एक ही ब्रह्मरूप अस्त्र अर्थात् अभेदरूप युक्ति को लेकर कहीं भी अन्य द्वैतवादियों को न गिनते हुए उस अद्वैतवादी धीर बीर की शास्त्रार्थरूप युद्ध की लीला में पराजय नहीं होती ।"

शंका— तो भी शरीरादिकों के वस्तुतः ब्रह्म से अभिन्नत्व होने से शरीरज्ञान ही ब्रह्मज्ञान हुआ । अतः ब्रह्मज्ञान अनायास ही सिद्ध

ततो मुक्तिरस्ति; संसारस्याऽनुभवसिद्धत्वात्; तथा च शरीरादिभिन्नत्वेनैव ब्रह्मसाक्षात्कारः कारणं मुक्तिं प्रतीति त्यज्यताऽद्वैतज्ञानं जातमपि वेदवाक्यादिति- चेन्न; शरीरादीनामध्यस्तानां यदधिष्ठानं रजतादेरिव शुक्त्यादि-तज्ज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वाऽभ्युपगमात्। तज्ज्ञानञ्चाऽधुना नास्तीति युक्तः संसारोपलम्भः। तस्मात्-

धीधना बाधनायाऽस्यास्तदा प्रज्ञां प्रयच्छथ।
क्षेप्तुं चिन्तामणिं पाणिलब्धमब्धौ यदीच्छथ ॥(खं०का० १।२४) तदेवं सिद्धेऽद्वैते आत्मनानात्वव्युत्पादनं भ्रममूलमिति।

ननु- अस्त्यत्र प्रमाणम्। तथाहि- आत्मत्वं नानावृत्ति, जातित्वात्, घटत्वदिति- चेन्न; अन्योन्याश्रयात्। सिद्धे हि

हो गया, किन्तु उसी से मुक्ति तो नहीं होती, क्योंकि संसार अनुभव से सिद्ध हो रहा है। इस लिये शरीरादि से भिन्नरूप से ब्रह्मसाक्षात्कार ही मुक्ति के प्रति कारण है। इस कारण वेदवाक्य से उत्पन्न होते हुए भी उस अद्वैतज्ञान का तुम त्याग करो। उत्तर - ऐसा न कहो; क्योंकि जिस प्रकार रजतादि अध्यस्त पदार्थ का अधिष्ठान शुक्त्यादि है और उसका ज्ञान रजतादि की निवृत्ति का हेतु है; उसी प्रकार अध्यस्त शरीरादि का जो अधिष्ठान है, उसके ज्ञान को हम मुक्ति का हेतु मानते हैं; और वह ज्ञान तो अभी हुआ नहीं; अतः संसार का उपलम्भ होना युक्त ही है। इस लिये "हे बुद्धिमानों! यदि आप अपने हाथ में स्थित चिन्तामणि को समुद्र में फेंकना चाहते हो तो उस अद्वैतबुद्धि का बाध करने के लिये भले ही अपनी बुद्धि को लगाओ।" इस प्रकार से अद्वैत की सिद्धि हो जाने पर आत्मा के नानात्व का प्रतिपादन करना भ्रममूलक ही है।

शंका—भ्रममूलक क्यों है ? नानात्व में प्रमाण है। तथाहि—आत्मत्व नानावृत्ति है (अर्थात् अनेक आत्माओं में रहने वाला धर्म है),

नानावृत्तित्वे जातित्वसिद्धिः; तेन च तत्सिद्धिरिति। तथा चांशतः साध्यसमो हेतुः। जातिपदस्य च धर्ममात्रपरत्वे एतद्घटत्वादौ व्यभिचारः। आत्मत्वं न नानावृत्ति, विभुमात्र-वृत्तिधर्मत्वात्, आकाशत्ववदिति प्रतिरोधश्च। किञ्च–आत्मा न द्रव्यत्वव्याप्यजातिमान्, विभुत्वाद्, आकाशवत्। द्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वे च विभुत्वभङ्गो बाधकः। न च–तथा सति बन्धमोक्षसुखित्वदुःखित्वादिव्यवस्थाऽनुपपत्तिः;

क्योंकि वह जाति है, जैसे घटत्व। उत्तर–नहीं; ऐसा अनुमान नहीं हो सकता; क्योंकि नानावृत्तित्व सिद्ध होने पर आत्मत्व के जातित्व की सिद्धि; जातित्व सिद्ध होने पर आत्मत्व के नानावृत्तित्व की सिद्धि–इस प्रकार अन्योन्याश्रयदोष हेतु और साध्य में होता है। इस लिये जातित्व हेतु अंशतः साध्यसम है (अर्थात् घटत्वादि में जातित्व सिद्ध होने पर भी यहां आत्मत्व में जातित्व पहले सिद्ध करना होगा; अतः वह अंशतः साध्य के समान ही है)। और जातिपद के धर्ममात्र-परक होने पर एतद्घटत्वादि में व्यभिचार होता है। (क्योंकि एत-द्घटत्व एतद्घट में ही रहता है, वह नानावृत्ति नहीं है)। और आत्मत्व नानावृत्ति नहीं, क्यो कि वह विभुमात्रवृत्ति धर्म है, जैसे आकाशत्व – इस अनुमान से वह सत्प्रतिपक्ष है। किञ्च – आत्मा द्रव्यत्वव्याप्यजातिमान् नहीं, क्योंकि उसमें विभुत्व धर्म है, जैसे आकाश। और इस अनुमान में— द्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्ता होने पर विभुत्वभङ्ग ही विपक्षबाधक तर्क है (अर्थात्– आत्मा में विभुत्व हेतु हो, और द्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वाभावरूप साध्य न हो-ऐसी शंका का निराकरण करने के लिये– यदि आत्मा द्रव्यत्वव्याप्यजातिमान् है तो उस में विभुत्व नहीं होना चाहिये, जैसे पृथिव्यादि; किन्तु आत्मा में विभुत्व है; अतः वह द्रव्यत्वव्याप्यजातिमान् नहीं है—यह अनुकूल तर्क विद्यमान है)। शंका– इस प्रकार आत्मा को एक ही मानोगे तो बन्ध, मोक्ष, सुखित्व, दुःखित्वादि की व्यवस्था नहीं होगी। उत्तर– क्यों नहीं होगी ? तत्तदन्तःकरणरूप अवच्छेदक अथवा

तत्तदन्तःकरणाऽवच्छेदेन तत्तदविद्यावच्छेदेन वा तदुपपत्तेः । तस्मान्मूर्खप्रलपितमेतत् ।

अथ– अस्त्वनुमानान्तरम्– देवदत्तात्मा चैत्रात्मवृत्त्यन्योन्याभावप्रतीयोगी, चैत्रात्मवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगिधर्माधिकरणत्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा घटः; यन्नैवं तन्नैवम्, यथा चैत्रात्मेति व्यतिरेकी एवेति–चेन्न; अभेदवादिनं प्रति हेत्वसिद्धेः; व्यावहारिकभेदेन सिद्धसाधनत्वाच्च। पारमार्थिकेति च भेदविशेषणे साध्याऽप्रसिद्धिः, व्यर्थविशेषणत्वञ्च ।

एतेन–ब्रह्म चैत्रमैत्रादिभिन्नम्, अनित्यज्ञानाऽनधिकरण-

तत्तदविद्यारूप अवच्छेदक के भेद से उसकी व्यवस्था हो सकती है। अतः यह तो मूर्खों का प्रलाप मात्र है।

शंका— ठीक है, तो भी इसमें अनुमानान्तर है— देवदत्तात्मा चैत्रात्मनिष्ठ अन्योन्याभाव का प्रतियोगी है, क्योंकि उसमें चैत्रात्मनिष्ठ अत्यन्ताभाव के प्रतियोगिभूत धर्म की अधिकरणता है; जो इस धर्म का अधिकरण होता है, वह चैत्रात्मनिष्ठ अन्योन्याभाव का प्रतियोगी होता है, जैसे घट; यह अन्वयी है; और जो चैत्रात्मनिष्ठ अन्योन्याभाव का प्रतियोगी नहीं होता, वह चैत्रात्मनिष्ठ अत्यन्ताभाव के प्रतियोगिधर्म का अधिकरण भी नहीं होता, जैसे चैत्रात्मा— यह व्यतिरेकी है। समाधान— ऐसा नहीं; क्योंकि अभेदवादी के प्रति हेतु असिद्ध (स्वरूपाऽसिद्ध) है; और व्यावहारिक भेद से सिद्धसाधन भी है। यदि "पारमार्थिक" पद साध्यभूत भेद का विशेषण दोगे (अर्थात्— चैत्रात्मवृत्तिपारमार्थिकान्योन्याभावप्रतियोगित्व साध्य करोगे) तो साध्य की अप्रसिद्धि होगी (क्योंकि वेदान्ती के मत में पारमार्थिक भेद सारे संसार में कहीं भी नहीं; साध्य वही होता है, जो उभयवादी के मत में प्रसिद्ध हो); और व्यर्थविशेषणता भी है (क्योंकि उस से व्यावर्त्य कुछभी नही है)।

इसीसे—ब्रह्म चैत्रमैत्रात्मादि से भिन्न है, क्योंकि उसमें अनित्य

स्त्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा घटः, अनित्यज्ञानाऽनधिकरणञ्चं-तत्, तस्माच्चैत्रादिभिन्नम् । अथ–अहं ब्रह्मप्रतियोगिकपारमार्थिकभेदवान्, सुखात्यन्ताभावविरोधिधर्माऽधिकरणकत्वात्, नित्यज्ञानाऽनधिकरणत्वाद्वा, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा ब्रह्मेति–निरस्तम्; औपाधिकभेदेनाऽर्थान्तरत्वात्, अप्रयोजकत्वात्, ब्रह्मशब्देन त्रिविधपरिच्छेदशून्यवस्तुनिर्देशे बाधात्, तदितरस्य पक्षत्वे सिद्धसाधनत्वाच्च । द्वितीयाऽनुमाने च हेत्वसिद्धिः; इच्छादीनां क्षेत्रज्ञधर्मत्वानङ्गीकारात् "तत्त्वमसि"

ज्ञान की अनधिकरणता है, जो अनित्यज्ञान का अनधिकरण है, वह चैत्रमैत्रात्मादि से भिन्न है, जैसे घट, उसी प्रकार ब्रह्म अनित्य ज्ञान का अनधिकरण है, इस लिये वह चैत्रमैत्रात्मादि से भिन्न है। इसी प्रकार दूसरा अनुमान— मैं ब्रह्मप्रतियोगिक पारमार्थिकभेद वाला हूँ, क्योंकि मुझमें सुखात्यन्ताभाव के विरोधिधर्म की अधिकरणता है, अथवा नित्यज्ञान की अनधिकरणता है, जो ब्रह्मप्रतियोगिक पारमार्थिकभेद वाला नहीं होता, वह सुखात्यन्ताभाव के विरोधिधर्म का अधिकरण भी नहीं होता, अथवा नित्यज्ञान का अनधिकरण भी नहीं होता (अर्थात् अधिकरण होता है), जैसे ब्रह्म— ये दो अनुमान भी निरस्त हुए; क्योंकि प्रथम अनुमान औपाधिक भेद से सिद्धसाधन होने के कारण प्रकृतानुपयुक्त है, हेतु की अप्रयोजकता है (व्यभिचार-शंका के निवारणार्थ अनुकूल तर्क का अभाववाला हेतु है); और यदि पक्षीकृतब्रह्मशब्द से त्रिविध परिच्छेद (देश, काल और वस्तु से परिच्छिन्नत्व) से रहित वस्तु का निर्देश हो तो बाध होता है, और उससे भिन्न परिच्छिन्न ब्रह्म को पक्ष बनायेंगे तो सिद्धसाधन है (क्योंकि उसमें औपाधिक भेद है)। तथा द्वितीय अनुमान में भी हेतु की असिद्धि है (स्वरूपासिद्धि है, क्योंकि पक्ष में हेतु नहीं), कारण कि– इच्छादि को हम क्षेत्रज्ञ आत्मा का धर्म नहीं मानते (किन्तु अन्तःकरण का मानते हैं); और "तत्त्वमसि", "अहं

(छा०६।८।७), "अहं ब्रह्माऽस्मि" (बृ०१।४।१०), "अय-मात्मा ब्रह्म" (बृ०२।५।१९) इत्यादिश्रुतिभिर्बाधश्च सर्व-त्राऽनुमाने द्रष्टव्यः। ननु–ज्ञानं तावदात्मनो गुणो वक्तव्यः। तथा च तत्सामानाधिकरण्यादिच्छादीनामपि तद्गुणत्व-निश्चय इति– चेन्न; ज्ञानब्रह्मणोरभेदश्रवणात्। तथाहि– "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ०३।९।२८), को ह्येवाऽन्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् (तै०२।७), "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति" (बृ०४।३।९), "विज्ञानघन एव" (बृ०४।५।१३), "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" (तै०३।६), सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहा-याम् (तै०२।१।१), "भारूपः सत्यसंकल्पः" (छा०३।१४।२) इत्याद्याः श्रुतयः सहस्रशो ज्ञानसुखाऽभिन्नं ब्रह्म प्रतिपा-दयन्ति तात्पर्यतः। ताश्च तत्पराः सत्यो न शक्या ब्रह्मणा-

ब्रह्मास्मि", "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियों से बाध तो सभी अनुमानों में समझना चाहिये। शंका– ज्ञान को तो आत्मा का गुण मानना ही होगा; तब तो उस के साथ एक ही अधिकरण में रहने के कारण इच्छादि भी आत्मा के गुण निश्चित हो जाते हैं। उत्तर– नहीं; क्योंकि ज्ञान और ब्रह्म में अभेद का प्रतिपादन श्रुतियों से होता है। तथाहि– "विज्ञान और आनन्दरूप ब्रह्म है", "यदि आनन्दरूप परमब्रह्म नहीं होता तो कौन जीता रहता और कौन प्राणधारण करता", "इस स्वप्नावस्था में यह पुरुष स्वयंज्योति (स्वयंप्रकाश) होता है", "यह आत्मा विज्ञानघन स्वरूप है", "आनन्द से ही ये सब भूत (प्राणी) उत्पन्न होते हैं", "सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म है। जो हृदयरूप गुफा में निहित उस परमात्मा को जानता है, उसको सब कुछ प्राप्त होते हैं", "वह प्रकाशरूप (ज्ञानरूप) और सत्यसंकल्प वाला है" इत्यादि हजारों श्रुतियां ज्ञान और सुखादि से अभिन्न ब्रह्म का तात्पर्य से प्रतिपादन करती हैं। वे सब श्रुतियां ब्रह्म-

ऽप्यन्यथयितुम् ।

ननु- यदि ब्रह्माऽभिन्नं सर्वम्, तदाऽनित्यज्ञानस्वरूपत्वमनित्यसुखस्वरूपत्वञ्च ब्रह्मणः किमिति नाऽभ्युपैषि ? अथ- "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ०३।९।२८) इति श्रुत्या नित्यज्ञानानन्दात्मकतामात्रं प्रतिपाद्यते, तथा च तावन्मात्रं स्वीक्रियते, नाऽतोऽधिकमिति- चेन्न; "एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म"(छा०६।२।१), "इदं सर्वं यदयमात्मा"(बृ०२।४।६) इत्यादिश्रुत्या दुःखात्मकताया अपि प्रतिपादनात् । तथा चैकरूपस्वीकारे पररूपत्वपरिहारे च रुचिस्ते प्रमाणम् । तथा च मुक्तिदशायामुभयरूपसद्भावान्मुक्तस्य सुखाऽनुभववद् दुःखाऽनुभवोऽपि स्यादिति सुखरागिणस्तवाऽनन्तदुःखाब्धिपातः । न च "आनन्दं ब्रह्मणो रूपं, तच्च मोक्षे-

परक ही है; अतः ब्रह्मा तक भी उनको अन्यथा नहीं कर सकते ।

शंका— यदि ब्रह्म से अभिन्न सभी है, तो ब्रह्म की अनित्यज्ञानस्वरूपता, अनित्यसुखस्वरूपता आप किस कारण से नहीं मानते ? और इसमें तुम कहो कि- "विज्ञान और आनन्दरूप ब्रह्म है" इस श्रुति से नित्यज्ञानानन्दस्वरूपमात्र का ही प्रतिपादन है, अतः उतना मात्र स्वीकार किया जाता है, इससे अधिक नहीं; तो यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि "एक ही अद्वितीय ब्रह्म है", "यह सब जो कुछ है, वही यह आत्मा है" इत्यादि श्रुति से उसका दुःखात्मकत्व से भी प्रतिपादन किया जाता है। तब तो एकरूप (सुखरूप) का स्वीकार करना, तथा दूसरे रूप (दुःखस्वरूप) का परिहार करना, इसमें तो तुम्हारी रुचि ही प्रमाण हुई। इस लिये मुक्तिदशा में भी उभयरूप (सुखरूप और दुःखरूप) का सद्भाव होने से मुक्त को जिस प्रकार सुख का अनुभव होता है, उसी प्रकार दुःख का अनुभव भी होना चाहिये। इस प्रकार सुखानुरागी तुम अनन्त दुःखसमुद्र में गिरोगे। इसमें पुनः यदि शंका हो कि "ब्रह्म का रूप आनन्द है, और वह

प्रतिष्ठितम्" इति श्रुत्याऽऽनन्दस्यैव मोक्षावस्थायां सत्त्वप्रतिपादनात् तद्धानौ ब्रह्मस्वरूपस्याऽपि हान्यापत्तिः; तस्माद्भेद एव ब्रह्मणः सुखाऽदेश्चेति युक्तमुत्पश्यामः। कथं विज्ञानानन्दं ब्रह्मेति ? शृणु, विशिष्टं ज्ञानं यस्येति विज्ञानम्, विशेषज्ञानवदित्यर्थः। ज्ञानस्य च विशेषो नित्यत्वम्, सर्वविषयता च। आनन्दश्च सुखम्, तद्यस्याऽस्ति, तदानन्दम्, मत्वर्थीयाऽच्प्रत्ययेन। तथा च नपुंसकलिङ्गता संगच्छते। "आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्" इति श्रुतिस्तु-आनन्दं सुखं ब्रह्मणोऽरूपम् अस्वरूपमिति। कथमेवमित्यत आह- "तच्च मोक्षे

मोक्षावस्था में प्रतिष्ठित है" इस श्रुति से मोक्षावस्था में आनन्द के ही सत्त्व का प्रतिपादन होने के कारण उसकी हानि होने पर ब्रह्मस्वरूप की भी हानि हो जायेगी; तो इस में हमारा कहना है कि इस प्रकार की हानि के प्रसङ्ग का निवारण करने के लिये ही ब्रह्म और सुखादि में भेद मानना युक्तियुक्त मालूम होता है। पुनः इसमें यदि तुम कहो कि "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इस श्रुति की क्या गति होगी ? क्योंकि इससे ब्रह्म विज्ञान और आनन्दरूप प्रतिपादित किया है; तो सुनो, ("वि" उपसर्ग का अर्थ है- विशिष्ट; इस लिये)— विशिष्ट ज्ञान जिसका हो, वह विज्ञान कहलाता है, अर्थात् ब्रह्म विशेषज्ञानवान् है; यहां पर ज्ञान की विशेषता है— नित्यता और सर्वविषयकता। इसी प्रकार आनन्द का अर्थ है— सुख; वही सुख जिसका हो, वह आनन्द कहा जाता है। यहां पर मतुप् अर्थ में अच् प्रत्यय होने से ऐसा अर्थ हुआ है; इसी से "आनन्दं" इस प्रयोग में नपुंसकलिङ्ग होना भी समन्वित हो जाता है। (अन्यथा आनन्द-शब्द पुंलिङ्ग में होना चाहिये था)। तथा—"आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्" इस श्रुति का तो अर्थ यह है- आनन्द अर्थात् सुख ब्रह्म का अरूप है ("आनन्दं ब्रह्मणोऽरूपम्" ऐसा मानकर "अरूपम्" इस प्रकार पदच्छेद किया गया है); इस में "यह कैसे" ऐसी आकांक्षा होते पर

प्रतिष्ठितम्"; चो हेतौ; यतस्तदसुखरूपं मोक्षे प्रतिष्ठितम्। यदि ब्रह्म सुखस्वरूपं स्यात्, तदा मोक्षदशायामपि सुखस्वाभाव्यं तस्य स्यात्। तत्तु नास्ति, प्रमाणबाधात्। तथाहि– यद्ब्रह्मरूपं सुखं, तच्चेन्नित्यं स्यादिदानीमपि साक्षात्क्रियेत। अनित्यं चेद् ब्रह्मणो नित्यसुखात्मकतया कथमवस्थानं स्यादिति ?

अत्रोच्यते–"आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति" (तै०३।६) "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" (तै०३।६), "को ह्येवाऽन्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" (तै०२।७), "सत्यं ज्ञानमनन्तम्" (२।१।१) "एतस्यैवाऽऽनन्दस्याऽन्यानि भूतानि

श्रुति आगे कहती है–"तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम्"; यहां चशब्द हेत्वर्थ में है; क्योंकि वह असुखरूप मोक्षावस्था में प्रतिष्ठित होता है। यदि ब्रह्म सुखरूप होता तो मोक्षदशा में भी उसका सुखस्वभावत्व होना चाहिये; किन्तु प्रमाण से बाध होने के कारण वह नहीं हो सकता। तथा हि- जो ब्रह्म का रूप सुख है, वह यदि नित्य होता तो इस समय में भी उसका साक्षात्कार होना चाहिये था; और वह यदि अनित्य है तो ब्रह्म का नित्यसुखात्मकत्वरूप से किस प्रकार अवस्थान हो सकता है ? (नैयायिकों के मत में आत्मा जड़ है, उसमें मनःसंयोग से ज्ञान सुखादि गुण उत्पन्न होते हैं; किन्तु मोक्षावस्था में आत्मा के साथ मनःसंयोग नहीं होता, अतः ज्ञान सुखादि से रहित आत्मा की स्थिति उस समय हो जाती)।

समाधान— इस में हम उत्तर देते हैं– "आनन्द से ही ये सब भूत (प्राणी) उत्पन्न होते हैं, और उत्पन्न हुए सब प्राणी उस आनन्द से ही जीते हैं", "आनन्द को ही ब्रह्म समझो", "यदि यह सर्वव्यापक आनन्दरूप ब्रह्म नहीं होता तो कौन खाता और कौन जीता", "सत्य, ज्ञान और अनन्तरूप ब्रह्म है", "इस ब्रह्मरूप आनन्द की एक साधा-

मात्रामुपजीवन्ति" (बृ०४।३।३२), "सदेव सोम्येदमग्र आसी-देकमेवाऽद्वितीयम्" (छा०६।२।१) इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः सुखज्ञानसत्तात्मकं ब्रह्म प्रतीयते। न च तान्यन्यपराणि, "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" (तै०३।६) इत्यादिनिर्णय-वाक्यविरोधात्। न चैवं सति "इदं सर्वं यदयमात्मा" (बृ० २।४।६) इत्यादिवाक्यबलादनित्यदुःखात्मकतापत्तिः; प्रपञ्च-स्य बाधे श्रुतेस्तात्पर्यात्; यथाहि– "सर्पोऽयं रज्जुरेव" इत्युक्ते रज्जुमात्राऽवशेषः, सर्पस्य तु बाध एव; तथा सर्वा-ऽधिष्ठानभूतेन ब्रह्मणा प्रपञ्चस्याऽभेदे प्रतिपादिते ब्रह्ममात्रा-ऽवशेषः- प्रपञ्चस्य तु बाधः। अयमेव नियमः कथमिति

रण मात्रा को लेकर अन्य प्राणी उसकी सहायता से जीते हैं", "हे प्रियदर्शन! यह दृश्यमान जगत् सृष्टि के पहले एक ही अद्वितीय सत् ही था", इत्यादि सैकड़ों श्रुतियों से सुख, ज्ञान और सदात्मक ब्रह्म ज्ञात होता है। ये सब श्रुतिवाक्य अन्यपरक नहीं हो सकते, क्योंकि "आनन्द को ही ब्रह्म समझो" इत्यादि निर्णायक वाक्यों से विरोध होता है। और ऐसा मानने पर "यह सब यही आत्मा है" इत्यादि वाक्य के बल से ब्रह्म की अनित्यदुःखरूपता की आपत्ति आयेगी— ऐसी शंका भी नहीं होनी चाहिये; क्योंकि प्रपञ्च के बाध में इस श्रुति का तात्पर्य है। जैसे– "यह सर्प रज्जु ही है" ऐसा कहने पर रज्जुमात्र का अवशेष और सर्प का बाध ही होते हैं; वैसे ही "यह सब यही आत्मा है" इस प्रकार सर्वाधिष्ठानरूप ब्रह्म के साथ प्रपञ्च का अभेद प्रतिपादित होने पर ब्रह्ममात्र का अवशेष और प्रपञ्च का तो बाध होते हैं। (श्रुतियों में यह देखने में आता है कि "तत्त्वमसि" आदि में तो अभेद में सामानाधिकरण्य होता है, और "इदं सर्वं यदयमात्मा" इत्यादि में तो बाध में सामानाधिकरण्य होता है। अतः किस नियम से कहां अभेद और कहां बाध समझा जाये— इस शंका का उत्तर आगे दे रहे है) – यह नियम ही कैसे

चेत्; श्रुतित एव। "तत्सत्यं स आत्मा" (छा०६।८।७), "सत्यस्य सत्यम्" (बृ०२।१।२०), "अस्तीत्येवोपलब्धव्यः" (कठ०६।१०), "असन्नेव स भवति, असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः" (तै०२।६।१)- इत्यादिश्रुतिशतैः सच्चिदानन्दस्य ब्रह्मणोऽस्तित्व-प्रतिपादनात्। प्रपञ्चस्य "नेति नेति" (बृ०२।३।६), "नेह नानास्ति किञ्चन" (बृ०४।४।१९),"अतोऽन्यदार्तम्" (बृ०३।४।२), "सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति" (बृ०४।३।३२), इत्यादिवाक्यशतैरभावबोधनात्। तथा च यदि श्रुतिप्रामाण्यं स्वीकरोषि, तद्युक्तव्यवस्थामङ्गीकुरु, न चेद् बौद्धवदेव खण्डनयुक्तिभिरेव निरसनीयोऽसि। किञ्च- "आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम्" इति श्रुतिबलादपि मोक्षावस्थायां सुखमात्राऽवशेषः, दुःखादीनां तु बाध एव।

होगा—ऐसी शंका भी न करो; क्योंकि यह श्रुति से ही सिद्ध होता है- "वही सत्य है, वही आत्मा है", "वह प्राणादि सत्य का भी सत्य है", "वह सत्तामात्र से उपलब्धव्य है", "यदि ब्रह्म को असत् समझेंगे तो वह ज्ञाता असत् हो जाता है, और यदि ब्रह्म को सदात्मकरूप से समझेंगे तो उस ज्ञाता को विद्वान् लोग सत्रूप ही समझते हैं" इत्यादि सैकड़ों श्रुतियों से सत्-चित्-आनन्दस्वरूप ब्रह्म के सदात्मकत्व का प्रतिपादन किया गया है। और प्रपञ्च का तो "यह नहीं, यह नहीं", "इस ब्रह्म में नाना कुछ भी नहीं", "इससे भिन्न सब विनाशी है", "शुद्ध एक द्रष्टा अद्वैत होता है" इत्यादि सैकड़ों श्रुतियों से अभाव जाना जाता है। इसलिये तुम यदि श्रुति के प्रामाण्य को मानते हो तो उक्त व्यवस्था को मानो, नहीं तो बौद्ध के समान खण्डन की युक्तियों से तुम निराकरणीय हो। किञ्च—"आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम्" इस श्रुति के बल से भी मोक्षावस्था में सुखमात्र का अवशेष और दुःखादि का तो

न च–दुःखादीनां ब्रह्मरूपत्वेन बाधो न युक्त इति–वाच्यम्; तेषां मिथ्यात्वेन ब्रह्मरूपत्वाऽसिद्धेः। नह्यानन्दरूपस्य दुःख-रूपता सम्भवति, विरोधात्। नहि भवति यदेवोष्णम्, तदेव शीतमिति। यच्चोक्तमानन्दं ब्रह्मणोऽरूपमिति– "अ"-श्लेष इति, तदपि "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" इति श्रुतिविरोधादपास्तम्। "अ" श्लेषे प्रमाणाऽभावश्च। न चाऽधुनापि ब्रह्मरूपस्य सुखस्य प्रतीत्यापत्तिः; इष्टापत्तेः; नहि स्वप्रकाशमानन्दात्मकं ब्रह्मेदानीं नास्ति। कथं तर्हि नाऽभिलापः सर्वेषाम्? कथं वा परमं सुखमाप्तवतां क्षुद्रे भोजनादिसुखे जनानां प्रवृत्तिरिति– चेत्; व्यञ्जकाऽभावा-दिति वदामः। अविद्यानिवृत्तिर्हि व्यञ्जिका, सा चेदानीं

बाध ही सिद्ध होता है। शंका– दुःखादि भी ब्रह्मरूप ही होने से बाध नहीं होगा। उत्तर– ऐसा न कहो; क्योंकि दुःखादि में मिथ्यात्व होने से ब्रह्मरूपता की असिद्धि होती है; और आनन्दरूप ब्रह्म की दुःखरूपता नहीं हो सकती; कारण कि– दोनों में विरोध है; जो उष्ण है वही शीत नहीं हो सकता। और जो तुमने कहा था कि "आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्" इसमें "अ" को पूर्वरूप मानकर "अरूपम्" ऐसा पदच्छेद करना चाहिये; वह भी "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" इस श्रुति से विरोध होने के कारण खण्डित हो जाता है; और "अ" के श्लेष में भी कोई प्रमाण नहीं। शंका– तब तो इस समय में भी ब्रह्मरूप सुख की प्रतीति होनी चाहिये। उत्तर– नहीं; इसमें तो हमें इष्टापत्ति है, क्योंकि स्वप्रकाश और आनन्दात्मक ब्रह्म इस समय न हो, ऐसी बात नहीं। शंका– तब सब लोग उसके सम्बन्ध में क्यों नहीं कहते? और उस परमसुख को प्राप्त करके रहने वाले लोगों की क्षुद्र भोजनादि से उत्पन्न सुख में क्यों प्रवृत्ति है? उत्तर– सदा विद्यमान उस परमसुख व्यञ्जक के अभाव से ऐसा होता है; तत्त्व-की व्यञ्जिका (अभिव्यक्त करने वाली) अविद्यानिवृत्ति है,

नास्ति तत्त्वज्ञानाऽभावात् । क्षुद्रतरे सुखे प्रवृत्तिश्च मोहादेव । मोहनिवृत्तौ तु प्रवृत्त्यभाव इष्ट एव । यच्चोक्तं दुःखादेरपि ब्रह्मरूपत्वेन तद्धानौ ब्रह्महानिरिति तदतिमन्दम्; दुःखादीनां जडत्वेन मिथ्यात्वात् । ऐक्यश्रुतिस्त्वधिष्ठानतत्त्वव्यतिरेकेणाऽध्यस्तस्य सत्त्वं नास्तीति तावन्मात्रपरा । यच्चोक्तं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति विशिष्टं ज्ञानं यस्येति बहुव्रीहिरित्यादि; तदपि मूर्खप्रलपितम्; विस्पष्टं ज्ञानं विज्ञानमिति हि लोकप्रसिद्धम् । तत्त्यागे चोपेक्षणीयता; कर्मधारये च सम्भवति बहुव्रीहेरनादरणीयत्वात् । "एतया निषादस्थपतिं याजयेत्" इत्यत्र षष्ठीतत्पुरुषस्याऽनादरेण तथैव व्यवस्थापितत्वात् । तथाऽऽनन्दपदेऽपि मत्वर्थीयाऽच्प्रत्ययकल्पनमनु-

ज्ञान के अभाव से इस समय वह नहीं है । और क्षुद्रतर सुख में प्रवृत्ति तो मोह से ही होती है; मोह की निवृत्ति होने पर तो प्रवृत्ति का अभाव इष्ट ही है । और जो तुमने कहा था कि दुःखादि की भी ब्रह्मरूपता होने से उसकी हानि से ब्रह्म की हानि होगी; वह कथन अत्यन्त तुच्छ है, क्योंकि जड होने के कारण दुःखादि सब मिथ्या है, ब्रह्मरूप नहीं । ब्रह्म के साथ दुःखादि के एकत्व का प्रतिपादन करने वाली श्रुति का तो– अधिष्ठान के सत्त्व के अतिरिक्त अध्यस्त का सत्त्व नहीं है – इतना ही अभिप्राय है । और जो तुमने कहा था कि "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इस श्रुति में "विशिष्टं ज्ञानं यस्य" इस प्रकार विज्ञानशब्द में बहुव्रीहि है - इत्यादि; वह भी मूर्खों का प्रलापमात्र है; क्योंकि "विस्पष्टं ज्ञानं विज्ञानम्" अर्थात् शुद्ध ज्ञान विज्ञान है – यह लोकप्रसिद्ध है । इस प्रसिद्धार्थ को त्यागने पर तो तुम्हारी उपेक्षणीयता ही होगी; क्योंकि कर्मधारयसमास सम्भव होने पर बहुव्रीहि समास अनादरणीय होता है । जैसे कि— "एतया निषादस्थपतिं याजयेत्" इसमें षष्ठीतत्पुरुष समास का अनादर कर के वैसे ही अर्थात् कर्मधारय समास से इसका अर्थ व्यवस्थापित

चितम् । न च नपुंसकलिङ्गाऽनुपपत्तिः वेदे बहुलिङ्गव्यत्ययस्योपलम्भात् ।

ननु– विज्ञानाऽऽनन्दयोरनित्यत्वाद् ब्रह्मणश्च नित्यत्वादभेदस्य बाधितत्वादगत्या बहुव्रीहिर्मत्वर्थलक्षणा चाऽऽश्रीयत इति– चेन्न; तत्पदार्थेन समस्तभेदबाधने बाधाऽभावात् ।

किया गया (१) है। इसी प्रकार आनन्दपद में भी मत्वर्थीय अच् प्रत्यय की कल्पना करना अनुचित है। और उसमें नपुंसकलिङ्ग होने में अनुपपत्ति भी नहीं; क्योंकि वेद में लिङ्ग का व्यत्यय बहुत देखने में आता है।

शंका– विज्ञान और आनन्द दोनों अनित्य हैं, और ब्रह्म नित्य है; इस लिये विज्ञान और आनन्द के साथ ब्रह्मका अभेद बाधित होने के कारण अन्य गति न होने से विज्ञान और आनन्द पद में क्रम से बहुव्रीहि और मत्वर्थलक्षणा का आश्रय लिया जाता है। उत्तर– ऐसा नहीं होगा; क्योंकि तत्पदार्थ से समस्त भेद का बाध करने में कोई बाधा नहीं (भाव यह है कि– नित्यविज्ञानानन्दरूप

---

(१) "विशिष्टं ज्ञानं यस्य, तद्विज्ञानम्" इस प्रकार बहुव्रीहि समास करने पर अन्य पदार्थ प्रधान हो जाता है, उसमें स्वार्थ प्रधान नहीं रहता। और यदि "विस्पष्टं ज्ञानं विज्ञानम्" ऐसा कर्मधारय समास किया जाये तो स्वार्थ प्रधान होता है। इस लिये बहुव्रीहि का अर्थ गौणवृत्ति से होता है, और कर्मधारय का अर्थ अभिधावृत्ति (मुख्यवृत्ति) से होता है। "गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः" इस न्याय से मुख्यवृत्ति सम्भव होने पर गौणवृत्ति का आश्रय लेना अयुक्त है। इसको और स्पष्ट करने के लिये मीमांसादर्शन के निषादस्थपत्यधिकरण का उदाहरण देते हैं। "वास्तुमयं रौद्रं चरुं निर्वपेत्" इस श्रुति से रुद्र देवता के निमित्त वास्तुमय चरु के निर्वपण का विधान किया गया है। इसी प्रसङ्ग में "एतया निषादस्थपतिं याजयेत्" अर्थात् इस रौद्र इष्टि से निषादस्थपति को याग कराये–ऐसा विधान है। इस में सन्देह होता है कि "निषादानां स्थपतिः" इस प्रकार षष्ठीसमास

अस्मदादीनां हि ज्ञानसुखयोरनित्यत्वमनुभूयते प्रत्यक्षेण, नतु भगवतोऽपि, तथा च तत्र बाधाऽभावादभेदबोधो निस्तरङ्गः। सुखमनित्यमेवेति व्याप्तिरस्तीति— चेन्न; व्याप्ते-

तत्पदार्थ यानी "तत्त्वमसि" वाक्यान्तर्गत तत्पदार्थ परमेश्वर से समस्त भेद बाधित होते हैं; क्योंकि वह सत्पदवाच्य एक ही अद्वितीय है; अतः उस समस्तभेदबाध का बाध नहीं हो सकता)। हम लोगों के ज्ञान और सुख में अनित्यता का प्रत्यक्षरूप से अनुभव होता है; भगवान् में तो ऐसा नहीं होता। इस लिये परमेश्वर के स्वरूपभूत विज्ञान और आनन्द में बाध न होने से अभेद का बोध बाधरहित है। शंका— "यत्सुखम्, तदनित्यम्" यह व्याप्ति है; अतः सुख नित्य

करके निषादों का (एक शूद्रजातिविशेष का) कोई त्रैवर्णिक मुख्य सञ्चालक इस याग का अधिकारी है ? अथवा "निषादश्चासौ स्थपतिश्च" इस कर्मधारयसमास से निषादजातीय स्थपति ही याग का अधिकारी है ? इसमें पूर्वपक्षी कहते हैं कि निषाद त्रैवर्णिक न होने से वेद और उसके द्वारा सम्पाद्य यागादि में अधिकारी नहीं हो सकता। अतः षष्ठीसमास करके निषादों का कोई मुख्य सञ्चालक त्रैवर्णिक इस रौद्र याग का अधिकारी होना चाहिये। इसमें सिद्धान्ती उत्तर देते हैं— "स्थपतिर्निषादः स्याच्छब्दसामर्थ्यात्" (मी०द०६। १।५१)— अर्थात्— यहां पर शब्दसामर्थ्य से स्थपति निषाद ही अधिकारी होना चाहिये; क्योंकि षष्ठीसमास की अपेक्षा शब्दसामर्थ्य से कर्मधारयसमास प्रबल है, कारण कि— षष्ठीसमास में लक्षणा करनी पड़ेगी, और कर्मधारय में ऐसा नहीं करना होगा तथा मुख्यवृत्ति से ही अर्थ होगा। मीमांसादर्शनभाष्यकार शबर मुनि इसमें लिखते हैं— "निषादानां तु स्थपतिं लक्षणया ब्रूयात्। श्रुतिलक्षणाविषये च श्रुतिर्न्याय्या, न लक्षणा। समानाधिकरणसमासस्तु बलीयान्। तत्र हि स्वार्थे शब्दौ वृत्तौ भवतः।" इस लिये बहुव्रीहि की अपेक्षा कर्मधारय प्रबल होने से उसके अनुसार यहां भी गौण वृत्ति को छोड़कर मुख्यवृत्ति से "विस्पष्टं ज्ञानं विज्ञानम्" ऐसा अर्थ मानना उचित ही है।

रस्मदादिसुखविषयत्वात् । अन्यथा ज्ञानमनित्यमेवेत्यतिव्याप्तिः स्यात् । तथा च जितं मीमांसकैरिति । सुखं धर्मजन्यमेवेति–चेत्; ज्ञानमपि कर्मजन्यमेवेति । तस्मात्तत्पदार्थेनेश्वरेण ज्ञानसुखयोरभेदबोधे बाधाऽभावः सिद्धः ।

त्वंपदार्थेऽपि नास्ति बाधः। तथाहि–किं विषयसम्पर्कानन्तरं "सुखं मे जातं नष्टञ्च" तथा "ज्ञानं मे जातं नष्टञ्च" इति प्रत्यक्षेण श्रुतेर्बाधः ? किं वा "अहं सुखी," "अहं जाने" इत्याधाराऽऽधेयभावग्राहकप्रत्यक्षेणेति ? तत्र न तावदाद्यः; व्यञ्जकान्तःकरणवृत्त्युत्पादविनाशाभ्यां तयो-

नहीं हो सकता। उत्तर— नहीं, क्योंकि हम लोगों का सुख ही उस व्याप्ति का विषय है। यदि इस व्याप्ति का विषय ईश्वरसुख को भी मानोगे तो उसी प्रकार "यज्ज्ञानम्, तदनित्यम्" इस व्याप्ति का विषय ईश्वरज्ञान भी हो जायेगा। तब तो मीमांसकों ने भी तुमको जीत लिया; (अर्थात् ईश्वर को मानने की आवश्यकता ही नहीं)। शंका— सुख धर्म से ही जन्य है, (अतः ईश्वर में पाप पुण्य न होने से सुख नहीं होगा)। उत्तर— ज्ञान भी तो कर्म से ही जन्य है; (तब तो ईश्वर में कर्म न होने से ज्ञान भी नहीं होगा)। इसलिये— तत्पदार्थ ईश्वर से अपने साथ ज्ञान और सुख के अभेदबोध में बाध का अभाव सिद्ध होता है।

और त्वंपदार्थ जीव में भी ज्ञान और सुख की अभेदबोधक श्रुति का बाध नहीं। तथाहि–क्या विषय के साथ संपर्क होने के बाद "मुझे सुख हुआ और वह नष्ट हो गया" तथा "मुझे ज्ञान हुआ और वह नष्ट हो गया" इस प्रकार के प्रत्यक्ष से श्रुति का बाध है ? अथवा "मैं सुखी हूं", "मैं जानता हूं" इस प्रकार आधाराधेयभाव के ग्राहक प्रत्यक्ष से श्रुति का बाध है ? इनमें प्रथम पक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि व्यञ्जक अन्तःकरणवृत्ति की उत्पत्ति और विनाश से सुख और ज्ञान की उत्पत्ति और विनाश प्रतीत मात्र होते हैं

त्पादविनाशोपलम्भात्, व्यक्त्युत्पादविनाशाभ्यां जातेरिव, ध्वन्युत्पादविनाशाभ्यां शब्दस्येवेति वा । अथ– मानान्तरेण बलवता जात्यादीनां नित्यत्वे सिद्धे तथाकल्प्यते, प्रकृते च न मानान्तरान्नित्यत्वसिद्धिः । न च– अत्राऽपि श्रुतिरस्ति मानमिति– वाच्यम्; तस्याः शब्दात्मकत्वेन योग्यताज्ञानं विनाऽबोधकत्वात्, "ग्रावाणः प्लवन्ते" इतिवत् । बाधाऽभावोहि योग्यता । प्रकृते प्रत्यक्षं बाधकमुपन्यस्तमिति– चेन्न; ज्ञानमात्रस्याऽबाधकत्वात्, साध्याऽभावप्रमा हि बाधः । न चाऽत्र साध्याऽभावज्ञानस्य प्रमात्वमुभयवादिसिद्धम्; प्रत्यक्षस्य बहुलं विसंवादोपलम्भात् । तथा च किं व्यक्ताविवो-

(वस्तुतः दोनों ही नित्य हैं); जैसे नैयायिकों के मत में व्यक्ति के उत्पाद और विनाश से जाति के, अथवा मीमांसकों के मत में ध्वनि के उत्पाद और विनाश से शब्द के उत्पाद और विनाश प्रतीत होते हैं। शंका— बलवान् प्रमाणान्तर से जात्यादि का नित्यत्व सिद्ध होने पर वैसी कल्पना की जाती है, प्रकृत में तो मानान्तर से सुखादि के नित्यत्व की सिद्धि नहीं होती। और यहां भी श्रुति ही प्रमाण है— ऐसा तुम कह नहीं सकते; क्योंकि श्रुति शब्दात्मक होने के कारण उसमें अर्थावबोधनयोग्यताज्ञान हुए बिना अवबोधक नहीं हो सकती; जैसे "ग्रावाणः प्लवन्ते" अर्थात् "पत्थर तैरते हैं" यह वाक्य योग्यता के अभाव से प्रमाण नहीं है, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। और यहां पर बाध का अभाव ही योग्यता है; प्रकृत में तो प्रत्यक्ष प्रमाण बाधकरूप से उपन्यस्त किया गया है। उत्तर– ऐसा नहीं है; क्योंकि ज्ञानमात्र प्रत्यक्ष से बाधित नहीं होता। साध्याभाव की प्रमा ही बाध है। यहां तो साध्याभावज्ञान का प्रमात्व उभयवादी हम दोनों से सिद्ध नहीं हुआ है; कारण कि प्रत्यक्ष बहुलता से मिथ्यात्व देखने में आता है। इसलिये जिस प्रकार व्यक्ति में उत्पाद और विनाश वास्तविक होते हैं; उसी प्रकार क्या सुख

त्पादविनाशौ पारमार्थिकौ, किं वा ज्ञातावितौपाधिकाविति विशये श्रुतिर्नित्यत्वं बोधयतीति क्वाऽयोग्यतया पराभवः ? अन्यथा "अहं गौरः, स्थूलः, कृशः, गच्छामि" इत्यादिप्रत्यक्ष-बाधादस्थूलादिश्रुतिरपि स्वार्थं न प्रतिपादयेदिति जितं चार्वाकेण। युक्त्याऽस्थूलादिरूपसिद्धिरिति- चेत्; भ्रान्तो-ऽसि; श्रुत्या सिद्धे ह्यात्मन्यश्रद्धामलक्षालनार्थं युक्त्यभिधा-नम्, श्रुतिश्चेदयोग्यतयाऽर्थं न बोधयत्येव; कुत्र युक्त्यभि-धानाऽवकाशः ? "ग्रावाणः प्लवन्ते" इत्यादौ तु ऋजावर्थे प्रयोजनाऽभावादन्यत्र तात्पर्यकल्पनम्, न तु प्रत्यक्षबाधात्। यदि च यथाश्रुतार्थे प्रयोजनलाभः, तथाश्रुतिः प्रत्यक्षशते-

और ज्ञान के उत्पाद और विनाश होते है ? अथवा जाति में जैसे उत्पाद और विनाश औपाधिक होते हैं, वैसे ही सुख और ज्ञान में भी होते है ? ऐसा संशय हो जाने पर श्रुति दोनों के नित्यत्व का बोधन कराती है; तब अयोग्यता से श्रुति का पराभव कहां हुआ ? यदि अयोग्यता के द्वारा प्रत्यक्ष से श्रुति का पराभव मान लिया जाये तो— "मैं गौर हूं, स्थूल हूं, कृश हूं, जाता हूं" इत्यादि प्रत्यक्ष से बाध होने के कारण "अस्थूलमनणु" इत्यादि श्रुति भी स्वार्थ का प्रतिपादन नहीं करेगी। तब तो तुम चार्वाक से भी जीते गये हो। शंका– युक्ति से आत्मा के अस्थूलत्वादिरूप की सिद्धि होती है। उत्तर— तब तो तुम भ्रम में हो; क्योंकि श्रुति से सिद्ध आत्मा में अश्रद्धारूप मल के प्रक्षालनार्थ युक्ति का कथन है। यदि श्रुति ही अयोग्यतावश स्वार्थ का बोधन नहीं कराती, तो युक्त्यभिधान का अवसर ही कहां होगा ? "ग्रावाणः प्लवन्ते" इत्यादि श्रुतियों में तो (अर्थवाद होने के कारण) अभिधाशक्ति से प्राप्त सरल वाच्यार्थ में प्रयोजनाभाव से अन्यत्र (विहितकर्म की प्रशंसा आदि में) तात्पर्य की कल्पना की जाती है, न कि प्रत्यक्षबाध से। यदि अथाश्रुत अर्थ से प्रयोजन का लाभ होता हो, तो सैकड़ों प्रत्यक्षों

नाऽपि बाधितुमशक्यैव, नित्यज्ञानानन्दब्रह्मस्वरूपप्रतिपादने च बहुलं प्रयोजनं श्रूयते–"तरति शोकमात्मवित्" (छा०७ १।३) इत्यादि। तस्मान्न विनाशादिग्राहकेन प्रत्यक्षेण श्रुतेर्बाधः सम्भवी। नाऽपि द्वितीयः; अन्तःकरणाऽवच्छिन्नो हि चिदात्मा प्रमाता, तथा चाऽन्तःकरणतद्वृत्त्योराधाराधेयभावोऽन्तःकरणावच्छिन्नचिदात्मतद्वृत्त्यवच्छिन्नाऽऽनन्दज्ञानयोरुपचर्यत इति क्व बाधशंकाऽवकाशः ? कल्पना चेयमभेदबोधकश्रुतिमूलैव ।

ननु– तथापि स्वप्रकाशानन्दस्वरूपस्य सर्वदैकरूपत्वान्मुक्तसंसारिणोरविशेषापत्तिः, न चाऽविद्यासत्त्वाऽसत्त्वाभ्यां विशेषः; तदसत्त्वस्याऽपुरुषार्थत्वात्, न ह्यविद्याऽभावो दुःखा-

से भी श्रुति बाधित नहीं की जा सकती। और नित्यज्ञानानन्दरूप ब्रह्म के स्वरूपप्रतिपादन में तो बहुत से प्रयोजन श्रुतियों में बताये गये हैं। जैसे कि– आत्मवित् शोक से उपलक्षित संसार से पार हो जाता है" इत्यादि। इस लिये विनाशादि के ग्राहक प्रत्यक्ष से श्रुति का बाध नही हो सकता। द्वितीय विकल्प भी नहीं; क्योंकि अन्तःकरण से अवच्छिन्न चिदात्मा ही प्रमाता है; "मैं सुखी हूँ, मैं जानता हूँ" इत्यादि में अन्तःकरण और उसकी तत्तदाकारवृत्ति में आधाराधेयभाव है; और वह अन्तःकरण से अवच्छिन्न चिदात्मा और उसकी तत्तदाकारवृत्ति से अवच्छिन्न ज्ञान और आनन्द में उपचरित (गौणरूप से प्रयुक्त) होता है। अतः बाधशंका का अवकाश कहां ? और यह कल्पना अभेदबोधकश्रुतिमूलिका ही है।

शंका— तो भी स्वप्रकाशानन्दरूप के सदा एकरूपत्व होने के कारण मुक्त और संसारी में कोई अन्तर न होगा, और उनमें अविद्या के सत्त्व और असत्त्व से अन्तर भी नहीं हो सकता, क्योंकि अविद्या का असत्त्व पुरुषार्थ नहीं; कारण कि– अविद्या का अभाव दुःखाभाव और सुख इन दोनों में से अन्यतर नहीं है, लोक में इन दोनों की ही

ऽभावसुखयोरन्यतरः; तयोरेव च पुरुषार्थत्वं लोकसिद्धमिति-उच्यते; अविशेषाऽऽपादनमिष्टमेव। तदुक्तम्--

यादृगस्य द्वये रूपं स्वात्मनैवाऽनुभूयते।
तावदेव हतान्ध्यस्य सदन्याऽनवशेषतः॥

(बृ०वा०५।१।१५) इति।

श्रुतिरपि- "विमुक्तश्च विमुच्यते" (कठ०२।२।१), "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येति" (बृ०४।४।६) इत्यादि मुक्तसंसारिणोरविशेषमाह। कथं तर्हि नित्यस्य पुरुषार्थत्वमिति-चेत्; निरुपाधीच्छाविषयत्वादिति गृहाण। तदसाध्यं कथमुक्तरूपमपि स्यादिति- चेत्; सुखरूपत्वादेव। तदा कथं तदर्थं पुरुषप्रवृत्तिरिति- चेत्; ब्रह्मस्वरूपं साक्षात्कृतवतः प्रवृत्त्यभावात्, अज्ञस्य तु नित्य एव तस्मिन् सुखे उपाध्युत्पत्ति-

पुरुषार्थता प्रसिद्ध है। उत्तर— इसमें उत्तर यह है कि— मुक्त और संसारी की आत्मा में अन्तर न होना तो इष्ट ही है। इस विषय में कहा भी है- "मुक्त और संसारी में इस आत्मा के जिस रूप का अपने मन से अनुभव किया जाता है, वही रूप अविद्यातिमिर से रहित का है, क्योंकि सत् से अन्य कुछ भी नहीं रह जाता" इसी प्रकार श्रुति भी मुक्त और संसारी में अविशेष कहती है —"विमुक्त होता हुआ ही विमुक्त है," "ब्रह्म होता हुआ ही ब्रह्म को पा लेता है" इत्यादि; (अर्थात् ब्रह्मस्वरूप आत्मा भ्रम से ही बद्ध प्रतीत होती है, वस्तुतः सदा वह एकरस में है)। शंका—तब तो किस प्रकार नित्य का पुरुषार्थत्व होगा ? (क्योंकि पुरुषार्थ साध्य होता है)। उत्तर—उपाधिरहित इच्छा का विषय होने से उसकी पुरुषार्थता समझो। शंका—वह तो असाध्य है, अतः किस प्रकार इच्छा का विषय हो सकता है ? उत्तर— वह सुखरूप होने से इच्छा का विषय हो सकता है। शंका— इच्छा होने पर भी उस सुख के लिये पुरुष की प्रवृत्ति कैसी होगी ? उत्तर— जिन्हों ने ब्रह्म स्वरूप का साक्षात्कार कर लिया

मारोप्य प्रवृत्त्युपपत्तेः । कोऽसावुपाधिरिति– चेत्; अविद्यानिवृत्तिरेव । स्वर्गोऽपि हि नित्य एव; तस्याऽप्युपाध्युत्पत्त्यर्थमेव प्रवृत्तिः । तत्र च धर्मविशेषजन्याऽन्तःकरणवृत्तिभेद एवोपाधिः । वस्तुतस्तु– नित्यमुक्तमेव ब्रह्म, तदभिन्नो जीवोऽपि नित्यमुक्त एव, अविद्यादिकन्तु नासीदस्ति भविष्यतीति । तदुक्तम्– "ज्ञाते द्वैतं न विद्यते" (गौ०का० १।१८), "प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्त्तेत कथञ्चन" (गौ०का० १।१७), "बन्धो मोक्ष इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः । गुणस्य मायामूलत्वान्न मे बन्धो न मोक्षणम् ॥" (भाग० ११।११।१) इति । तस्मात् सिद्धान्तरहस्यमविज्ञाय वेदान्तिमते दूषणाऽभिधानं कुतार्किकाणां परं शोभत इति ।

है; उसकी तो प्रवृत्ति का अभाव है, किन्तु ब्रह्म की तो उस नित्य सुख में ही उपाधि की उत्पत्ति का आरोप करके प्रवृत्ति हो सकती है। शंका – वह उपाधि कौन सी है ? उत्तर– वह अविद्यानिवृत्ति ही है। और स्वर्गरूप सुख भी नित्य ही है, उस में भी उपाधि उत्पन्न करने के लिये प्रवृत्ति है, और उस में धर्मविशेष से जन्य अन्तःकरणवृत्तिविशेष ही उपाधि है। वास्तव में तो ब्रह्म नित्यमुक्त ही है, अतः उससे अभिन्न जीव भी नित्यमुक्त ही है; अविद्यादि तो न था न है और न होगा। इस विषय में कहा भी है– "ब्रह्मात्मैक्य ज्ञात होने पर द्वैत नहीं रहता," "प्रपञ्च यदि होता तो किसी प्रकार से निवृत्त भी हो जाता, किन्तु है ही नहीं तो निवृत्त कैसे होगा," "बन्ध और मोक्ष – इस प्रकार की व्याख्या गुण (अन्तःकरणादि) को लेकर होती है; वस्तुतः ये दोनों मेरे नहीं हैं, क्योंकि गुण मायामूलक होने से न मेरा बन्ध है, और न मोक्ष।" इस लिये सिद्धान्तरहस्य को जाने विना ही वेदान्तियों के मत में दूषण का अभिधान कुतार्किकों को ही शोभा देता है।

ननु– तथापि संसाराऽवस्थायां प्रकाशसुखात्मकब्रह्मा-ऽभिन्नोऽहमिति कथं न प्रतीतिः ? ननूक्तमविद्यापिहितत्वा-दिति । सत्यमुक्तम्, सैव तु नास्तीति– चेन्न; ब्रह्मज्ञानो-त्पत्तेः पूर्वं तस्याः स्वीक्रियमाणत्वात् । कुतस्तर्हि तन्निवृत्ति-रिति ? ब्रह्माकाराऽन्तःकरणवृत्तिभेदादिति गृहाण । यद्यपि सा जडा, तथाऽपि तत्प्रतिबिम्बितश्चिदात्मैव तन्निवर्तक इत्युच्यते । सा चाऽन्तःकरणवृत्तिरविद्यां सकार्यां नाशयित्वा स्वयमपि नश्यति, दग्धेन्धनाऽनलवत् । तस्माद्ब्रह्म क्षेत्रज्ञेभ्यो-ऽभिन्नम्, क्षेत्रज्ञाश्च ब्रह्मणोऽभिन्ना एव; भेदस्त्वविद्यो-पाधिकः, कर्त्तृत्वभोक्तृत्वादयो जीवे; सर्वज्ञत्वादयोऽपि पर-मेश्वरे मायाकल्पिता एव; सकलश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणानां तात्पर्यतोऽयमर्थो निष्पन्न इति, तथापि वेदान्तवाक्यजन्या-

शंका— तो भी संसारदशा में— "प्रकाशसुखात्मक ब्रह्म से मैं अभिन्न हूँ" ऐसी प्रतीति क्यों नहीं होती ? उत्तर— इसका उत्तर तो दे चुके हैं कि— अविद्या से आवृत होने के कारण ऐसा होता है। शंका— ठीक है; कह तो चुके हो; किन्तु वह अविद्या तो है ही नहीं। उत्तर— ऐसा न कहो; क्योंकि ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति होने से पहले अविद्या मानी जाती है। शंका— तब किससे उसकी निवृत्ति होगी ? उत्तर— ब्रह्माकार अन्तःकरणवृत्तिविशेष से उसकी निवृत्ति होती है– ऐसा समझो। यद्यपि वह अन्तःकरणवृत्ति जड़ है, तथापि उसमें प्रति-बिम्बित चिदात्मा ही अविद्या का निवर्त्तक कहा जाता है। और अन्तःकरणवृत्ति भी कार्यसहित अविद्या को नष्ट करके स्वयं ही दग्धे-न्धन अग्नि के समान नष्ट हो जाती है। इस लिये ब्रह्म क्षेत्रज्ञ जीवों से अभिन्न है, और क्षेत्रज्ञ जीव भी ब्रह्म से अभिन्न हैं; भेद तो अविद्यारूप उपाधि से होता है, और जीव में कर्त्तृत्व भोक्तृत्वादि तथा परमेश्वर में सर्वज्ञत्वादि भी माया से कल्पित ही है। यह अर्थ सकल श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणों के तात्पर्य से सिद्ध हुआ

न्निर्विकल्पकसाक्षात्कारादेव मुक्तिः, भेदज्ञानं तु सर्वथा मुक्तिप्रतिबन्धकम्, "द्वितीयाद्वै भयं भवति" (बृ० १।४।२) इति श्रुतेः। गौतमादीनामप्यत्रैव तात्पर्यम्। तस्मात्—

प्रामाणिको निषेधश्चेद्भेदोऽप्रामाणिकस्ततः।
भेदस्याऽपि निषिद्धत्वात् श्रुतिभङ्गोऽन्यथा भवेत्॥

श्रुतिर्हि सामान्याकारेण द्वैतमात्राऽभावं प्रतिपादयति, भेदोऽपि च द्वैतमध्ये प्रविष्ट एव।

अद्वैतसिद्धिरद्वैतं न विहन्ति कथञ्चन।
सत्यत्वाद्धन्ति चेन्नैवं द्वैतमात्रनिषेधतः॥

अद्वैतसिद्धिरपि ब्रह्माऽतिरिक्ता निषिध्यत एव श्रुत्या, तथा च क्वाऽद्वैतव्याघातः? श्रुतिस्तर्हि सत्येत्यपि नाऽऽशंक-

है; तो भी मुक्ति तो वेदान्तवाक्य (तत्त्वमस्यादि) से जन्य निर्विकल्पक साक्षात्कार से ही होती है; और भेदज्ञान तो सर्वथा मुक्ति का प्रतिबन्धक है, क्योंकि "द्वितीय से ही भय होता है" यह श्रुति है। न्यायदर्शनकार गौतमादिक का भी यही तात्पर्य है। इस लिये— "यदि निषेध प्रामाणिक है, तो उसी से भेद अप्रामाणिक सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि भेद का भी निषेध किया गया है, अन्यथा (यदि श्रुति भेद का निषेध नहीं करती तो) श्रुतिनिष्ठ प्रामाण्य भङ्ग हो जायेगा।" कारण कि— श्रुति सामान्यरूप से द्वैतमात्र के अभाव का प्रतिपादन करती है, और भेद भी द्वैत के मध्य प्रविष्ट ही है। "अद्वैतसिद्धि (अद्वैतविषयकनिश्चयरूप ज्ञान) अद्वैत का किसी भी प्रकार से व्याघात नहीं करती। यदि इसमें कोई ऐसा कहे कि वह सत्य है, अतः व्याघात करती है; तो ऐसा कथन अयुक्त है, क्योंकि द्वैतमात्र निषेध का विषय है।" और ब्रह्म से अतिरिक्त अद्वैतसिद्धि का भी श्रुति से निषेध किया ही जाता है, तब अद्वैत का व्याघात

नीयम्; तस्या अपि निषेधात् । नह्यद्वैतश्रुतिः स्वात्मानं रक्षति । तथासति स्वविषयाऽसिद्धिः प्रसज्येत ।

आत्माऽभेदमजानानाः स्वतःसिद्धं मुमुक्षवः ।
मा भूवन्नफलायासा इत्यभेदो निरूपितः ॥

इति प्रपञ्चसत्यत्वानुमानभङ्गः समाप्तः ॥२०॥

कहां होगा ? श्रुति भी तो सत्य ही है— ऐसी शंका भी नहीं होनी चाहिये; क्योंकि उसका भी निषेध होता है; अद्वैतश्रुति अपने स्वरूप की रक्षा नहीं करती । यदि वह ऐसा करती है, तो उसके विषय अद्वैत की असिद्धि हो जायेगी । "स्वतःसिद्ध आत्मा के अभेद को न जानने वाले मुमुक्षुओं का प्रयास निष्फल न हो— इस निमित्त से यहां अभेद का निरूपण किया गया है ।"

इति प्रपञ्चसत्यत्वानुमानभङ्गस्याऽनुवादः समाप्तः ॥२०॥

अथ मुमुक्षूपदेशः ॥२१॥

ननु–यद्यपीयता प्रबन्धेनाऽद्वैतरत्नं सुनिरूपितं भवद्भिर्दयालुभिः; तथाऽपि नाऽस्मदीयहृदये आस्पदमादधाति। किमत्र करोमि ?

शृणु– वृद्धोक्ष ! शैलसारहृदयोऽसि। तदुक्तम्––

इत्येवं श्रुतिनीतिसंप्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते
येषां नाऽस्पदमादधाति हृदये ते शैलसाराशयाः।
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः
काले कारुणिक! त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः॥
(न्या०कु०५।१८)

अथ मुमुक्षूपदेशस्याऽनुवादः। ॥२१॥

शंका– यद्यपि यहां तक के ग्रन्थ से आप दयालु के द्वारा अद्वैतरत्न सम्यग्रूप से निरूपित किया गया है, तथापि हमारे हृदय में वह बात जंचती ही नहीं। इस में मैं क्या करूं ?

समाधान– सुनो, हे वृद्धोक्ष (बूढ़े बैल) ! तुम पत्थर की चट्टान जैसे हृदय वाले हो। (उदयनाचार्य ने) कहा भी है–

"उस परमात्मतत्त्व के विषय में इस प्रकार से श्रुति, स्मृति और न्यायरूप विशाल महाह्लद के स्वच्छ बहुत जलों से जिन के हृदय प्रक्षालित किये जाने पर भी, उनमें इस परमतत्त्व का आसन नहीं जमता, वे लोग वास्तव में शैलसार जैसे कठोर हृदय वाले हैं। किन्तु प्रस्तुत तत्त्व के प्रतिकूल विधान करने वाले होते हुए भी वे लोग किसी न किसी काल में आप (परमात्मा) के चिन्तक हो जायेंगे। अतः हे कारुणिक ! आप के द्वारा वे सब कृपाभाजन बनाने योग्य हैं अर्थात् भगवद्विषयकशंकाकलंकशून्य करने योग्य हैं।"

ब्रह्मन् ! किमित्यधिक्षिपसि बृद्धोक्षेति ? तवाऽपि चित्ते किमद्वैतरत्नं चकास्ति ?

नितरां मूर्खोऽसि । नहि त्वमिवाऽहम् । तदुक्तं तत्रैव–

अस्माकन्तु निसर्गसुन्दर ! चिराच्चेतो निमग्नं त्वयी–

त्यद्धाऽऽनन्दनिधे ! तथापि तव तन्नाद्यापि संदृश्यते ।

तन्नाथ त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वयैकात्मतां

याते चेतसि नाऽऽप्नुवाम शतशो याम्याः पुनर्यातनाः ॥

(न्या०कु०५।१६) । अत्र च यत एवाऽऽनन्दनिधिरत एव निसर्गसुन्दरः; सुखरूपत्वमन्तरेण निसर्गसुन्दरत्वाऽनुपपत्तेः । न च– आनन्दशब्देन दुःखाऽभावो लक्ष्यते, तथा च तदधिकरणप्रतिपाद्योऽप्ययमर्थ इति– वाच्यम्; तथा सति भग-

शंकिता– हे ब्रह्मन् ! बृद्धोक्ष कहकर क्यों आक्षेप करते हो ? क्या आप के मन में भी अद्वैतरत्न प्रकाशित होता है ?

समाधाता– तुम अत्यन्त मूर्ख हो । तुम जैसा तो मैं नहीं हूं । वहीं यह भी कहा है–

"हे निसर्गसुन्दर ! यद्यपि हमारा चित्त दीर्घकाल से आप में ही निमग्न है- यह बिल्कुल सही है, तथापि हे आनन्दनिधे ! अभी तक आप का वही तत्त्व अनुभव में नहीं आता । अतः हे नाथ ! शीघ्र ही मेरे ऊपर कृपा कीजिये, जिससे मन में आप के साथ एकस्वरूपता को प्राप्त करके पुनः यम की अनेक यातनाओं को भोगना न पड़े ।" इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि– जिस कारण से वह आनन्दनिधि है, उसी कारण से वह निसर्गसुन्दर है; क्योंकि सुखरूपता के विना निसर्गसुन्दर नहीं हो सकता । यहां पर–आनन्दशब्द से दुःखाभाव लक्षित होता है, इस लिये दुःखाभाव के अधिकरणरूप से प्रतिपाद्य भी अर्थ हो सकता है- ऐसा कहना उचित नहीं; क्योंकि ऐसा अर्थ होने पर भगवान् की निसर्गसुन्दरता (स्वभाव से ही सुन्दरता) नहीं हो सकती । अतः यथाश्रुत अर्थ ही ग्राह्य है । और ऐसे अर्थ का

वतो निसर्गसुन्दरत्वाऽनुपपत्तेः । तस्माद्यथाश्रुतमेव ग्राह्यम् । तथा सति वेदोऽप्यनुगृहीतो भवति ।

ब्रह्मन् ! तथापि मम चित्ते नाऽऽयात्यद्वैतरत्नम् । शृणु ब्रह्मबन्धो ! ब्रह्मद्वेषजनितपातकदूषिताऽन्तःकरणोऽसि । ब्रह्मन् ! शाधि मां यथास्मिन्नद्वैताऽध्वनि मच्चित्तं प्रविशतीति ।

शृणु वत्स ! ईश्वरमुपास्स्व । तदुक्तम्—

ईश्वराऽनुग्रहादेषा पुंसामद्वैतवासना ।
महाभयकृतत्राणा द्वित्राणां यदि जायते ।।
(खं०खा० १।२५) इति ।

तथा— मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ।।
(गी० ९।३४) इत्यादि ।

ग्रहण होने पर वेद भी अनुगृहीत होता है-अर्थात् यह अर्थ वेद के अनुकूल पड़ता है ।

शंकिता— ब्रह्मन् ! तो भी मेरे मन में यह अद्वैतरत्न नहीं आता है । समाधाता— सुनो हे ब्रह्मबन्धो ! इस लिये तुम्हारे मन में वह नहीं आता कि तुम ब्रह्मद्वेष से उत्पन्न पापों से दूषित अन्तःकरण वाले हो ।

शंकिता— ब्रह्मन् ! मुझे ऐसा उपदेश दीजिये, जिससे इस अद्वैतमार्ग में मेरा मन प्रविष्ट हो जाये ।

समाधाता— सुनो वत्स ! ईश्वर की उपासना करो । कहा भी है- "ईश्वर के अनुग्रह से दो तीन मनुष्यों की ही यह महाभय से त्राण करने वाली अद्वैतवासना उत्पन्न हो जाती है ।" तथा गीता में भी— "मुझ परमात्मा में ही मन लगाने वाले बनो, मेरे ही भक्त बनो, मेरा ही पूजन करने वाले बनो, और मुझे ही नमस्कार किया करो। इस प्रकार मत्परायण होकर मुझ में चित्त लगाने वाले तुम मुझ परमेश्वर को प्राप्त हो जाओगे ।"

ब्रह्मन् ! किमिति वत्सेति संबोधयसि ? वृद्धोऽहम् ।

ततः किम् ?—न तेन स्थविरो भवति येनाऽस्य पलितं शिरः ।
योवै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥
(म०भा०वन०१३३।११) इति ।

ब्रह्मन् ! ईश्वरोपासनमपि सर्वदा कर्त्तुमशक्यम्, विषयाक्षिप्तचित्तत्वात् । अरे बालिष ! विषये दोषं पश्य—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।

शंकिता— ब्रह्मन् ! किस कारण मुझे "वत्स" इस प्रकार संबोधित करते हो ? मैं तो वृद्ध हूँ।

समाधाता— इससे क्या ? क्योंकि—"जिस कारण से अर्थात् आयु अधिक होने से जिसके सिर के बाल पक जाते हैं; उसी से वह वृद्ध नहीं कहा जाता। जो युवा होता हुआ भी विद्वान् है, उसको ही देवता वृद्ध समझते हैं।"

शंकिता— ब्रह्मन् ! विषयों से चञ्चल मन वाला होने के कारण मुझ से ईश्वर की उपासना भी सर्वदा करना सम्भव नहीं।

समाधाता— अरे मूर्ख ! विषयों में दोष देखो— "अमानित्व (मान से रहित होना), अदम्भित्व (दम्भ से रहित होना), अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्य की सेवा, बाह्यान्तर की शुद्धता, स्थिरता, मन का निग्रह, इन्द्रियों के विषय रूपरसादि से वैराग्य, अहंकार का अभाव, तथा जन्म मृत्यु जरा और व्याधि में दुःख एवं दोष का अनुचिन्तन, स्त्री पुत्रादि में अनासक्ति और अनभिष्वङ्ग (परस्पर आत्मभाव का

नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टाऽनिष्टोपपत्तिषु ॥९॥
मयि चाऽनन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥
(गी०अ०१३) इति ।

एतज्ज्ञानं ज्ञानसाधनमित्यर्थः । तथा चैतावन्ति साधनानि यस्य, तस्यैव ज्ञानं मुक्तिहेतुभूतमुत्पद्यते । तदेतानि सम्पादय ।

ब्रह्मन् ! एतेषां मध्ये एकमपि साधनं मम नास्ति, सुगममुपायं वद ।

स्मर तर्हि विष्णुमहर्निशम् । तदुक्तम्—

अभाव), इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति में सदा समचित्तत्व (इष्ट प्राप्ति में हर्ष और अनिष्ट प्राप्ति में विक्षेप न करके सदा मन को समभाव में रखना), मुझ परमात्मा में अनन्ययोग के द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्तदेश का सेवन, सभा और जनसमुदाय से उपरामता, अध्यात्मज्ञान में सदा स्थिति, तथा तत्त्वज्ञान का फलदर्शन— ये उन्नीस ज्ञान कहे हैं और उनसे भिन्न अज्ञान है।" यहां पर "एतज्ज्ञानम्" इस में ज्ञान का अर्थ ज्ञानसाधन है (अर्थात् ज्ञान के साधन में गौणरूप से ज्ञानशब्द का प्रयोग किया गया है)। इस लिये जिस अधिकारी के पास पूर्वोक्त उन्नीस साधन हैं; उसका ही मुक्तिहेतुभूत ज्ञान (ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कार ज्ञान) उत्पन्न होता है। अतः इन साधनों का सम्पादन करो।

शंकिता— ब्रह्मन् ! इन साधनों में से एक भी साधन मेरे पास नहीं है। अतः सुगम उपाय बताये।

समाधाता— तब तो दिन-रात श्री विष्णु का स्मरण किया करो। कहा भी है—

"स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित् ।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किंकराः ॥
चिन्त्यमानः समस्तानां क्लेशानां हानिदो हि यः ।
समुत्सृज्याऽखिलं चिन्त्यः सोऽच्युतः किं न चिन्त्यते ॥"
इति ।

तथा च सर्वदा विष्णुनामस्मरणेन शुद्धान्तःकरणः सन् उक्तसाधनकलापवान् भविष्यसीति ।

भगवन् ! सर्वदा भगवन्नामकीर्त्तनेऽप्यहमसमर्थस्ततोऽप्युपायान्तरं वद ।

शृणु वत्स ! लौकिकं वैदिकं वा यत्किञ्चन कर्म, तत्सर्वं भगवति वासुदेवे समर्पितं कुरु । तदुक्तम्—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादात्परां शान्तिमचिरेणाऽधिगच्छति ॥
(गी० १८।५६) ।

"श्री भगवान् विष्णु का स्मरण निरन्तर करते रहना चाहिये, कभी भी विस्मरण नहीं होना चाहिये । सभी विधि और निषेध इन दोनों के ही किङ्कर (दास) हैं। जो चिन्त्यमान होने पर समस्त दुःखों को नष्ट करने वाले हैं, अतः सब कुछ त्यागकर वही अच्युत भगवान् विष्णु सदा चिन्तन करने योग्य हैं; इसलिये उनका चिन्तन क्यों नहीं करते ?"

अतः सर्वदा श्री विष्णु के नामस्मरण से शुद्धान्तःकरण वाले होकर तुम उक्तसाधनसमुदाय वाले हो जाओगे ।

शंकिता— भगवन् ! सर्वदा भगवन्नामकीर्त्तन में भी मैं असमर्थ हूँ । अतः उससे भिन्न उपाय बतायें ।

समाधाता— सुनो, वत्स ! लौकिक हो या वैदिक, जो कुछ भी कर्म तुम्हारे द्वारा किये जाते हैं, उन सब को भगवान् वासुदेव को समर्पित करो । कहा भी है— "सब कर्मों को भी सदा करता हुआ जो मुझ परमात्मा का ही आश्रित रहता है, वह मेरी कृपा से प्रति-

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

(गी०९।२७) इति ।

भगवन् ! तत्तत्कर्मजन्यस्वर्गादिफलकामनाऽऽक्षिप्तमनस्तया फलमनुदिश्य तत्तत्कर्मजातमपि कर्त्तुं नाऽहमुत्सहे ।

अरे ! नूनमूषरात्माऽऽसि ।

भगवन् ! किं बह्व आत्मानस्तव मते ? यन्मामूषरात्मेति संबोधयसि ।

शृणु वत्स ! एकं ब्रह्म त्रिविधपरिच्छेदशून्यं वस्तुवृत्तमीदृशम्; तथाऽप्यनाद्यनन्ताभिरविद्याभिः परिच्छिन्नं अनेकमिव भवति । तस्यामविद्यावस्थायां स्थित्वोषरात्मा त्वं निगद्यसे ।

शीघ्र परमशान्तिरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। हे कौन्तेय ! जो कुछ भी कर्म तुम करते हो, जो कुछ भी खाते हो, जो होम करते हो, जो दान देते हो, तथा जो कुछ भी तप करते हो, उन सब को मुझे अर्पित करो।"

शंकिता— भगवन् ! तत्तत्कर्मजन्य स्वर्गादि फलों की कामना से मन आक्षिप्त होने के कारण फल का उद्देश्य छोड़कर उन कर्मकलापों को करने के लिये मुझ में उत्साह नहीं है।

समाधाता— अरे ! तुम तो अवश्य ही ऊसरात्मा हो।

शंकिता— भगवन् ! क्या आप के मत में अनेक आत्मा हैं ? जिससे आप मुझे ऊसरात्मा कहते हैं।

समाधाता— सुनो, वत्स ! एक ही ब्रह्म त्रिविध परिच्छेद (देशकालवस्तुपरिच्छेद) से शून्य है; क्योंकि वस्तु का स्वभाव वैसा ही है, तो भी अनादि अनंन्त अविद्याओं से परिच्छिन्न होकर वह अनेक जैसा हो जाता है। उस अविद्यावस्था में रहता हुआ तू ऊसरात्मा कहा जाता है।

भगवन् ! नाहमुपेक्षणीयः;, सर्वमुक्तेस्त्वयाऽप्यङ्गीकारात्, अहमपि च स्वरूपयोग्यो भवाम्येव, संसारित्वेनैव मुक्तावधिकारात्, स्वरूपयोग्यस्य च नित्यस्याऽवश्यं सहकारिलाभात्, तथा चाहमपि कदाचिच्छमदमादिभिः सहितो भविष्यामि ।

श्रृणु वत्स ! फलरागं त्यक्त्वा भगवदर्पणेन कर्माणि कुरु, फलरागत्यागे च क्षयिष्णुत्वादिदोषदर्शनमेवोपायः । तदाह–"तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवाऽमुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" (छा०८।१।६) इति ।

भगवन् ! एवं करिष्यामि, आविर्भूतं मम चित्ते दोषदर्शनं विषयेषु, तथा हीह संसारकान्तारे बहूनि दुःखदुर्दि-

शंकिता— भगवन् ! मैं उपेक्षणीय नहीं हूँ; क्योंकि आपने सब की मुक्ति अङ्गीकार की है। और मैं भी स्वरूपयोग्य तो हूँ ही; कारण कि संसारी होने के नाते मुक्ति में मेरा अधिकार है, और जो स्वरूपयोग्य हो तथा नित्य भी हो, उस का अवश्य ही किसी न किसी समय सहकारिलाभ हो ही जाता है। इसलिये मैं भी कभी तो शमदमादि साधनों से सम्पन्न हो ही जाऊँगा।

समाधाता— सुनो, वत्स ! फलकामना छोड़कर भगवदर्पणबुद्धि से कर्मों को करो, और फलराग का त्याग करने में तो सांसारिक पदार्थों में विनाशित्वादि दोष देखना ही उपाय है। कहा भी है— "जैसे— इस संसार में कर्म से उपार्जित धन-धान्यादि फल क्षीण हो जाते हैं, वैसे ही परलोक में भी पुण्य से अर्जित स्वर्गादि फल क्षीण हो जाते हैं।" इति ।

शंकिता— भगवन् ! ऐसा ही करूँगा। मेरे मन में विषयों में दोषदर्शन आविर्भूत हो गया है। तथा हि— इस संसाररूपी कानन में दुःखदायक दुर्दिन बहुत हैं, और सुखप्रकाशक खद्योत (जुगनु) तो

नानि, अल्पा च सुखखद्योतिकेत्युत्पन्नविवेकबुद्धिरनुष्ठित-भगवदर्पणकर्मकलापः शुद्धस्वान्तः सम्प्रति संवृत्तोऽस्मि। भगवन्! शाधि किमतः करवाणीति।

शृणु वत्स! गुरूपसदनं कुरु। तथाहि– "परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाऽभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" (मु०१।२।१२); अकृतो मोक्षः कृतेन कर्मणा नाऽस्तीत्यर्थः। एतावता विद्यमान एव मोक्षो ज्ञानेनाऽभिव्यज्यत इत्यर्थः प्रतीयते। तथा च जन्यो मोक्ष इति पक्षो वेदविरुद्ध इति ध्येयम्।

भगवन्! उक्तलक्षणो गुरुस्त्वमेव, अतस्त्वामुपसन्नं

अत्यल्प है। इस प्रकार मुझे विवेकबुद्धि उत्पन्न हो गई है; तथा भगवदर्पणबुद्धि से कर्मकलाप के अनुष्ठान करने से अब शुद्धान्तःकरण वाला हो गया हूँ। अतः हे भगवन्! इस से आगे मुझे क्या करना चाहिये, इस विषय में उपदेश दीजिये।

समाधाता— सुनो वत्स! गुरूपसदन करो– अर्थात् गुरु की शरण में जाओ। तथा हि –"कर्मों से उपार्जित फलों की परीक्षा कर के ब्रह्मजिज्ञासु को उन से वैराग्य होना चाहिये, क्यों कि नित्य मोक्ष अनित्य कर्मों से नहीं हो सकता। अतः उस ब्रह्म को जानने के लिये अधिकारी को ऐसा करना चाहिये कि वह हाथ में उपहार लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास चला जाये।" यहां पर "नास्त्यकृतः कृतेन" इस का अर्थ है– नित्यमोक्ष अनित्य कर्म से नहीं हो सकता। इस अर्थ से यह प्रतीत होता है कि नित्यरूप से विद्यमान मोक्ष ज्ञान से अभिव्यक्त होता है। इस लिये "मोक्ष जन्य है" यह पक्ष वेदविरुद्ध है— ऐसा समझना चाहिये।

शंकिता— भगवन्! उक्तलक्षण से युक्त-अर्थात् श्रोत्रिय ब्रह्म-

संसारदुःखजर्जरिताऽन्तःकरणं मां विद्यार्थिनमुपदिश, येनाऽहं निरतिशयाऽऽनन्दं सर्वदुःखाऽभावोपलक्षितं लब्ध्वा कृतार्थो भवामीति ।

शृणु, तत्त्वमसि । महानुपदेशोऽयम्, श्रद्धस्व सौम्य ! भगवन् ! अत्र को वा तदर्थः ? को वा त्वमित्यस्याऽर्थः ? को वाऽसीत्यस्य ?

अद्वितीयं सच्चिदानन्दरूपं ब्रह्म तदर्थः । अहमिति प्रत्यये भासमानो देहादिव्यतिरिक्तः सुखादिमत्त्वेन च भवत्प्रसिद्धस्त्वमर्थः । उभयोः पदार्थयोरभेदो वाक्यार्थः, "असि" इत्यनेन च तस्यैव सार्वदिकत्वं प्रतिपाद्यते । तदुक्तम्--

"त्वं प्रत्यगव्यवहितं तव सुप्रसिद्धं
ब्रह्माऽद्वितीयमुदितञ्च तदस्यजस्रम् ॥
(सं०शा०१।९३) इति ।

निष्ठ गुरु तो आप ही हैं। अतः आपकी शरण में आये हुए और संसार-दुःख से जर्जरित अन्तःकरण वाले मुझ विद्यार्थी (ब्रह्मज्ञानार्थी) को उपदेश दीजिये, जिससे मैं सर्वदुःखाभाव से उपलक्षित निरतिशय आनन्द को पाकर कृतार्थ हो जाऊँ।

समाधाता— सुनो, "वही तुम हो"। यह महान् उपदेश है। हे प्रियदर्शन ! तुम इसमें श्रद्धा करो।

शंकिता— भगवन् ! "तत्त्वमसि" इस वाक्य में "तत्" शब्द का भी अर्थ क्या है? और "त्वम्" पद का अर्थ क्या है ? तथा "असि" शब्द का भी अर्थ क्या है ?

समाधाता— अद्वितीय सत्-चित्-आनन्दरूप ब्रह्म "तत्" शब्द का अर्थ है; और "अहं" अर्थात् "मैं" इस ज्ञान में भासमान देहादिभिन्न तथा सुखादिमद्रूप से आप के मत में प्रसिद्ध आत्मा "त्वं" पद का अर्थ है; दोनों पदार्थों का अभेद वाक्यार्थ है; और "असि" इस पद से अभेद का ही सार्वदिकत्व (सर्वदा भाव) प्रति-

ननु– कथमेवं बोद्धुं शक्यते, यावता ब्रह्माऽद्वितीयं परोक्षमसंसारि च, अहं च तद्विपरीत इति तयोरभेदप्रत्ययो बाधित एव। वस्तुतस्तु– प्रत्यय एव न जायते, योग्यताज्ञानाऽभावात्, बाधविरहस्य तथात्वात्; अन्यथा "गौरश्वः" इत्यादावपि सामानाधिकरण्येनाऽन्वयबोधापत्तेः। न च "सोऽयं देवदत्तः" इतिवदभेदप्रत्ययो युक्तिमान्; तत्र हि एकस्मिन् धर्मिणि देवदत्ते तत्तेदंतावैशिष्ट्यं–सः, अयमिति–पदाभ्यां प्रतिपाद्यते, तच्च तत्र तिष्ठत्येव, नत्वेवं प्रकृते सम्भवति, अखण्डवाक्यार्थाऽभ्युपगमात्। तथा च विषमो

पादित किया जाता है। कहा जो–"त्व" पद का अर्थ तुम्हारे सुप्रसिद्ध प्रत्यक् चैतन्य से अव्यवहित साक्षादपरोक्षरूप आत्मा है, और वेद में तत् रूप से प्रतिपादित अद्वितीय ब्रह्म तत्पदार्थ है; तू सदा वही है–अर्थात् साक्षिचैतन्यात्मा तू सदा ही सत्स्वरूप अद्वितीय ब्रह्म है, उस से भिन्न तू कदापि नहीं।

शंकिता– इस प्रकार कैसे जाना जा सकता है? जब कि ब्रह्म अद्वितीय परोक्ष और असंसारी है, और मैं तो उसके विपरीत हूँ। इस लिये दोनों का अभेदज्ञान बाधित होता ही है। वास्तव में अभेदज्ञान ही नहीं हो सकता, क्यों कि उसमें योग्यताज्ञान का अभाव है, और बाधविरह ही योग्यता होती है, (अतः अभेद बोधन कराने की योग्यता "तत्त्वम्" में नहीं)। यदि योग्यता के बिना अभेदबोध हो जावे तो "गौरश्वः" इत्यादि में भी सामानाधिकरण्य (समानविभक्तिकत्व) होने से अन्वयबोध होने की आपत्ति आवेगी। इसमें–"वह यह देवदत्त है" इस वाक्य के समान यहां भी अभेदज्ञान होगा– ऐसा कहना युक्त नहीं; क्यों कि वहां एक ही धर्मी देवदत्त में तत्ता और इदंता का वैशिष्ट्य "सः" और "अयम्" दो पदों से प्रतिपादित होता है; और वह वैशिष्ट्य देवदत्त में है ही; किन्तु प्रकृत "तत्त्वमसि" में इस प्रकार नहीं हो सकता (अर्थात् वैशिष्ट्य का भान नहीं हो सकता); क्योंकि आपने अखण्ड वाक्यार्थ (अर्थात् विशेष्यविशेषणभावरहित

दृष्टान्तः । न च– तत्ताविशिष्टस्येदंताविशिष्टस्य चाऽभेद एव वाक्येन प्रतिपाद्यते, न वैशिष्ट्यमात्रम्; अन्यथा भेद-भ्रमनिवृत्तिर्न स्यात्; न स्याच्चाऽभेदसिद्धिः; तस्य तदेक-मानत्वादिति– वाच्यम्; तथापि वाक्यार्थस्तत्र सखण्ड एव, धर्मद्वयवैशिष्ट्यस्य तत्र सत्त्वात्; यदिचैकैव व्यक्तिरुभाभ्यां पदाभ्यां प्रतिपाद्यते । किञ्च– नित्यज्ञानादिमति जगत्कर्त्त-रीश्वरपदं तावच्छक्तम् । स एव तत्पदेन प्रतिपादनीयः, तद्वि-लक्षणे च जीवात्मन्यत्यन्तभिन्ने जीवपदं शक्तम् । स एव च त्वंपदेनाऽत्र वक्तव्यः । तथा च हिमवद्विन्ध्ययोरिव न कयाऽपि

र्मिमात्र का बोध) माना है । इस लिये "सोऽयं देवदत्तः" यह विषम-दृष्टान्त है । यदि इसमें पुनः शंका हो कि– "सोऽयम्" इस दृष्टान्त में तत्ताविशिष्ट और इदंताविशिष्ट धर्मी का अभेद ही वाक्य के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है, वैशिष्ट्यमात्र (विशेष्यविशेषणभाव-मात्र) नहीं; यदि वैशिष्ट्यमात्र का प्रतिपादन मान लिया जाये तो भेदभ्रम की निवृत्ति नहीं होगी, तथा अभेद की सिद्धि भी नहीं होगी; क्योंकि अभेदसिद्धि के लिये "सोऽयं देवदत्तः" यह वाक्य एक-मात्र प्रमाण है– तो यह कथन ठीक नहीं; क्यों कि उसमें भी वाक्यार्थ सखण्ड ही होता है, कारण कि– एक ही देवदत्त व्यक्ति यदि "सः" और "अयम्" इन दोनों पदों से प्रतिपादित है तो उसमें धर्मद्वय (तत्ता और इदंता) का वैशिष्ट्य विद्यमान है । किञ्च– नित्य-ज्ञानादिमान् जगत्कर्त्ता में ईश्वरपद शक्त है (अर्थात् ईश्वरपद वाचक है और उसका वाच्यार्थ नित्यज्ञानादिमान् जगत्कर्त्ता है) । वही ईश्वर यहां तत्पद से प्रतिपाद्य है; और उससे विलक्षण तथा अत्यन्तभिन्न जीवात्मा में जीवपद शक्त (वाचक) है; और वह जीव यहां त्वंपद से वाच्य है । तब तो किसी भी शब्दनिष्ठवृत्ति (अभिधा या लक्षणा वृत्ति) से हिमालय और विन्ध्यपर्वत के समान उन दोनों (ईश्वर और जीव) का अभेद सैंकड़ों श्रुतियों से भी नहीं कहा जा सकता;

वृत्त्या तयोरभेदः श्रुतिशतेनाऽपि वक्तुं शक्यः; धर्मिग्राहकमानेन तयोस्तथैव सिद्धेः। न च–अज्ञानोपहितो जीवः, तदनुपहितश्चेश्वरः। यद्वाऽज्ञानोपहित ईश्वरः, अन्तःकरणोपहितो जीवः,तथा चोपाध्यंशपरित्यागेन हि तयोरभेदबोधो नाऽयोग्यतया पराभवितुं शक्यः, घटाकाशो महाकाशः, जलशरावस्थचन्द्रो विविष्ठचन्द्र एव, दर्पणस्थं मुखं ग्रीवास्थमुखमेवेतिवदिति– वाच्यम्; दुःखित्वसर्वज्ञत्वादेः पारमार्थिकत्वात्, उदाहृतस्थले च तदभावात्, उक्तप्रक्रियायां मानाऽभावाच्च। क्षित्यादेः सकर्तृकत्वाऽनुमाने तादृशस्यैवेश्वरस्य सिद्धेः, मुखाद्याश्रयत्वेनैव जीवस्य सिद्धेश्च प्रत्यक्षादिना। अभेदबोधकञ्च वाक्यं यथाकथञ्चिद्योज्यमिति।

क्योंकि धर्मिग्राहक (जीव और ईश्वर के ग्राहक) प्रमाण से दोनों का भेद ही सिद्ध होता है। फिर भी इसमें आप कहे कि– अज्ञानोपहित जीव है, और अज्ञान से अनुपहित ईश्वर है; अथवा अज्ञानोपहित ईश्वर है, और अन्तःकरणोपहित जीव है – ऐसा हम मानते हैं। तब तो उपाध्यंश का परित्याग करके दोनों का अभेदबोध अयोग्यता के द्वारा तिरस्कृत नहीं किया जा सकता; क्यों कि घटाकाश महाकाश है, जलशरावस्थ चन्द्र अन्तरिक्षस्थ चन्द्र ही है, दर्पणस्थ मुख ग्रीवास्थ मुख ही है– इत्यादि के समान यहां भी है; तो यह कथन ठीक नहीं; कारण कि– प्रकृत में दुःखित्व सर्वज्ञत्वादि पारमार्थिक है, और उदाहृत स्थलों में तो पारमार्थिकता नहीं है; तथा उक्त प्रक्रिया (अज्ञानोपहित जीव है– इत्यादि प्रक्रिया) में भी कोई प्रमाण नहीं है। और पृथिव्यादि के सकर्तृकत्व के अनुमान से (क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्– इस अनुमान से) सर्वज्ञ ईश्वर की सिद्धि होती है, तथा मुखादि के आश्रयत्व से जीव की सिद्धि प्रत्यक्षादि से होती है। इसलिये अभेदबोधक वाक्यों को किसी प्रकार से अन्यपरक (उपासनादिपरक) मानकर उनका अर्थ करना चाहिये।

अत्रोच्यते– "स एवाऽयं देवदत्तः" इति शब्दः "स नाऽयम्", "सोऽयं न वा" इति वा विपर्यस्तं संदिहानं वा प्रति प्रयुज्यते, भ्रमसंशययोर्निवृत्त्यर्थम्। तच्च प्रयोजनं कदा निर्वहति ? यदि देवदत्तस्वरूपमात्रमभिन्नं प्रतिपाद्यते। तथा च तच्छब्दस्तत्ताभागं त्यक्त्वा व्यक्तिं लक्षयति, इदंशब्दोऽपि तथा; तदनन्तरमुभाभ्यां पदाभ्यां वाक्यार्थत्वेनाऽभिन्ना व्यक्तिः प्रतिपाद्यते; तत्ताविशिष्टस्येदानीमविद्यमानत्वेन इदंताविशिष्टे स्वाऽभेदाऽसम्भवात् मुख्यार्थबाधोऽस्त्येव। एवञ्च यदीदंपदेऽपि लक्षणा न स्यात्, तदा विशिष्टाऽविशिष्टयोरैक्यमसम्भावितमेव। न च पौनरुक्त्यम्; वाच्यार्थे तदभावात्, लक्ष्यार्थे त्विष्टापत्तिः। तदैवाऽभेदो वाक्यार्थः

समाधाता— इस में उत्तर यह है– "वही यह देवदत्त है" यह वाक्य "वह यह नहीं" ऐसे भ्रान्त, अथवा "वही यह है, या नहीं" ऐसा सन्देह करने वाले पुरुष के प्रति भ्रम और सन्देह निवारण करने के लिये प्रयुक्त किया जाता है। इस वाक्य के प्रयोजन का निर्वाह तभी हो सकता है, जब देवदत्त के स्वरूपमात्र का "तत्" और "इदम्" शब्द के द्वारा अभिन्नरूप से प्रतिपादन हो जाये। इस लिये "तत्" शब्द तत्ताभाग को छोड़कर व्यक्तिमात्र का लक्षणा से बोध कराता है, इसी प्रकार "इदम्" शब्द भी इदंताभाग को छोड़कर व्यक्तिमात्र का लक्षणा से बोध कराता है। इसके अनन्तर दोनों पदों के द्वारा वाक्यार्थरूप से अभिन्न व्यक्ति देवदत्तपिण्डमात्र का प्रतिपादन किया जाता है; क्योंकि तत्ताविशिष्ट व्यक्ति इस समय विद्यमान न होने से इदंताविशिष्ट के साथ तत्ताविशिष्ट का अभेद असम्भव होने के कारण मुख्यार्थ बाध होता ही है। इसी प्रकार यदि इदंपद में भी लक्षणा न की जाये तो विशिष्ट और अविशिष्ट में ऐक्य (अभेद) असम्भव ही है। और दोनों पदों के द्वारा लक्षणा से अलग अलग उत्थापित विशेष्यांश पिण्डमात्र में पुनरुक्ति भी नहीं होगी; क्योंकि वाच्यार्थ में पुनरुक्ति का अभाव है, और लक्ष्यार्थ में तो वह

सम्भवति, नाऽन्यथा । न च– तत्त्वंपदयोरत्यन्तभिन्नयोर्धर्मिणोर्न शक्तिग्रहः, ईश्वरपदसमानार्थत्वात्तदः, जीवपदसमानार्थत्वाच्च त्वम इति–वाच्यम्; असिद्धेः, "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्" (छा० ६।२।१), "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ० ३।६।२८), "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० २।१।१) इत्यादिश्रुतिभ्य एवेश्वरादिपदानां जगत्कारणे ब्रह्मणि संगतिग्रहः, स्वर्गादिपदवत्; तत्समानार्थश्च प्रकृते तच्छब्दः । यत्तु नित्यज्ञानादिमानेवेश्वरपदार्थ इति, तन्न; "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" (तै० ३।६) इति श्रुतिविरोधात्, श्रुतिसिद्धे चाऽर्थेऽनुमानाऽनवतारात् । तदुक्तम्–

इष्ट ही है; कारण कि पुनरुक्ति होने पर ही अभेदरूप वाक्यार्थ हो सकता है, अन्यथा (विशेष्यांश में पुनरुक्ति न मानें तो) अभेदरूप वाक्यार्थ नहीं हो सकता । शंकिता– अत्यन्त भिन्न धर्मी "तत्" और "त्वम्" पद का शक्तिग्रह नहीं होगा; क्योंकि "तत्" पद का ईश्वरपद के साथ समानार्थ है और "त्वम्" पद का जीवपद के साथ समानार्थ है । समाधाता– ऐसा न कहो; क्योंकि उसकी असिद्धि है; "हे सोम्य ! सृष्टि के पहले यह दृश्यमान प्रपञ्च एक ही अद्वितीय सत् ही था", "ब्रह्म विज्ञान और आनन्दरूप है", "ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है" इत्यादि श्रुतियों से ही ईश्वरादि पदों का जगत्कारण ब्रह्म में शक्तिग्रह स्वर्गादिपद के समान होता है (स्वर्गादिपद का जैसे पारलौकिक सुखादिविशेष में शक्तिग्रह होता है, वैसे ही ईश्वरादि पद का भी जगत्कारण ब्रह्म में शक्तिग्रह होना चाहिये, नित्यज्ञानादिमान् में नहीं) । और प्रकृत (तत्त्वमसि – इस वाक्य) में तत्पद जगत्कारण ब्रह्म का समानार्थक है । और तुमने जो कहा था कि– नित्यज्ञानादिमान् ही ईश्वरपद का अर्थ है; वह ठीक नहीं; क्योंकि "आनन्द से ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं" इस श्रुति से विरोध है; और श्रुतिसिद्ध अर्थ में उससे विरुद्ध अनुमान नहीं लाया जा सकता । कहा भी

"उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता" इति। अन्यथा स्रक्-चन्दनादिमति स्वर्गीति पदप्रयोगात् स्वर्गपदस्याऽपि तत्रैव संकेतग्रहापत्तेः। तथा च "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादिष्वपि तस्यैवाऽर्थस्य ग्रहणे स्रक्चन्दनादिकामो यजेतेत्यर्थः स्यात्; तथा च साधुसमर्थितं वैदिकाऽभिमानित्वं स्वस्येति। तस्य च ब्रह्मणो विज्ञानसुखात्मकस्याऽद्वितीयस्य निरपेक्षस्य कारणत्वे सर्वदा कार्योत्पत्तिः स्यादिति मायादीनां द्वारभावः कल्प्यते। तदुक्तम्——

है— "श्रवण के अनन्तर प्राप्त उपासना ही की जाती है" (भाव यह है कि "आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः" इस श्रुति से श्रवण के बाद विहित मनन को कुछ लोग अनुमानादि तर्करूप मानते हैं। किन्तु मनन को अनुमानादि युक्ति मानने पर भी वह श्रुतिविरुद्ध नहीं होना चाहिये, श्रुत्यनुकूल तर्क ही का उत्थापन होना चाहिये, तभी वह सार्थक हो सकता है। वास्तव में तो वेदान्तवाक्यों का समन्वय कर के श्रुत ब्रह्म का सन्देह रहित होकर चिन्तन करना ही मनन है। इस लिये कहा गया है कि श्रवण के बाद प्राप्त मननरूप उपासना करनी चाहिये)। परन्तु ऐसा न मान कर ईश्वरपद का आनुमानिक प्रसिद्ध अर्थ मानोगे तो स्रक्चन्दनादिमान् ऐश्वर्यशाली मनुष्य में "स्वर्गी" (स्वर्गसुख का भोक्ता) पद का प्रयोग होने से स्वर्गपद का भी स्रक्चन्दनादि के अर्थ में ही शक्तिग्रह होने लगेगा। तब तो "स्वर्गकामोयजेत" इत्यादि में भी उस अर्थ का ग्रहण होने पर "स्रक्चन्दनादिका इच्छुक याग करे" यह अर्थ होने लगेगा। इस प्रकार तो आपने अपने वैदिक होने के अभिमान का समर्थन खूब किया। इस प्रकार पूर्वोक्तरीति से विज्ञानसुखात्मक अद्वितीय और निरपेक्ष ब्रह्म की श्रुतिसिद्ध कारणता मानने पर सदा कार्योत्पत्ति का प्रसङ्ग होने के कारण मायादि के द्वारत्व की कल्पना की जाती है (जगद्रचनाकी कादाचित्कत्वान्यथानुपपत्ति से ब्रह्म की कारणता माया-द्वारक है, स्वतः नहीं— ऐसी कल्पना की जाती है)। इस विषय में

चित्रायागः पशुफल इति श्रूयमाणेऽपि चित्राऽ-
पूर्वं द्वारं पशुफलतयाऽऽक्षिप्यते तत्र तद्वत् ।
चैतन्यात्मा जगदुदयकृत् श्रूयतेऽत्रापि पश्चात्
मायादीनां भवति जगति द्वारभावः फलेऽस्मिन् ॥
(सं०शा० १।३३२)

अत्र च मायादीनां द्वारभावो जगद्विवर्तोत्पत्तौ सहकारित्वमेव, न तु चित्राजन्याऽपूर्वमिव ब्रह्मजन्यत्वम्; अनवस्थापत्तेः । मायोत्पत्तौ मायाऽनपेक्षणे च कार्यान्तरेऽपि सा नाऽपेक्ष्येत । संसारस्य सादित्वापत्तेश्च । न च–"मायां तु प्रकृतिं

कहा भी है— "चित्रया यजेत पशुकामः" (तै०सं० २।४।६) इस श्रुति से चित्रानामक याग पशुरूपफल वाला श्रुत होने पर भी याग में पशुफलता की अन्यथानुपपत्ति से जिस प्रकार द्वाररूप चित्राजन्य अपूर्व का आक्षेप कर्मकाण्ड में किया जाता है, (क्योंकि क्षणिक याग कालान्तरभावी फल का साधन नहीं हो सकता); उसी प्रकार इस ब्रह्मकाण्ड में भी "चैतन्यात्मा ब्रह्म जगत् का कारण है" ऐसा श्रुत होने पर उस निर्विकार में जगत्कारणता की अन्यथानुपपत्ति से बाद में इस जगत्रूप फल (कार्य) की सिद्धि के लिये मायादि में द्वाररूपता की कल्पना की जाती है।"

यहां पर मायादि की द्वारता जगत्रूप विवर्त की उत्पत्ति में सहकारिता समझना चाहिये, चित्राजन्य अपूर्व के समान ब्रह्मजन्यता नहीं; क्यों कि मायादि को ब्रह्मजन्य मान लिया जाये तो अनवस्था होगी, (कारण कि– शुद्ध ब्रह्म से माया की उत्पत्ति असम्भव होने से, उसके लिये पुनः सहकारि कारण की कल्पना, फिर उसके लिये अन्य की कल्पना— इस प्रकार अनवस्था होगी) । और यदि माया की उत्पत्ति में मायान्तर की अपेक्षा न माने तो जगदादि कार्यान्तर में भी माया अपेक्षित नहीं होनी चाहिये; और संसार को भी सादि मानना पड़ेगा, (प्रवाहरूप से अनादि संसार सिद्ध नहीं होगा) ।

विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वे०४।१०) इति श्रुत्या साक्षादेव मायायाः कारणत्वं प्रतिपाद्यति, कथमुच्यते "कल्प्यते" ? इति- वाच्यम्; "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" (तै०२।१।१) इत्यादिवाक्यैर्ब्रह्मणः कारणत्वप्रतिपादनश्रवणादेव "कल्प्यते" इत्यस्याऽभिधानात् । किञ्च- अस्त्युभयोः कारणत्वप्रतिपादकत्वम्; विकल्पश्च वस्तुन्यसम्भवी, अष्टदोषदुष्टश्च ।

शंकिता- "माया को तो प्रकृति जानो और मायी को महेश्वर जानो" इस श्रुति से साक्षात् ही माया की कारणता प्रतिपादित होती है; तब किस प्रकार कहते हो कि कारता की कल्पना की जाती है ? समाधाता— ऐसा न कहो; "इस आत्मा से अभिन्न उस परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ" इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म की कारणता का प्रतिपादन श्रुतियों में होने से ही "कल्पना की जाती है" ऐसा कहा है। किञ्च – "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" और "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः" इन दोनों वाक्यों में दोनों (माया और ब्रह्म) की कारणता की प्रतिपादकता है; (अतः ब्रह्म में अधिष्ठानरूप से विवर्तोपादानता, और माया में परिणामिरूप से जगदुपादानता माननी चाहिये; दोनों को विकल्प करके कारण नहीं मानना चाहिये); कारण कि— वस्तु में विकल्प नहीं हो सकता; और विकल्प अष्टदोषों से दुष्ट(१) भी है।

---

(१) जहां विकल्प होता है, वहां अष्टदोष हो जाते हैं। जैसे— "व्रीहिभिर्यवैर्वा यजेत" अर्थात् "व्रीहि या यवों से याग करें" इस विधि में व्रीहि और यव में विकल्प है। इस का परिणाम यह होता है कि- यदि व्रीहियों से याग किया जाये तो – (१) "यवैर्यजेत" इस यवप्रतिपादक शास्त्र में प्राप्त प्रामाण्य का परित्याग करना होगा, (२) और इस में अप्रामाण्य की कल्पना करनी होगी, (३) यवग्रहणकाल में व्रीहिशास्त्र का जो प्रामाण्य त्याग दिया था, उसका पुनः उज्जीवन करना होगा, (४) तथा उसमें पूर्वप्राप्त अप्रामाण्य का परित्याग करना होगा— इस प्रकार चार दोष व्रीहिपक्ष में

न च– विशिष्टस्य कारणत्वाऽभ्युपगमेनोभयश्रुतिसामञ्जस्यमिति– वाच्यम्; यतो विशिष्टं न कस्याऽपि वचनस्यार्थः,यवमिश्रितो ब्रीहिरिव। तस्माद् ब्रह्मण एव कारणत्वम्, रज्ज्वा इव सर्पं प्रति, माया तु शक्तिरेव। तथा च शक्तिमद्ब्रह्म जगदुपादानकारणं भवति, तथा च "जन्माद्यस्य"

शंकिता— मायाविशिष्ट ब्रह्म की कारणता मानने पर दोनों श्रुतियों में सामञ्जस्य हो जायेगा।

समाधाता—ऐसा नहीं होगा; क्योंकि इन दोनों वाक्यों में से किसी का भी विशिष्ट अर्थ नहीं है। जैसे कि– यवमिश्रित ब्रीहि (धान) विशिष्ट होता है। इसलिये सर्प के प्रति रज्जु के समान ब्रह्म ही जगत् के प्रति कारण है, माया तो उसकी शक्ति है। इसलिये शक्तिमद्ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है। इसी से "जन्माद्यस्य

हुए। एवं यवपक्ष में भी (१) "ब्रीहिभिर्यजेत" इस शास्त्र में पूर्वप्राप्त प्रामाण्य का परित्याग करना होगा, (२) उस में अप्रामाण्य की कल्पना करनी होगी, (३) ब्रीहिग्रहणकाल में यवशास्त्र का जो प्रामाण्य त्याग कर दिया था, उसका पुनः उज्जीवन करना होगा, (४)तथा उसमें पूर्वप्राप्त अप्रामाण्य का परित्याग करना होगा। इस प्रकार चार दोष यवपक्ष में हुए। और दोनों पक्षों में कुल मिलाकर आठ दोष हुए। इस विधि में उपायान्तर न होने से अष्टदोषदुष्टत्व होने पर भी विकल्प का स्वीकार मीमांसकों ने किया है; किन्तु जहां गत्यन्तर है, वहां विकल्प स्वीकार्य नहीं होता। इसी प्रकार प्रकृत में भी जगत्कारणता में माया और ब्रह्म का विकल्प किया जाये तो अष्टदोष आयेंगे; परन्तु यहां पर गत्यन्तर है, क्योंकि माया को जगत्परिणाम का उपादान और ब्रह्म को जगद्विवर्त का उपादान माने जा सकते हैं। अतः विकल्प मानने की कोई आवश्यकता नहीं। इन दोनों में भी ब्रह्म की उपादानता ही मुख्य है, माया की उपादानता तो ब्रह्म की शक्तिरूप से होने के कारण गौण है और सहकारिकारणतामात्र है।

(वे०द०१।१।२) इति कारणत्वं ब्रह्मलक्षणं संगच्छते। तदुक्तं वार्तिककृता—"आत्माऽविद्यैव नः शक्तिः" (बृ०वा०४। ३।१७८४) इति। अन्यैरप्युक्तम्—

साभासमेतदुपजीव्य चिदद्वितीया
संसारकारणमिति प्रवदन्ति धीराः।
साभासमेतदिति संसृतिकारणत्वे
द्वारं परं भवति कारणता दृशस्तु ॥३२३॥

यावद् दृशोऽन्यदिह संसृतिकारणं तत्
वेदान्तवादिसमये न मतं जडत्वात्।
यद्यज्जडं भवति संसृतिकारणं तत्
नेति स्फुटं वदति सूत्रकृदत्र यस्मात् ॥३२४॥

अजडकारणभावनिबन्धनं
सकलमेव जडं न तु कारणम्।

यतः" अर्थात् "जिससे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं, वह ब्रह्म है" इस प्रकार ब्रह्म का लक्षण "जगत्कारणत्व" भी ठीक बैठता है। वार्त्तिककार (सुरेश्वराचार्य) ने कहा भी है- "आत्माश्रित अविद्या ही हमारे मत में शक्ति है।" दूसरे आचार्यों ने (सर्वज्ञात्म-मुनि ने) भी कहा है- साभास अज्ञान का घटकरूप से (द्वाररूप से) आश्रय लेकर अद्वितीय चेतन संसार का कारण है- ऐसा ब्रह्मवित् कहते हैं। साभास होने के नाते यह अज्ञान जगत्कारणत्व में द्वार-मात्र बनता है; कारणता तो दृक्स्वरूप ब्रह्म की ही है॥ इस संसार में चेतन से भिन्न जो कुछ भी है, वह जड होने से वेदान्तवादी के मत में जगत् का कारण नहीं माना जाता, क्योंकि इस वेदान्त शास्त्र में "ईक्षतेर्नाऽशब्दम्" (वे० द० १।१।५) इत्यादि से सूत्रकार ने "जो जो जड होता है, वह जगत् का कारण नहीं होता" ऐसा स्पष्ट कहा है॥ चेतन की कारणता में अज्ञानादि समस्त जड पदार्थ केवल द्वार

इति च वेदशिरःसु विचक्षणाः
कपिलपक्षनिराकरणे जगुः ॥३२५॥

कारणत्वमुपलक्षणं चिते
ब्रह्मणो न खलु तद्विशेषणम् ।
इत्यपीदमुपपद्यते तदा
चेतनो भवति कारणं यदा ॥३३३॥

अन्यदेव यदि कारणं भवेत्
कारणत्वमुपलक्षणं कथम् ?
चेतनस्य घटतेऽन्यगामिना
वस्तुनाऽन्यदुपलक्ष्यते यतः ॥३३४॥

बहु निगद्य किमत्र वदाम्यहं
शृणुत संग्रहमद्वयशासने ।
सकलवाङ्मनसाऽतिगता चितिः
सकलवाङ्मनसव्यवहारभाक् ॥३३१॥

मात्र होते हैं, स्वयं तो कारण नहीं होते; इस प्रकार वेदान्त के विचक्षण सूत्रकार ने "रचनाऽनुपपत्तेश्च नाऽनुमानम्" (वे० द० २।२।१) अर्थात् "जड से जगत् की रचना नहीं हो सकती, अतः अनुमानगम्य प्रधान (जड प्रकृति) कारण नहीं हो सकता" इत्यादि कपिलपक्ष (सांख्यपक्ष) निराकरण के समय कहा है ॥ जगत्कारणत्व चिद्ब्रह्म का उपलक्षण है, उसका विशेषण नहीं— ऐसा जो ब्रह्मविद् आचार्यों का कहना है, वह भी तभी हो सकता है, जब चेतन कारण बन जाये ॥ यदि चेतन ब्रह्म से भिन्न ही कोई जगत् का कारण हो तो उस कारणत्व को ब्रह्म का उपलक्षण कहना कैसे उचित हो सकता है ? क्योंकि अन्यगामी धर्म से अन्य वस्तु उपलक्षित नहीं होती ॥ इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ ? मैं अद्वैतप्रतिपादक शास्त्रों से सिद्धान्त संग्रह करके कहता हूँ, उसे सुनो- सकल वाणी और मन का अगोचर चेतन है; तो भी वह (अज्ञान-

(सं०शा०भ्र०१) । तस्माद् ब्रह्मैव शक्तिमदुपादानकारणमिति ।

ननु– शक्तिमदित्यत्र शक्तिर्विशेषणमुपलक्षणं वा ? आद्ये विशिष्टस्य कारणत्वे विशेषणस्याऽपि तदागतमेव; अन्त्ये ब्रह्मेत्येव तदुच्यताम्; उपलक्षणेन विशेषाऽभावादिति– चेत्; मायोपहितस्य कारणत्वात्, उपाधिश्च विशेषणोपलक्षणाभ्यां तृतीयः प्रकारः । तथाहि– स्वरूपाऽन्तर्निविष्टत्वेन यावत्कार्यमवस्थायि भेदहेतुर्विशेषणम्; यथा "दण्डी

रूप उपाधि के द्वारा) सकलवाक् और मन के व्यवहार का विषय बन जाता है।। इसलिये शक्तिमत् ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है।

शंकिता— "शक्तिमद्ब्रह्म" इसमें क्या शक्ति विशेषण है, अथवा उपलक्षण ? प्रथम पक्ष में— विशिष्ट को कारण मानें तो विशेषण भी कारण हो ही जायेगा। अन्तिम पक्ष में तो ब्रह्ममात्र को ही कारण मानो, क्योंकि उपलक्षण के द्वारा उसमें कोई अन्तर नहीं आता।

समाधाता— ऐसी शंका नहीं होनी चाहिये; क्योंकि माया से उपहित ब्रह्म कारण है; और उपाधि तो विशेषण और उपलक्षण से भिन्न तृतीय प्रकार है। तथाहि— विशेष्य के स्वरूप में निविष्ट होकर जब तक कार्य है, तब तक स्थिर और अन्य के भेदक को विशेषण कहते हैं; जैसे— "दण्डी प्रैषानन्वाह"(१) इस में दण्ड

---

(१) मैत्रावरुण नामक ऋत्विक् को दण्डधारण करके प्रैषमन्त्रों (प्रेरणात्मक मन्त्रों) का अनुवचन (उत्तरात्मक मन्त्रों का उच्चारण) करना चाहिये— इस प्रकार प्रैषानुवचन करने में दण्डधारण का विधान है। यहां पर दण्ड मैत्रावरुण का विशेषण है; क्योंकि दण्ड अन्य ऋत्विग् लोगों से मैत्रावरुण का भेदक (व्यावर्त्तक) है, तथा जब तक प्रैषानुवचन होगा, तब तक विशेष्य मैत्रावरुण के स्वरूप में निविष्ट रहता है।

प्रैयानन्वाह" इत्यत्र दण्डः। अत्र विशेषणत्वप्रयोजकं यद्रूपद्वयं तत्स्वरूपान्तर्निविष्टत्वं यावत्कार्यमवस्थायित्वञ्च, तदुभयाऽभावेन तदन्यतराऽभावेन च भेदहेतोरुपलक्षणतोपाधिता च द्रष्टव्या। यथा- चैत्रगृहस्वरूपाऽनन्तर्गतस्य कादाचित्कस्य काकस्य तद्भेदकत्वमुपलक्षणतया, यथा वा– प्राभाकराणां धेनुशब्दप्रयोगे गोत्वं स्वरूपाऽनन्तर्गतमपि यावत्कार्यमवस्थायित्वादुपाधिः, कार्यव्यापकमित्यर्थः। विवरणकृतस्तु–त्रैविध्यमत्र सम्भवति, रज्ज्वाः संयुक्तसूत्रद्वयवन्मायाविशिष्टं ब्रह्म जगत्कारणमिति वा, "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" (श्वेत० १।३) इति श्रुतेर्मायाशक्तिमत्कारणमिति वा, जगदुपादान-

विशेषण है। इसमें विशेषणता का प्रयोजक जो विशेष्यस्वरूपान्तनिवेश और यावत्कार्यावस्थायित्व दो धर्म हैं, उन दोनों का अभाव होने पर अन्यका भेदक उपलक्षण है, और उन दोनों के अन्यतर (विशेष्यस्वरूपान्तर्निवेश) का अभाव होने पर (केवल यावत्कार्यावस्थायी होकर) अन्य की भेदक उपाधि है; जैसे "काकवच्चैत्रगृहम्" इस में चैत्रगृह के स्वरूप में अनन्तर्गत और कादाचित्क (कदाचित् ही स्थित) काक उपलक्षणरूप से चैत्रगृह का अन्यगृह से भेदक है; अथवा, जैसे– प्राभाकर मीमांसकों के मत में धेनुशब्द के प्रयोग में गोत्व गोव्यक्ति के स्वरूप में अन्तर्गत न होता हुआ भी (अन्य का भेदक होकर) जब तक गोव्यक्ति है, तब तक उसमें अवस्थायी होने से उपाधि है; अर्थात् कार्य की व्यापक उपाधि है। इसमें विवरणकार तो इस प्रकार कहते हैं– ब्रह्म की इस कारणता के तीन प्रकार हो सकते हैं– संयुक्त सूत्रद्वय जिस प्रकार रज्जु के कारण हैं, वैसे ही मायाविशिष्ट ब्रह्म जगत् का कारण है; अथवा– "अपने गुणों से (सत्व, रजः और तमोगुणों से) आच्छादित परमात्मनिष्ठ शक्ति का साक्षात्कार किया" इस श्रुति से सिद्ध मायाशक्तिमद्ब्रह्म कारण है; अथवा- जगदुपादानभूत माया का आश्रय बन कर ब्रह्म कारण है।

मायाश्रयतया ब्रह्म कारणमिति वेति । तत्र विशिष्टपक्षे तथैव ब्रह्मत्वेनोपलक्षितस्य ज्ञानाऽऽनन्दादिस्वरूपलक्षणेन मायानिष्कर्षाल्लक्षणद्वयेन विशुद्धब्रह्मसिद्धिः । उत्तरपक्षयोस्तु मायाया ब्रह्मपरतन्त्रत्वात् तत्कार्यमपि ब्रह्मपरतन्त्रं भवति, यथांऽशुतन्त्रतन्त्वारब्धोऽपि पटोंऽशुतन्त्रः प्रतीयते, ततश्चोत्पद्यमानकार्यस्य यदाश्रयोपाधि ज्ञानानन्दलक्षणञ्च,तद्ब्रह्मे ति विशुद्धब्रह्मलाभः–इत्याहुः । (ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यं व्याख्यानवकोपेतं– पृ० ६०७-८) ।

तत्र प्रथमपक्षे ब्रह्मणो निमित्तत्वम्, उपादानत्वं तु द्वयस्यैव । द्वितीयपक्षे तु ब्रह्मणः प्राधान्यं मायायाश्चोपसर्जनत्वम् । तृतीयपक्षे तु उपादानत्वं मायाया एव, ब्रह्मणस्तु तदधिष्ठानत्वमिति विवेचितं बृद्धै रिति ।

इन तीनों में से प्रथम विशिष्टपक्ष में जगत्कारणतारूप तटस्थलक्षण के द्वारा ब्रह्मत्वेन उपलक्षित ब्रह्म ज्ञानानन्दादिरूप स्वरूपलक्षण के द्वारा माया से पृथक् होने के कारण तटस्थलक्षण और स्वरूपलक्षण से विशुद्ध ब्रह्म की सिद्धि होती है। आगे के दो पक्षों में तो माया ब्रह्माधीन होने से माया का कार्य भी ब्रह्माधीन होता है; जैसे- अंशुओं (तन्तु के अवयवों) के अधीनस्थ तन्तुओं से आरब्ध पट अंशुओं के अधीन प्रतीत होता है; इस लिये उत्पद्यमान प्रपञ्चरूप कार्य की आश्रयोपाधि अर्थात् उपादानभूत माया की सत्तास्फूर्ति का जो हेतु है और ज्ञानानन्दादिस्वरूप है, वह ब्रह्म है– इस प्रकार विशुद्ध ब्रह्म सिद्ध होता है ।

उन में से प्रथम पक्ष में— ब्रह्म निमित्त कारण है और उपादान तो ब्रह्म और माया दोनों हैं (अर्थात् ब्रह्म अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है और माया परिणाम्युपादानमात्र है) । द्वितीय पक्ष में तो ब्रह्म की प्रधानता और माया की गौणता है । तृतीय पक्ष में तो माया उपादान मात्र है, और ब्रह्म तो माया का अधिष्ठान है— ऐसा पूर्वाचार्यों ने तीनों के भेद का विवेचन किया है ।

अत्रेदं विवेचनीयम्- किमिदं मायाया उपसर्जनत्वम् ? न तावत्कार्यं प्रत्याधारत्वम्; प्रथमपक्षादविशेषापत्तेः, नाऽपि कार्यं प्रत्यजनकत्वम्, मायाया अनुपयोगापत्तेः, नाऽपि कार्यं प्रत्यनधिकरणत्वम्, तत्पक्षव्याख्यानरूपविवरणविरोधात् । नाऽपि निमित्तत्वम्; तदाश्रयत्वव्याख्यानविरोधादेव । नहि निमित्तकारणं कार्यमाश्रयते ।

अत्र वदामः- उपाधित्वमेव मायाया अप्रधानत्वं नाम । तथा चोपहितसमवहितमपि कार्यमुपाधौ प्रतीयत इति तदाश्रयतोक्तिः । वस्तुतस्तु-मध्यमपक्षे ब्रह्मनिष्ठमेव कार्यमिति ध्येयम् । सर्वथा उपादानकोटावस्ति ब्रह्मप्रवेश इति । यथा जगदुपादाननिमित्तकारणभूते वस्तुनि ईश्वरपदं शक्तम्, तथा

शंकिता- इसमें विचारणीय यह है - माया की यह गौणता क्या है ? वह कार्य के प्रति आधारता (उपादानता) तो नहीं हो सकती; क्योंकि इसमें प्रथम पक्ष से कोई विशेषता न रह जायेगी। और वह कार्य के प्रति अजनकता भी नहीं हो सकती; कारण कि- माया की कोई उपयोगिता न होगी। वह कार्य के प्रति अनधिकरणता भी नहीं; क्योंकि इस द्वितीय पक्ष के व्याख्यानरूप विवरण से विरोध होता है ("कार्यस्य यदाश्रयोपाधि" से विरोध है)। तथा वह निमित्तत्वरूप भी नहीं हो सकती; क्योंकि उसमें भी कार्य की आश्रयता के व्याख्यान से विरोध ही है; निमित्तकारण में कार्य आश्रय नही लिया करता।

समाधाता- इसमें हम कहते हैं- उपाधिता ही माया की गौणता है। तब तो मायारूप उपाधि से उपहित ब्रह्म में स्थित होता हुआ भी कार्य उपाधि में प्रतीत होने के कारण माया में कार्याश्रयता का कथन है। वस्तुतः तो-द्वितीयपक्ष में- कार्य ब्रह्म में ही स्थित है- ऐसा समझना चाहिये, क्यों कि उपादानकोटि में ही ब्रह्म का सर्वथा प्रवेश है। जिस प्रकार जगत् की उपादाननिमित्तकारणरूप वस्तु का ईश्वर-

जीवपदमप्यन्त:करणोपहितब्रह्मण्येव शक्तम् । न च निष्प्रमाणकमेतत्; "स वा अयमात्मा ब्रह्म" (बृ०४।४।५), "विज्ञानमयो मनोमय: प्राणमयश्चक्षुर्मय:" (बृ०४।४।५), इत्यादि; "स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमय:" (बृ०४।४।२२) "सधी: स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति" (बृ०४।३।७), "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण:" (कठ०१।३।४) इत्यादिश्रुतिभ्य: ।

"अहम्" इति चाऽनुभवेऽहंकारोपहित एवाऽत्माऽवभासते सर्वेषां, अतस्तत्रैव संगतिग्रह: । त्वंशब्दस्याऽपि स एवाऽर्थ: । न च– सुषुप्तिप्रलयादौ जीवाऽसत्त्वापत्तिरिति–वाच्यम्; तदानीमपि संस्कारात्मनाऽवस्थानात् । तथा चाऽहंकारवासनावासितमज्ञानमेव तदानीमुपाधि: । तदुक्तं सम्प्र-

पद वाचक है, उसी प्रकार जीवपद भी अन्त:करण से उपहित ब्रह्म का ही वाचक है। यह कथन प्रमाणरहित भी नहीं; क्योंकि "यह आत्मा ब्रह्म है","परमात्मा विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और चक्षुर्मय है" इत्यादि प्रमाण है। तथा "यह जो महान् अज आत्मा है, वही यह विज्ञानमय है", "अन्त:करणविशिष्ट यह आत्मा स्वप्नावस्था में जाकर इस लोक अर्थात् शरीर का अतिक्रमण करती है," "आत्मा इन्द्रिय और मन मिलकर भोक्ता है- ऐसा मननशील विद्वान् कहते हैं" इत्यादि श्रुतियों से भी यह सिद्ध है।

और "अहं" इस अनुभव में अहंकार से उपहित होकर ही आत्मा सबको प्रतीत होती है। अत: उस आत्मा में ही जीवपद का शक्तिग्रह है; और "त्वं" पद का भी वही अर्थ है।

शंकिता— तब तो सुषुप्ति, प्रलयादि में जीव की असत्त्वापत्ति हो जायेगी। समाधाता— ऐसा न कहो; क्यों कि उस समय में भी जीव संस्काररूप से अवस्थित है। इस लिये अहंकार की वासना से वासित अज्ञान ही उस समय उपाधि है। इस विषय में सम्प्रदायवित्

दार्यविद्भिः--

स्वाऽविद्यया हि पर एव स जीवभावम्
आगत्य संसरति लिङ्गसमागमेन ।। (सं०शा० ३।६)
ब्रह्मैव संसरति मुच्यत एतदेव
दौवारिकं भवति संसरणे तु तस्य ।। (सं०शा० ३।७)

तथा–मुक्तिः पुनर्भवति चिद्वपुषैव तस्य
स्वाऽज्ञानतः स्वमहिमप्रतिबोधतश्च ।। (सं०शा० ३।७)
स्वाऽज्ञानाऽन्वयिनी चिदेव भवति स्वज्ञानमस्याः पुनः।
नास्त्यन्तःकरणोपरागशबलीभावं विना युक्तितः ।।
(सं०शा० ३।८)

तथा– पुर्यष्टकं भवति तस्य परस्य मोहात्
तेनाऽन्वितस्य तु नभोमलवद्व्यलीकम् ।

आचार्यों ने कहा है– "परमात्मा ही अपनी उपाधिभूत अविद्या से जीवभाव को प्राप्त होकर लिङ्गशरीर के साथ समागम होने से संसारी बन जाता है।" "ब्रह्म ही अविद्यादशा में संसार का अनुभव करता है, और वही विद्यावस्था में मुक्त होता है; उसका संसरण (संसार प्राप्ति) तो लिङ्ग शरीर के साथ संबन्ध के द्वारा होता है।" तथा "उसी की स्वात्मतत्त्वबोध के द्वारा अपनी उपाधिभूत अनिर्वचनीय अविद्या से पुनः मुक्ति हो जाती है, और वह मुक्ति तो नित्यशुद्ध-चिद्ब्रह्मरूप से स्थितिरूप है।" "शुद्ध चेतन ही अनादिसिद्ध अपने अज्ञान का अन्वयी है (अर्थात्– अज्ञान का आश्रय और विषय शुद्ध चेतन है), इस शुद्ध चेतन का संसारदशा में जो भ्रम-प्रमादिरूप ज्ञान होता है, वह अन्तःकरण के साथ संपर्करूप मिश्रण के बिना युक्तितः सिद्ध नहीं होता।"

तथा– 'वस्तुतः परमात्मा होता हुआ भी उस जीव का अपने अज्ञान से पुर्यष्टक उत्पन्न होता है। [(१) पञ्चकर्मेन्द्रिय, (२) पञ्चज्ञानेन्द्रिय, (३) अन्तःकरणचतुष्टय– अर्थात् मन, बुद्धि,

दुःखं त्रिधा भवति संसरणाभिधानं
नाऽन्यः परादधिकरूपभृदस्ति जीवः ॥
(सं०शा०३१९)

इह तावदक्षदशकं मनसा सह बुद्धितत्त्वमथ वायुगणः ।
इति लिङ्गमेतदमुना पुरुषः खलु संगतो भवति जीव इति ॥
(सं०शा०३२०)

तथा--

न पुराष्टकेन रहितस्य तव क्वचिदस्ति संसरणदुःखयुजा ।
न पुराष्टकेन सहितस्य तथा क्वचिदस्ति दुःखविगमश्च तव ॥
(सं०शा०३२१)

चित्त और अहंकार, (४) पञ्चप्राण, (५) आकाशादि पञ्चभूत, (३) काम, (७) कर्म, और (८) अज्ञान- इन सबको मिलाकर पुर्यष्टक कहा जाता है]। इस पुर्यष्टक से अन्वित जीव का आकाश-गत मल के समान अलीक तथा संसरण नाम से प्रसिद्ध आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेद से भिन्न दुःखत्रय होता है; पर-मार्थत: तो परमात्मा के अतिरिक्त अधिकरूपधारी जीव नहीं है ॥ इस पुर्यष्टक में जो पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चप्राण, मन और बुद्धितत्त्व हैं, उन सब को मिलाकर लिङ्ग शरीर कहा जाता है, इस से युक्त होकर यह चेतनात्मा पुरुष जीवपदवाच्य होता है (पूर्वोक्त पञ्चकर्मेन्द्रियादि आठों की पुरीसंज्ञा इसलिये है कि इनमें से प्रत्येक— पुर (नगर) के समान स्वामी जीवात्मा के भोग का हेतु है; और उनमें से प्रथम चार मिल कर लिङ्ग शरीर होता है। लिङ्ग की व्युत्पत्ति इस प्रकार है— "लिङ्गयति— नियमेन स्वधर्मं ज्ञापयति स्वविलक्षणे आत्मनीति लिङ्गम्" अर्थात् अपने से विलक्षण आत्मा में अपने धर्मों का ज्ञापन करने वाला लिङ्ग कहा जाता है)।

तथा— "इस पुर्यष्टक से रहित तुम्हारे स्वरूप से कहीं भी संसार के दुःख का सम्बन्ध नहीं; और इस पुर्यष्टक से युक्त तुम्हे

इत्यादि । तथाऽन्यत्राऽपि-"जीवो भवेत्करणपूगवशीकृताचित्" (सं०शा०२।२०७) इति ।

विवरणकृतस्तु-"ननु कोऽयं जीवो नाम ? यस्य स्वरूपं त्वंपदेन लक्ष्यमाणं ब्रह्मैव वाक्यार्थः सम्पद्यते ? ब्रह्मैवाऽविद्याप्रतिबिम्बितमिति वदामः, ततश्च त्वम्पदेनाऽशेषोपाधिनिराकरणेनात्मस्वरूपमेव लक्ष्यमाणम् तत्पदोपलक्ष्यम् ब्रह्मैव पदद्वयसामर्थ्यात् सम्पद्यते । न चैतदुपाधिद्वयनिराकरणेन विशुद्धब्रह्मात्मज्ञानमेकेनैव पदेन लभ्यते, विरोधाऽनुपपत्तेः" इत्याहुः । (नवव्याख्योपेतं शां०भा०पृ०११३३) ।

न वाऽस्मिन् पक्षे जीवब्रह्मणोरुपाधिसंकरः, बिम्बस्येश्वरत्वात्, प्रतिबिम्बस्य च जीवत्वात् । न च-एवम् सत्यु-

कहीं भी दुःख का अभाव नहीं ।" इत्यादि । इसी प्रकार अन्यत्र भी "इन्द्रियादि करणसमुदाय से वशीकृत चेतन ही जीव होता है ।" ऐसा कहा गया है ।

विवरणकार आचार्य तो इस प्रकार कहते हैं—यह जीव कौन है ? जिसका स्वरूप त्वंपद से लक्ष्यमाण होकर "तत्त्वमसि" वाक्य का ब्रह्म ही अर्थ हो जाता है ? इसके उत्तर में हम कहते हैं कि अविद्या में प्रतिबिम्बित ब्रह्म ही जीव है। इसलिये अशेष उपाधियों का निराकरण करके त्वंपद से लक्ष्यमाण आत्मस्वरूप ही पदद्वय (तत् और त्वम्) की सामानाधिकरण्यरूप (समानविभक्ति से प्रतिपादनरूप) सामर्थ्य से शुद्धब्रह्म हो जाता है। तथा जीव और ब्रह्मगत उपाधिद्वय का निराकरण करके होने वाला विशुद्धब्रह्मात्मज्ञान एक ही पद से (तत् और त्वं दोनों में से एक ही पद से) प्राप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि परस्पर विरोध जाने बिना लक्षणा करना असम्भव है।

इस विवरणाचार्य के प्रतिबिम्बवाद पक्ष में जीव और ब्रह्म की उपाधियों में संकरदोष नहीं आता, क्योंकि ईश्वर बिम्ब है और जीव प्रतिबिम्ब है। शंका—ऐसा मानने पर जिस प्रकार उपाधि

पाधिधर्मैर्यथा जीवानां संसर्गस्तथा ब्रह्मणोऽपि स्यादिति-वाच्यम्; उपाधिधर्माणां प्रतिविम्बपक्षपातित्वनियमात्, ब्रह्मणो निरावरणज्ञानत्वात्, अहङ्कृतिविरहाच्च। तथा चोपहितमात्रांशशक्यत्वेऽप्युपाधिनिराकरणार्थं लक्षणाऽऽयाता; वाक्यार्थस्फुरणवेलायामुपाधिरपि स्फुरत्येव। विशिष्टवाच्यत्वपक्षे विशेष्ये सुतरां लक्षणा।

अत्र च महावाक्ये भागलक्षणैव युक्ता। तदुक्तमाचार्यैः—
"तत्त्वमस्यादिवाक्ये तु लक्षणा भागलक्षणा।" इति
(पंचदशी ७।७४)। प्रपञ्चितस्त्वयमर्थो विस्तरेणाऽन्यत्र ।।

ननु— तथापि वाक्याज्जातं ज्ञानं परोक्षमपरोक्षं भ्रमं

के धर्मों से जीवों का संबन्ध होता है, उसी प्रकार ब्रह्म का भी होना चाहिये।

समाधाता— ऐसा कहना अयुक्त है; क्योंकि उपाधिधर्मों का प्रतिबिम्बपक्षपातित्व नियम है; और ब्रह्म आवरणरहित ज्ञानरूप है, तथा उस में अहंकार भी नहीं है। इस लिये तत्पद का मायोपहित चेतनांश मात्र वाच्य होने पर भी उपाधिनिराकरण के लिये लक्षणा होती है; क्योंकि वाक्यार्थ की प्रतीति के समय उपाधि की प्रतीति भी होती है। मायाविशिष्ट और अन्तःकरणविशिष्ट चेतन को तत् और त्वं पद का वाच्य मानने वाले के पक्ष में तो विशेष्य में (चेतन मात्र में) सुतरां लक्षणा होती है।

और इस महावाक्य में भागत्यागलक्षणा ही युक्त है। आचार्यों ने भी कहा है— "तत्त्वमसि— आदिवाक्य में तो लक्षणा भागलक्षणा है" इति। इस विषय का विवरण अन्यत्र (अद्वैतसिद्धि के तत्त्वमसि-वाक्यार्थनिरूपणादि प्रकरण में) विस्तार से दे चुके हैं।

शंकिता— तो भी वाक्य से उत्पन्न परोक्ष ज्ञान (शब्द से सदा परोक्षज्ञान ही होता है, अपरोक्षज्ञान नहीं होता; क्योंकि शब्द का स्वभाव वैसा ही है) अपरोक्ष भ्रम का निवारण कैसे कर सकता है?

कथमपनुदेत् ? दिङ्मोहादौ तथाऽदर्शनात् । न च– "नायं सर्पः", किं तर्हि ? "रज्जुः"– इत्याप्तवाक्याज्जायमानं भ्रमं निवर्तयत्येव, कथमन्यथा निर्भयः पुरुषोऽवतिष्ठत इति– वाच्यम्; रज्जुत्वाद्यसाधारणधर्ममन्तरेण भ्रमस्याऽनुभवसिद्धत्वात्, भयाऽभावस्त्वाप्तविस्रम्भात्, तथाऽत्रापि श्रुतिविस्रम्भाद्भवतु तदुक्तेऽर्थे समाश्वासः, भ्रमस्तु न निवर्तेत इति । न च– अपरोक्षज्ञानमेव श्रुतेर्जायत इति– वाच्यम्; लोके तथाऽदर्शनात्, मनननिदिध्यासनयोर्वैयर्थ्यापत्तेश्च । न च– "दशमस्त्वमसि" इति वाक्यं दृष्टान्तः; तत्राऽपि शब्दः परोक्षमेव ज्ञानमुत्पादयति, भ्रमनिवृत्तिस्तु तत्समनन्तरोत्पन्नेन्द्रियजन्यसाक्षात्कारादिति ।

कारण कि दिङ्मोहादि (दिशा भ्रम) में वैसा देखने में नहीं आता (अर्थात् शब्दजन्यज्ञान से दिशाभ्रम का निवारण नहीं होता) । इस में ऐसी शंका भी नहीं होनी चाहिये कि "यह सर्प नहीं, किन्तु रज्जु है" इस आप्तवाक्य से उत्पन्नज्ञान भ्रम का निवारण करता है, अन्यथा पुरुष निर्भय होकर कैसे रह सकता है ? क्योंकि उस समय भी रज्जुत्वादि असाधारण धर्म के ज्ञान के बिना भ्रम अनुभवसिद्ध है, और भय का अभाव तो आप्त (यथार्थवक्ता) पुरुष में विश्वास के कारण होता है। वैसे ही यहां भी श्रुति में विश्वास के कारण- उस से उक्त अर्थ में विश्वास भले ही हो, भ्रम तो निवृत्त नही होता । तथा – श्रुति से अपरोक्षज्ञान ही उत्पन्न होता है— ऐसा भी तुम नहीं कह सकते; क्योंकि लोक में वैसा देखने में नहीं आता (अर्थात शब्द से परोक्षज्ञान ही होता है- ऐसा अनुभव होता है, अपरोक्षज्ञान नही); और ऐसा होने पर मनन और निदिध्यासन व्यर्थ हो जायेंगे । और इस में 'दशमस्त्वमसि' यह वाक्य भी दृष्टान्त नहीं हो सकता, कारण कि उसमें भी शब्द तो परोक्षज्ञान ही उत्पन्न करता है; भ्रम की निवृत्ति तो उसके बाद उत्पन्न इन्द्रियजन्यसाक्षात्कार से होती है ।

अत्रोच्यते– "दशमस्त्वमसि" इति शब्दश्रवणसमनन्तरं तावदस्ति श्रोतुः स्वात्मविषयं प्रत्यक्षम् । न च तत्प्रमाणान्तराज्जातमिति कल्पयितुं युक्तम्; "एतस्माच्छब्दादहमात्मानं साक्षात्कृतवान्" इति प्रत्ययविरोधात्; अन्यथा मध्यमवृद्धोऽपि मानान्तरादेवार्थं ज्ञातवानिति बाल कल्पयेत् । तथा च गतं शब्दस्य प्रवर्त्तकत्वमिति । न च– शब्दस्वभावभङ्गः,

समाधाता—इस पर उत्तर दिया जाता है—"दशमस्त्वमसि" इस वाक्य के श्रवण के अनन्तर श्रोता का स्वात्मविषयक प्रत्यक्ष होता ही है। वह प्रत्यक्ष प्रमाणान्तर से उत्पन्न होता है - ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती; क्योंकि "इस वाक्य से मैंने अपना साक्षात्कार किया" इस अनुभव ज्ञान से विरोध होता है। यदि ऐसे स्थलों में शब्द के अतिरिक्त प्रमाण से ज्ञान होना मान लिया जाये तो मध्यमवृद्ध को भी मानान्तर से ही अर्थ का ज्ञान हुआ— ऐसा ही बालक भी कल्पना(१) करें। तब तो शब्द की प्रवर्त्तकता नहीं रही।

---

(१) किसी प्रयोजकवृद्ध (प्रेरणा करने वाले मनुष्य) से उच्चारित "घटमानय" इस वाक्य को सुनकर एक प्रयोज्यवृद्ध (आज्ञापालक मनुष्य) जाकर घट लाता है। इस को देखकर घट को न जानने वाले सामने स्थित बालक अनुमान करता है— "अयं मध्यमवृद्धः एतद्वाक्यजन्यैतदर्थगोचरज्ञानवान्, एतद्वाक्यश्रवणानन्तरमेतदर्थगोचरप्रवृत्तिमत्त्वादिति" अर्थात्— यह मध्यमवृद्ध (आज्ञापालक मनुष्य) इस वाक्य (घटमानय- इस वाक्य) से जन्य और इस अर्थ (घट) को विषय करने वाले ज्ञान से युक्त है, क्योंकि इस वाक्य के श्रवण के अनन्तर इस अर्थ को लेने के लिये प्रवृत्तिवाला है। इस अनुमान से बालक जानलेता है कि मध्यमवृद्ध की प्रवृत्ति का प्रयोजक (प्रेरक) वही शब्द है। किन्तु ऐसे स्थलों में शब्द के अतिरिक्त प्रमाण से अर्थज्ञान मान लिया जाये तो बालक का यह अनुमान व्यर्थ हो जायेगा, तथा शब्द की प्रवर्त्तकता भी सिद्ध नहीं होगी।

तस्य परोक्षमात्रज्ञानजनकत्वादिति– वाच्यम्; असिद्धेः, मनोवत्। फलबलेनैव स्वभावस्य कल्पनात्। स्वात्मविषयकं ज्ञानं यस्मात् कस्माच्चित्प्रमाणाज्जायमानमपरोक्षमेव जायते– इति केचित्।

वस्तुतस्तु– योग्यपदार्थनिरूपितप्रमात्रभेदभेदपरशब्दत्वेनैव परोक्षज्ञानजनकता, तदन्यशब्दत्वेनाऽपरोक्षज्ञानजनकता, शब्दाऽतिरिक्तं चात्मविषयं प्रमाणं नास्तीत्यादि निरू-

शंकिता— ऐसा होने पर शब्द का स्वभाव भङ्ग हो जायेगा, क्यो कि शब्द स्वभावतः परोक्षमात्र ज्ञान का जनक होता है।

समाधाता— ऐसा न कहो; क्योंकि शब्द का परोक्षमात्रज्ञान-जनकत्वरूप स्वभाव मन के समान असिद्ध है (अर्थात्— जिस प्रकार मन परोक्ष और अपरोक्षज्ञान का जनक है, वैसे ही शब्द भी दोनों का जनक हो सकता है)। क्योंकि स्वभाव की कल्पना फलके बल से ही होती है। इसमें किसी-किसी आचार्य का मत है कि स्वात्मविषयक ज्ञान जिस किसी भी प्रमाण से हो, किन्तु वह अपरोक्षरूप से ही उत्पन्न होता है।

वस्तुतस्तु— प्रत्यक्षयोग्य पदार्थ से निरूपित होकर विषय-चैतन्य के प्रमातृचैतन्य के साथ अभेदपरक न होकर भेदपरक शब्द-रूप से ही शब्द की परोक्षज्ञानजनकता है, और उससे भिन्न शब्द की (अभेदपरक शब्द की) अपरोक्षज्ञानजनकता है (भाव यह है कि प्रत्यक्षयोग्य किसी भी पदार्थ के प्रत्यक्ष में तत्तद्विषयाकार अन्तःकरण-वृत्ति के द्वारा सम्बन्धित होकर विषयावच्छिन्न चैतन्य और प्रमातृ-चैतन्य की अभिन्नसत्ता होकर दोनों का अभेद होना ही प्रयोजक है। जहां किसी भी प्रमाण से उक्त प्रयोजक होगा, वहां तत्तत्पदार्थविषयक अपरोक्षज्ञान अवश्य होगा। यदि शब्द से उक्त अभेदरूप प्रयोजक उदय हो जाये तो उसमें अपरोक्षज्ञानजनकता अवश्य होगी; यदि शब्द से उक्त अभेद प्रयोजक उदय न होकर विषयचैतन्य और प्रमातृ-चैतन्य में भेद ही रह जाये तो उसमें परोक्षज्ञानजनकता होगी)।

पितमद्वैतसिद्धिवेदान्तकल्पलतयोरिति नेह प्रपञ्च्यते ।

न च– शाब्दत्वाऽपरोक्षत्वयोर्जात्योः संकरः; तथाहि– "गामानय" इत्यादिशब्दजन्ये ज्ञाने शाब्दत्वमस्ति, नास्त्यपरोक्षत्वम्; "घटोऽयम्" इतीन्द्रियजन्ये ज्ञानेऽस्त्यपरोक्षत्वम्, नास्ति शाब्दत्वम् । आत्मविषयके च ज्ञाने तदुभयमस्तीति– वाच्यम्; आत्मविषयके ज्ञाने शाब्दत्वजातेरभावात्, तस्याः परोक्षत्वव्याप्तत्वात् । न च–परोक्षत्वमात्मज्ञाने तिष्ठतीत्यु-

शब्द के अतिरिक्त आत्मविषयक प्रमाण नहीं है– इत्यादि तो अद्वैतसिद्धि और वेदान्तकल्पलता में निरूपित हो चुका है; अतः यहां उसका विस्तार नहीं किया गया (भाव यह है कि जिस प्रकार स्वर्ग का साधन यागादि केवल वेदरूप शब्दप्रमाण से ही जाना जा सकता है; उसी प्रकार ब्रह्मात्मैक्य भी शब्दप्रमाण से ही जाना जाता है, किसी भी अन्य प्रमाण से जाना नहीं जा सकता; शब्द से सिद्ध ब्रह्मात्मैक्य की पुष्टि के लिये अन्य प्रमाणों का उपयोग होता है ।

शंकिता— शब्द से ही यदि आत्मा का अपरोक्षज्ञान होता है तो शाब्दत्व और अपरोक्षत्व जाति में संकर हो जायेगा । तथाहि– "गामानय" इत्यादि शब्द से जन्य ज्ञान में शाब्दत्व है और अपरोक्षत्व नहीं; तथा "घटोऽयम्" इस इन्द्रियजन्य ज्ञान में अपरोक्षत्व है और शाब्दत्व नहीं; और "तत्त्वमसि" आदि से जन्य आत्मविषयक ज्ञान में शाब्दत्व और अपरोक्षत्व दोनों हैं ।

समाधाता– ऐसा कहना उचित नहीं; क्योंकि आत्मविषयक ज्ञान में शाब्दत्व जाति नहीं है; वह तो परोक्षत्व से व्याप्त है (अर्थात्– जहां शाब्दत्व है, वहां परोक्षत्व है । आत्मज्ञान तो अपरोक्ष होता है, अतः उसमें परोक्षत्व नहीं; इस लिये परोक्षत्वव्याप्य-शाब्दत्व उसमें असम्भव है) ।

शंकिता— शब्दजन्य आत्मज्ञान में परोक्षत्व है- ऐसा हम पहले कहचुके है ।

त्वम्; उपाधिसंकरवज्जातिसंकरस्याऽदूषणत्वात्, शाब्दत्वाऽपरोक्षत्वादेः प्रमात्वाऽप्रमात्वलौकिकत्वाऽलौकिकत्वादिवज्जातित्वाऽनभ्युपगमाच्च । तस्माद्वेदान्तवाक्यकरणक आत्मसाक्षात्कारे शाब्दत्वाऽपरोक्षत्वयोर्नाऽनुपपत्तिः ।

अथ– एवं सति श्रवणमनननिदिध्यासनानां क्व उपयोगः ? पूर्वत्रैवात्मनः साक्षाद्भासमानत्वादिति । अत्रोच्यते– यद्यपि श्रवणादेः प्रागपरोक्षमेव ज्ञानमुत्पन्नम्; तथाप्यसंभावनाविपरीतभावनाग्रस्तत्वादुन्मज्जन्निमज्जदिव न फलपर्यवसायि भवति, वाराणस्यादिप्रदेशे जायमानार्द्र मरीचादिज्ञानवत् । न च– फलाऽभावाज्ज्ञानं नोत्पन्नमिति– वाच्यम्;

समाधाता– नहीं; उपाधिसंकर के समान जातिसंकर भी दोष नहीं । किञ्च— हम प्रमात्व– अप्रमात्व, लौकिकत्व–अलौकिकत्वादि के समान शाब्दत्व और अपरोक्षत्व को जाति नहीं मानते । अतः "तत्त्वमसि" आदि वेदान्तवाक्यों से होने वाले आत्मसाक्षात्कार-ज्ञान में शाब्दत्व और अपरोक्षत्व दोनों हो सकते हैं, इस में कोई अनुपपत्ति नहीं ।

शंकिता – ऐसा होने पर तो श्रवण, मनन और निदिध्यासन का कहां उपयोग होगा ? क्योंकि उनके पहले ही आत्मा साक्षात् भासमान है ।

समाधाता – इसका उत्तर यह है— यद्यपि श्रवणादि से पहले अपरोक्ष ही ज्ञान उत्पन्न होता है, तो भी असम्भावना और विपरीत-भावना से ग्रस्त होने के कारण वह ज्ञान अस्थिर होने से फलदायक नहीं होता, जैसे वाराणसी आदि प्रदेश में उत्पन्न आर्द्र मरीचादि को देखकर भी असम्भावनादि से ग्रस्त होने के कारण तद्विषयक ज्ञान फलपर्यवसायी नहीं होता (क्योंकि वाराणसी में उत्पन्न आचारी मिर्च अत्यन्त स्थूल होते हैं; अतः नवीनमनुष्य उसको देखकर भी विश्वास नहीं करता कि ये भी मिर्च हैं) ।

शंकिता– फलाभाव होने से उस समय (श्रवणादि के पहले)

तथा सति विचाराऽऽरम्भाऽनुपपत्तेः। न च- योग्यताऽभावात् प्रथमतो ज्ञानमेव नोत्पादयति शब्द इति- वाच्यम्; योग्यतायाः स्वरूपसत्या एव शाब्दप्रमायां कारणत्वाऽभ्युपगमात्। न च-तथासति योग्यताभ्रमाच्छाब्दभ्रमो न स्यादिति- वाच्यम्; आकांक्षाऽऽसत्तिमत्त्वेन ज्ञायमानादेव शाब्दो भ्रमो जायत इत्यङ्गीकारात्। न च- तथासति बाधे जातेऽपि शब्दाद्बोधः स्यादिति- साम्प्रतम्; तस्यैव तत्प्रतिबन्धकत्वात्, अयोग्यतानिश्चयस्याऽप्रामाण्यशंकाऽनास्कन्दितस्य

ज्ञान ही उत्पन्न नहीं हुआ है।

समाधाता— ऐसा न कहो; क्योंकि पहले ज्ञान न हो तो विचार का आरम्भ ही असम्भव होगा।

शंकिता— "तत्त्वमसि" आदि वाक्यों में योग्यता न होने से प्रथमतः वह ज्ञान का उत्पादन ही नहीं कर सकता।

समाधाता— ऐसा भी न कहो; कारण कि- स्वरूप से वर्त्तमान योग्यता को हम शाब्द प्रमा के प्रति कारण मानते हैं।

शंकिता— ऐसा होने पर तो योग्यता के भ्रम से शाब्दभ्रम नहीं होना चाहिये; (क्यों कि शाब्द भ्रम काल में योग्यता स्वरूप से वर्त्तमान है)।

समाधाता—ऐसा भी न कहो; क्योंकि आकांक्षा और आसत्ति से विशिष्टरूप से ज्ञायमान शब्द से ही शाब्द भ्रम उत्पन्न होता है (उसमें योग्यता की आवश्यकता नहीं) ऐसा हम अङ्गीकार करते हैं।

शंकिता— ऐसा मानोगे तो बाध होने के बाद भी शब्द से बोध तो होता ही रहेगा; (क्योंकि अयोग्यता का निश्चय होने पर भी आकांक्षा और आसत्ति वर्त्तमान हैं)।

समाधाता— यह कहना भी अयुक्त ही है; क्योंकि बाध ही तो बोध का प्रतिबन्धक है, अप्रामाण्यशंका से रहित अयोग्यता का निश्चय ही शाब्द ज्ञान का प्रतिबन्धक होने से उस (अयोग्यता-

शाब्दज्ञानप्रतिबन्धकत्वात्, तदभावमात्रं तत्रोपयुज्यते, न तु योग्यताज्ञानमपि, तेनाऽयोग्यतानिश्चयाऽभावात्, प्रामाण्यसन्देहाद्वा शाब्दबोधोपपत्तिः । किञ्च— "अत्यन्ताऽसत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि" इति मतेऽयोग्यत्वेन ज्ञायमानादपि शब्दादर्थबोधो भवत्येव; प्रत्यक्षानुमानयोस्तूत्पत्तिप्रतिबन्ध एव; शब्दस्थले तु बाधेनाऽप्रामाण्यं ज्ञाप्यते, न तूत्पत्तिः प्रतिबध्यते ।

तदयं क्रमः— शब्दात्प्रथमतोऽपरोक्षज्ञानं जायते विचारप्रयोजकम् । तदनन्तरमसम्भावनोदये सति विचारशास्त्रं प्रवर्त्तते । तच्च वेदान्तानां ब्रह्मण्यद्वितीये समन्वयप्रतिपादनद्वारा परपक्षखण्डनद्वारा चोपयुज्यते, प्रमाणगताऽसम्भावना श्रवणनिवर्त्या, प्रमेयगताऽसम्भावना तु मनननिवर्त्येत्यन्यत्र

निश्चय) का अभावमात्र शाब्दबोध में उपयुक्त होता है; न कि योग्यताज्ञान भी । इस कारण अयोग्यतानिश्चय के अभाव से अथवा प्रामाण्य के सन्देह से भ्रमस्थल में शाब्द बोध हो सकता है । किञ्च– "शब्द अत्यन्त असत् अर्थ में भी ज्ञान करा ही देता है" इस मत में अयोग्यता से ज्ञायमान शब्द से भी अर्थबोध हो ही जाता है । प्रत्यक्ष और अनुमान स्थल में तो बाध से प्रामाण्योत्पत्ति का प्रतिबन्ध होता है; और शब्दस्थल में तो बाध से अप्रामाण्य ज्ञापित होता है, प्रामाण्योत्पत्ति का प्रतिबन्ध नहीं होता ।

इसमें यह क्रम है – सर्व प्रथम शब्द से विचार का प्रयोजक अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है । इसके बाद असम्भावना हो जाने पर विचारशास्त्र प्रवृत्त होता है । यह विचारशास्त्र वेदान्तों के अद्वितीय ब्रह्म में समन्वय प्रतिपादन के द्वारा और परपक्षखण्डन के द्वारा उपयुक्त होता है । प्रमाणगत असम्भावना (तत्त्वमसि, अहंब्रह्मास्मि आदि की असम्भावना) श्रवण से निवर्त्य है, और प्रमेयगत (विरुद्धस्वभाव वाले तत् और त्वम् पदार्थ में होने वाली) असम्भावना तो

विस्तरः । तदनन्तरमपि विपरीतभावना तिष्ठत्येव, सा निदिध्यासनेन निराक्रियते, तदनन्तरं पुनरपि महावाक्यमनुसन्धीयमानमविद्योन्मूलनसमर्थमन्तःकरणवृत्तिभेदरूपं मुक्तिफलकं साक्षात्कारमुत्पादयति । तदेतदाहाचार्यः संप्रदायवित्–

"पुरुषाऽपराधमलिना धीषणा
निरवद्यचक्षुरुदयापि यथा ।
न फलाय भल्लविषया भवति
श्रुतिसंभवापितु तथात्मनि धीः ॥१४॥
पुरुषाऽपराधविगमे तु पुनः
प्रतिबन्धकव्युदसनात्सफला ।
मणिमन्त्रयोरपगमे तु यथा
सति पावकाद्भवति धूमलता ॥१५॥

मनन से निवर्त्य है– ये सब बातें अन्यत्र विस्तार से कही गई हैं। उसके पश्चात् भी विपरीतभावना रह ही जाती है, और उसका निराकरण निदिध्यासन से किया जाता है। उसके अनन्तर फिर अनुसन्धीयमान "तत्त्वमसि" आदि महावाक्य अविद्या का नाश करने में समर्थ अन्तःकरणवृत्तिविशेषरूप तथा मुक्तिदायक साक्षात्कार का उत्पादन करते हैं। इसको सम्प्रदायवित् आचार्य ने इस प्रकार कहा है— दोषरहित चक्षुरूप प्रमाण से उत्पन्न होती हुई भी भल्लुं विषयिका बुद्धि जिस प्रकार प्रमातृगत असम्भावनादि अपराध से अप्रामाण्यशंका से कलङ्कित हो कर "यह भल्लुं है" ऐसे निश्चयरूप फल के लिये नहीं होती, (क्योंकि भल्लुं जंगल में मर गया– ऐसा लोगों को निश्चय हो गया था); उसी प्रकार निर्दोष श्रुतिवाक्य से उत्पन्न "अहंब्रह्मास्मि" इस प्रकार आत्मविषयिका प्रमाणभूत बुद्धि भी पुरुषगत असम्भावना विपरीतभावनादि अपराध से कलङ्कित होकर निश्चयात्मक फल के लिये पर्याप्त नहीं होती ॥ पुनः पुरुषगत अपराध (दोष) की निवृत्ति हो जाने पर प्रतिबन्धक का निवारण हो जाने के

पुरुषाऽपराधविनिवृत्तिफलः
सकलो विचार इति वेदविदः ।
अनपेक्षतामनुपरुध्य गिरः
फलवद्भवेत्प्रकरणं तदतः ॥१६॥
पुरुषाऽपराधशतशंकुलता
विनिवर्त्यते प्रकरणेन गिरः ।
स्वयमेव वेदशिरसो वचना-
दथ बुद्धिरुद्भवति मुक्तिफला ॥१७॥(सं०शा०-
अ०१) इति । भर्च्छुनामा कश्चिद्राज्ञो मन्त्री गन्धारपुरुषत्वेन यश्छान्दोग्ये दर्शितः ।

यत्तु प्रथमतो जायत एव शब्दादपि परोक्षज्ञानम्, प्रतिबन्धकव्युदसनाऽनन्तरमेव त्वपरोक्षं जायत इति मतम्;

कारण वही बुद्धि सफल हो जाती है; जैसे— प्रतिबन्धक मणि, मंत्रादि के हट जाने पर अग्नि से धूमादि कार्य होने लगता है ॥ वेद-विद् लोग कहते हैं कि सब विचार पुरुषगतदोषनिवृत्तिफलक हैं । अतः वेदवाणी की अनपेक्षता (शास्त्रान्तरानपेक्षता) को बाधित किये बिना ही यह विचारशास्त्ररूप प्रकरणग्रन्थ असम्भावनादि का निवारक होकर फलवान् होता है ॥ वेदवाक्यों पर पुरुषगत अनेक दोष व्याप्त रहते हैं । उन का निवारण इस प्रकरण ग्रन्थ से किया जाता है । उसके अनन्तर स्वयं ही वेदान्तवाक्यों से मुक्तिफलदायिनी बुद्धि उदित होती है ॥ इति ।

किसी एक राजा का भर्च्छुं नामक एक मन्त्री था, जिसे गन्धारदेश निवासी के रूप में छान्दोग्य (अ०६ख०१४) में प्रदर्शित किया गया है ।

और जो इस प्रकार का मत है कि सर्वप्रथम तो शब्द से भी परोक्षज्ञान ही उत्पन्न होता है; पुनः प्रतिबन्धक का निवारण करने के बाद अपरोक्ष होता है; किन्तु वह मत उचित नहीं; क्योंकि ग्रन्थ-

ततुच्छम् । ग्रन्थकारस्य तथा स्वरसाऽभावात्, दृष्टान्तेऽपरोक्षज्ञानोत्तरमेव संशयस्योक्तत्वात् दार्ष्टान्तिकेऽपि तस्यैवोचितत्वात् । न चैवं कल्पनायां प्रमाणाऽभावः; "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" (बृ०३।६।२६) इति श्रुत्योपनिषन्मात्रवेद्यत्वप्रतीतेः; "नाऽवेदविन्मनुते तं बृहन्तम्" (तै०ब्रा ३।१२।६।७) इति चाऽसाधारणेन हि व्यपदेशा भवन्ति, "चाक्षुषं रूपम्" इतिवत् । "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नाऽन्तरात्मन्"(कठ०४।१)इतीन्द्रियगम्यत्वनिषेधाच्च । न च– "दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" (कठ०१।३।१२), "मनसैवेदमाप्तव्यम्" (कठ०४।११) इत्यादिश्रुत्या मनोगम्यत्वमपि ब्रह्मणः प्रतीयत इति– वाच्यम्; तत्त्वमस्यादिमहावाक्येन साक्षात्कारे

कार (सक्षेपशारीरककार)का स्वाभिप्राय इस प्रकार नहीं है; कारण कि भच्छु के दृष्टान्त में अपरोक्षज्ञान के बाद ही संशय कहा गया है। अतः दार्ष्टान्त में भी इसी प्रकार ग्रहण करना उचित है। इस प्रकार की कल्पना में प्रमाण का अभाव भी नहीं है; क्योंकि "उस उपनिषत्प्रतिपाद्य पुरुष के विषय में पूछता हूँ"इस श्रुति से आत्मा का उपनिषन्मात्रवेद्यत्व प्रतीत होता है; और "उस ब्रह्म को अवेदवित् नहीं जान सकता" इस प्रकार असाधारणरूप से ही व्यपदेश होते हैं, "चक्षु का विषय रूप है" इत्यादि व्यपदेश के समान। और "स्वयंभु ब्रह्माने इन्द्रियों को बाह्यविषयकरूप से बनाया, अतः मनुष्य अन्तरात्मा को नहीं देखता, किन्तु बाह्य पदार्थों को ही देखता है" इस श्रुति से आत्मा के इन्द्रियगम्यत्व का निषेध किया है। इस में शंका हो कि "सूक्ष्मदर्शी लोग उस आत्मतत्त्व को तीक्ष्ण और सूक्ष्म बुद्धि से देखते हैं", "मन से ही यह प्राप्तव्य है" इत्यादि श्रुति से ब्रह्म का मनोगम्यत्व भी जाना जाता है– तो ऐसी शंका भी उचित नहीं; क्योंकि "तत्त्वमसि" आदि महावाक्यों से साक्षात्कार उत्पन्न करने

जनयितव्ये मनसः कर्तृत्वेन सहकारित्वस्योदाहृताभिः श्रुतिभिः प्रतिपादनादिति संप्रदायः ।

भामतीकारास्तु– शब्दात्परोक्षमेव ज्ञानं जायते, शब्दप्रमाणस्वाभाव्यात् । न च– अपरोक्षे प्रत्यगात्मनि परिपूर्णब्रह्मणि परोक्षज्ञानं भ्रमः स्यादिति–वाच्यम्; परोक्षत्वेनाऽनुल्लेखात्, अपरोक्षं तु ज्ञानं श्रवणमनननिदिध्यासनाऽभ्यासजन्यसंस्कारप्रचयोपबृंहितमनोजन्यमेव । न च भावनाजन्यसाक्षात्कारत्वेन कामिन्यादिसाक्षात्कारवदनाश्वासः, श्रुतिमूलत्वेन समाश्वाससम्भवात् । न च श्रुतिविरोधः, शास्त्राचार्याऽऽहितसंस्काराऽसमवहितमनोगम्यत्वनिषेधपरत्वान्निषेध-

में कर्तारूप से मन की सहकारिता का उक्तश्रुतियों से प्रतिपादन होता है– ऐसा सम्प्रदाय (गुरुपरम्परा से प्रचलन) है।

इस में भामतीकार तो इस प्रकार कहते हैं –"शब्द से परोक्षज्ञान ही उत्पन्न होता है, क्योंकि शब्दप्रमाण का वैसा ही स्वभाव है। इसमें ऐसी भी शंका नहीं होनी चाहिये कि - साक्षादपरोक्ष प्रत्यगात्मरूप परिपूर्ण ब्रह्म में परोक्षज्ञान भ्रम है– क्योंकि प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्म का परोक्षरूप से उल्लेख नहीं होता; और अपरोक्ष ज्ञान तो श्रवण, मनन, निदिध्यासन के अभ्यास से जन्य संस्कारों की वृद्धि से पुष्ट किये हुए मन से ही होता है। और उस में भावनाजन्य साक्षात्कारत्व होने से— कामिन्यादिसाक्षात्कार के समान अविश्वास का प्रसङ्ग भी नहीं होगा; क्योंकि श्रुतिमूलक होने से उस में विश्वास होना सम्भव है। इस का श्रुति से विरोध भी नहीं; कारण कि "यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह" अर्थात्– प्राप्त न होकर जिस से वाणी मन के साथ निवृत्त हो जाती है– इत्यादि निषेधश्रुतियों में शास्त्र, आचार्यादि द्वारा स्थापित संस्कार से रहित मन से गम्यत्व की निषेधपरता है; और "मनसैवेदमाप्तव्यम्" अर्थात्— यह मन के द्वारा ही प्राप्त करने योग्य है– इत्यादि विधि-

श्रुतीनाम्; विधिश्रुतीनान्तु तादृशसंस्कारसहितमनोगम्यत्वप्रतिपादनपरत्वादिति- आहुः(१)।

ननु- तथापि साक्षात्कारोत्पत्त्यनन्तरमविद्याऽस्ति न वा ? आद्ये- विद्या विफला, अनिर्मोक्षश्च। द्वितीये- सकार्याऽविद्यानिवृत्तौ सद्योमुक्तिरिति विद्यासंप्रदायोच्छेदः। अत्र वदन्ति-विद्योत्पत्त्यनन्तरं सद्योमुक्तिरित्येव पक्षः। न च- उपदेष्टुरभावः, कल्पितस्य तस्य सद्भावात्। स च कल्प्यमानो गुरुर्विद्यावत्त्वेनैव कल्प्यते, स्वप्नगुरुवत्। न च-तदीयेनैव ज्ञानेनाऽज्ञाननिवृत्तौ शिष्यज्ञानस्य वैयर्थ्यमिति-

श्रुतियों में तो शास्त्र, आचार्यादि के द्वारा स्थापित संस्कार से सहकृत मन के द्वारा गम्यत्व की प्रतिपादनपरता है।"

शंकिता- तो भी, साक्षात्कार की उत्पत्ति के अनन्तर अविद्या है, या नहीं ? आद्यपक्ष में— विद्या (साक्षात्काररूप ज्ञान) विफल हो जायेगी, और अनिर्मोक्ष का प्रसङ्ग भी होगा। द्वितीय पक्ष में तो कार्य सहित अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर सद्योमुक्ति (ज्ञान होते ही देहपात होकर मुक्ति) हो जायेगी; तब तो ब्रह्मविद्या के सम्प्रदाय (गुरुपरम्परा) का उच्छेद होगा।

समाधाता— इसमें कोई कहते हैं— विद्योत्पत्ति के अनन्तर सद्योमुक्ति ही होती है— यह पक्ष मान्य है। इस से उपदेष्टा का अभाव भी नहीं होगा, क्योंकि उस समय कल्पित उपदेष्टा का सद्भाव है। और वह कल्प्यमान गुरु स्वप्नगुरु के समान विद्यावान् रूप से ही कल्पित होता है।

शंकिता-- तब तो उस कल्पित गुरु के ज्ञान से ही अविद्या की निवृत्ति होने पर शिष्य का ज्ञान व्यर्थ होगा।

समाधाता— ऐसा न कहो; क्योंकि उस गुरु के स्वतः कल्पित

(१) यहां पर भामतीकार का सिद्धान्तमात्र संगृहीत कर लिखा गया है। यह पाठ भामती में अक्षरशः नहीं मिलता।

वाच्यम्; तस्य कल्पितत्वेनाऽज्ञानाश्रयत्वाऽभावात्। तदुक्तम्–

तस्या एव विलास एव भवता गुर्वादिभेदाऽन्वितः।
संक्लृप्तो न तु विद्यते पृथगसौ सन्ध्ये यथा धामनि ॥१२७॥

मुक्तामुक्तौ विद्वदज्ञौ त्वदन्यौ
आकाशादिक्ष्माऽवसानं च विश्वम्।
त्वाऽविद्योत्थस्वान्तनिष्पन्दनं तद्
विज्ञातव्यं मा ग्रहीरन्यथैतत् ॥१२८॥ (सं.शा.अ.२)

तथा– तव चित्तमात्मतमसा जनितम्
परिकल्पयत्यखिलमेव जगत्।
तव कल्पनाविरचितः स गुरुः
तव रूपमद्वयमुदाहरति ॥२२५॥

परिकल्पितोऽपि सकलज्ञतया
गुरुरेव पूर्णमवबोधयति ॥२२७॥ (सं.शा.अ.२)

होने से उसमें अज्ञानाश्रयत्व नहीं है। कहा भी है—

"आप (अज्ञानी) के द्वारा परिकल्पित गुरु आदि के भेद से विशिष्ट यह संसार उस अविद्या का ही परिणाम (कार्य) है, किन्तु स्वप्नप्रपञ्च के समान वह अपने से (प्रत्यगात्मा से) भिन्न कोई वस्तु नहीं है॥ आप से भिन्न मुक्त–अमुक्त, ज्ञानी–अज्ञानी, और आकाश से लेकर पृथिवी पर्यन्त यह सब प्रपञ्च अपनी अविद्या से उत्पन्न अन्तःकरण की चेष्टा मात्र है— ऐसा समझना चाहिये, इसे कदापि सत्य नहीं समझना चाहिये॥ स्वात्मा के अज्ञान से उत्पन्न तेरा अन्तःकरण ही अखिल जगत् की कल्पना करता है, और तेरी कल्पना से विरचित वही गुरु तुझे अद्वयस्वरूप का उपदेश देता है॥ और परिकल्पित होते हुए भी गुरु ही सर्वज्ञ होने के कारण शिष्य को पूर्णरूप से बोधन कराते हैं॥"

तथा–सम्यग्ज्ञानविभावसुः सकलमेवाऽज्ञानतत्संभवम्
सद्यो वस्तुबलप्रवर्तनमरुद्व्यापारसंदीपितः ।
निर्लेपेन हि दन्दहीति न मनागप्यस्य रूपान्तरम्
संसारस्य शिनष्टि तेन विदुषः सद्योविमुक्तिर्ध्रुवा ॥३८॥

जीवन्मुक्तिप्रत्ययं शास्त्रजातं
जीवन्मुक्ते कल्पिते योजनीयम् ।
तावन्मात्रेणाऽर्थवत्त्वोपपत्तेः
सद्योमुक्तिः सम्यगेतस्य हेतोः ॥३९॥

(सं.शा.प्र.४) इति । तथाचैकाऽज्ञानवादिपक्षेऽयमर्थः संपद्यो यत्सद्योमुक्तिरिति ।

अपरे तु–बाधिताऽनुवृत्त्याऽज्ञानतत्कार्ययोरनुवृत्तिरिति । मुक्तेषुवत्कुलालचक्रवच्च । न च– विद्याविद्ययोर्विरोधा-

तथा– "सम्यग् ज्ञानाग्नि उसी क्षण अज्ञान और उसके सब कार्य को निःशेष भस्म कर देती है; और यह ज्ञानाग्नि तो सविकल्प-ब्रह्मरूप वायु के व्यापार से प्रज्वलित हो जाती है, अतः संसार का कोई भी रूपान्तर शेष नहीं रह जाता। इसी से विद्वान् की सद्योमुक्ति होनी निश्चित है॥ जीवन्मुक्ति का प्रतिपादक शास्त्रसमुदाय भी कल्पित जीवन्मुक्त गुरु आदि में योजनीय है; उतने मात्र से इन शास्त्रों की सार्थकता हो जाती है, अर्थात् स्तुतिपरत्वेन चरितार्थता हो जाती है। इस कारण-अर्थात् जीवन्मुक्तिशास्त्र के स्तुतिपरक होने से सद्योमुक्ति ही यथार्थ है॥" इस लिये एकाज्ञानवादी के पक्ष में यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान होने के साथ ही सद्योमुक्ति होती है।

दूसरे आचार्य तो इस प्रकार कहते हैं - बाधित की अनुवृत्ति से अज्ञान और उसके कार्य की अनुवृत्ति होती है, जैसे-मुक्त बाण और कुलालका चक्र होते हैं (यह भी लोक में देखा जाता है कि [illegible] बाधित होने के बाद भय कम्पादि की अनुवृत्ति कुछ कालतक होती

त्कथमेवं स्यादिति– वाच्यम्; पारमार्थिकप्रपञ्चोपदर्शकांशस्यैव विद्यया विरोधात्, प्रातिभासिकमात्रांशेनाऽविरोधात्। तस्य चांशस्य प्रारब्धक्षयादेव क्षयः, "भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते" (वे.द.४।१।१९) इति सूत्रबलात् तथैव प्रतीयते, जीवन्मुक्तिशास्त्रबलाच्चेति– आहुः ॥

भामतीकारास्तु– बहून्येवाऽज्ञानानि। तानि च जीवनिष्ठानि ब्रह्मविषयानि। न च–अज्ञानसंबन्धे सति जीवत्वम्,

रहती है; वैसे ही जीवन्मुक्त की अवस्था को भी समझना चाहिये)। इसमें– ऐसा भी नहीं कहना चाहिये कि विद्या और अविद्या में विरोध होने के कारण यह अनुवृत्ति कैसे हो सकती है– क्योंकि अविद्या के पारमार्थिकरूप से प्रपञ्च के उपदर्शक अंश का ही विद्या से विरोध है, प्रातिभासिकमात्र के उपदर्शक अंश से विद्या का विरोध नहीं है। और उस प्रातिभासिक अंश का क्षय तो प्रारब्धकर्म के क्षय से ही होता है, क्योंकि–"भोग से ही प्रारब्ध पाप और पुण्य को समाप्त करके ब्रह्म में लीन हो जाता है" इस सूत्र के बल से, तथा जीवन्मुक्ति के प्रतिपादक शास्त्र के बल से भी वैसा ही प्रतीत होता(१)है।

भामतीकार तो ऐसा कहते हैं– अज्ञान अनेक ही हैं; वे जीवों में आश्रित हैं, और ब्रह्मविषयक हैं। इसमें– अज्ञान के साथ संबन्ध होने पर जीवत्व की सिद्धि, और जीवत्व की सिद्धि होने पर अज्ञान-

---

(१) जीवन्मुक्तिप्रतिपादक शास्त्र इस प्रकार है–"तस्य तावदेव चिरं, यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये" (छा०६।१४।२) अर्थात्– उस आचार्यवान् ज्ञानी का तब तक ही विलम्ब है, जब तक देहपात नहीं होता, उसके अनन्तर तो ब्रह्म में ही लीन होता है। "अत्र ब्रह्म समश्नुते" (कठ० ६।१४) अर्थात् यहां जीवित अवस्था में ही ब्रह्म प्राप्त होता है। "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ईशा० ७); – उस ज्ञान की अवस्था में सर्वत्र एक अद्वितीय ब्रह्म को देखने वाले ज्ञानी का मोह कहां ? और शोक कहां ? अर्थात् शोक मोहादि से रहित होकर जीवन्मुक्त होता है।

जीवत्वे चाऽज्ञानमित्यन्योन्याश्रय इति– वाच्यम्; अनादित्वाज्जीवाऽविद्यासंबन्धस्य, तथा च तत्तदज्ञानाऽवच्छिन्नाः, तत्तदज्ञानाऽवच्छिन्नप्रतिबिम्बिता वा जीवा अनन्ता एव; अवच्छेदकानामज्ञानानामनन्तत्वात् । तेषां मध्ये यस्य श्रवणादिना ज्ञानमुत्पद्यते, स मुच्यते, नाऽन्यः । न चैवं द्वैतापत्तिः; सर्वेषां जीवानां ब्रह्माऽभेदस्वीकारात् । एवं सति "तद्यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत, स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्" (बृ०१।४।१०) इति श्रुतयः, "बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः" (गी.४।१०) इति स्मृतयश्चोपपन्नतरा भवन्ति । अविद्यालेशस्वीकाराच्च जीवन्मुक्तत्वाद्युपपत्तिरिति– ऊचिरे (१) ।

संबन्ध की सिद्धि; इस प्रकार अन्योन्याश्रय होगा— ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये; क्योंकि जीव और अविद्या का संबन्ध अनादि है। इस लिये तत्तद् अज्ञान से अवच्छिन्न चेतनरूप, अथवा तत्तद् अज्ञान से अवच्छिन्न प्रतिबिम्बित चेतनरूप जीव अनन्त ही होते हैं, क्योंकि अवच्छेदक अज्ञान अनन्त है। उन अनन्त जीवों में से जिसका श्रवणादि साधनों से ज्ञान उत्पन्न होता है, वह मुक्त हो जाता है, अन्य नहीं। इसमें द्वैतापत्ति भी नहीं होगी; क्योंकि सब जीवों का ब्रह्म के साथ अभेद माना जाता है। ऐसा मानने पर— "देवों में से जिस जिस को ज्ञान हुआ, वही ब्रह्मभाव को प्राप्त होकर मुक्त हुआ, उसी प्रकार ऋषि और मनुष्यों में भी हुआ" इत्यादि श्रुतियां, तथा "बहुत लोग ज्ञानरूप तप से शुद्ध होकर मद्भाव अर्थात् ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए" इत्यादि स्मृतियां ठीक उपपन्न हो जाती हैं। और अविद्यालेश स्वीकार होने से जीवन्मुक्त्यादि की उत्पत्ति होती है।"

(१) भामती में यह पाठ शब्दशः नहीं मिलता। भामती के कई स्थलों से संगृहीत मात्र है।

ननु– तथापि न ब्रह्मात्मज्ञानान्मुक्त्युपपत्तिः, अनन्त-भवसञ्चितानां कर्मणां भोगेन विना क्षयाऽसंभवात् । न च–ज्ञानादेव सर्वकर्मक्षयः, जीवन्मुक्तिशास्त्रविरोधात् । न च–प्रारब्धाऽतिरिक्तस्य ज्ञानात् क्षय इति–वाच्यम्; "नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि," "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" इति स्मृतिविरोधात् । न च–प्रायश्चित्ता-दिशास्त्रेण कर्मनाशः प्रतिपाद्यते, तथा च तदनुरोधेनाऽवश्यं भोगद्वारा कर्मक्षयप्रतिपादकस्य शास्त्रस्य संकोचो वाच्यः । अतो ज्ञानात् कर्मक्षयस्थलेऽपि तच्छास्त्रं संकोच्यताम्, वेद-बोधितनाशकाऽनाश्यस्यैव कर्मणो भोगैकनाश्यत्वात्, प्राय-श्चित्तज्ञानयोश्च वेदेनैव नाशकत्वं बोधितमिति– वाच्यम्;

शंकिता– तो भी ब्रह्मात्मज्ञान से मुक्ति नहीं हो सकती; क्योंकि अनन्त जन्मों में सञ्चित कर्मों का बिना भोग के क्षय होना असम्भव है। और ज्ञान से ही सब कर्मों का क्षय भी नहीं हो सकता, कारण कि ऐसा होने पर जीवन्मुक्तिप्रतिपादक शास्त्र से विरोध होता है। तथा– प्रारब्धकर्म से अतिरिक्त कर्मों का ज्ञान से क्षय मानना भी युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि "अरबों कल्पों में भी अभुक्त कर्मों का क्षय नहीं होता", "किये हुए शुभाशुभकर्म अवश्य ही भोक्तव्य होते हैं" इत्यादि स्मृतियों से विरोध होता है। इस में पुनः कोई कहे कि – प्रायश्चित्तादि के प्रतिपादक शास्त्र से कर्मनाश प्रतिपादित होता है, इस लिये प्रायश्चित्तशास्त्र के अनुरोध से अवश्यम्भावी भोग के द्वारा कर्मक्षय के प्रतिपादक शास्त्र का संकोच कहना होगा। अतः ज्ञान से कर्मक्षयस्थल में भी अवश्य भोग के प्रतिपादकशास्त्र का संकोच होना चाहिये, क्योंकि वेदबोधित नाशक से नाश न होने वाले कर्मों की ही केवल भोग से नाश्यता है; और प्रायश्चित्त तथा ज्ञान तो वेद ने कर्म-नाशकत्व से बोधित किये हैं – तो इस प्रकार कहना ठीक नहीं; क्योंकि अन्य कोई गति न होने से प्रायश्चित्तादि में वैसी ही कल्पना

प्रायश्चित्तादावनन्यगतिकत्वेन तथाकल्पनात्। नहि प्रायश्चित्ते कर्मान्तराऽधिकारः फलम्; सर्वत्राऽपि पापे कर्माऽनधिकाराऽभावात्; प्राणान्तिके तदसंभवाच्च, ज्ञानस्थले तु भोगद्वारेणाऽपि क्षयसंभवे संकोचो न युक्तः। न च– तत्र ज्ञानं विनाऽपि भोगात्कर्मनाशदर्शनात् व्यभिचारात् कथं तत्त्वज्ञानस्य कारणतेति– वाच्यम्; कर्मप्रागभावाऽसहवृत्तिकर्मनाशे युगपद्भोगे चाऽव्यभिचारात्। न च– तत्त्वज्ञानवतां

की जाती है। और प्रायश्चित्त में कर्मान्तर का अधिकारप्राप्तिरूप फल नहीं होता, क्योंकि सर्वत्र पाप में कर्मानधिकार का अभाव(१) है; और प्राणान्त तक होने वाले प्रायश्चित्त में कर्मान्तराधिकार कहना भी असम्भव है। ज्ञानस्थल में तो भोगद्वारा भी कर्मक्षय सम्भव होने पर अवश्य भोग के प्रतिपादक शास्त्र में संकोच करना युक्तिसंगत नहीं। इसमें पुनः यदि शंका हो कि – इस प्रकार के शास्त्र में ज्ञान के बिना भी भोग से कर्मक्षय प्रतिपादित होने के कारण मोक्ष के प्रति तत्त्वज्ञान के हेतुत्व में व्यभिचार होगा, तब तो तत्त्वज्ञान की कारणता कैसी होगी ?— तो यह शंका भी ठीक नहीं; क्योंकि कर्मप्रागभाव का असहवृत्ति कर्मनाश और युगपद्भोग मानने पर व्यभिचार नहीं होता (भाव यह है कि जहां तत्त्वज्ञान के बिना

---

(१) ब्रह्महत्यादि महापातक होने पर उस पुरुष का वेदविहित किसी भी कर्म में अधिकार नहीं रहता, किन्तु उसका प्रायश्चित्त करने पर वह पुरुष पुनः कर्मान्तर का अधिकार प्राप्त करता है; अतः प्रायश्चित्त में कर्मान्तराधिकारप्राप्ति फल है – ऐसी शंका उचित नहीं; क्योंकि ब्रह्महत्यादि महापातकों को छोड़कर अन्यपापों में प्रायश्चित किये बिना कर्मान्तर में अधिकार नहीं- ऐसा नहीं कहा जा सकता; अन्यथा प्रायश्चित्त न करने वाले यत्किञ्चित्पापकर्त्ता को कर्म का अनधिकारी होना चाहिये। और जहां प्राणान्तिक प्रायश्चित्त होता है, वहां तो कर्मान्तराधिकार की प्राप्ति ही नहीं हो सकेगी।

भोगार्थं प्रवृत्तौ हि विहितनिषिद्धाऽऽचरणसम्भवेन धर्माऽधर्मोत्पत्तौ मोक्ष एव न स्यादिति– वाच्यम्; दोषाऽभावेन तयोरुत्पत्त्यसंभवादिति ।

अत्रोच्यते– "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे पराऽवरे ।" (मु.२।२।८) इत्यादिभिः श्रुतिभिः हृदयग्रन्थ्यादिनाशे ज्ञानहेतुत्वं प्रतिपाद्यते । तत्र यदि कर्मनाशे भोगो द्वारं कल्प्यतेऽल्पमपि, तदा हृदयग्रन्थ्यादिनाशे जनयितव्ये द्वारं कल्पयितव्यं स्यात्; तथा च यथा द्वारमन्तरेणैव तत्त्वज्ञानमात्रादेव हृदयग्रन्थ्या-

भोगद्वारा कर्मनाश होता है, वहां आगामी कर्मों का प्रागभाव रह जाते हैं और जन्मजन्मान्तर में किये हुए सञ्चित कर्म भी रह जाते हैं। जिस कर्माशय में कर्मप्रागभाव रहेगा, उसमें पुनः कर्म की उत्पत्ति होना अवश्यम्भावी है; इस लिये भोग से समूल कर्मों का क्षय करना असम्भव है। यदि तत्त्वज्ञान के द्वारा कर्मप्रागभाव के साथ एक ही अधिकरण में न रहने वाले कर्मनाश और जिस जन्म में तत्त्वज्ञान हुआ, उस जन्म में ही यावत्सञ्चित कर्मों का भोग माने तो मोक्ष के प्रति तत्त्वज्ञान की कारणता में कोई व्यभिचार नहीं होता) । और यह भी शंका नहीं होनी चाहिये कि— तत्त्वज्ञानी की भोगार्थ प्रवृत्ति होने पर विहित और निषिद्ध कर्मों का आचरण सम्भव होने से धर्म और अधर्म की उत्पत्ति होने पर मोक्ष ही नहीं होगा— क्यों कि दोष के अभाव से धर्माधर्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।

समाधाता– इसमें उत्तर यह है— "उस परावर शुद्ध ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर हृदयग्रन्थि (चिज्जडतादात्म्यरूपग्रन्थि) का भेदन होता है, सब संशय नष्ट होते हैं, और सब कर्म क्षीण होते हैं" इत्यादि श्रुतियों से हृदयग्रन्थ्यादि के नाश में ज्ञान को हेतु कहा गया है। यहां यदि कर्मनाश में भोग की द्वाररूप से थोड़ी सी भी कल्पना की जाती है, तो हृदयग्रन्थ्यादिनाश करने में भी द्वार की कल्पना करनी होगी। (किन्तु उसमें द्वार नहीं है); इसलिये जिस

देर्नाशः, तथा च बाध्यबाधकभाव एव, पदहोमाऽऽहवनीय-होमयोरिव, अग्नीषोमीयहिंसाऽहिंसयोरिवेति ।

न च– अबाधेनाऽप्युपपत्तौ बाधकल्पनमनुचितमिति–

प्रकार द्वार के बिना ही तत्त्वज्ञानमात्र से हृदयग्रन्थ्यादि का नाश है, वैसे ही कर्मनाश में भी बाध्यबाधकभाव ही है (अर्थात् तत्त्वज्ञान का प्रतिपादक शास्त्र बाधक है, और कर्मभोगशास्त्र बाध्य है); जैसे पदहोम और आहवनीयहोम में होता है, अथवा अग्नीषोमीयहिंसा और अहिंसा में होता (१) है।

शंकिता– भोग से कर्मक्षय का प्रतिपादन करने वाली स्मृति का बाध किये बिना (पूर्वोक्तरीति से तत्त्वज्ञान की मोक्षसाधनता) सम्भव होने पर ज्ञान से कर्मक्षय को प्रतिपादक श्रुति में बाधकत्व की कल्पना करना उचित नहीं।

---

(१) "यदाहवनीये जुहोति" और "सप्तमे पदे जुहोति" (तै०-सं० ६।१।८) ये दो श्रुतियां हैं। इनमें प्रथम श्रुति अनारभ्याधीत है (किसी एक कर्म को प्रतिपादन करने के लिये आरम्भ किये बिना किसी एक प्रकरण में पठित है); इसका अर्थ है जो कोई भी होम हो, वह आहवनीय अग्नि में ही होना चाहिये। दूसरी श्रुति ज्योतिष्टोम याग के सोमक्रयप्रकरण में है; इसका अर्थ है – सोम-क्रयणी (जिसके बदले सोम लेना है, उसी) गौ के सप्तम पद में (सोमस्वागत के लिये जाते समय जिस स्थान में सातवां पग रखा है, उस स्थान में) होम करना चाहिये। इसमें सन्देह होता है कि आहवनीयहोम और पदहोम में विकल्प होना चाहिये, या आहव-नीयहोम का बाध करके पदहोम होना चाहिये। इस प्रकार सन्देह होने पर पूर्वपक्षी का कहना है कि दोनों श्रुतियों में तुल्यबल होने से विकल्प होना चाहिये। किन्तु इसमें सिद्धान्ती कहते हैं "अविशेषेण यच्छास्त्रमन्याय्यत्वाद्विकल्पस्य तत्सन्दिग्धमाराद्विशेषशिष्टं स्यात्" (पू० मी० १०।८।१६)— इसका अभिप्राय यह है कि आहवनीय-होम का प्रतिपादक शास्त्र सामान्य है, और पदहोम का प्रतिपादक विशेष शास्त्र है। अतः सामान्य का बाध करके विशेष की प्रवृत्ति

वाच्यम्; भोगेन क्षयाऽभ्युपगमे ज्ञानवैयर्थ्यापत्तेः। किञ्च-यावदेव स्मृत्या श्रुतिः कल्प्यते, तावदेव प्रत्यक्षश्रुत्या ज्ञानस्य साधनत्वं बोध्यते। तच्च साक्षादेव, तस्मिन् बाधके सत्येव परंपरात्वस्य कल्पनात्। तदनन्तरं कल्पिताऽपि श्रुति-स्तदितरविषयाऽवतिष्ठते। तत्त्वज्ञानिविषयत्वे तु साक्षात्-

समाधाता— ऐसा न कहो; क्योंकि भोग से कर्मक्षय मान लिया जावे तो ज्ञान व्यर्थ हो जायेगा। किञ्च— स्मृति से जिस समय में स्वसमर्थक श्रुति की कल्पना की जाती है, उस समय में ही प्रत्यक्ष श्रुति से ज्ञान की मोक्षसाधनता बोधित हो जाती है (स्मृति-शास्त्र वेदमूलक होता है। मूलभूत वेदमन्त्र का विस्तार या स्पष्टी-करण मात्र स्मृतिशास्त्र से किया जाता है। इस लिये स्मृतिशास्त्र का प्रामाण्य वेदाधीन है। स्मृतिशास्त्र अपने प्रामाण्य को सिद्ध करने के लिये प्रत्यक्ष अर्थात् उपलब्ध श्रुति मूलभूतरूप से न मिले तो अपनी समर्थक श्रुति की कल्पना कर लेता है, और उसी से अपने प्रामाण्य सिद्ध करता है। किन्तु कल्पित श्रुति की अपेक्षा प्रत्यक्ष श्रुति बलवती होती है; अतः प्रत्यक्ष श्रुति से ज्ञानकी मोक्षसाधनता सिद्ध होती है)। और वह ज्ञान की मोक्षसाधनता साक्षात् ही है, क्योंकि उस में बाधक प्रमाण होने पर ही परम्परा की कल्पना की जाती है (किन्तु यहां ज्ञान की साधनता में बाधक कोई है नहीं; अतः वह साक्षात् ही मोक्ष का साधन है)। उसके अनन्तर कल्पित होती हुई भी श्रुति प्रत्यक्ष श्रुति के विषय से भिन्नविषयवाली होकर रह जाती है। और स्मृति के तत्त्वज्ञानिविषयत्व में तो साक्षात् (प्रत्यक्ष) श्रुति से विरोध होने

होनी चाहिये; इसमें विकल्प करना अन्याय है; और "मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि" अर्थात् किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये; और "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" अर्थात् अग्नीषोमीय पशु का आलभन करना चाहिये — इसमें भी सामान्य अहिंसा को बाध कर विशेष शास्त्र से विहित हिंसा की प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार प्रकृत में भी सामान्य कर्मभोगशास्त्र को बाध कर तत्त्वज्ञान से कर्म-नाशप्रतिपादक विशेष शास्त्र की प्रवृत्ति युक्ति-युक्त है।

श्रुतिविरोधेऽनुमानमेव न स्यात् । तदुक्तम्– "विरोधेत्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्"(मी.द.१।३।३) इति । श्रुतिश्च– "तद्धैतत् पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च" (बृ.१।४।१०) इत्यादिर्यदेव ज्ञानम्, तदेव ब्रह्मभावमाह; हेतौ शतुः स्मरणात्; "भुञ्जानस्तृप्यति" इतिवत् । अविद्यानाशाऽनन्तरमेवाऽविद्याकृतस्याऽब्रह्मत्वस्य निवृत्तेः; उपादाननाशादुपादेयनाशस्य सर्वत्र दर्शनात् । यथा च कारणता-

के कारण श्रुतिकल्पना करने के लिये अनुमान होगा ही नहीं । कहा भी है– "प्रत्यक्षश्रुति से विरोध होने पर स्मृतिसमर्थिका श्रुति का अनुमान अनपेक्ष होता है(अर्थात् अनुमान नहीं करना चाहिये; क्योंकि स्मृति स्वतः ही प्रत्यक्ष श्रुति से बाधित हो जाती है); किन्तु विरोध न होने पर ही उस स्मृति की मूल श्रुति का अनुमान होता है।" इति । और "उस आत्मस्वरूप ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करते हुए वामदेव ऋषि ने जाना कि– मैं मनु ही था, और सूर्य भी मैं ही हूँ" इत्यादि प्रत्यक्षश्रुति– जिस समय ज्ञान होता है, उसी समय ब्रह्मभाव (सर्वात्मकत्व) होता है– यह कहती है; क्योंकि हेत्वर्थ में शतृप्रत्यय का निर्देश पाणिनि ने किया(१) है; जैसे "खाता हुआ तृप्त होता है" इत्यादिस्थलों में होता है (अर्थात्–खाना तृप्ति का हेतु) । इस लिये अविद्यानाश के अनन्तर ही अविद्याकृत अब्रह्मत्व की निवृत्ति होती है, कारण कि उपादान के नाश से उपादेय (कार्य) का नाश सर्वत्र देखा जाता है। जैसे नैयायिकों के मत में "समवायिकारण-

---

(१) "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" (पा.सू.३।२।१२६)– क्रिया के परिचायक (ज्ञापक) और हेतु के अर्थ में वर्तमान धातु से लट्-लकार के स्थान में शतृ और शानच् प्रत्यय होते हैं– इस सूत्र के अनुसार जिस प्रकार "हरिं पश्यन्मुच्यते" इसमें हेत्वर्थक शतृप्रत्यय से हरिदर्शन मुक्ति का हेतु जाना जाता है, उसी प्रकार यहां भी "तद्धैतत् पश्यन्......प्रतिपेदे" इस में पश्यन्शब्द में हेत्वर्थक शतृप्रत्यय से ब्रह्मदर्शन ही तत्काल ब्रह्मभाव का हेतु है– ऐसा जाना जाता है।

शाऽनन्तरं कार्यं निरधिकरणं क्षणमात्रं तिष्ठति, तथा बलवत्प्रतिबन्धवशादनेकक्षणमपि स्थास्यति । तथा च श्रुतिः– "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" (छा.६।१४।२) इति प्रारब्धकर्मफलभोगपर्यन्तं नष्टाऽविद्यस्याऽपि स्थूलसूक्ष्मशरीरयोः सद्भावं दर्शयति । प्रारब्धकर्मभोगश्च क्वचिदेकेनैव शरीरेण, क्वचिन्नानाशरीरैः । तत्राऽऽद्यमिदानीन्तनानाम्, द्वितीयं तु महानुभावानां वसिष्ठादीनाम् । अत्र सूत्रम्– "यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्" (वे०द०३।३।३२) इति । भगवदाज्ञापालनौपयिकं बलवत्सुकृतं कर्माऽधिकारः, तत्समाप्तिपर्यन्तमाधिकारिकाणां

नाशात्कार्यनाशः" इस नियम के अनुसार समवायिकारण (उपादान) का नाश होने के अनन्तर कार्य क्षणमात्र निराश्रय रहता है (और उसके बाद नाश को प्राप्त होता है); वैसे ही यहां भी (उपादानभूत अविद्या के नाश होने के बाद) बलवत्प्रतिबन्धकवश अनेक क्षण तक भी कार्य रह जाये । इस में श्रुति भी— "उस आचार्यवान् ज्ञानी को उतना ही विलम्ब है, जब तक प्रारब्ध कर्म से उसका विमोक्ष नहीं होता, उस के अनन्तर तो वह ब्रह्म में लीन हो जाता है" इस प्रकार प्रारब्धकर्मफल की भोगसमाप्ति पर्यन्त ज्ञानी के भी स्थूल-सूक्ष्म शरीरों का सद्भाव बताती है । और प्रारब्ध कर्म का भोग तो कहीं एक ही शरीर से और कहीं तो अनेक शरीरों से होता है । उन में आद्य अर्थात् एक शरीर से प्रारब्ध का भोग आधुनिक लोगों का है, और द्वितीय- यानी अनेक शरीरों से प्रारब्ध का भोग तो वसिष्ठादि महानुभावों का है । इसमें यह सूत्र है— "ज्ञान होने पर भी लोकव्यवहारसञ्चालन में स्वामित्वरूप अधिकार का प्रापक प्रारब्ध कर्म जब तक है, तब तक जीवन्मुक्तरूप से स्थित अधिकारियों की अवस्थिति एक या अनेक जन्म तक होती है ।" सर्वनियन्ता भगवान् की आज्ञा पालन करने में उपयोगी बलवत्पुण्य कर्म ही अधिकार है, उस

सूर्यादीनां वसिष्ठादीनाञ्च शरीरग्रहणप्रवाहावस्थितिरित्यर्थः । एकशरीरभोग्यस्येवाऽनेकशरीरभोग्यप्रारब्धस्य कर्मणः सम्भवात् । एतादृशानाञ्च योगीश्वराणां योगप्रभावात् स्त एव स्वेच्छया कायबाहुल्यतदुपसंहारौ । अत्र सूत्रम्– "प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति" (वे.द.४।४।१५) । एवं

अधिकार की समाप्ति पर्यन्त सूर्यादि और वसिष्ठादि अधिकारियों के शरीरग्रहणप्रवाह की अवस्थिति (१) होती है- यह सूत्र का अर्थ है। कारण कि- जैसे एक शरीर से भोग्य प्रारब्ध कर्म होता है, वैसे ही अनेक शरीरों से भोग्य प्रारब्ध कर्म भी हो सकता है। और इस प्रकार के योगीश्वरों के लिये स्वेच्छा से अनेक शरीर और उनका उपसंहार योगप्रभाव से हो सकते हैं। इसमें यह सूत्र है- जैसे एक ही प्रदीप विकारशक्तियोग होने से अनेकप्रदीपभाव को प्राप्त होता है, वैसे ही एक होता हुआ भी विद्वान् ऐश्वर्ययोग होने के कारण अनेकभाव को प्राप्त करता है; इस बात को- "स एकधा भवति, त्रिधा भवति, पञ्चधा, सप्तधा" (छा.७।२६।२) अर्थात्- वह एकरूप से स्थित होता है, तीनरूप से स्थित होता है, पांचरूप से और सातरूप से भी स्थित होता है— इत्यादि श्रुति बताती है। इसी प्रकार सगुणविद्यावित्

---

(१) दृश्यमान स्थूलपिण्डरूप सूर्य का अधिष्ठाता आदित्य भगवान् सहस्रयुग पर्यन्त जगत्पालनरूप अधिकार समाप्त करके उदयास्तमय से रहित कैवल्यावस्था में स्थित हो जाते हैं; इस में श्रुति कहती है- "अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता" (छा.३।११।१) अर्थात्- यह सूर्य भगवान् (अथ) प्रारब्धकर्मक्षय के अनन्तर (ततः ऊर्ध्वः) उससे यानी वर्तमान स्थिति से विलक्षण ब्रह्मरूप होते हुए (उदेत्य) इस स्थूलरूप का त्याग करके (नैवोदेता नास्तमेता) उदयास्त से रहित होकर (एकल एव) अद्वितीय (मध्ये स्थाता) उदासीनात्मरूप में ही स्थित होते हैं। इसी प्रकार वसिष्ठ ब्रह्मा के मानस पुत्र होते हुए भी निमि के शाप से पूर्वदेह का त्याग करके पुनः ब्रह्मा के आदेश से मित्रावरुण के पुत्र

सगुणविद्याविदामपि योगीश्वराणाम् । निर्गुणविद्याविदां त्वनधिकारिणां वर्तमानदेहभावे जीवन्मुक्तिस्तदभावे च विदेहमुक्तिः । तत्र ज्ञानात् कर्मक्षयप्रतिपादके सूत्रे– "तदधिगम उत्तरपूर्वाऽघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्(वे.द.४।१।१३), "इतरस्याऽप्येवमसंश्लेशः पाते तु" (वे०द०४।१।१४)– इतरस्य सुकृतस्येत्यर्थः; तस्मात् ज्ञानिनः कर्मभोगार्थमयोगिनोऽपि कायव्यूहकल्पनं मौढ्यमात्रेणैव । ज्ञानस्य प्रारब्धकर्माऽनाशकत्वे सूत्रम्– "भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते"

(सगुण ब्रह्म के उपासक) योगीश्वरों काभी होता है (अर्थात् अनेक-शरीरधारणादि हो सकता है) । और निर्गुणविद्यावित् (ज्ञानी) अनधिकारियों की (जगत्संचालनादिव्यवहार में अधिकार से रहित की) वर्तमानदेहदशा में जीवन्मुक्ति और देहाभावदशा में विदेहमुक्ति होती है। उसमें ज्ञान से कर्मक्षय के प्रतिपादक दो सूत्र हैं- ब्रह्म का अधिगम(साक्षात्कार)होने पर उस ज्ञानी के आगामी और पूर्वकृत पापों का क्रम से अश्लेष (असबन्ध) और विनाश होता है, क्योंकि– "एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते" (छा.४।१४।३)– अर्थात् ब्रह्मवित् ज्ञानी में पाप कर्म का अश्लेष है, तथा "अस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" (छा.५।२४।३) अर्थात्- उस ज्ञानी के सब पाप नष्ट होते हैं–इत्यादि श्रुतियां इसी बात को बताती हैं। इसी प्रकार ब्रह्मवित् के उत्तर और पूर्व पुण्यों का भी अश्लेष और विनाश होता है, और देहपात होने पर मोक्ष होता है।। यहां इतरशब्द का अर्थ पुण्यकर्म है। इसलिये योगी न होते हुए भी ज्ञानी के कर्मफलभोगार्थ कायव्यूह की कल्पना करना मूर्खतामात्र से ही है। और ज्ञान प्रारब्धकर्म का नाशक नहीं है– इसमें यह सूत्र है– "भोग से प्रारब्ध पुण्य- पाप दोनों का नाश करके

होकर उत्पन्न हुए। इस विषय में "वसिष्ठ उर्वशीपुत्रोजातः" अर्थात् मित्रावरुण के वीर्य से वसिष्ठ उर्वशी के पुत्र हुए- ऐसा अर्थवादरूप से वेद में कहा गया है। निमि के शाप से वसिष्ठ का पुनर्जन्म वाल्मीकिरामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग ५५ से ५७ तक में वर्णित है।

(वे.द.४।१।१९) इति प्रागेवोदाहृतम् ॥

अद्वैतरत्नमेतत्तु श्रीविश्वेश्वरपादयोः ।
समर्पितमथैतेन प्रीयतां स दयानिधिः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपूज्यपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितमद्वैतरत्नरक्षणं समाप्तम् ॥

विद्वान् ब्रह्म में लीन हो जाता है।"यह सूत्र पहले ही उदाहरणरूप से निर्दिष्ट हो चुका है ॥

यह अद्वैतरत्नग्रन्थ श्रीविश्वेश्वरजी के चरणों में समर्पित है ।
इसी से वह दयानिधि प्रसन्न होवें ॥ इति ॥

शिष्ययोगेन्द्रानन्देन स्वामिनो मङ्गलगिरेः ।
नेत्राङ्कधृति(१८९२)शकाब्देऽनुवादोऽयं समापितः ॥१॥

तुष्यतु स गुरुवर्यो भक्तिभावनया मया ।
समर्पितस्त्वयं ग्रन्थः तच्चरणारविन्दयोः ॥२॥

इति मुमुक्षूपदेशस्याऽनुवादः, समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

अथ शुद्धिपत्रम्

पृष्ठ	पंक्ति		अशुद्ध	शुद्ध
१	मू०शी०	१	शस्त्रारम्भो	शास्त्रारम्भो
२	मू०	२	वेदकं	वेदंक
३	मू०	१	शेषभूनानां	शेषभूतानां
३	अनु०	२	प्रमाण्य	प्रामाण्य
६	टिप्प०	१०	मीमांसदर्शन	मीमांसादर्शन
८	मू०	३	परिहार्थं	परिहारार्थं
९	मू०	१	भवितव्यमितीति	भविष्यतीति
३७	अनु०	१	आनुसङ्गिक	आनुषङ्गिक
३८	अनु०	६	भेद तो	भेद का
३९	अनु०	६	त पर्य	तात्पर्य
४४	मू०	३	सत्वाऽविरोध	सत्वाऽविरोध
५०	मू०	८	ज्ञाप्तिमात्रे	ज्ञप्तिमात्रे
६१	अनु०	४	नाना	नाना
८८	मू०	५	चाऽधिस्ठान	चाऽधिष्ठान
९७	मू०	१	प्रामाण	प्रमाण
९८	मू०	५	पदर्थान्तरम्	पदार्थान्तरम्
१०४	टिप्प०	१२	मूलत्वोपत्तिः	मूलत्वोपपत्तिः
११२	मू०	३	शब्वात्मक	शब्दात्मक
१६०	अनु०	९	प्रतियोगिकतत्व	प्रतियोगिकत्व
१६०	अनु०	११	ज्ञान	ज्ञात
१९०	मू०शी०	१	निषेधानुपपत्त्यादकिम्	निषेधानुपपत्त्यादिकम्
३७७	मू०	४	न्योन्याभावप्रतीयोगी	न्योन्याभावप्रतियोगी
३७७	मू०	७	पारमार्थिकेति	पारमार्थिकेति
३८४	अनु०	९	दृष्टा	द्रष्टा
४०४	मू०	९	श्रृणु	शृणु
४०५	मू०	६	श्रृणु	शृणु
४१८	अनु०	५	ससय	समय